

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

ॐ श्रीः ॐ

शौनकीया-

अथर्ववेदसंहिता

मूल-मन्त्र-सायण-भाष्य

तथा-

सायणभाष्य के अनुकूल

भाषानुवादसहित

सप्तम-अष्टम-कारण

जिसको-

ऋ० कु० प० रामस्वरूपशर्मात्मज

मुरादाबादनिवासी-सनातनधर्मपताका-सम्पादक

ऋ० कु० प० रामचन्द्र शर्माने

अनुवादित कर

सनातनधर्म-ग्रन्थालय

मुरादाबाद में छाप कर

प्रकाशित किया,

संवत् १९८७

प्रथम बार



❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय

पृष्ठ

❀ सप्तम-काण्ड ❀

प्रथम अनुवाक-

प्रथमसूक्त । इसको पहिली दो ऋचाओंसे अर्घोःथापनविघ्न-
शमनकर्ममें घृत आदिका होम, वा इन ऋचाओंका जप किया
जाता है, और सर्वफलकामकी इन दोनों ऋचाओंसे इन्द्र तथा
अग्निका उपस्थान वा याग काना चाहिये । इसकी 'अथर्वाणं
पितॄम्' इस आठ ऋचाओंके समुदायसे सर्वफलकाम अथर्वा
(प्रजापति) का यजन वा उपस्थान करे- "अर्वा विष्टा" द्वयसे
नवीन रथकी अभिमन्त्रित करके विजयाभिलाषी राजाको रथ पर
चढ़ाया जाता है । इसकी "एरुणा" ऋचासे अश्वशान्तिमें सुवर्षो-
पत्ति चूर्णको अश्वके शिरपर बुरका देव, तथा चातुर्भास्यके शुना-
सीरयागमें वायव्ययागका अनुमंशन करे । ब्रह्मा यज्ञेन ऋचासे
सोमयागकी आतिथ्येष्टिमें हविका अभिमर्शन करे ॥ सूक्त आदिमें
देवताका वर्णन न होने पर देवताग्रहणका निर्णय, इन्द्र और अग्नि-
देवके धनप्रदत्वका वर्णन, इन्द्रको सकल देवताओंके आधे भागके
पहुँचनेका वर्णन, परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी वाणीका
वर्णन, अग्निके सर्वदेषमय होनेका प्रमाण ब्रह्मविषयक अर्थ, पुत्र-
शब्दकी व्युत्पत्ति, द्यौ और पृथिवीके पितृत्व मातृत्वका वर्णन,
प्रजापतिकी सृष्टि, अथर्वा शब्दका प्रजापति अर्थ होनेका प्रमाण ।
वायुकी इक्षोल आदि घोड़ियोंका वर्णन, कर्म करके देवत्वको
प्राप्त होनेका कथन, स्वर्ग शब्दकी व्याख्या, कर्मसे और विष्णुकी
पूजासे स्वर्गप्राप्तिका वर्णन । देवताओंको हवि अर्पण करनेका
प्रकार । ज्ञानवस्तुकी श्रेष्ठता, और कर्मयज्ञकी निन्दा ।

द्वितीय सूक्त । इसकी पहिली चार ऋचाओंसे सर्वफलकाम
अदितिका यजन वा उपस्थान करे, आभ्युदयकी सूक्त

घट आदिसे तरना चाहने वाला स्वस्त्ययनक लिये नौका आदि
 अभिमन्त्रित करके तरे और नौका आदिसे दूर दशमें जाना
 । इसमें नौका आदिका सम्पातित करके तरे और इससे
 नाम लेका सम्पातित और अभिमन्त्रण काक नाविकाक याँध
 और इसका पहिला ऋचाय विवाह-चतुष्टयकार्कमें खट्वाका
 स्वश करे, आरसध्याधानमें कृपाद्विभजनक अनन्तर घरेक
 समागमें खाई खोद उमका जलमे पूण कर 'महीमूषु' और 'सुत्रा-
 माणम्' ऋचाओंम नौका पर चढ़ । सोमयागकी दीक्षामें यजमान
 कृष्णमृगधर्म पर बैठ कर 'सुत्रामाणम्' ऋचाका जप । प्रह्ला अग्नि-
 यजनमें 'वाजस्य नु पमय' स वाजप्रसवीय हामोंका अनुमन्त्रण
 करे । सर्वफलकाम 'दिने पुत्राणाम्' से देवताओंका यजन वा
 स्थान करे । प्रथममें द्रव्यमात्रिक अर्थ 'भद्रादधि' ऋचामे घृत
 देकी आहुति देय वा जप करे, अद्य आदि मशारीका इससे
 तित और अभिमन्त्रित करके प्राक्षित करे, लाम चाहने वाले
 य वस्तुका इससे अभिमन्त्रित करके अभिमन्त्र देशका ल जाये
 चाहने वाला इसीसे अभिमन्त्रित करके प्रहण करे तथा
 गृहकृतिके लिये हवि आदि अर्पण करे । 'प्रथे पथाम्'
 धनुर्मघमे नष्टद्रव्यकी प्रातिके लिये नष्ट द्रव्यकी अभि-
 मन्त्रण करने वालेके दाहिन हाथको सम्पातित आदि करके
 ठ गये, तथा इसकोस धूलिकणोंके अभिमन्त्रित करके चौराहमें
 ल देय, तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवधर्ममें इसक प्रथम मन्त्रसे
 पादेवताकी हविका अनुमन्त्रण करे ॥ तृष्णाजिन शब्दसे नौका
 कथी लिया गया । कल्प प्रजापतिकी दो भार्याओंका धर्षण ।
 क समुद्रस्थान होनेका प्रमाण, पूषादेवताका साक्षिण । ३७
 नौकायत्क । इत्ये चमत्प्रोतापलकसी. निरिक्तिस, अयनि,
 ण कर्म, प्रहयकमें कतुच लिये हवि आदि, उपाकर्ममें घृतका
 समाजपकर्म, समाजपकर्ममें क्षीरीदन आदिका प्राशन,
 समागम समास्तनका प्रहण, प्रत्याप्रतिहरणकर्म अभिचारकर्म
 ३८ ॥ सुरन्वती-शब्दकी व्यत्या, समाशब्द आर धर्मशब्दकी

द्वितीय अनुवाक-

प्रथमसूक्त । पुष्टिकामके कर्तव्य, सोमविचयन, सूर्यादय तक सोते रहने वाले ब्रह्मचारीको उठाना, संभारस्पर्शनदिवसमें सोये हुए यज्ञमान आदिको उठाना, सर्वफलकामका धानाका यजन और वीरपुत्रके लिये गर्भिणीके उदरका अभिमन्त्रण इससे किये जाते हैं ॥ सूर्यस्तुति ।

६७

द्वितीयसूक्त । वृष्टिकर्म, उपनारकाद्भुतशान्ति होम, दर्शपूर्णमास में पत्नीसंयाजके सोमयागका अनुमन्त्रण, वंध्याका पुत्रलाभकार्य अमिलपितृकामका प्रजापतिका यजन वा उपस्थान अनुमतिकार्य यजन वा पूजन और पत्निग्रहण तथा पितृमेघकर्ममें श्मशानका परिपिञ्चन और पृथिनसवमें हविका स्रगपानप्रदान आदि कर्म इससे किया जाता है ॥ व्रन् शब्दकी व्याख्या, जल और सोमकी प्रशंसा, सूर्य और अनुमतिकी स्तुति ।

८०

तृतीय अनुवाक-

प्रथमसूक्त । सर्वफलकामका इन्द्र आदि नौ देवताओंका यजन उपस्थान, विष्णु और वरुणका यजन विष्णुका वृयजन वा उपस्थान, वैष्णव हविका अभिमर्शन, उपस्तंभनकाष्टका अनुमन्त्रण, सोमयागमें सोमक्रयणके लिये निष्क्रमण, ब्रह्माकृत वैष्णवपूर्णहोम का अनुमन्त्रण और अद्भुतशान्तिमें विष्णुका पूजन अभिषदन-प्रायश्चित्त, दक्षिणहविर्धानवर्त्महोम, उत्तरहविर्धानवर्त्महोम, सोमयागके अनन्तर चमसोका जलमें प्रक्षेप, रवाप्ती महाशान्तिमें त्रिवृन्मणिवन्धन, यूपका अनुमन्त्रण, अग्निचयनमें उत्सृखल और मुसलका अनुमन्त्रण-कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं । इन्द्र अग्नि रज और अर्कशब्दका अर्थ, धामनावतारका प्रमाण ।

९७

द्वितीयसूक्त । सर्वस्रगपत्कर्म, दर्शपूर्णमासमें वेदविमुञ्चन, प्रायणीयेष्टिमें स्वस्तियागका अनुमन्त्रण, सर्वव्याधिचिकित्सा, सर्वस्रगपत्कामका अग्नि तथा विष्णुका यजन और उपस्थान, गोदान-कर्म, ब्रह्मचारी के नेत्रोंका अभ्यञ्जन, ब्रह्माकृत यूपानुमन्त्रण, अभिचारकर्ममें अशनिहनवृक्षसमिधाओंका रखना, उपनयनमें आयुष्काम बालकके मस्तकका सूँघना, पुष्टिकामका तालाव आदि

विषय

४४

में मिश्रधाम्यको डाल सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खाना, अग्निकार्यमें माणवकका अग्निपर्युक्षण और अग्निनयनमें अभि-
पिच्यमान यजमानसे वाचन-ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं ॥ विष्णु
का परम पद ।

११०

तृतीय सूक्त । विद्वेषीको तथा विद्वेषिणीको खिन्चरीके मूत्रमें
पुंसन्तानसे हीन करना, अभिचारकर्ममें अज्ञनिहनवृक्षसमि-
धाओंको रखना, असपरनेष्टकाका अनुमन्त्रण, वरधधूरा परस्पर
नेत्रोंका अभ्यञ्जन, सौभाग्यसंयननकर्ममें सौघचलमूलका सम्पातित
और अभिमन्त्रित करके वाँधना, शंखपुष्पीक पुष्पका वाँधना आदि
कर्म इस सूक्तसे होते हैं ॥ अग्निशक्ति, पति और त्र्योसम्वाद् १२३

चतुर्थ अनुवाक-

प्रथम सूक्त । पुष्टिकर्ममें इन्द्रका यजन, अन्वारंगणीयेष्टिके
सारस्यत पुरोडाशका अनुमन्त्रण, नवीन घर बनानेकी भूमिकी
शुष्टिके लिये द्येनदेवताक चक्रहोम, अग्निष्टोममें पिण्डोंका अनु-
मन्त्रण, सर्वव्याधिकी चिकित्सामें जलपूर्ण घटको सम्पातित और
अभिमन्त्रित करके रोगी पर अवसेक, सर्वसम्पत्कामका मोम
और रुद्रका यजन वा उपस्थान, मिथ्यामिश्रस्तकी लोकनिन्दा-
निवृत्ति, सामनस्यकर्ममें हाथी आदि यानका अनुमन्त्रण तथा
ओदन और मंथका मक्षण, अष्टावाकयाज्यहोमका अनुमन्त्रण,
ईर्ष्याविनाशके लिये जप आदि ॥ निन्दा करने वाला और निन्दित
इनमें अधिक पापसे कौन लिप्त होता है ?

१३६

द्वितीय सूक्त । ईर्ष्याविनाशकर्ममें तपे हुए फरसेसे काथित जल
को अभिमन्त्रित कर ईर्ष्यालुको पिलाना, सर्वव्याधिकी चिकित्सामें
रोगी पर आप्लावन वा अभिवेक, सर्वसम्पत्कामका सिनीवाली
राका कुह और देवपत्नीका यजन वा उपस्थान सिनीवाली
देवताका परिग्रहण, दर्शपूर्णमासके देवपत्नीयागका अनुमन्त्रण-
इनने काम इस सूक्तसे होते हैं । सिनीवाली अमावास्या, कुह और
राका शब्दकी व्याख्या ।

१५२

तृतीय सूक्त । घूनजयकर्ममें अक्षोंका अभिमन्त्रण, सर्वफल-
कामका वृहस्पतिका यजन वा उपस्थान, उक्थयक्रतुके याज्या-
होमका अनुमन्त्रण, वृहस्पतिके निमित्त हविर्दान आदि, और

विषय

४४

वाहंरूपत्या शान्ति इल सूक्तसे की जाती है ॥ कितव शब्दकी व्याख्या, कृत आदि फालोंका वर्णन ।

१६५

पञ्चम अनुवाक-

प्रथम सूक्त । शान्त्युदकाभिमन्त्रण, साममनस्यकर्म, उपनयनमें आचार्यद्वारा माणवकी नाभिका स्पर्श, वाहंरूपत्या महाशान्ति, पुष्ट्यर्थ अप्रहायणीकर्ममें अग्निके पाससे उठना, अन्नप्राशनकर्ममें भूमिमें बैठे हुए बालकको सूर्यका दिखाना, सोमयागमें अवभृथ एनानक अनन्तर जलसे उत्क्रमण, अध्यापकोंके अर्थार्जनविद्य-शामनकर्ममें घृतका होम ये कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं ॥

सप्तविंशद्

१७८

द्वितीय सूक्त । इससे अध्यापकोंके अर्थार्जनविद्यशामनके लिये घृतकी आहुति, मार्गस्वस्त्ययनके कर्म सर्वस्वस्त्ययनके कर्म किये जाते हैं । वीरू मळर चाँटी आदिसे कांटे हुएकी चिकित्साके लिये दूध पुरुषको मधुक अभिमन्त्रित करके पिलाया जाता है, और क्षेत्रमृत्तिका वा घल्मीकमृत्तिकाको सजीवपशुचर्ममें धर सम्पातन और अभिमन्त्रित करके बाँधा जाता है, और केवल मृत्तिकाको अभिमन्त्रित करके जलके साथ पिलाया जाता है, तथा इल्दी मिले जल वा घृतको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके पिलाया जाता है तथा उपाकर्ममें घृतकी आहुति दी जाती है ॥ १९२

तृतीय सूक्त । इससे यासकोंकी अभिलपित सिद्धिके कर्म, मैत्रावरुणयाज्याहोमका अनुमन्त्रण, अभिचार कर्मकी समिधाओंका रखना, ये कर्म किये जाते हैं ॥ अशिका चौको तुप्त करना । २०४

छठा अनुवाक-

प्रथमसूक्त-परदेहसे लीटे हुएके पुष्टिप्रद कर्म, साममनस्य कर्म, क्रत्याहिसर्जनके अनन्तर गृहप्रवेश, शवदहनके अनन्तर संस्कर्ताका गृहप्रवेश, प्रबालके समय पुत्र आदिका निरीक्षण, आप्रहायणीमें मेधाकामके कर्म, उपनयनमें अशिका परिसमूहन, अग्निचयनमें आतिस्नान्दसोष्टकानुमन्त्रणके अनन्तर गार्हपत्यकी इष्टका का अनुमन्त्रण-ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं और इसकी "अयं अग्निः" ऋचाका महाशान्तिगणमें पाठ है ॥

२१०

विषय

पृष्ठ

द्वितीय सूक्त । अग्नीमें अग्निका आह्वान, काकाभिहतदोषकी शान्ति, विवाहमें कुमारीका स्नान करानेके अनन्तर चरित्रमें पूँछना, प्रतिग्रहदोषकी शान्ति, म्यूनातिरेकदोषकी शान्ति, श्रुर का संमार्जन करके नापितका देना, सघयशोमें इन्द्रियाका अनुमन्त्रण ग्रहचारीके दण्डका भंग और दूमरे दण्डके । ग्रहण करना, अग्निष्टोमके तृतीयसघनमें अग्नियोंका अनुमन्त्रण, आहिताग्निके प्रेतमंस्कारमें घृताहुति-सारस्वतयागका और सारस्वतचक्रयागका अनुमन्त्रण । इनके कर्म इस सूक्तके मन्त्रोंसे होते हैं । इसकी दो ऋचाओंका बृहद्रणमें भी पाठ है ॥ वेद न पढ़नेके अवसर । २२३

तृतीयसूक्त । इसकी दो ऋचाओंका बृहद्रणमें पाठ है । तथा अभिचारकर्ममें मध्यमपलाशसे फलीकरणोंकी आहुति, दर्शपूर्ण मासमें तण्डुलोंका पर्योन्नकरण, सोमयागमें जप, मूर्त्वाण्डका अनुमन्त्रण और अध्वर्यु आदिका अनुमन्त्रण-इस सूक्तसे किया जाता है । इसकी दो ऋचाओंका बृहद्रणमें पाठ है ।

चतुर्थसूक्त । अग्निष्टोमके प्रथममें ह्यमान घृतका अग्निष्टोम के माध्यन्दिनसघनमें दधिघर्महोमका और प्रथममें होतृकर्तृक घपट्कार और अनुघपट्कारका ग्रहोंके द्वारा अनुमन्त्रण, प्रवासके समय पशुओंका अभिमन्त्रण, और मधुपर्कःसृष्ट गौरा अतिथिके द्वारा अनुमन्त्रण इतने कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं ॥ दधीचिका उपार्यायन । २४२

सप्तम अनुवाक-

प्रथमसूक्त । इस सूक्तसे गण्डमालाकी चिकित्सा, ईर्ष्याविनाश-कर्म, दर्शपूर्णमासका वनेपायन, गोःपुष्टि, राजयक्ष्माकी चिकित्सा की जाती है ॥ जायान्य रोग । २६८

द्वितीयसूक्त । इससे राजयक्ष्माकी चिकित्सा, सोमयागके माध्यन्दिनसघनमें द्रोणकलशस्थ सोमका अनुमन्त्रण, अभिचार कर्म विद्युत्तपृक्षन्मिधाओंका रखना, सर्वरूपाधिभैषज्यकर्ममें सगन्तित अगिमन्त्रित जलघटमें रोगीका आप्लावन और अथसेचन परतीक द्वारा मुन्यमान योक्त्रका अनुमन्त्रण, दर्शपूर्णमासमें ईधन, अमावास्याका यजन या उपस्थान और दर्शयागमें धार्घणहोमका

विषय

पृष्ठ

अनुमन्त्रण और धौतदर्शयाममें कुहरेवनाका परिग्रहण किया जाता है ॥

२८४

तृतीय सूक्त । सर्वांगिलपित कर्म, पौर्णमासीका यजन वा उपस्थान, प्रजापतिका यजन वा उपस्थान, पूर्णमासी देवताका परिग्रहण, रुद्रनिष्ठोमके अनन्तर घृताहुति, प्रजापत्य आद्यारका ब्रह्मवर्तक अनुमन्त्रण, मारुद्गणी महाशान्ति, विवाहहोम, प्रवृद्धमें बुधके लिये हविःप्रदान-ये कर्म इस सूक्तसे होते हैं । सकल धौतकर्मोंमें अनुमन्त्रणका मन्त्र न दीखने पर इस सूक्तकी 'प्रजापते न त्वत्' ऋचासे अनुमन्त्रण किया जाता है ॥

२९९

अष्टम अनुवाक-

प्रथम सूक्त । सबफलकामका अग्निका यजन वा उपस्थान अग्निचयनमें ब्रह्मा द्वारा अभ्यर्चन ऋचाका जप, आग्नेयी और वास्तोष्पत्याशानिमें, ब्रह्मचारीका स्वाग्निनाशका प्रायश्चित्त, आधानमें मथित अग्निका घृतसे आक्त करना, दर्शपूर्णमासके आज्यनिर्वापकालमें ब्रह्माके द्वारा अग्निका अनुमन्त्रण, जलादरकीचिकित्सा, धूमकेतुदर्शनमें होम, पशुतन्त्रमें जप, अद्भुत महाशान्तिमें वरुणका यजन, शवसंस्कारकर्ममें जलके समापमें ब्रह्माका जप और अन्येष्टि आदिमें स्वस्वयनके लिये जप-इतने कार्य इस सूक्तसे होते हैं ॥ जल अग्निका पौत्र है । देवताके नाममें शपथ करना पापजनक है ।

३१६

द्वितीय सूक्त । अग्निका उपस्थान, इन्द्रमहाख्य उत्तममें हंवि की आहुति, अग्निचयनमें ब्रह्मकर्तृक चित्यनुमन्त्रण, इन्द्रका यजन वा उपस्थान, बपाकमका आज्यहोम, अन्येष्टिमें जप, स्वस्वयनकामका रुद्रोका यजन वा उपस्थान, दर्शपूर्णमासमें संमार्गका अग्निमें निक्षेप, अग्निष्टोममें शालादहन होने पर अग्निके लिये नमस्कार, सर्पघिपचिकित्सा, शान्त्युद्कामिमन्त्रण, वेद्वन आदिमें समिधाओंका रखना, आचार्यमरणमें संस्कारके अनन्तर ब्रह्मचारीका स्नान, दर्शपूर्णमासमें इडाभागप्राशनके अनन्तर प्रस्तरमें मार्जत, अग्निष्टोममें अशुभस्नानके अनन्तर आहवनीय अग्निका उपस्थान, अग्निकार्यमें ब्रह्मचारीका हस्तप्रक्षालन, चातुर्मास्यके वरुणप्रघासकर्ममें मार्जत, दर्शपूर्णमासमें दक्षिणावतिग्रहणके अन-

विषय

४४

न्तर अग्नीध्रका समिधाधान, स्मार्तदर्शपूर्णमासमें दूसरी तीसरी समिधाओका आधान और मुखशुद्धि, जारोन्चाटन, मन्त्र-चारीका ऊष्माणक्षण-इतने कर्म इस सूक्तके मन्त्रांस होते हैं । और चातुर्मास्यसामकेधपर्वके त्रयस्यकर्ममें इसकी 'यो अग्नी' ऋचाका विनियोग होना है ॥

३३३

नवम अनुवाक-

प्रथम सूक्त । सामकामका इन्द्रयजन वा इन्द्रोपरधान आदि, इन्द्रमहाप्य उभयमें घृताहुति, अग्निष्टोममें आग्नि-पालकी-पर घरेसामका अनुमन्त्रण, आग्निष्टोममें आग्निमारुत स्तुतिके अनन्तर अवनीयमान ध्रुवपात्रस्य सामका अनुमन्त्रण, अमिचारकर्ममें घृताहुति, मण्डूकमुखापनुदन अमिचार कर्ममें अक्षशालितण्डुलक क्षीरमानको सम्पातित और अमिमन्त्रित करके शत्रुवा देना, दर्श-पूर्णमासमें संस्थितहोम, ओर उपनयनकर्ममें ब्रह्मचारक द्वारा जल-पात्रका अवेशन-इतने कर्म इस सूक्तमें होते हैं

३५५

द्वितीय सूक्त । दर्शपूर्णमासके संस्थितहोम भौतदर्शपूर्णमास संस्थितहोम, दर्शपूर्णमासमें प्रह्वियमाण प्रस्तरका अनुमन्त्रण, स्मार्तदर्शपूर्णमासमें यद्भिःप्रस्तरण, भौत दर्शपूर्णमासमें वेदीका परिसृष्टान करते हुए अध्वर्युका प्रह्वकर्तृक अनुमन्त्रण, दुःस्वप्न-दर्शनार्थ जप, स्वप्नमें अन्नमक्षणके दोषकी निवृत्तिके लिये जप, स्वस्वप्यनमें मन्त्राक्त देवताओंके लिये उपस्थान वा नमस्कार-इतने कर्म इस सूक्तकी ऋचाओंसे किये जाते हैं ॥

३६७

दशम अनुवाक-

प्रथमसूक्त । सर्वफलकामके द्वारा प्रजापतिका यजन वा उप-स्थान, उपनयनमें सूर्यदर्शनक अनन्तर घालककी पूर्वकी ओर मुख करके बैठाना, दूधरेका स्वेदा न कहने पर अग्निका उपस्थान, दर्शपूर्णमासमें कर्मविस्मरण होनेपर प्रायश्चित्ताहुति, अग्निष्टोममें दीक्षानियमलोपके प्रायश्चित्तके निमित्त अग्निका उपस्थान, कामश्लेषकी चिकि-मामें अमिमन्त्रित अग्नि जलका उपयोग वा सूर्योपस्थान, अमिचारकर्ममें अशनिहतगृक्षसमिधाओं रखना, दानजयकर्ममें वासित अमिमन्त्रित अश्वोंसे दूधक्रीड़ा आदि कर्मों का इस सूक्तमें वर्णन है ॥

३८१

विषय

१४

द्वितीय सूक्त । इसके चतुर्ऋचका यजनयकर्ममें विनियोग होता है । शत्रुसेनाविजयार्थ इसकी 'इन्द्र अग्निश्च' आदि ऋचाओं से नवीन रथका सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सारथिसहित राजाको रथ पर सवार करे । सर्वफलकाम 'इन्द्र अग्निश्च' आदि तीन ऋचाओंसे अग्नि और इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे । आम्रयणेष्टिमें 'इन्द्र अग्निश्च' से आग्नेन्द्रपुरोडाशयागका अनुमन्त्रण करे । वृषोत्सर्गमें 'इन्द्रस्य कुक्षिः' से वृषभको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके छांद देय । अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें सोमसहित पूतभृत्पात्रका प्रह्लाकतृक अनुमन्त्रण, सर्वव्याधिचिकित्सामें आप्लावन अभिवेचन भी इस सूक्तकी ऋचाओंसे होता है 'शुभनी' द्व्यृचका अंहोलिंगगणमें कहे हुए कर्मोंमें भी विनियोग होता है । तथा विवाहमें इस ऋचासे घृनाहुनि देकर घरवधू के मस्तक पर सम्पातोंको लावे, घरवधूके हाथमें जलपूर्णपात्र रखे ॥

३६७

तृतीय अनुवाक । स्त्री पुरुषोंमें द्वेष फैलाना, दौर्भाग्यकरण, रक्षोप्रहकी चिकित्सा, नैर्ऋतकर्म, दुःस्वप्नदर्शनशेषपरिहार, लर्षद्वरचिकित्सा, स्वस्त्ययनकामका इन्द्रयाग वा इन्द्रोपस्थान, शशसंस्कर्ताका प्रात्यहिक स्वस्त्ययन, अग्निष्टोममें द्वारियोजन-होमानुमन्त्रण, परसेनात्रासनकर्ममें अभिमन्त्रित कण्ठप्रदान, और महाव्रतमें राजाको कवच पहिराना—ये कर्म इससे किये जाते हैं ४०९

✽ अष्टम-काण्ड ✽

प्रथम अनुवाक—

प्रथम द्वितीय सूक्त । इनसे उपनयनकर्ममें माणवककी नाभिकी लृकर आचार्यका जप करना, आयुष्कामके शरीरका अनुमन्त्रण, आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण—ये काम इन दोनों सूक्तोंसे होते हैं । तथा महाशान्तिमें भी इसका जप होता है ॥ मर्त्यलोक का अमृतत्व । इत्यादि

४२७

तृतीयसूक्त । इससे आयुष्काम शरीरका अभिमन्त्रण करे, ऋषिहस्तसे आयुष्काममें शरीरका अभिमन्त्रण करे, नामकरण में कुमारके हाथमें अधिच्छिन जलधारा डाले, देवदाहमणिकी

विषय

४५

सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे, और घोटकर पिलादेय, प्रतापिको प्रज्वलित करे, महाशांतिमें जप करे, वैश्वदेवीशांतिमें देवदासमणिको बाँधे ॥

४५०

चतुर्थ सूक्त । कलहरूपा राक्षसीसे गृहीतकुलमें शान्तिके लिये इलकी दो ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय नैर्ऋतकर्ममें इंगिडाण्य आदिको शर्करामिश्रित करके आहुति देय । गोदानादि संस्कार-कर्मोंमें दूध चसे बालकको घ्रीहि जी और जण्डके अभिमन्त्रित करके बालकके मस्तक पर रखे, बालकका निष्क्रमण करे, अद्भुत महाशांतिमें सूर्य और चन्द्रमाका यजन करे, मिथ्याभिशापकी निवृत्तिकेलिये सक्तुमंथ पाओदनको अभिमन्त्रित करके मिथ्याभि-शाप्तको देखे और पलाश आदिकी मणिको सम्पातित और अभि-मन्त्रित करके निन्दितकं बाँधे । नामकरणमें घस्रसे बालकको आच्छादित करे, गोदानकर्ममें चील तथा उपनयनमें भी धुरका अभ्युक्षण और मार्जन करे, अन्नप्राशन कर्ममें धान और जौको पासकर बालकको चटा देय । गोदान आदिमें धान और जौको अभिमन्त्रण करके बालकके मस्तक पर रखे । ये कर्म इस सूक्तके मंत्र २ मंत्रोंसे किये जाते हैं ॥

४६२

पञ्चम सूक्त । इसके "शतं तेऽयुतम्" भागका 'आरभन्ध' के (८।२) अनुसार विनियोग होता है । गोदान आदि कर्मोंमें धान और जौको अभिमन्त्रित करके 'शरदेत्वा' भागसे अनुमन्त्रण करके बालकके मस्तक पर रखे ॥

४७५

द्वितीय-अनुवाक-

प्रथम सूक्त । इससे ध्यानगणके काम हांते हैं और घृतकम्यल नामक महाविषकेमें इस अनुवाकका जप किया जाता है ।

४८२

द्वितीय सूक्त । गौ दूधकं स्थानमें रक्त दुहाने लगे तो इस अद्भुतकी शान्तिके लिये इसकी पन्द्रह सोलह सत्रह और अठारहवाँ ऋचाओंसे आहुति देय ।

४२६

तृतीय सूक्त । इसका अनुवाकप्रयुक्त जप होता है । तथा अग्नि-रहितदेशमें अग्निदर्शनरूप अद्भुतकी शान्ति, सशब्द अग्नि होने पर अग्निका उपस्थान और टाम्पाधानमें पावकगुणकाम्रियागका अनु-मन्त्रण भी इस सूक्तसे किया जाता है ।

५०६

विषय

पृष्ठ

चतुर्थ पञ्चम और पष्ठ सूक्त । इनका अनुवाक प्रयुक्त जप होता है

५१२

तृतीय अनुवाक-

प्रथम द्वितीय सूक्त । इससे अभिलषित सिद्धिके काम, शान्त्युद्कामिमंत्रणद्वोम आदि, रौद्री महाशक्तिके अन्तर्गत तिलक-मणिवंधन, पिष्टरात्रिधिधानका प्रतिस्वरबंधन किया जाता है । ५३८

तृतीय चतुर्थ और पञ्चम सूक्त । इसका शान्त्युद्कामिमंत्रण आदि और लीमन्तोन्नयनमें काम पड़ता है ।

५६९

चतुर्थ अनुवाक-

प्रथम सूक्त । इससे यक्षमा आदि सकल व्याधियोंमें मणि वाँधी जाती है, और सौत्रामणिकी सुराका अनुमन्त्रण किया जाता है ।

५८३

द्वितीय सूक्त । इससे शत्रुक्षयके कार्य किये जाते हैं ।

५९६

षष्ठम अनुवाक-

प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ पञ्चम पष्ठ और सप्तम सूक्त । इसमें विराट् आदिके विषयका श्रवण और विचार है ।

६१०

समाप्त.



✽ सरल आयुर्वेद शिक्षा ✽

मूल्य दो रुपया

वैद्यकका अनूठा ग्रंथ

इस पुस्तकको पासमें रखने पर वैद्यकके बड़े २ ग्रन्थोंके पासमें रखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। हमने बड़े २ ग्रन्थोंको बहुतसा धन देकर इस पुस्तकको लिखाया है इसमें सर्वसाधारणके समझने योग्य भाषामें रोगोंके लक्षण उपद्रव चिकित्सा और औषधियोंके बनानेकी रीति दी गई है। इसके ध्यानसे पढ़ने पर ग्रन्थोंके पास जानेकी आवश्यकता नहीं रहती और पुरुष स्वयं भी एक वैद्य बन सकना है बहुतसा द्रव्य खर्च करने पर भी सर्वसाधारणके सुभीतेके लिये हमने इसका मृत्यु बहुत थोड़ा अर्थात् दो रुपया मात्र रक्खा है। डाकभ्ययका ॥=) अलग लगेगा।

✽ श्राद्धतत्त्व ✽

श्राद्ध करनेसे क्या लाभ होता है और श्राद्ध क्यों करना चाहिये आदि विषयोंके इसमें युक्ति और शास्त्रके प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है। मूल्य ३) आना

✽ गजल गङ्गालहरी ✽

इसमें गङ्गालहरीके प्रायेक श्लोकका एक एक गजलमें अनुवाद है। मूल्य -)॥

✽ परलोकविज्ञान ✽

हममेंसे बहुतसोंको तो परलोक होनेका निश्चय ही नहीं जो अपने लग-पूज्य पूर्वपुरुषों पर विश्वास रखकर परलोकके मानते हैं उनमें भी अधिकतर लोग परलोकके स्वरूपके नहीं जानते ऐसे अनेकों मित्रोंके पत्र आते हैं कि-परलोक और पुनर्जन्मका प्रबल प्रमाण देा, उनको अलग २ पूरा उत्तर लिख भेजना समयसाध्य और कठिन मान कर यह सर्वसाधारणके सुभीतेके लिये यह परलोकविज्ञान नामक पुस्तक छापकर प्रकाशित की है मूल्य ६ आना

पता-सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

सप्तमं-काण्डम्

❀❀❀

सप्तमं काण्डम् अथर्ववेदसंहिता

यस्य निश्वासितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

॥❀❀॥ श्रीगणेशाय नमः ॥❀❀॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं
और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सब जगत्की रचना की है उन
विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

सप्तमे काण्डे दशानुवाकाः । तत्र प्रथमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि ।
तत्र “धीती वा ये” इति प्रथमे सूक्ते आद्याभ्यां द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम्
अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि आज्यसमित्पुरोडाशादिशक्नुव्य-
न्तानां त्रयोदशानां द्रव्याणाम् अन्यतमं जुहुयात् जपेद् वा । तद्
उक्तं संहिताविधौ । “धीती वेत्यर्थम् उत्थास्यन्नुपदधीत जपति”
इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा सर्वफलकामः आभ्याम् ऋग्भ्याम् इन्द्राग्नी यजते उप-
तिष्ठते वा । “तदिह् आस [५. २] धीती वा [७. १] इती-
न्द्राग्नी” [कौ० ७. १०] इति कौशिकसूत्रात् ॥

अत्र “अथर्वाणं पितरम्” इत्यष्टर्चेन सर्वफलकामः अथर्वाणं
यजत उपतिष्ठते वा । “यस्येदमा रजः [६. ३३] अथर्वाणम्

(२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

[७. २] अदितिघांः” [७. ६] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

“अया विष्टा” इति बृचेन नवं रथम्, अभिमन्व्य जयकामं राजानम् आरोहयेत् । सूत्रितं हि । “अया विष्टा [७. ३] अम इन्द्रः [७. ११५] दिशश्चतस्रः [८. ८. २२] इति नवं रथं राजानं सप्सारथिम् आस्थापयति” इति [कौ० २. ६] ॥

“एकया च” [७. ४] इत्यनया अश्वशान्तौ सर्वांपधिचूर्णम् अश्वस्य मूर्ध्नि प्रकिरेत् । “वातरंहाः [६. ६२] इति स्नातेश्वे” इति प्रक्रम्य कौशिकेन सूत्रितम् । “चूर्णैरवकिरति त्रिरेकया च” इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा चातुर्मास्ये शुनासीरीयपर्वणि वायव्ययागानुमन्त्रणम् अनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । “वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यम् एकया चेति” [वै० २. ५] ॥

“यज्ञेन” इत्यनया सोमयागे आतिथ्येष्टौ हविर्ब्रह्माभिमृशेत् । “आनिध्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ३] ॥

सप्तम काण्डमें दश अनुवाक हैं, पहिले अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे अर्थोत्थापन विघ्न-शपनकर्ममें घृत समिधा पुरोडाशसे लेकर पूरी तरुके तेरह द्रव्यों मेंसे किसी एक द्रव्यसे आहुति देय वा जप करे । इसी वातको संहिताविधिमें अर्थात् कौशिकमूत्रमें कहा है, कि-“धीती वेत्यर्थं तस्यास्पन्नुदधीत जपति” (कौशिकमूत्र ५ । ५) ।

तथा सब फलोंको प्राप्त करना चाहने वाला भी इन दो ऋचाओंसे इन्द्र और अग्निदेवका यजन वा उपस्थान करे । इसी वातको कौशिकमूत्र ७ । १० में कहा है, कि- “तदिद्व आस (५ । २) धीती वा (७ । १) इतीन्द्राग्नौ” और सर्वफलकाम “अथर्वाणम् पितरम्” इन आठ ऋचाओंसे अथर्वाका यजन वा

उपस्थान करे इसी वातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि-
“यस्येदमा रजः (६।३३) अथर्वाणम् (७।२) अदितिर्घौः (७।६)”

“अया विष्टा” इन दो ऋचाओंसे नवीन रथको अभिमन्त्रित कर विजयाभिलाषी राजाको बैठावे । इसी वातको कौशिकसूत्र २ । ६ में कहा है, कि-“अया विष्टा (७ । ३) अग्न इन्द्रः (७ । ११५) दिशश्चतस्रः (८ । ८ । २२) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति” ॥

“एकया च” इस (७ । ४) से अश्वशान्तिमें सर्वोपधिचूर्ण को घोड़ेके मस्तक पर बुरबुरा देय (बखेर देय) कौशिकसूत्र में ‘वातरंहा’ (६ । ६२) से घोड़ेको स्नान करानेके लिये कह कर आगे कहा है, कि-“चूर्णैरवकिरति त्रिरैकया च” ॥

तथा चातुर्मास्यके शुनासीरीयपर्वमें इस ऋचासे वायव्ययाग का अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र २ । ५ में कहा है, कि-“वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यं एकया चेति” ॥

सोमयागकी आतिथ्येष्टिमें “यज्ञेन” इस ऋचासे ब्रह्मा हविका अभिमर्शन करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-
“आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्” (वैतानसूत्र ३ । ३ ॥

तत्र प्रथमा ॥

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येवद-
न्नुतानि ।

तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः

धीती । वा । ये । अनयन् । वाचः । अग्रम् । मनसा । वा । ये ।

अवदन् । ऋतानि ।

तुरीयेन । ब्रह्मणा । वृथानाः । तुरीयेण । अमन्वत । नाम । धेनोः

यद्यपि अस्मिन् ऋचे देवताविशेषो न प्रतीयते तथापि “अनि-
रुक्तो वै प्रजापतिः” इति [ऐ० ब्रा० ६, २०] श्रुतेर्देवता अत्र
प्रजापतिः । “अथर्वाणं पितरम्” इत्यष्टर्चेपि प्रजापतिर्देवता ।
अथर्वशब्दः प्रजापतिवाचक इति वक्ष्यते । अतः कृत्स्नम् इदं सूक्तं
प्रजापत्यम् । अत एव अयोत्थापनकर्मणि समिदाज्यादिहोमे
देवताविशेषादर्शनात् प्रजापतिर्देवतेति निश्चीयते ॥ अथवा “धीती
वेति ऋचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः” इति विनियोगविधानात्
तयोश्च “उभा दाताराविषां रयीणाम्” [ऋ० ६, ६०, १३]
इत्यादिषु फलदावृत्त्वप्रसिद्धेः देवताविशेषानादेशस्थलेषु च
प्रजापतिवद् इन्द्रस्यापि देवतात्वेन स्मरणात् ऐन्द्रेषु च मन्त्रेषु
“मुञ्चामि त्वा हविषा” [ऋ० १०, १६१, १] इत्यादिषु अग्ने-
निपातभाक्त्वाद् इन्द्राग्नी देवतेति अध्यवसीयते । अपि च “यत्
सर्वेषाम् अर्थम् इन्द्रः प्रति” [तै० सं० ५, ४, ८, ३] इति “अग्निः
सर्वा देवताः” [तै० सं० २, २, ६, १] इति इन्द्रस्याग्नेश्च सर्व-
देवतात्मकत्वाभिधानात् तयोर्पागेन सर्वकामप्राप्तिरुक्ता । अतस्तस्य
तयोर्वा इतरदेवतावन्न स्तुतिहविःप्रदानमात्रेण अर्थसिद्धिः किं तु
तन्माहात्म्यज्ञानेनैव इत्यभिप्रेत्य आद्ययर्चा तज्ज्ञानमकारः उत्तरया
तत्सार्वात्म्यम् अभिधीयते ॥

ईदृशी खलु विवक्षणां शब्दाभिव्यक्तिः । प्रथमम् अभिलपि
तम् अर्थं विवक्षोः पुरुषस्य तद्वाचकशब्दप्रयोगार्थं तदिच्छावशेन
जातात् मयत्नात् मूलाधारे प्राणवायोः परिस्पन्दो जायते । तेन
परिस्पन्देन मूलाधारे सकलशब्दमूलकारणभूता निष्पन्दा सूक्ष्मा
परा वाक् आविर्भवति । सैव मूलाधाराद् ऊर्ध्वं नाभिदेशं प्राप्ता
सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थदर्शनात् पश्यन्तीति उच्यते ।

सैव हृदयदेशं प्राप्ता अर्थविशेषनिश्चयबुद्धियुक्ता मध्यदेशावस्थानाद् मध्यमेति गीयते । सैव कण्ठताल्वादिस्थानेषु वर्णरूपेण व्यज्यमाना विशेषेण परावबोधप्रचण्डा वैखरीति भण्यते । अत्र पराव्यवस्थात्मकास्त्रयः शब्दा देहान्तर्गतत्वाद् अस्फुटत्वेन विवक्षितम् अर्थं परेभ्यो न प्रतिपादयन्ति । वैखर्यात्मकः शब्द एव अर्थप्रत्यायनक्षमः । “गुहा त्रीणि निहता नेह्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति” इति हि निगमः [ऋ० १. १६४. ४५] । गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते इति हि यास्केन व्याख्यातम् [नि० प० १. ६] । आगमोपि ।

स्वरूपं ज्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी ।
 यस्यां दृष्टस्वरूपायाम् अधिकारो निवर्तते ॥
 अविभागेन वर्णानां सर्वतः संवृतक्रमा ।
 प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥
 मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा ।
 अन्तःसंजल्परूपा तु न श्रोत्रम् उपसर्पति ॥
 ताल्बोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या परबोधप्रकाशिनी ।
 मनुष्यमात्रमुलभा वाह्या वाग् वैखरी मता ॥

इति । तथा च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ये प्रजापतेः इन्द्राभ्योर्वा वाचकशब्दं विवक्षन्वः स्तोतारः धीती । ❀ ध्यायतेः क्तिनि छान्दसं संप्रसारणम् । “हलः” इति दीर्घः । “सुपां सुलुक्” इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । धीत्या ध्यानात्मकेन विवक्षाजन्यप्रयत्नजातमाख्यवायुपरिस्पन्दाविभूतेन परावस्थापन्नेन प्रथमेन शब्दब्रह्मणा इति यावत् । “तृतीयेन ब्रह्मणा” इति वक्ष्यमाणत्वाद् अत्रापि संख्याविशिष्टब्रह्मपदं संबध्यते । वाशब्दः चार्थे । वाचो अग्रम् । “सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति” इति [क० व० २. १५] श्रुतेः सकलव्रज्यप्रतिपाद्यत्वेन मुख्यम्

निखिलवाग्व्यवहारस्य वा आदिभूतं प्रजापतिरूपम् अर्थम् इन्द्राग्नि-
रूपं वा अनयन् ध्यानविषयत्वं प्रापितवन्तः । ❀ “यद्वृत्ता-
दित्यम्” इति निघातनिषेधः । अडागमस्य उदात्तत्वेन आद्यु-
दात्तं षट् भवति ❀ । ये च विवक्षवः मनसा सामान्यधर्मग्राहकेण
पश्यन्त्यात्मकेन द्वितीयेन शब्दब्रह्मणेत्यर्थः । ऋताति सत्यभूतानि
अखण्डपरावस्थापेक्षया ईषद् उद्गतानि वा वाक्यानि देवतावाचक-
शब्दविचारविषयाणि अवदन् । वदनम् अत्र सामान्यज्ञानं
विवक्षितम् । पूर्ववाक्ये यच्चब्दश्रुतेस्तच्चब्दः अध्याहार्यः । ते
विवक्षवः तृतीयेन । ध्यानमनोवच्छिन्नपरापश्यन्त्यपेक्षया तृती-
यत्वम् । त्रित्वसंख्यापूरकेण ब्रह्मणा । अन्तर्विभक्तवर्णात्मकेन
अर्थविशेषाध्यवसायबुद्धियुक्तेन मध्यमारुयेनेत्यर्थः । वाट्टधानाः ।
❀ अन्तर्भावित्यर्थः । वृधेल्लिटः कानच् । तुजादित्वाद् दीर्घः ।
“चितः” इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । वर्धयन्तः अशब्दविषयम् अर्थं
शब्दवाच्यत्वेन पोषयन्तः तुरीयेण चतुर्थेन । ❀ “चतुरश्रपता-
वाद्यक्षरलोपश्च” इति छप्रत्ययः ❀ । चतुःसंख्यापूरकेण वैखर्या-
त्मकेन वर्णपदवाक्यरूपेण ब्रह्मणा धेनोः । वाङ्नामैतत् । वाच्य-
वाचकयोरभेदाद् वाच्ये वाचकशब्दः । मन्त्रप्रतिपाद्यस्य । यद्वा
धेनुवद् धेनुः । अभिमतफलमदानेन प्रीणनकारिणः प्रजापतेः नाम
नामधेयम् प्रजासर्जनपालनादिधर्मकं प्रजापतिरिति । इन्द्राग्नि-
देवतापक्षे इदं दर्शनभूतेन्धनादिगुणविशिष्टम् [नि० १०, ८]
इन्द्र इति अग्रणीत्वाद्गनादिगुणकम् अग्निरिति च नामधेयम् अम-
न्वत । उच्चारितवन्त इत्यर्थः । ❀ धातूनाम् अनेकार्थत्वात् । मनु
अवबोधने । तांनादिकः ❀ । एवं परादिवाचा प्रतिपादितस्वरूपः
प्रजापतिः अस्माकम् अभीष्टं साधयित्विति इन्द्राग्नी वा साधय-
ताम् इति प्रार्थना ॥

अथवा वाचो अग्रम् इति पदेन वेदात्मिकाया वाचो निदानं

पर्यवसानभूमिर्वा परमात्मतत्त्वं विवक्ष्यते । तथा च ऐतरेयारण्यके
 “तदिह् आस भुवनेषु ज्येष्ठम्” [ऋ० १०. १२०] इत्यस्य
 सूक्तस्य तच्छब्दप्रशंसावसरे समाम्नायते । “बृहस्पते प्रथमं वाचो
 अग्रम् [ऋ० १०. ७१. १] इत्येतद्ध्येव प्रथमं वाचो अग्रम्”
 इति [ऐ० आ० १. ३. ३] । “तदिह् आस” इत्यत्र तच्छब्देन
 सर्वश्रुतिप्रसिद्धं सर्वजगत्कारणं ब्रह्म अभिहितं तद् अत्र एत-
 च्छब्देन विवक्ष्यत इति तत्रार्थः । तादृशं सकलवाङ्निदानभूतं
 तत्त्वं ये जिज्ञासवो महर्षयो देवा वा धीती । कर्मनामैतत् । धीत्या ।
 वाशब्दो विकल्पवाची । बाह्यविषयव्यापृतया । अक्षवृत्त्या अन-
 यन् । ज्ञातुं प्रयत्नं कृतवन्त इत्यर्थः । अनेन जाग्रदवस्थाभिमानि-
 विश्वसंज्ञात्मना तत्त्वं ग्रहीतुम् उद्युञ्जत इत्युक्तं भवति । ये वा
 ततोपि सूक्ष्मदर्शिनो मनसा केवलेन अन्तःकरणेन ऋतानि सत्य-
 ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि अवदन् । अनेन स्वभावस्थायां केवल-
 मनोव्यापारात् तदभिमानितैजसात्मकब्रह्मणा तत्त्वज्ञानाय प्रयतन्त
 इत्युक्तं भवति । ये वा ततोऽप्यान्तरं वस्तु जिज्ञासमाना वाटुधानाः ।
 ❀ वर्धते: “लक्षणहेत्वोः” इति हेतौ ज्ञानचि व्यत्ययेन शपः
 श्लुः ❀ । परिच्छेदापनयनरूपवर्धनाद्धेतोः तृतीयेन त्रित्वसंख्या-
 पूरकेण ब्रह्मणा चैतन्यात्मना । अत्र सुषुप्तौ कारणशरीराभिमानौ
 प्रज्ञानधनः प्राज्ञो विवक्षितः । तेन जागरस्वभावस्थावत् सुषुप्तौ
 बाह्यान्तरेन्द्रियजनितविक्षेपाभावात् अपरिच्छिन्नब्रह्मभावेन वर्तन्त
 इति शेषः । एवम् अवस्थात्रयाभिमानिविश्वादितादात्म्येन तत्त्वं
 बुभुत्सवः सर्वेपि तत्रतत्र निरस्तसमस्तभेदं तत्त्वम् अलभमानाः
 सन्तः धेनोः वाचो अग्रम् इति निर्दिष्टस्य फलप्रदस्य वा परमा-
 त्यनः नामनामकं यत्स्वरूपं प्रति सर्वे प्रणताः तत् निरस्तसमस्तो-
 पाधिकं सत्यज्ञानादिलक्षणं तत्त्वं तुरीयेण तुर्यावस्थापन्नेन कारण-
 शरीराभिमानरहितेन सर्वसाक्षिणा चैतन्येनात्मना अमन्वत

जानन्ति स्म । “गूढं सूर्यं तममापव्रतेन तुरीवेण ब्रह्मणाविन्दद्
अग्निः” हि निगमः [ऋ० ५. ४०. ६] । “स ब्रह्मा [स शिवः]
स हरिः सेन्द्रः सोत्तरः परमः स्वराट्” इति श्रुतौ [तै० आ०
१०. ११. २] परमात्मनो नानादेवतानानव्यदहार्यत्वदर्शनाद्
अत्र प्रजापतिशब्दव्यपदेश्यम् इन्द्राग्निशब्दव्यपदेश्यं वा तदेव तत्त्वं
सम्यग् अधिगतं सत् अस्माकम् अभिमतं साधयतिवति प्रार्थ्यते ॥

यद्यपि इस अर्थमें किसी देवताकी प्रतीति नहीं होती है, तथापि
‘अनिरुक्तो वै प्रजापतिः ॥—जहाँ किसी देवताको न कहा हो
तहाँ प्रजापति देवता समझना चाहिये’ इस ऐतरेयब्राह्मण ६।२०
की श्रुतिके अनुसार यहाँ प्रजापतिदेवता समझना चाहिये ।
‘अथर्वणम् पितरम्’ इस अर्थमें भी प्रजापति देवता है, क्योंकि
अथर्वा शब्द प्रजापतिका वाचक है—यह आगे कहा जावेगा, अत
एव यह पूर्ण सूक्त प्रजापति देवता वाला है, अत एव अर्थोत्था-
पनकर्मके समिदाज्यादि होममें किसी देवताका वर्णन न होनेसे
प्रजापति देवताका यहाँ निश्चय किया जाता है । अथवा—“धीती
वेति अृचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः ।—धीती वा इस दो ऋचा
वाले सूक्तसे सर्वकाम इन्द्र और अग्निका पूजन करे” इस विनि-
योगके अनुसार इन्द्र और अग्नि देवताका निश्चय होता है और
“उभा दाताराविषां रयीणाम्—ये दोनों धन और अन्नके देने
वाले हैं” इस ऋग्वेदके ६ । ६० । १३ वें आदि मन्त्रोंमें इन
दोनों देवताओंका फलदातृत्व प्रसिद्ध है और जहाँ किसी देवता
का वर्णन न हो तहाँ प्रजापतिकी समान इन्द्र भी देवतारूपसे
स्मृत होते हैं और ‘मुञ्चामि त्या हविषा’ (ऋ० १०।१६।१)
इत्यादि ऐन्द्र मन्त्रोंमें अग्निके निपातभारु होनेके कारण इन्द्र
और अग्निदेवताकी प्रतीति होती है ॥ और भी एक वाक्य है कि-
तैत्तिरीयसंहिता ५ । ४ । ८ । ३ में कहा है, कि—‘यत्र सर्वेषा-

मर्थे इन्द्रं प्रति—सयका आधा भाग इन्द्रकी ओर जाता है” तथा वैचिरीयसंहिता २ । २ । ६ । १ में कहा है, कि—‘अग्निः सर्वा देवताः ॥—अग्नि सर्वदेवस्वरूप है’ इस प्रकार इन्द्र और अग्निके सर्वदेवतात्मक होनेसे उनके यागसे सर्वकामप्राप्ति उचित ही है । अतएव प्रजापति देवता वा इन्द्र और अग्नि देवताओंकी दूसरे देवताकी समान स्तुतिहविः प्रदानमात्रसे ही अर्थसिद्धि नहीं होती, किंतु उनके माहात्म्यके ज्ञानसे ही अर्थसिद्धि होजाती है—इस बातको लक्ष्यमें रख कर पहिली ऋचासे इनके ज्ञानका प्रकार और दूसरी ऋचासे सार्वार्थ्य कहा जाता है ।

कहनेकी इच्छा करने वालोंका शब्द इस प्रकार प्रकट होता है, कि—पहिले अभिलपित अर्थको कहनेकी इच्छा वाले पुरुषके तद्वाचकशब्दके लिये उसकी इच्छाके अनुसार उत्पन्न हुए प्रयत्न से मूलाधारमें प्राणवायुका परिस्पन्द होता है । उस परिस्पन्दसे मूलाधारमें सकल शब्दोंकी मूलकारणभूत स्पन्दरहित सूक्ष्म परा वाक् आविर्भूत होती है । वही मूलाधारसे ऊपर नाभिस्थानमें प्राप्तहुई सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थके दर्शनके कारण पश्यंती कहलाती है । वही हृदयदेशको प्राप्त हुई किसी अर्थकी निश्चय बुद्धिसे युक्त—मध्यदेशमें अवस्थान करनेके कारण मध्यमा कहलाती है । वही तालु आदि स्थानोंमें वर्णरूपसे प्रकट होती हुई विशेषरूपसे दूसरे के ज्ञानके लिये प्रचण्ड होनेके कारण वैखरी कहलाती है । यहाँ परा आदि तीन अवस्थाओंमें विद्यमान शब्द देहके मध्यमें होनेसे अस्फुट होनेके कारण विवक्षित अर्थको दूसरों को नहीं जताते हैं । वैखर्यात्मक शब्द ही अर्थको जतानेमें समर्थ है । ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५ में भी कहा है, कि—‘गुहा त्रीणि निहिता नैगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥—अर्थात् पराद्यवस्थात्मक तीन शब्द गुहामें स्थित रहते हैं अतएव कुछ चेष्टा नहीं

करते हैं और चौथे स्थानमें स्थित शब्दको मनुष्य वाणी कहते हैं निरुक्तपरिशिष्ट १। ६ में यास्कमुनिने व्याख्या की है, कि—
 “गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते ।” इस विषयमें आगम भी है, कि—“स्वरूपं ज्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी । यस्यां दृष्टस्वरूपायां अधिकारो निवर्तते ॥ अविभागेन वर्णानां सर्वतः संवृतक्रमा । प्राणाश्रयात् तु परयन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥ मध्यमा बुद्ध्युपादानात् कृतवर्णपरिग्रहा । अन्तःसञ्जल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ॥ ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या पर बोधप्रकाशिनी । मनुष्यमात्रमुलभा वाद्या वाग् वैखरीमता ।-अन्तः ज्योतिःस्वरूप ही अनपायिनी परा वाक् है, उसके स्वरूपका - दर्शन होने पर अधिकार निवृत्त होजाता है । मयूरके अण्डके रसके समान वर्णोंमें अविभागरूपसे संवृतक्रम वाली प्राणका आश्रय करनेसे परयन्ती कहलाती है । बुद्धिरूप उपादान वाली वर्णोंको ग्रहण करनेवाली वारुण्यमा कहलानी है, यह भीतर ही भीतर कहनेके रूपमें होती है, किसीके कानके पास नहीं जाती है । और ताल्वोष्ठ आदिके स्पर्शसे प्रकट होने वाली दूसरेको बोधरूपमें प्रकाशित होने वाली मनुष्यमात्रको सुलभ वाहरी वाक् वैखरी कहलाती है ॥”

अब इस ऋचाका यह अर्थ है, कि—प्रजापति वा इन्द्र- और अग्निके वाचकशब्दको कहना चाहनेवाले स्तोता धीतिसे अर्थात् ध्यानात्मक विवक्षाजन्यप्रयत्नसे उत्पन्न माणवायुके परिस्पन्दसे आविर्भूत परावस्थाको प्राप्त हुए प्रथम शब्दब्रह्मसे, जिस ‘सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति-सर्व वेद जिस पदको कहते हैं’ (कठवल्ली २। १५) श्रुतिके द्वारा सकल वाक्य प्रतिपाद्यत्वरूपसे गुह्य वा सम्पूर्ण व्यवहारोंके आदिभूत प्रजापतिरूप अर्थको वा इन्द्राग्नि-रूप अर्थको ध्यानविषयको प्राप्त करते हैं फिर जो विवक्षु (कहनेकी

इच्छा वाले स्तोता) मनसे अर्थात् सामान्यधर्मग्राहक पश्यन्तीरूप-
द्वितीय शब्दब्रह्मसे अखण्डपरावस्थाकी अपेक्षा ईषद् उद्भूत सत्त्यों
को वा देवतावाचक शब्दविचारविषयक वाक्योंको सामान्यज्ञान
रूपमें जानते हुए । वे स्तोता ध्यान और मनसे अवच्छिन्न परा
और पश्यन्तीकी अपेक्षा तृतीयब्रह्मसे अर्थात् अन्तर्बिभक्तवर्णा-
त्मक अर्थविशेषका निश्चय करनेकी बुद्धिसे युक्त मध्यमाख्यब्रह्म
से अशब्दविषयक अर्थको शब्दवाच्यत्वरूपसे पुष्ट करते हुए, वे
चौथे वैखर्यात्मक वर्णपदवाक्यरूप ब्रह्मसे वाणीको वा-अभिमत
फलदाता होनेसे तृप्त करने वाले प्रजापतिके (प्रजाकी रचना
पालन आदि धर्म वाले) नामको वा-इदं दर्शनभूतेन्धनादिगुण-
विशिष्ट इन्द्रके नामको और अग्रणीत्व अंगनादिगुणसंपन्न अग्नि
के नामको उच्चारण कर रहे हैं । अतः यह प्रार्थना है, कि-इस
प्रकार परा आदि वाणीसे जिनके स्वरूपका प्रतिपादन किया
गया है वे प्रजापति वा इन्द्र और अग्निदेवता हमारे अभीष्टको
सिद्ध करें ।

अथवा 'वाचो अग्रम्' पदसे वेदात्मिका वाणीका निदान वा
पर्यवसानभूमि परमात्मतत्त्व कहा जासकता है । इसी प्रकार ऐत-
रेयारण्यकमें 'तदिह आस भुवनेषु ज्येष्ठम्' (ऋग्वेद १० । १२०)
इस सूक्तके तद् शब्दकी प्रशंसाके अवसर पर कहा है । 'बृहस्पते
प्रथमं वाचो अग्रम् (ऋ० १० । ७१ । १) "एतद्ध्येव प्रथमं
वाचो अग्रम्" (ऐतरेयारण्यक १ । ३ । ३) । अतः 'तदिह
आस' यहाँ तद्-शब्दसे सर्वश्रुति प्रसिद्ध सब जगत्का कारण
ब्रह्म कहा है वही यहाँ ऐतरेयमें एतद् शब्दसे विवक्षित है ॥
अतएव ऐसे सब वाणियोंके निदानभूत तत्त्वको जाननेकी इच्छा
वाले महर्षि तथा देवता धीतिसे अर्थात् वाह्यविषयव्यावृत्त अक्ष-
वृत्तिसे उसको जाननेका प्रयत्न करते हैं । (इससे यह कहा, कि-

जाग्रत् अवस्थाके अभिमानी विश्व नाम वालेसे तत्त्वको ग्रहण करनेके लिये पुरुष उदयुक्त हो सकते हैं) । वा-जो इससे भी अधिक सूक्ष्मदर्शी केवल अन्तःकरणसे सत्यब्रह्मविषयक वाक्यों का मनन करते हैं । (इससे यह कहा, कि-स्वभावस्थामें केवल मनके व्यापारसे तदभिमानी तैजसात्मक ब्रह्मसे तत्त्वको जाननेके लिये पुरुष प्रयत्न करसकते हैं) । और इससे भी भीतरकी वस्तुको जाननेकी इच्छावश परिच्छेदके अपनयनरूप वर्धनके कारण तीसरे चैतन्यात्मा ब्रह्मसे रहते हैं । (यहाँ सुषुप्तिमें कारण शरीराभिमानी प्रज्ञानघन प्राज्ञ विवक्षित है । अत एव जागर और स्वभावस्थाकी समान सुषुप्तिमें बाह्य और भीतरी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होने वाले विक्षेपके अभावके कारण वे अपरिच्छिन्न ब्रह्मभावसे रहते हैं) ॥ इस प्रकार तीनों अवस्थाओंके अभिमानी विश्वादि तादात्म्यसे तत्त्वको जाननेकी इच्छा वाले सब ही तहाँ २ समस्त भेदोंसे शून्य तत्त्वको न पाते हुए वाणीके मुख्यरूपसे निर्दिष्ट फलप्रदके वा परमात्माके नाम वाले स्वरूपके प्रति प्रणत हो उस समस्त उपाधियोंसे निरस्त सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाले तत्त्वको तुर्यावस्थापन्न कारणशरीराभिमानरहित सर्वसानी चैतन्यरूपमें जानते हैं । ऋग्वेदसंहिता ५ । ४० । ६ में भी कहा है, कि-‘गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणान्वविन्दद् अत्रिः ॥ अत्रि ऋपिने गुप्त सूर्यको तमसापव्रत तुरीय ब्रह्म से पाया था’ । तैत्तिरीय आरण्यक १० । ११ । २ में कहा है, कि-स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोत्तरः परमः स्वराट् ।- वह ब्रह्म ही ब्रह्मा है, शिव है, हरि है, इन्द्र है, अत्तर है और परम है वह अपने आप दीप्त रहता है” इस प्रकार श्रुतिमें परमात्माका अनेक देवताओंके नामसे व्यवहार करनेके कारण यहाँ प्रजापतिशब्दव्यपदेश्य वा इन्द्रामिश्रशब्दव्यपदेश्य वही तत्त्व अधिगत होकर हमारे अभिमतको सिद्ध करे, यह प्रार्थना की है ॥१॥

द्वितीया ॥

स वेदं पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत्
पुनर्मघः ।

स द्यामौर्णोदन्तरिक्तं स्व१ स इदं विश्वमभवत् स
आभवत् ॥ २ ॥

सः । वेद । पुत्रः । पितरम् । सः । मातरम् । सः । सूनुः ।

भुवत् । सः । भुवत् । पुनःऽमघः ।

सः । द्याम् । और्णोत् । अन्तरिक्तम् । स्वः । सः । इदम् । विश्वम् ।

अभवत् । सः । आ । अभवत् ॥ २ ॥

अनया उक्तविधस्य देवस्य ब्रह्माभेदेन सार्वत्म्यम् अभिधी-
यते । स विश्वात्मकः प्रजापतिः पुत्रः स्वीयं रूपम् सम्यक् जानतः
पुरुषान् अनर्थ हेतोः संसाराद् त्रायत इति पुत्र इति व्यपदिश्यते ।
❀ पुत्रः पुरु त्रायते [नि० २. ११] इत्यादि निरुक्तम् ❀ ।
पितरम् धुलोकं वेद वेत्ति । स एव मातरम् पृथिवीं वेत्ति । प्रजा-
पतिः द्यावाभूमी स्वधार्यत्वेन जानातीत्यर्थः । “द्यौः पिता ।
पृथिवी माता” इति हि मन्त्रवर्णः [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५.] ।
“ताभ्याम् इदं विश्वम् एजत् सम एति यद् अन्तरा पितरं मातरं
च” [ऋ० १०. ८८. १५] इति श्रुतेः द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्व-
स्यावस्थानात् तयोः प्राधान्येनाभिधानम् । अथवा “हिरण्यगर्भः
समवर्तताग्रे” [ऋ० १०. १२१. १] इति मन्त्रवर्णात् प्रजापतिः
परमात्मना प्रथमं सृष्टः । तस्य पिता सकलजगदधिष्ठानं परं ब्रह्म ।
माता चित्प्रतिबिम्बिता मूलप्रकृतिः तौ प्रजापतिः स्वाभेदेन जा-
नाति । पुत्रशब्दः अत्र मुख्यार्थवाची । कारणपरिज्ञानेन कार्य-

गपि तदभेदात् परिज्ञ न भवतीति कारणभूतमातापितृपरिज्ञानमात्रम्
 अत्रोक्तम् । न केवलं परिज्ञाता अपि तु स प्रजापतिः सूनुः सर्वस्य
 जगतः स्वस्वरुमगु प्रेरयिता भुवत् भवति । “एष उ एव साधु
 कर्म कारयति तम्” [का० उ० ३. ८] इत्यादिश्रुतेः । ❀ पू प्रेरणे
 इत्यस्माद् औणादिको नुप्रत्ययः । भुवत् इति । भवतेर्लङि व्यत्ययेन
 शः । “भूसुशोस्तिङि” इति गुणप्रतिषेधः ❀ । स एव मघः ।
 ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । धनवाचिना मघशब्देन कर्मफलं विवक्ष्यते ।
 कर्मफलमपि भुवन् भवति । पुनःशब्दः चार्थे । स च अनुक्त-
 समुच्चयार्थः । भोक्तापि स एवेत्यर्थः । “भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं
 च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्” [श्वे० उ० १. १२]
 इति हि श्रुतिः । यद्वा पुनर्मघ इति समस्तं पदम् । स्तोतृभ्यो बहु-
 धनमदानेपि पुनःपुनः अभिवृद्धधन इत्यर्थः । किं च स प्रजापतिः
 ग्राम् । ❀ द्यु अभिगमने इत्यस्माद् उत्पन्नो द्योशब्दः ❀ । सृकृति-
 भिरभिगन्तव्यां दिवम् और्णोत् स्वात्मना व्याप्नोति । ❀ ऊर्णुञ्
 छादने लङि । शब्लुकि वृद्धयभावे रूपम् ❀ । अन्तरिक्षम् । अन्तरा-
 क्षान्तम् इत्यन्तरिक्षम् आकाशं तदपि व्याप्नोति । स च स्वः स्वर्गं
 पुण्यभोगस्थानं च व्याप्नोति । इदं पृथिव्यादेरुपलक्षणम् । व्या-
 प्यापेक्षया व्यापकस्य अधिकृत्तिप्रदर्शनात् सर्वेभ्योपि लोकेभ्यः
 प्रजापतिः अधिकृत्तिरित्यर्थः । “ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान्
 अन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवः” [द्या० ३. १४. ३] इत्यादिश्रुतं ।
 किं बहुना । स प्रजापतिः इदं परिदृश्यमानं नामरूपात्मकं विश्वं
 जगद् अभवत् । विश्वात्मना स एवावतिष्ठते । स आभवत् आ-
 सर्वतो व्याप्य वर्तते । आवृत्त्यावृत्त्य ताद्रूपेण कारणात्मना वा
 वर्तते । सोऽस्माकम् अभिमनसर्वफलानि साधयतिवनि प्रार्थ्यते ॥

(इति ऋचामे उक्तविध देवता ब्रह्मा भेदसे सार्वान्म्य केहा
 जाता है कि-) बहु विश्वात्मक प्रजापति पुत्र है अर्थात् अपने रूप

को भली भाँति जानने वाले पुरुषोंका अनर्थके हेतु संसारसे
 त्राण करता है अत एव पुत्र है। वह पिताको अर्थात् शुक्लोकको
 जानता है और वह माताको अर्थात् पृथिवीको जानता है।
 तात्पर्य यह है, कि-प्रजापति यात्रापृथिवीको स्वधार्यत्वरूपसे
 जानता है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३। ७। ५। ५ के मन्त्रमें कहा
 है, कि-“द्यौः पिता पृथिवी माता-द्यौः पिता है, पृथिवी माता है”
 और ऋग्वेदसंहिता १०। ८८। १५ में भी कहा है, कि-“ताभ्यां
 इदं विश्वं एजत् सम् एति यद् अन्तरा पितरं मातरं च।-माता
 पिताके नीचमें होनेसे यह विश्व भली प्रकार कम्पित होता रहता
 है” इस प्रकार यात्रा-पृथिवीके मध्यमें विश्वका अवस्थान होनेसे
 उनका प्रधानरूपसे वर्णन किया गया है। अथवा-“हिरण्यगर्भः
 समवर्तताग्रे।-पहिले हिरण्यगर्भहुआ” ऋग्वेदके इस १०। १२। ११
 मन्त्रके अनुसार परमात्माने प्रजापतिको पहिले रचा है। उसका
 पिता सकल जगत्का अधिष्ठान परब्रह्म है और माता चित्प्रति-
 विम्बिता मूल-प्रकृति है। उनको प्रजापति स्वायेदसे जानते हैं।
 यहाँ पुत्रशब्द मुख्यार्थवाची है। कारणके परिज्ञानसे कार्य भी
 उससे अभिन्न होनेके कारण परिज्ञात होजाता है, इस प्रकार
 कारणभूत माता पिताका परिज्ञान मात्र यहाँ कहा, केवल परि-
 ज्ञाता नहीं कहा; और वह प्रजापति सब जगत्के सूनु होते हैं
 अर्थात् सब जगत्को अपने २ कर्ममें प्रेरित करते हैं। इसी
 बातको कौषीतकि उपनिषत् ३। ८ में कहा है, कि-‘एष
 उ एव साधु कर्म कारयति तम्।-यही उससे साधु कर्म कराता
 है’ ०। और यही प्रजापति कर्म होते हैं और यही भोक्ता होते
 हैं और यह प्रजापति पुण्यात्माओंको मिलने योग्य श्योंको अपने
 आपसे व्याप्त कर लेते हैं और आकाशमें भी व्याप्त रहते हैं।
 तथा वह पुण्यभोगके स्थान स्वर्गको भी व्याप्त करके स्थित हैं।

यह पृथिवी आदिका उपलक्षण है । व्याप्यकी अपेक्षा व्यापक अधिक वृत्तिमें रहता है अतएव प्रजापति सब लोकोंसे भी अधिक-वृत्ति हैं-अधिक देशमें रहते हैं । इसी बातको आन्दोग्योपनिषत् की ३ । १४ । ३ श्रुतिमें भी कहा है, कि-“ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अंतरिक्षाज्ज्यायान् दिवः ।-बड़ पृथिवीसे भी श्रेष्ठ है, अन्तरिक्षसे भी बड़ा है और द्यौसे भी बड़ा है” । अधिक क्या कहें, वह प्रजापति इस परिदृश्यमान नामरूपात्मक सकल जगत् होगए हैं । विश्वात्मारूपसे वही अवस्थित है, वह सब ओरसे व्याप्त होकर स्थित है । कारणात्मारूपसे स्थित हैं । ऐसे प्रजापति देवता हमारे सकल अभिमत फलोंकी सिद्ध करें । यही हम प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अथर्वाणं पितरं देववन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ।

अथर्वाणम् । पितरम् । देववन्धुम् । मातुः । गर्भम् । पितुः ।

असुम् । युवानम् ।

यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्रः । नः । वोचः । तम् ।

इह । इह । ब्रवः ॥ १ ॥

अथर्वशब्दः प्रजापतिराची । तथा च गोपथब्राह्मणे । “ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत् । स्वयंभ्वेरुमेव तद् ऐक्षत । मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे ” [गो० ब्रा० १. १] मक्रम्य “तद् अथर्वाभवत्” इत्यथर्वसृष्टिम् अभिधाय तस्याथर्वणः परब्रह्मणश्च अभेदं प्रतिपाद्य समाम्नायते । “तम् अथर्वाणं ब्रह्माववीत् प्रजापते-प्रजा सृष्ट्वा

पालयस्वेति । तद् यद् अत्रवीत् प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत् । तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम् । अथर्वा वै प्रजापतिः” इति [गो० ब्रा० १. ४.] । “प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्तवैतं चातुष्पाशं ब्रह्मौदनं निरमिमीत” इति [गो० ब्रा० २. १६.] । अतः अथर्वशब्देन प्रजापतिरुक्तः । तस्य प्रजानां स्रष्टृत्वं पालकत्वं च अनेन प्रदर्शयते । पितरम् पालकं प्रजानाम् । न केवलं पालकः अपि तु देवबन्धुम् देवानां बन्धुं कारणं स्रष्टारम् । “समुद्रो बन्धुः” [१५. ११. १०] [वृ० आ० १. १. २] इत्यत्र बन्धुशब्दः कारणम् आहेति व्याख्यातम् । मनुष्यादिस्रष्टेर्देवस्रष्टिः पूर्वभाविनीति सा प्रथमम् उक्ता । स्त्रीपुंसस्रष्टिरपि तस्मादेव भवतीत्याह । मातुर्गर्भम् यस्य गर्भस्य या माता तस्यास्तं गर्भं युवानम् मिश्रयन्तं कुर्वन्तम् । पितुर्गर्भजनकस्य असुम् प्राणं प्राणसहितम् । रेत इत्यर्थः । तच्च युवानम् सिञ्चन्तम् । “न ह वा ऋते प्राणाद् रेतः सिञ्चयते” इति [ऐ० आ० ३. २. २] “आ सिञ्चन्तु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते” इति [ऋ० १०. १८४. १] च श्रुतिभ्यः । ❀ युवानम् इति । यौतेरादादिकात् लटः शानचि उबडादेशे रूपम् ❀ । स्त्रीपुंसस्रष्टिः इतरस्रष्टेरुपलक्षणम् । यद्वा “स इदं सर्वम् अभवत्” इति स्वस्यैव जगदात्मना भवनाद् गर्भरूपत्वम् असुरूपत्वं च संपद्यते । “यच्चासुः पुरुषो जायते यच्च पुत्रः” इति हि श्रुतिः । तथापि युवानम् नित्यतरुणम् । न कदाचिदपि जन्नादिभावत्रिकारवन्तम् इत्यर्थः । एतादृशम् अथर्वाणम् । ❀ यर्वतिश्वरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः इति हि यास्कः [नि० ११. १८] । अत्र चरतिना च्युतिर्विचयते ❀ । च्युतिरहितं प्रजापतिं स्वमनीषितसिद्धये प्रार्थय इति शेषः । एवं सम्यग्विदिताथर्वस्वरूपो मन्त्रद्रष्टा महर्षिः स्वेन ज्ञातं तत्स्वरूपं परेषां प्रत्याययितुं स्वयम् अजानन्निव तदस्थम् अभिज्ञं पृच्छति उत्तरार्थेन य इति । यः अथर्वा ।

“एतद् वा अथर्वणो रूपं यद् उष्णीषी ब्रह्मा” [गो० ब्रा० २. १६]
 इत्याम्नानाद् अथर्वात्मक ऋत्विग्भूतो ब्रह्मा इमम् अनुष्ठीयमानं
 सर्वफलसाधनं यज्ञं स्वर्गादिसाधनं प्रसिद्धम् अग्निष्टोमादि यज्ञं
 वा मनसा चिकेत । ❀ किती संज्ञाने ❀ । जानाति अनु-
 संधत्ते । एतद् उक्तं भवति । यज्ञस्य हि द्वौ पक्षौ । तत्रैकः पक्षः
 त्रिभिर्होत्रादिभिर्वाचा संस्क्रियते । अपरस्तु ब्रह्मणा मनसेति । अत्र
 “तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी” इति प्रक्रम्य ब्राह्मणे सामान्या-
 यते । “स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव
 ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति” इति [गो० ब्रा० ३. २] ।
 तं मनसा यज्ञान् अनुसंधानम् अथर्वाणं नः अस्माकं प्र बोचः
 प्रकर्षेण ब्रूहि । हे विद्वन्निनि शेषः । किं यदा कदाचित् । नेत्याह ।
 इहेह अस्मिन्नस्मिन् अभिलषितसाधने कर्मणि ब्रवः ब्रूहि । जानासि
 चेद् ब्रूहि । मद्यतिरिक्तो न कोपि जानातीत्यर्थः । ❀ बोच इति ।
 ब्रवीतेरश्चान्दसे लुङि च्लेरङि अडभावे रूपम् । इहेहेति । वीप्सायां
 द्विर्वचनम् । “अनुदात्तं च” इति आग्नेडितस्य अनुदात्तत्वम् ।
 ब्रव इति । पञ्चमलकारे “लेटोडाटा” इति अडागमः ❀ ॥ यद्वा
 प्रजापतिस्वरूपं सामान्यतो ज्ञात्वा तद्विशेषजिज्ञासायै पार्श्वस्थं
 पृच्छति । यो विद्वान् इमम् अथर्वाणं पितरं देवबन्धुमित्याद्युक्त-
 लक्षणं सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानं वा यज्ञम् यष्टव्यं यज्ञात्मकं
 वा प्रजापतिं मनसा मनसैव चिकेत जानाति । न केवलं श्रुति-
 वाक्यश्रवणेन किं तु मनननिदिध्यासनाभ्यां यस्त्वं साक्षात्करोति
 तम् अभिज्ञं नः अस्माकं प्रब्रूहि । “आचार्यवान् पुरुषो वेद” इति
 श्रुतेः [छा० ६. १४. २] आचार्योपदेशेनैव अधिगतं देवता-
 स्वरूपं पुरुषार्थार्थं भवतीति विवक्षया अभिज्ञप्रश्नः । अथ तेना-
 भिज्ञेन प्रदर्शितं तत्रोपदेष्टारं गुरुं पृच्छति तम् इहेह ब्रव इति । यष्ट-
 व्यदेवतास्वरूपपरिज्ञाने क्रियमाणं कर्म सगुणं भवेद् इति मनीषया

प्रशः ॥ अथवा मन्त्रद्रष्टा महर्षिः स्वात्मानमेव संबोध्य ब्रूते । य उक्तविधः प्रजापतिः तं नः अस्मदर्थं प्र बोचः प्रकर्षेण ब्रूहि यष्टव्य-
देवतास्वरूपं सम्यग् ज्ञात्वा ब्रूहि । इहेह ब्रूहीति पुनर्यचनम् आद-
रार्थम् । तथाहि देवतास्तुतिकरणविषये मन्त्रद्रष्टुः स्वात्मानम्
अभिमुखीकृत्य वचनं शाखान्तरे समाम्नायते । “अग्निं स्तुहि दैव-
वातं देवश्रवः” इति [ऋ० ३. २३. ३] ॥

अथर्वशब्द प्रजापतिका वाचक है । इस विषयमें गोपथब्राह्मण
प्रमाण है । यथा—‘ब्रह्म वा इदं अग्र आसीत् । स्वयंभ्वेकमेव तद्
ऐक्षत । मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे । पहिले ब्रह्म ही था, उस
अकेले स्वयंभुने देखा, उसने केवल मुझ दूसरे देवको रचा’ यह
आरम्भ कर ‘तदथर्वा अभवत् ।—फिर वह अथर्वा हुआ’ इस
प्रकार अथर्वसृष्टिको कह कर उस अथर्वाके और परब्रह्मके अभेद
का प्रतिपादन कर कहा है, कि—‘तम् अथर्वाणं ब्रह्मा अब्रवीत्
प्रजापते प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत् । तत्
प्रजापतेः प्रजापतित्वम् । अथर्वा वै प्रजापतिः ।—उस अथर्वासे
ब्रह्माजीने कहा, कि—हे प्रजापते ! तुम प्रजाकी रचना कर उस
का पालन करो, इस कारण वह प्रजापति हुए’ । (गोपथब्राह्मण
१ । ४) तथा ‘प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्त्वेतं चालुष्प्राश्यं ब्रह्मौ-
दनं निरमिमीत ।—प्रजापति अथर्वादेवने तप करके इस चालु-
ष्प्राश्य ओदनको बनाया’ । [गोपथब्राह्मण २ । १६] अतः
अथर्वा शब्दसे प्रजापति कहे जाते हैं । उनका प्रजाओंका सृष्टव
और पालकत्व इस मन्त्रमें कहा है, कि—वह देवताओंके बन्धु
अर्थात् कारण हैं । ‘समुद्रो बन्धुः’ (५ । ११ । १०) में बन्धु
शब्दसे कारण अर्थ लिया है अत एव यहाँ पर भी बन्धु शब्दका
कारण अर्थ किया है । और मनुष्य आदिकी सृष्टिसे देवताओंकी
सृष्टि पहिले होती है अत एव पहिले उसका वर्णन किया है ।

और स्त्री पुरुषकी सृष्टि भी उन प्रजापतिसे ही होती है अत एव मन्त्रमें कहा है, कि वह प्रजापति जिस गर्भकी जो माता होती है उस गर्भको उस मातासे मिलाते हैं और गर्भजनक पिताके वीर्यसहित प्राणको साँचते हैं । ऐतरेय आरण्यक ३ । २ । २ में कहा है, कि—‘न ह वा ऋते प्राणाद् रेतः सिच्यते।—प्राणके बिना वीर्य सिक्त नहीं होता है । ऋग्वेदसंहिता १०। १८४ । १ में भी कहा है, कि—‘आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ।—प्रजापति तुझमें वीर्यको सिक्त करें और धाता देवता अपनी महिमा के द्वारा तेरे गर्भको स्थिर रखें’ । स्त्रीपुरुषकी सृष्टिका वर्णन अन्य सृष्टियोंके उपलक्षणके लिये हैं। ऐसे च्युतिरहित प्रजापति अथर्वाकी मैं अपनी अभिलाषाको सिद्ध करनेके लिये प्रार्थना करता हूँ । अथवा ‘स इदं सर्वं अभवत् ।—वह यह सब कुछ होगया’ इस प्रकार अपनेको ही जगत्स्वरूपमें होनेके कारण गर्भरूपत्व और प्राणरूपत्व सम्पत्तिपन्न होसकता है । श्रुतिमें भी कहा है, कि—‘यच्चासुः पुरुषो जायते यच्चपुत्रः’ इस पक्षमें इस अर्धश्रुतिका यह अर्थ होगा, कि—“देवताओंके कारण प्रजाओंके पालक, माताके गर्भरूप और पिताके प्राणमय वीर्यरूप तथापि सर्वदा जनन आदि भावधिकारोंसे रहित होनेके कारण नित्यतरुण प्रजापति (अथर्वा) की मैं अपनी अभिलाषाकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करता हूँ ।” इसप्रकार अथर्वाके स्वरूपसे भली प्रकार परिचित हुए मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आप जाने हुए उस स्वरूपको दूसरोंको जतानेके लिये अपने आप अज्ञानसे बन कर तटस्थ अभिज्ञसे मन्त्रके उत्तरार्थके द्वारा ब्रुवते हैं, कि—जो ‘एतद् वा अथर्वणो रूपं उष्णीषी ब्रह्मा ।—जो पगड़ीधारी ऋत्विग्भूत ब्रह्मा है यही अथर्वाका रूप है’ अथर्वात्मक ऋत्विग्भूत ब्रह्मा इस अनुष्ठीयमान सर्वफलसाधन यज्ञका वा अग्निष्टोम आदि स्वर्ग आदिके साधन यज्ञोंका मनसे अनुसंधान

करता है, हे विद्वान् ! उस अथर्वाको हमें प्रकृष्टरूपसे बताइये । कभी बता देंगे इस बात पर मत टाल दीजिये किंतु इस अभिलषित साधन कर्ममें ही कहिये ॥ यहाँ यह विशेष बात है, कि-यज्ञके दो पक्ष होते हैं । उनमें होता आदि तीन पहिले पक्षको वाणीसे संस्कृत करते हैं और दूसरे पक्षको ब्रह्मा मनसे संस्कृत करता है । गोपथब्राह्मणमें 'तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी' कहकर आगे कहा है, कि- 'स वा एष त्रिभिर्वैदेर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति' (गोपथब्राह्मण ३।२) ॥

अथवा-प्रजापतिके रूपको सामान्यरीत्या जान कर विशेष-भावसे जाननेके लिये पासमें बैठे हुएसे बूझते हैं, कि-जो विद्वान् इन पालक देवबन्धु आदि गुणोंसे संपन्न अथर्वाको स्वात्मत्व-रूपसे अनुभव करके जानता हो वा यज्ञात्मक प्रजापतिको मनसे जानता हो अर्थात् केवल श्रुतिवाक्यश्रवणसे नहीं, किन्तु मनन निदिध्यासन आदिसे तत्तका साक्षात्कार करने वाला हो उस अभिज्ञ पुरुषका हमसे वर्णन करिये । छान्दोग्योपनिषत् ६ । १४।२ में कहा है, कि- 'आचार्यवान् पुरुषो वेद ।-आचार्य वाला पुरुष तत्त्वको समझ सकता है' अत एव आचार्यके उपदेशसे ही जाना हुआ देवताका स्वरूप पुरुषार्थके युक्त होसकता है इस आकांक्षा से अभिज्ञ पुरुषको बूझा है । यहाँ गुरुको इस लिये बूझा है, कि-यष्टव्यदेवताके स्वरूपका परिज्ञान होने पर जो कर्म किया जाता है वह सगुण (सफल) होता है । अथवा-यह अर्थ भी होसकता है, कि-मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आपको ही सम्बोधित करके कहते हैं, कि-जो ऐसे प्रजापति हैं उनका हमसे भली प्रकार वर्णन करिये-यष्टव्य देवताके स्वरूपको भली भाँति समझ कर कहिये । अन्य शाखाओंमें भी मन्त्रद्रष्टा ऋषिने देवता-स्तुति-करणविषयमें अपने आपको अभिमुख करके वचन कहा है । यथा- 'अग्निं स्तुहि देवनातं देवश्रवः ।' (ऋग्वेदसंहिता ३।२।३) १

चतुर्थी ॥

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुर्वराय
गातुः ।

स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वयां तन्वा तन्वमैस्यत
अया । विऽस्था । जनयन् । कर्वराणि । सः हि । घृणिः । उरुः ।
वराय ! गातुः ।

सः । प्रतिऽउदैत् । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् । स्वयां । तन्वा ।
तन्वम् । ऐस्यत ॥ १ ॥

अया अनया । ❀ तृतीयाया याजादेगः । “हलि लोपः”
इति लोपः ❀ । उक्त्तरीत्या विष्ठाः । विविधं तिष्ठतीति । ❀ “क्विप्
च” इति क्विप् ❀ । सर्वात्मभावेन स्थित इत्यर्थः । अथवा अया
अयम् । ❀ प्रथमाया आकारः ❀ । अयं प्रजापतिः विष्ठा विश्वा-
त्मना स्थितः कर्वराणि । कर्मनामैतत् । यज्ञादिकर्माणि कार्यजातानि
वा जनयन् उत्पादयन् वर्तते । स प्रजापतिः घृणिः दीप्यमानः ।
❀ घृण दीप्ता । घ्राणादिक इन् प्रत्ययः ❀ । वराय वरणीयाय
कर्मफलाय । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । उरुः महान् गातुः मार्गः ।
फलमाप्ते अयमेव साधनान्तरनिरपेक्षो महान् उपाय इत्यर्थः ।
हि शब्दो हेतौ । यस्मात् फलमाप्तिमार्गः तस्मात् स तादृशो धरु-
णम् धारकं चिरकालं भगत्वेनावस्थायि मध्वः मधुनः । ❀ जुम-
भावरञ्चान्दसः ❀ । मधुवद् आस्वाद्यस्य फलस्य अग्रंसारं प्रत्यु-
दैत् । ❀ अन्तर्भावितएयर्थः ❀ । प्रत्युद्गमयति स्तोत्रभ्यः ।
❀ एनेरञ्चान्दसो लुङ् । गादेशाभावे सिचि वृद्धिः ❀ । सर्वेषां
फलप्रदत्वं स्वस्य सर्वनियन्तृत्वम् अन्तरेण न संभवतीति तद् उप-

पादयति स्वयेति । स्वया स्वीयया तन्वा विराडात्मिकया तन्वम् ।
 ❀ जात्येकवचनम् ❀ । सर्वप्राणिशरीराणि ऐरयत प्रेरयति
 तत्तत्कर्मस्विति । ❀ ईर गतौ कम्पने च । ध्वान्दसो लङ् ❀ ॥
 अस्य मन्त्रस्य अभिनवे रथे जयकामस्य नृपतेरास्थापने विनि-
 योगात् तत्परतया व्याख्यायते । अया अयं जयकामो राजा कर्क-
 राणि शत्रुनासनादीनि कर्माणि जनयन् । ❀ “लक्षणहेत्वोः
 क्रियायाः” इति हेतौ शत्रुप्रत्ययः ❀ । नासनादिजननाद्धेतोः
 विष्टाः विशेषेण विशिष्टे वा रथे स्थितः । मन्त्रायुधादिसंस्काराद्
 रथस्य वैशिष्ट्यम् । स तादृशः खलु राजा दीप्यमानः स्वसेनयेति
 शेषः । तेजस्वी वा वराय वरिष्ठाय जयलक्षणाय फलाय महान्
 मार्गः । स राजा धरुणम् ध्रियमाणं परैः अनभिभाव्यं मधुनः
 जयलक्षणस्य सारं प्रत्युदैव प्रत्तुद्गच्छतु प्राप्नोतु । स च पराभि-
 भयनम् अन्तरेण न घटत इति तद् उपपादयति स्वया स्वीयेन
 तन्वा शरीरेण स्वगतवलेन सेनालक्षणवलेन वा तन्वम् शत्रुशरी-
 राणि कम्पयति उच्चाटयति ॥

यह प्रजापति विरवात्मारूपसे स्थित रहते हुए यज्ञ आदि
 कर्मोंको उत्पन्न करते रहते हैं, यह दीप्यमान प्रजापति
 वरण करने योग्य कर्मफलके महान् मार्ग हैं, तात्पर्य यह
 है, कि—फलप्राप्तिके यही किसी अन्य साधनकी अपेक्षासे
 शून्य महान् उपाय हैं, क्योंकि—यह फलप्राप्तिके मार्ग हैं, इस
 कारण यह चिरकाल तक भाग्यरूपसे स्थिर रहने वाले धारक
 मधुकी समान आस्थाद्य फलके सारभागको स्तोताओंकी ओर
 प्रेरित करते हैं । (सबका फलप्रदत्व और अपना ही सर्वनिय-
 न्त्व दूसरेके बिना नहीं होसकता अत एव कहते हैं, कि—वह
 अपने विराडात्मक शरीरसे सब प्राणियोंके शरीरोंको उनके कर्मों
 में प्रेरित करते हैं । (इस मन्त्रका विजयाभिलाषी राजाको नवीन

रथमें बैठानेके लिये भी विनियोग किया है, उस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि—) यह विजयाभिलाषी राजा शत्रुनासन आदि कर्मों को करनेके लिये मन्नायुनादिसंस्कारसम्पन्न विशिष्ट रथमें स्थित होगया है, अब यह दमकता हुआ राजा जयरूप श्रेष्ठ फलका महान् मार्ग है, यह राजा धारण किये हुए और शत्रुसे तिरस्कृत न होसकने वाले जयरूप सारको प्राप्त हो, यह अपने सेनारूप शरीरसे अपने शरीरमें स्थित पलसे शत्रुओंके शरीरोंका उचाटन कर रहा है ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्ट्ये विंशत्या च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता
वि मुञ्च ॥ १ ॥

एकया । च । दशभिः । च । सुहुते । द्वाभ्याम् । इष्ट्ये । विंशत्या । च ।
तिसृभिः । च । वहसे । त्रिंशता । च । वियुग्भिः । वायो इति ।
इह । ताः । वि । मुञ्च ॥ १ ॥

हे सुहुते शोभनाद्धानं सृष्टुं ह्यातव्यं वा हे वायो । सर्वमेरकः
मजापतिः प्रसिद्धो वा वायुः । एकया च दशभिश्च । ❀ परस्पर-
समुच्चयाथा चण्ड्यां ❀ । एकादशभिः वियुग्भिः विशेषेण
पुज्यन्ते रथे इति वियुजो बहवाः । ❀ युजेः कर्मणि क्विप् ❀ ।
ताभिर्वहसे । वहतिरत्र गतिमात्रवाची । आगच्छ । निमर्यम् । इष्ट्ये
यागाय । ❀ “क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्” इति कर्मणः संप्रदानत्वात्
चतुर्थी ❀ । अस्माभिरनुष्ठीयमानं नर्म आयाहि । यद्वा इष्ट्ये
इन्द्रायै । ❀ “मन्त्रे वृषेपपच०” इति त्तिन्नुदात्तः । “क्रियार्थो
पपदस्य०” इति चतुर्थी ❀ । अस्मदीयफलकामनां पूरयितुम्

एकाशदभिरश्वाभिः बहसे । ॐ व्यत्ययेन कर्मार्थे कर्तृप्रत्ययः ॐ ।
 उवासे । ॐ दशभिरिति “भन्युपोत्तमम्” इति स्वरेण मध्योदात्तं
 पदम् ॐ । तथा द्वाभ्यां च विंशत्या च द्वाविंशत्या बड्वाभिर्वहसे ।
 ॐ विंशत्येति । “उदात्तयणो हल्पूर्वात्” इति विभक्तिरुदात्ता ॐ ।
 तथा तिसृभिश्च त्रिंशता च त्रयस्त्रिंशता अश्वाभिर्वहसे । अयम्
 अर्थः । सुहुत इति विधेयविशेषणम् यतस्त्वं सुहुतिः अतः अस्म-
 दाहानानुसारेण अस्माकं फलप्रदानानुसारेण वा शीघ्रम्
 आगन्तुं कदाचिद् एकादशभिः कदाचिद् द्वाविंशत्या कदाचित्
 त्रयस्त्रिंशता बड्वाभिः अस्मदीयं यागं प्राप्नुहीति । अतित्वराग-
 मनविवक्षायां वायोः अपरिमिता अश्वाः शाखान्तरे समान्नायन्ते ।
 “आ वायो भूप शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार” इति
 [ऋ० ७. ६२. १] । वायोरश्वा नियुत इत्युच्यन्ते । आगत्य
 च हे वायो इह अस्मिन् अस्मदीये कर्मणि अश्वशान्तिस्तृणणे वा
 ता बड्वा वि सुञ्च । इहैव स्थापय । इतः प्रदेशात् प्रदेशान्तरम्
 आभिर्वड्वाभिर्मा प्राप इत्यर्थः ॥

हे शोभनरीतिसे आह्वान करने योग्य सर्वप्रेरक प्रजापते वा
 वायो ! आप ग्यारह घोड़ियोंसे, चाईस घोड़ियोंसे वा तैंतीस
 घोड़ियोंसे यज्ञमें (हमारी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये) आइये
 और उन घोड़ियोंको यहाँ छोड़ दीजिये अर्थात् यहाँसे अन्यत्र न
 जाइये † ॥ १ ॥

† फलप्रदानकी आवश्यकतानुसार वायु ग्यारह-चाईस व
 तैंतीस घोड़ियों पर शीघ्रतासे आसकते हैं । अति-शीघ्रताकी
 इच्छा होने पर वायुके असंख्य घोड़ोंका वर्णन अन्य शाखाओंमें
 मिलता है । यथा—“आ वायो भूप शुचिपा उप नः सहस्रं ते
 नियुतो विश्ववार” (ऋग्वेदसंहिता ७।६२।१) ॥

पृष्ठी ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति
देवाः ॥ १ ॥

यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि ।
आसन् ।

ने । ह । नाकम् । महिमानः । सचन्त । यत्र । पूर्वं । साध्याः ।
सन्ति । देवाः ॥ १ ॥

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ता यजमानाः पूर्वं यज्ञेन अग्निना निर्म-
न्थ्येन यज्ञं होमाधारम् आहवनीयम् अग्निम् अयजन्त । यजि-
रत्र संगतरुणवाची । अनुष्ठानाय संयोजितवन्त इत्यर्थः ।
“यद् अग्नावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय आतिथ्यं क्रियते” इति
हि तैत्तिरीयकम् [तै० सं० ६. २. १. ७] । तानि धर्माणि
अग्निसाधनानि कर्माणि प्रथमानि । प्रथम इति मुख्यनाम । प्र-
थमानि प्रकृतमानि आसन् । फलप्रसवसमर्थानि अभवन्नित्यर्थः ।
धर्माणीति । धर्मशब्दः अपूर्वं पुल्लिङ्गः तत्साधने नपुंसक इति
“अर्धर्चाः पुंसि०” इति सूत्रे वृत्तिकारेण लिङ्गानुशासनं कृतम् ।
ते ह ते खलु देवा महिमानः महत्त्वयुक्ता नाकम् कं मुखम् अकं
दुःखं तद् अत्र नास्तीति नाकः स्वर्गः त सचन्तः संगताः । पंच
समवाये । लटि “०अमाहयोगेपि” इति अहभावः । यत्र
यस्मिन् नाके पूर्वं पुरातनाः साध्याः । प्राणाभिमानिनो देवाः
साध्या इत्युच्यन्ते । तथा च वाजसनेयकम् । “प्राणा वै साध्या

देवास्त एतम् अग्रम् एवम् असाधयन्" इति [श० ब्रा० १०. २. २. ४] । यद्वा छन्दोभिमानिनो देवा आदित्या अङ्गिरसश्च साध्या देवा इत्युच्यन्ते । ते देवाः सन्ति निवसन्ति । तस्माद् इदानीमपि यज्ञाधिकारिभिः एवं कर्तव्यम् इत्यर्थः । अत्र ऐतरेयकब्राह्मणम् । "यज्ञेन देवा वै तद् देवा यज्ञम् अयजन्त यद् अग्निनाग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकम् आयन्" इति [ऐ० ब्रा० १. १६] । "यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवा इति । छन्दांसि वै साध्या देवाः । तेग्निनाग्निम् अयजन्त । ते स्वर्गं लोकम् आयन्नादित्याश्चैहासन्नङ्गिरसश्च । तेग्निनाग्निम् अयजन्त । ते स्वर्गं लोकम् आयन्" इति [ऐ० ब्रा० १. १६] । यद्वा देवा इदानीं देवभावम् आपन्नाः पूर्वं यज्ञेनाग्निना पशुभूतेन यज्ञं यष्टव्यम् अग्निम् अयजन्त पूजितवन्तः । अग्नेरेव मूर्तिभेदेन देवत्वं पशुत्वं च द्रष्टव्यम् । "अग्निः पशुरासीत् । तम् आलभन्त । तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्" इति हि यास्कः [नि० १२. ४१] । साध्याः यज्ञादिसाधनवन्तः । "साधनाः द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः" इति हि यास्कः [नि० १२. ४१] । शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् । अथवा यज्ञेन ज्ञानयज्ञरूपेण यज्ञः । "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. ३. ८. ५] विष्णुः । तम् अयजन्त आत्मत्वेन ध्यातवन्तः । ते नाकं स्वर्गम् दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम् ।

अभिलापोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम्

इत्युक्तनित्यसुखरूपम्

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं यम ।

इति [भ० गी० १५. ६] भगवतोक्तं स्थानं सचन्त सेवन्ते प्राप्नुवन्ति । साध्याः । ❀ व्यत्ययेन कर्तरि कृत्यप्रत्ययः ❀ । साधकाः । अहंशुहोपासका इत्यर्थः । यद्वा साध्यं ज्ञानेन प्राप्यं वस्तु येषाम् आत्मत्वेन अस्तीति । ❀ अर्शादित्वाद् अच् प्रत्ययः ❀ । शिष्टं समानम् ॥

देवता अर्थात् कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए यजमानोंने, मथ कर निकाली हुई अग्निरूप यज्ञसे होमाधारआहवनीयअग्निरूप यज्ञ को संगत किया था + । ये अग्निसाधन आदि कर्म मुख्य हुए थे अर्थात् फलको देनेमें समर्थ हुए थे । वे देवता महत्त्वसंपन्न होकर जहाँ दुःखका लेश भी नहीं होता, उस नाकस्थानसे संगत होगए हैं, उस नाक (स्वर्ग) में पुरातन प्राणाभिमानी साध्य देवता रहते हैं § । इस कारण इस समय भी यज्ञाधिकारियोंको ऐसा ही करना चाहिये X ।

अथवा-इस समय जो देवत्वको प्राप्त हैं उन्होंने पहिले यज्ञसे अर्थात् पशुभूत अग्निसे पूजनीय अग्निका पूजन किया था + ।

+ तैत्तिरीयसंहिता ६ । २ । १ । ७ में कहा है, कि-“यदमावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय आतिथ्यं क्रियते ।-जो अग्निमें अग्निको मथरकर डाला जाता है उसीसे अग्निके लिये अतिथि सत्कार किया जाता है” ।

§ प्राणाभिमानी देवता साध्य कहलाते हैं, इसी बातको वाजसनेयस्में कहा है, कि-“प्राणा वै साध्या देवास्त एतं अग्रं एवं असाधयन् ।-प्राण ही साध्य देवता हैं, उन्होंने इस मुख्य धर्मका साधन किया था । अथवा छन्दोऽभिमानी देवता आदित्य और अंगिरस् भी साध्य देवता कहलाते हैं ।

X इस विषयमें ऐतरेयक ब्राह्मणमें कहा है, कि-“यज्ञेन वै तद् देवा यज्ञम् अयजन्त । यद् अग्निनाऽग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकं आयन्” (ऐतरेयब्राह्मण १ । १६) “यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवा इति । छन्दांसि वै साध्या देवाः । तेऽग्नेऽग्निनाऽग्निम् अयजन्त । ते स्वर्गं लोकं आयन्” (ऐतरेय ब्राह्मण १ । १६)

+ निरुक्त १२ । ४१ में कहा है, कि-“अग्निः पशुरासीत् ।

ये पूजन आदि धर्म मुख्य हैं, ऐसा करनेसे ये स्वर्गसे संयुक्त होगए हैं, तहाँ पहिले साध्य देवता रहते हैं ।

अथवा—देवताओंने ज्ञानरूपयज्ञसे यज्ञरूप ऋषि विष्णुका आत्मत्वरूपसे ध्यान किया । अतः वे दुःखसे शून्य — भगवान्के कहे हुए स्थानको ॐ प्राप्त होगए । ये आत्मरूपसे ध्यान आदि मुख्य कर्म हैं, तहाँ साध्य अर्थात् ज्ञानसे प्राप्य वस्तुको आत्मरूपमें मानने वाले देवता रहते हैं ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।

स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु

यज्ञः । बभूव । सः । आ । बभूव । सः । प्र । जज्ञे । सः । उ ।

इनि । ववृधे । पुनः ।

तम् आलभन्त । तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम् ।—अग्नि पशु था, उसका आलभन किया और उससे यजन किया” ।

ऋषि तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ३ । ८ । ५ में कहा है, कि—‘यज्ञो वै विष्णुः ।—यज्ञ विष्णु हैं ।

— ‘दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तं अनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥—जो दुःखसे भिदता न हो और जिसके अनन्तर प्राणी दुःखसे ग्रस्त न होजाता हो और जो अभिलाषा करते ही मिला हो उस सुखको स्वर्ग कहते हैं’ वह नित्य सुखरूप स्थान नाक कहलाता है ।

ॐ भगवानने भगवद्गीताके १५ वें अध्यायके ६६ श्लोकमें कहा है, कि—‘यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ।—प्राणी जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते हैं वह मेरा परम धाम है” ॥

सः । देवानाम् । अधिपतिः । वभूव । सः । अस्मासु । द्रवि-
णम् । आ । दधातु ॥ ० ॥

यज्ञः यज्ञरूपः प्रजापतिः प्रसिद्धो वा यज्ञः स वभूव विश्वात्मना
व्याप्तः निर्वृत्तो वा अभूत् । स आ वभूव सर्वतः कारणात्मना
अभवत् । [यज्ञा] स निर्वृत्तो यज्ञः आवृत्त्य भवतु पुनःपुनर्भवतु ।
❀ चान्दमो लिट् ❀ । स प्र जज्ञे । ❀ जानातेर्जायतेर्वा रूपम् ❀ ।
प्रजातः प्रसिद्धो यज्ञः प्ररूपेण जातः । फलोन्मुखो जात इत्यर्थः ।
उशब्दः अयधारणे । स एव पुनर्वावृधे अद्यापि जगदात्मना पुनः-
पुनर्वर्धते वर्धता वा यज्ञः । ❀ तुजादित्वाद् अभ्यासस्य दीर्घः ❀ ।
स देवानाम् इन्द्रादीनाम् अधिपतिः अधिको मुख्यः स्वामी
वभूव । यज्ञो वा हेतुत्वाद् देवानाम् अधिकं पालयितो भूत् । स
यज्ञः अस्मासु हविषा परिचरत्सु द्रवणिम् धनम् अभिमतं फलम्
आ दधातु स्थापयतु ॥

यज्ञरूप, प्रजापति वा प्रसिद्ध यज्ञ विश्वात्मारूपसे व्याप्त हुआ
है और चारों ओर कारणात्मारूपसे व्याप्त है और वह यज्ञ, फलो-
न्मुख होता है और वह आज्ञात्मक जगदात्मारूपसे बारंबार बढ़ता
है, वह इन्द्र आदि देवताओंका स्वामी हुआ है । ऐसा यज्ञ हम हवि
से सेवा, करने वालोंमें-धन-अभिमत फल-को स्थापित करे ॥२॥

॥ अष्टमी ॥

यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमिन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ३
यत् । देवाः । देवान् । हविषा । अयजन्त । अमर्त्यान् । मनसा ।
अमर्त्येन ।

मदेम । तत्र । परमे । विऽओमन् । पश्येम । तत् । उत्ऽइतो । सूर्यस्यै

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः यत् फलम् । उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः । अमर्त्यान् अमरखधर्मणो देवान् इन्द्रादीन् अमर्त्येन अमर्त्यसंबन्धिना । देवविषयेणेत्यर्थः । अविनाशिना वा । भोगायतनेष्वगमापायिष्वपि मनसोवस्थानाद् नित्यत्वम् । तादृशेन चिरकालावस्थायिना मनसा हविषा चरुपुरोडाशादिना अयजन्त इष्टवन्तः इति स्वेषामेव परोक्षेणाभिधानम् । “विद्वान् यजेत” इति “विद्वान् याजयेत” इति वचनाद् अनुष्ठेयार्थप्रकाशकमन्त्रार्थयष्टव्यदेवताकर्तृज्ञानरूपं वैदुष्यं कर्मसु अपेक्षितम् तच्च पूर्वापरानुसंधानसाधनभूतेन मनसा विना न संभवतीति मनसेत्युक्तम् । “यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वपट्करिष्यन्” इति हि [ऐ० ब्रा० ३. ८] श्रुतिः । वपट्कारवचनम् उपलक्षणम् । तत्र तस्मिन् परमे उत्कृष्टे केवलपुण्यफलभोगस्थाने व्योमन् व्योमनि द्युलोके मदेम वयं यजमाना हृष्यास्म । ❀ माद्यतेः “लिङ्ग्याशिष्यङ्” प्रत्ययः ❀ । अपि च सूर्यस्योदितौ । द्युलोके हि नित्योदितः सूर्यः । सूर्यप्रकाशे यावत्सूर्यप्रकाशं तत् फलं पश्येम । ❀ पश्यतिरत्र आलोचनवाची ❀ । भोग्यत्वेन जानीमः । चिरकालं पुण्यफलम् अनुभवेमेत्यर्थः ॥ एवं द्रव्ययज्ञस्वरूपतत्फलतद्भोगस्थानपरतया व्याख्यातः ज्ञानयज्ञपरत्वेनापि अयं मन्त्रो व्याख्यायते । आत्मविषयविद्यया दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः विविदिषवः । यत् ❀ सप्तम्या लुक् ❀ । यस्मिन् ब्रह्मार्शो देवान् । देवशब्देन देवनसाधनभूता इन्द्रियवृत्तयो विवक्ष्यन्ते । तासां मनसश्च विषयेषु सांतत्येन प्रवर्तनाद् अमर्त्यत्वाभिधानम् । अथवा तच्चविद्योदयपर्यन्तम् इन्द्रियवासनानां मनसश्चावस्थानाद् अविनश्वरत्वम् । ❀ मनसेति सहार्थे वृताया ❀ । अक्षय्युपर-

मेपि मनसो व्यापारसद्भावात् पृथगुपादानम् । मनःसहिता, अक्ष-
वृत्तीः हविषा । ❀ भावपरोपं निर्देशः ❀ । हविष्ट्रेण । संकल्प्येति
शेषः । ❀ यद्वा हविष्ट्वसंकल्पे मनसः करणत्वात् तृतीया ❀ अम-
त्येन । मर्त्यशब्देन क्षयिष्णवो वाहविषया उच्यन्ते । विनाशि-
विषयानासक्तेनेत्यर्थः ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं स्मृतम् ॥

इति श्रुतेः । तादृशेन विषयानासङ्गिना मनसा इन्द्रियवृत्तीर्हवि-
ष्ट्रेण संकल्प्य अयजन्त तथाविधा वयं तत्र तस्मिन् परमे । तस्य
सर्वजगदधिष्ठानत्वात् तस्य वा अधिष्ठानान्तराभावात् परमत्वम् ।

“स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे गहिम्नि” इति [छा० उ०-
७. २४. १] श्रुतेः स्वमहिमप्रतिष्ठे व्योमनि व्योमवद् असंगे सर्व-
गते चिदानन्दलक्षणे ब्रह्मणि विषये मदेम तुष्यास्म । न केवलं
संतोषः अपि तु सूर्यस्य सुष्ठुभेरकस्य परमात्मनः उदिता परि-
पूर्णप्रकाशसाक्षात्कारेण अविद्यास्तमये सति तत् प्रकाशात्मकं
तत्त्वं पश्येम स्वात्मतया अनुभवेम । ❀ संप्रश्ने लिङ् ❀ ॥

कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए मनुष्य जिस फलको उद्देश्यमें रख
कर अमरणधर्मों इन्द्र आदि देवताओंका-उत्पन्न और नष्ट होने
वाले भोगरूप स्थानोंमें भी रहनेके कारण नित्य मनसे-चरु पुरो-
डाश आदिके द्वारा यजन करते हुए ‡ ऐसे हम यजमान केवल
सुखफलभोगके स्थान दुलोकमें आनन्द पावें और दुलोकमें

‡ मनके विषयमें श्रुतिमें कहा है, कि-‘मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं मतम् ॥

‘मन’ ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है, विषयासक्त मन-
बंधनका कारण होता है और विषयशून्य मन मुक्तिका कारण होता
है’ अतः यहाँ विषयासक्त मनकी आहुति देनेका ही अभिप्राय है ॥

सूर्य नित्य उदित रहता है अतः हम सूर्यके उदयको देखते रहें अर्थात् चिरकाल तक पुण्यफलका अनुभव करें ॥

यह मन्त्र ज्ञानयज्ञपरक भी है, उस समय इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी, कि—आत्मविषयक विद्यासे क्रीड़ा करने वाले जाननेकी इच्छा वाले यहाँ देवता माने गए हैं अतः ऐसे देवता ब्रह्माग्निमें विषयोंमें सन्तत प्रवर्तनके कारण अमर्त्य देवताकी साधन-भूत इन्द्रियरूप देवताओंको, तत्त्वविद्याके उदय तक स्थिर रहनेके कारण नित्य मनके साथ हविरूपमें कल्पना करके होमते हुए ऐसे हम सब जगत्का अधिष्ठान होनेसे परम और दूसरा अधिष्ठान भी न होनेसे परम † अपनी महिमामें प्रतिष्ठित व्योमकी संमान असंगत, सर्वगत चिदानन्दरूप ब्रह्ममें हर्षको पावें, केवल हर्ष (सन्तोष) को ही न पावें, किंतु भली प्रकार प्रेरणा करने वाले (सूर्य) परमात्माका उदय होने पर परिपूर्ण प्रकाशका साक्षात्कार होनेसे अविद्याका अस्त होजानेके कारण प्रकाशात्मक तत्त्वका स्वात्मरूपसे अनुभव करें ॥ ३ ॥

नवमी ॥

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।

अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यत् । पुरुषेण । हविषा । यज्ञम् । देवाः । अतन्वत ।

अस्ति । नु । तस्मात् । ओजीयः । यत् । विहव्येन । ईजिरे ४

† छान्दोग्योपनिषत् ७ । २४ । १ की श्रुतिमें कहा है, कि—
“स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ।—हे भगवन् । वह किसमें प्रतिष्ठित है, वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है” ॥

सर्वातिशायिसर्वात्मकहिरण्यगर्भरूपफलप्रापकात् पुरुषमेधारय-
महाक्रतोरपि सर्वात्मकब्रह्मस्वरूपावाप्तिफलप्रापको ज्ञानयज्ञ श्रेयान्
इत्यनया अभिधीयते । पुरुषमेधविधायनं वाचयम् एवं वाजसनेय
ब्राह्मणे सामान्नायते । “पुरुषो ह वै नारायणोऽमयत । अति-
तिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुषमेधं
पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुम् अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत । तेनेष्ट्वा-
त्यतिष्ठत् । सर्वाणि भूतानीदं सर्वम् अभवत्” इति [श० ब्रा०
१३. ५. ५. १] । देवाः दीव्यन्तीति देवा यजमानाः पुरुषेण अश्व-
रूपेण हविषा । “अथ स पुरुषोऽश्व आसीत्” इति वाजसनेयश्रुतेः ।
अत्र साक्षात् पुरुषस्य अनालम्भनात् पर्यग्निकरणानन्तरम् उत्सर्ग
विधानाद् अश्वमेधातिदिष्टोऽश्वः पशुः पुरुषशब्देन विवक्ष्यते । तेन
हविषा यज्ञं पुरुषमेधारयम् अतन्वत विस्तारितवन्तः । ❀ यद्-
वृत्तयोगाद् अनिघातः ❀ । “ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते” [तै०
ब्रा० ३. ४. १. १] इत्यादिना समाध्याता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य
शूद्रादिरूपा बहवः पुरुषपशवो विगन्ते इति यज्ञविस्तारोक्तिः । एवं
पुरुषहविष्कयज्ञ इति यद् अस्ति तस्माद् ओजीयः अतिशयेन
ओजस्वि सारवत् अस्ति नु विद्यते खलु । सामान्यनिर्देशेन यज्ञ
स्वरूपापेक्षया वा नपुंसकत्वम् । ❀ ओजीय इति ओजस्विशब्दाद्
ईयसुनि विनो लुकि रूपम् ❀ । ओजीयोस्तीति प्रतिज्ञातम् तद् दर्श
यति । विहव्येन हव्यं होतव्यं हविः । विगतहविष्केण ज्ञानयज्ञेन
ईजिरे इष्टवन्तः स्वात्मानं परमात्माभेदेन साक्षात्कृतवन्त इति यत्
तद् ओजीय इति । द्रव्ययज्ञज्ञानयज्ञयोरुभयोः सार्वार्थ्यलक्षण-
फलसाम्येपि पुरुषमेधफलस्य कर्मजन्यत्वेन विनाशित्वं ज्ञानयज्ञ-
फलं तु न तथेति तस्माद् ओजीय इत्युक्तम् । भगवतापि उक्तम् ।
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप । इति [भ० गी०
४. ३३] ॥

[सबसे अधिक सत्वात्मक हिरण्यगर्भरूप फलको प्राप्त कराने वाले पुरुषमेध नाम वाले महाक्रतुसे भी सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप फलकी प्राप्ति कराने वाला ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, इसी बातका इस ऋचामें प्रतिपादन किया है, पुरुषमेधविधायक वाक्य वाजसनेयकमें इस प्रकार कहा है, कि—“पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत् । अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत् । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् । सर्वाणि भूतानीदं सर्वं अभवत् ।—पुरुषरूपमें स्थित नारायणने कामना की, कि—मैं सब भूतोंमें अधिष्ठित होऊँ, यह सब मैं ही होजाऊँ । तब उसने इस पाँच रात्रिमें पूर्ण होनेवाले पुरुषमेध यज्ञक्रतुको देखा । उसकी सामग्रीको एकत्रित कर उससे यजन किया और यजन करनेके अनन्तर स्थित होगया, फिर सब भूत और यह सब होगया” (शतपथब्राह्मण १३ । ५ । ५ । १) । मन्त्रके पुरुषशब्दका अर्थ अश्वरूप हवि है । क्योंकि—वाजसनेयककी श्रुतिमें कहा है, कि—“अथस पुरुषोऽश्व आसीत् ।—तदन्तर वह पुरुष अश्व होगया” । यहाँ साक्षात् पुरुषका आलम्बन न होने पर पर्याधिकरणके अनन्तर उत्सर्गका विधान होनेसे अश्वमेधके लिये अतिदिष्ट अश्वपशु पुरुषशब्दसे विवक्षित है ।] स्तुति करने वाले यजमानरूप देवताओंने पुरुषपशुकी हविसे पुरुषमेध नाम वाले यज्ञको विस्तृत किया † । ऐसे पुरुषहविष्क यज्ञसे भी, हविरहित यज्ञसे जो यजन किया जाता है वह ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ‡ ॥ ४ ॥

† ‘ब्राह्मणे ब्राह्मणम् आलभते’ (तैत्तिरीयब्राह्मण ३।४।१।१) में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदिरूप बहुतसे पुरुषपशु हैं उनसे यज्ञके विस्तार करनेका वर्णन किया है ।

‡ अपने आत्माका परमात्माके अभेदसे साक्षात्कार करना

दशमी ॥

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः

मुग्धाः । देवाः । उत । शुना । अयजन्त । उत । गोः । अङ्गैः ।

पुरुध्वा । अयजन्त ।

यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् ।

इह । इह । ब्रवः ॥ ५ ॥

एवं कर्मयज्ञात् ज्ञानयज्ञस्य उत्कर्षं श्रुत्वा कर्मयज्ञं निन्दन् अविनाशिफलकामस्तटस्थो ब्रूते । मुग्धाः कार्याकार्यविवेकरहिता देवा यजमानाः । उतशब्दः अप्यर्थे । शुनापि अयजन्त । यज्ञो हि पशुसाधनकः । तत्र अत्यन्तगर्हितस्यापि शुनः पशुत्वेन निर्देशात् कर्मयज्ञस्य निन्दा दर्शिता । अखाद्यानां परमावधिः श्वा । तथा । उतशब्दः अप्यर्थे । गोः गोरूपपशोः अङ्गैः अवयवैरपि । “हृदयस्याग्रेवद्यति” [तै० सं० ६. ३. १०. ४] इति अंगावदानश्रवणाद् अङ्गैरित्युक्तम् । अवध्यानां परमावधिर्गाः । पुरुधा बहुधा अयजन्त । एकदा करणे प्रमादाज्ञानादिकृतम् इति संभावना भवति । अतस्तन्निरासाय पुरुधेत्युक्तम् । सर्वदा शुनकगवादिरूपैः पशुभिर्यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं पूर्वार्धेन कर्मयज्ञं निन्दित्वा

ही ज्ञानयज्ञ कहलाता है । इन द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनोंमें सार्वान्म्यत्वक्षणफलकी समानता होने पर भी पुरुषमेधका फल कर्मजन्य होनेसे विनाशी है और ज्ञानयज्ञका फल विनाशी नहीं है अत एव वह श्रेष्ठ है । भगवान्ने भी कहा है, कि—‘श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाञ्ज्ञानयज्ञः परन्तप’ । (भगवद्गीता ४ । ३३) ॥

उत्तरार्धेन ज्ञानयज्ञप्राप्तये तदभिज्ञं प्रार्थयते । यो विद्वान् इमं यज्ञम्
यष्टव्यं परमात्मानं मनसा चिकेत जानाति स्म तं तथाविधं गुरुं
नः अस्माकं प्र वीचः प्रकर्षेण ब्रूहि । तेन प्रदर्शितं गुरुं ब्रूते । इहैव
इहैव इदानीमेव ब्रवः परमात्मस्वरूपं ब्रूहि ॥

[इति] सप्तमे काण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(इस प्रकार कर्मयज्ञसे ज्ञानयज्ञके उत्कर्षको सुनकर कर्मयज्ञकी
निन्दा करता हुआ अविनाशी फलको चाहने वाला तटस्थ कहता
है, कि-) कार्य और अकार्यके विवेकसे रहित यजमानोंने कुत्तेसे
यज्ञ किया है और गौके अंगोंसे भी अनेक बार यज्ञ किया है
(यज्ञ पशुसे सिद्ध होता है । उसमें परमगर्हित कुत्तेको भी पशु-
रूपसे ग्रहण किया है अतः कर्मयज्ञको निन्दनीय बताया है, क्यों-
कि-अखाद्य वस्तुओंमें कुत्ता परम अखाद्य है और गौ परम अवध्य
है तथापि “हृदयस्याग्नेऽवद्यति” तैत्तिरीयसंहिता ६ । ३ । १० । ४
में अंगोंका अंशदान करना कहा है । एक बार कोई बात प्रमाद
से भी होसकती है अतः अनेक बार कहा है । इस प्रकार पूर्वार्धसे
कर्मयज्ञकी निन्दा करके उत्तरार्धसे ज्ञानयज्ञकी प्राप्तिके लिये उस
को जानने वालेकी प्रार्थना करते हैं, कि-) जो विद्वान् यष्टव्य
परमात्माको मनसे जान चुका हो ऐसे गुरुको ध्यान देकर बताइये
(और प्रदर्शित गुरुसे कहते हैं, कि-) इसी समय आप परमात्म-
स्वरूपको कहिये ॥ ५ ॥

सप्तमं काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

“अदितिर्द्यौरदितिः” इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आधा-
भिश्चतसृभिः सर्वफलकामः अदितिं यजते उपतिष्ठते वा । “अथर्वा-
णम् [७. २] अदितिर्द्यौः [७. ६] दितेः पुत्राणाम्” [७. ८]
इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

तथा आधाने पचमानेष्टौ आदित्यहविरनुमन्त्रणे “अदितिर्द्यौः”

इति विनियुक्ता । आधानं प्रक्रम्य त्रैताने सूत्रितम् । “पवमानः
पुनातु [६. १६. २] त्वेषस्ते [१८. ४. ५६] अग्नी रक्षांसि
[८. ३. २६] ऋदितिषोः” [७. ६] इति [वै० २. २] ॥

“महीम् पु” [७. ६. २] इति तृचेन नाघटादिभिरुदकतरणे
स्वस्त्ययनकामो नावादिकम् अभिमन्त्र्य तेन तरेत् ॥

तथा नावादिभिर्दूरदेशगमने स्वस्त्ययनकामः अनेन तृचेन नावं
संपात्य तरेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन नौमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य
नाविकेभ्यो वन्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । “महीम् प्विति तरणान्यारोहयति । दूरान्नावं
संपानवर्ता नौमणिं वनाति” इति [कौ० ७. ३] ॥

“महीम् पु” इति ऋचा विवाहे चतुर्थिकाकर्मणि स्वट्वां स्पर्श-
येत् । “महीम् प्विति तल्पम् आलम्भयति” इति [कौ० १०. ५]
सूत्रात् ॥

। तथा आवसथ्याधाने ऋव्यद्विसर्जनानंतरं गृहसमीपे नदीरूपाणि
कृत्वा उदकेन आपूर्य “महीम् पु” “सुत्रामाणम्” इत्याभ्यां नावम्
आरोहयेत् । सूत्रितं हि । “प्राग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा
उदकेन पूरयित्वा आ रोहत सत्रितुर्नावम् एताम् [१२. २. ४८]
सुत्रामाणम् [७. ७. १] महीम् पु [७. ६. २] इति सहिरण्यां
सयवां नावम् आरोहयति” इति [कौ० ६. ३] ॥

सोमयागे दीक्षायां “सुत्रामाणम्” इत्येनां कृष्णाजिनस्थो यज-
मानो जपेत् । “पुनन्तु मा [६. १६. १] इति पाव्यमानः सुत्रा-
माणम् [७. ७. १] इति कृष्णाजिनम् उपवेशितः” इति हि
वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १] ॥

अग्निचरणे “वाजस्य नु प्रमवे” इति वाजप्रसवीयहोमान् ब्रह्मा

अनुमन्त्रयेत् । “वाजस्य तु प्रसव इति वाजप्रसवीयहोमान्” इति
[वै० ५. २] वैतानसूत्रात् ॥

सर्वफलकामो “दितेः पुत्राणाम्” इति देवान् यजते उपतिष्ठते
वा । “अथर्वाणाम् अदितिर्द्यौर्दितेः पुत्राणाम्” इति [कौ० ७. १०]
हि कौशिकं सूत्रम् ॥

प्रवासे द्रव्यलाभार्थं “भद्रादधि” इति ऋचा आज्यसमित्पुरो-
डाशादीनाम् अन्यतमं जुहुयाद् ऋचं जपेद् वा ॥

तथा अश्वादियानेन गच्छन् अनया अश्वादिकं संपात्य अभि-
मन्त्र्य उदकेन संप्रोक्षयेद् मोचयेच्च ॥

तथा विक्रयं वस्त्रादिकम् अनया संपात्य अभिमन्त्र्य लाभ-
कामः अभिमतं देशं नयेत् ॥

तथा लाभकामः अनया वस्त्रादिकम् अभिमन्त्र्य स्वीकुर्यात् ॥
सूत्रितं हि । “भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत् । जपति । यानं
संप्रोक्ष्य विमोचयति । द्रव्यं संपातवद् उत्थापयति । निर्मृज्योप-
यच्छति” इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा ग्रहयज्ञे “भद्रादधि” इत्यनया हविराज्यसमिदाधानोप-
स्थानानि बृहस्पतये कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । “स बुध्न्यात्
[४. १. ५] भद्रादधि श्रेयः प्रेहि [७. ६] बृहस्पतिर्नः [७. ५३]
इति बृहस्पतये” इति [शा० क० १५] ॥

“प्रपथे पथाम्” इति चतुर्ऋचेन नष्टद्रव्यलाभार्थं नष्टद्रव्या-
काञ्चिणां दक्षिणं पाणिम् उन्मृज्य संपात्य विमृज्य वा उत्थापयेत् ॥
तथा तत्रैव कर्मणि अनेन चतुर्ऋचेन एकविंशतिशर्करा अभि-
मन्त्र्य चतुष्पथे निधाय विकिरेत् ॥

सूत्रितं हि । “प्रपथ इति, नष्टैपिणां प्रक्षान्तिताभ्यक्तपाणि-
पादानां दक्षिणं पाणिं निर्मृज्योत्थापयेत् । एवं संपातव्रतो विमृ-
ज्यैकविंशतिशर्कराश्चतुष्पथे निक्षिप्यावकिरति” [कौ० ७. ३] ।

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि “प्रपथे पथाम्” इत्यनया पौष्णं हविरनुमन्त्रयेत् । “चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत” इति प्रक्रम्य “प्रपथे पथाम् [७. १०] मरुतः पर्वतानाम् [५. २४. ६]” इति [वै०-२. ४] वैताने सूत्रितम् ॥

“अदितिर्द्यौरदितिः” यह दूसरा सूक्त है । सर्वफलकाम व्यक्ति इमकी पहिली चार ऋचाओंसे अदितिका उपस्थान वा यजन करे । कौशिकसूत्र ७।१० में कहा है, कि-“अथर्वाणम् (७।२) अदितिर्द्यौः (७।६) दितेः पुत्राणाम् (७।८)” ॥

तथा आधानकी पवमानेष्टिके आदित्यहविके अनुमन्त्रणमें ‘अदितिर्द्यौः’ का विनियोग होता है । आधानके प्रकरणमें वैतानसूत्रमें कहा है, कि-“पवमानः पुनातु (६।१६।२) त्वेपस्ते (१८।४।५६) अग्नी रक्षांसि (८।३।२६) अदितिर्द्यौः (७।६)” (वैतानसूत्र २।२) ॥

‘महीम् पु’ (७।६।२) इस वृचसे नाँका घट आदिके द्वारा जलके तरनेमें स्वस्त्ययनको चाहने वाला नाँका आदिको अभिमन्त्रित करके उस नाँका आदिसे तरे ।

तथा दूरदेशमें नाँका आदिसे जाना चाहने वाला स्वस्त्ययन चाहता हो तो इस वृचसे नाँकाको सम्पातित करके तरे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस वृचसे नाँमणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके नाविकोंके बाँध देय ।

कौशिकसूत्र ७।३ में कहा है, कि-“महीम् ध्विति तरणान्यारोहयति । दूरान्नावं संपातवतीं नाँमणिं बध्नाति” (कौशिकसूत्र ७।३) ॥

विवाहके चतुर्थिकाकर्ममें ‘महीम् पु’ इस ऋचासे खटवाका स्पर्श करे । कौशिकसूत्र १०।५ में कहा है, कि-“महीम् ध्विति तन्पं आलम्भयति” ॥

तथा आवसथ्याध्यानमें क्रयद्विसर्जनके अनन्तर घरके नदी-रूपोंको बना कर जलसे भरे फिर 'महीमू पु' 'सुत्रामाणम्' इन दोनोंसे नौका पर चढ़े। सूत्रमें इस विषयका प्रमाण है, कि—“प्राग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा उदकेन पूरयित्वा आ रोहत सवितुर्नावम् एताम् (१२ । २ । ४८) सुत्रामाणम् (७ । ७ । १) महीमू पु (७ । ६ । २) इति सहिरण्यां सयवां नावं आरोहयति ।—अर्थात् प्राग्दक्षिण सात नदी-रूपोंको बना कर उनको जलसे भरे फिर बारहवें काण्डके दूसरे अनुवाकके अड़तालीसवें 'आरोहत सवितुर्नावम् एताम्' सूक्तसे, सप्तम काण्डके सातवें अनुवाकके प्रथम सूक्त 'सुत्रामाणम्' से और सातवें काण्डके छठे अनुवाकके दूसरे सूक्त 'महीमू पु' से सुवर्ण और जौं वाली नौका पर चढ़े” (कौशिकसूत्र ६ । ३) ।

सोमयागकी दीक्षामें कृष्णमृगचर्म पर विराजमान यजमान 'सुत्रामाणम्' इस ऋचाका जप करे। वैतानसूत्र ३ । १ में कहा है, कि—पुनन्तु मा (६ । १६ । १) इति पाव्यमानः सुत्रामाणम् (७ । ७ । १) इति कृष्णाजिनं उपवेशितः” ॥

अग्निचयनमें ब्रह्मा वाजप्रसवीयहोमका 'वाजस्य नु मसवे' से अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—'वाजस्य नु मसव इति वाजप्रसवीयहोमान्' ॥

सर्वफलकाम “दितेः पुत्राणाम्” से देवोंका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—'अथर्वाणं अदितिर्द्यौर्दितेः पुत्राणाम्' (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

प्रवासमें द्रव्यका लाभ होनेके लिए 'भद्रादधि' इस ऋचासे घृत समिधा पुरोडाश आदिमेंसे किसी एककी आहुति देने वा इस ऋचाका जप करे।

तथा अश्वादियानसे चलता हुआ इससे अश्व आदिका संपादन और अभिमन्त्रण करके जलसे प्रोक्षण करे और छोड़ देय।

तथा वेचनेके वस्त्र आदिको इससे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके लाभ चाहने वाला अभीष्ट स्थानको चला जावे ।

तथा लाभ चाहने वाला इससे वस्त्र आदिको अभिमन्त्रित करके स्वीकार करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत । जपति । यानं संप्रोच्य विमोचयति । द्रव्यं संपातवद् उत्थापयति । निर्मृज्योपयच्छति’ (कौशिकसूत्र (५ । ६) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें ‘भद्रादधि’ इस ऋचासे हवि घृत समिदाधान और उपस्थानोंको बृहस्पतिके लिये करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कडा है, कि-“स बुध्न्यात् (४ । १ । ५) भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७ । ६) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) इति बृहस्पतये (शान्तिकल्प १५) ॥

नष्ट द्रव्य चाहने वालोंके नष्ट द्रव्यके लाभके लिये ‘प्रपथे पथाम्’ इस चतुर्ऋचसे दक्षिण पाणिको शुद्ध संपातित करे उठावे ॥ तथा तहाँ ही कर्ममें इस चतुर्ऋचसे इकीस रतेके फणोंको अभिमन्त्रित करके चौराहेमें रख कर बखेर देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘प्रपथे इति नष्टैपिणां प्रक्षालिताभ्यक्तपाणिपादानां दक्षिणं पाणि निर्मृज्योत्थापयेत् । एवं संपातवतो विमृज्यैकविंशतिशर्कराथतुष्पथे निक्षिप्यावकिरति’ (कौशिकसूत्र ७ । ३) ॥

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें ‘प्रपथे पथाम्’ इस ऋचासे पूजा देवताकी हविका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत’ इति मक्रम्य ‘प्रपथे पथाम् (७ । १०) मरुतः पर्वतानाम् (५ । २४ । ६)’ (वैतानसूत्र २।४) तत्र प्रथमा ॥

अदितिर्द्यौरदितिर्न्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदिति-
जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता ।
सः । पिता । सः । पुत्रः ।

विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च । जनाः । अदितिः । जातम् ।
अदितिः । जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः अदीना अखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा । सैव
द्यौः द्योतनशीलो नाकः । सैव अन्तरिक्षम् अन्तराद्यावापृथिव्यो-
र्मध्ये ईक्ष्यमाणं व्योम । सैव माता निर्मात्री जगतो जननी । सैव
पिता उत्पादकस्तातश्च । स पुत्रः मातापित्रोर्जातः पुत्रोपि सैव ।
विश्वे देवाः सर्वेपि देवा अदितिरेव । पञ्च जनाः निषादपञ्च-
माश्रत्वारो वर्णाः । यद्वा गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि ।
तद् उक्तं यास्केन । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसित्येके ।
चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः इति [नि० ३. ८] ।
ऐतरेयब्राह्मणे तु एवम् आम्नातम् । “सर्वेषां वा एतत् पञ्चजना-
नाम् उक्तं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितृणां च”
इति [ऐ० ब्रा० ३. ३१] । तत्र गन्धर्वाप्सरसाम् ऐक्यात् पञ्च-
जनत्वम् । एवं विधाः पञ्च जना अपि अदितिरेव । जातम् जननं
प्रजानाम् उत्पत्तिः सापि अदितिरेव । जनित्वम् जन्माधिकरणम् ।
यद्वा जातम् उत्पन्नं जनित्वम् उत्पत्त्यमानं च यद् अस्ति तदपि
अदितिरेव । एवं सकलजगदात्मना अदितिः स्तूयते । उक्तं च
यास्केन । इत्यदितेर्विभूतिम् आचष्टे इति [नि० ४. २३] ।
❀ अदितिः । दो अखण्डने । अस्मात् कर्मणि क्तिनि “द्यति-
स्यतिमास्थाम्” इति इच्छम् । यास्कपक्षे तु दीङ् क्षये इत्यस्मात्

क्तिनि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर-
त्वम् । स पितेति स पुत्र इति “निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयो-
रेकताम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गताम् उपा-
ददते” इत्युद्देश्यलिङ्गतया पुंलिङ्गत्वम् । जनित्वम् । जनेरीणा-
दिक इत्वं प्रत्ययः ॐ ॥

अखण्डनीय पृथिवी वा अदीना देवमाता-अदिति ही द्योत-
नशीला र्थाः (स्वर्ग) हैं, वही द्यावापृथिवीके मध्यमें दीखता हुआ
अन्तरिक्ष है, और वही अदिति माता अर्थात् जगत्का निर्माण
करने वाली जननी है, वही पिता अर्थात् उत्पादक तात है, माता
पितासे उत्पन्न हुआ पुत्र भी वही है और सब देवता भी अदिति
ही है, निपाद पञ्चम जन भी अदिति ही हैं । प्रजाकी उत्पत्ति
जनन भी अदिति ही हैं, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और हो रहा
है वह सब अदिति ही है (इस प्रकार सकलजगदात्मारूपसे
अदितिकी स्तुति की है यास्कमुनिने भी कहा है, कि-‘इत्यदि-
तेर्विभूतिमाचष्टे’ (नि० ४ । २३) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

महीम् पु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे
तुविस्तत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्
महीम् । ऊं इति । सु । मातरम् । सुव्रतानाम् । अृतस्य ।

पत्नीम् । अवसे । हवामहे ।

तुविस्तत्राणाम् । अजरन्तीम् । उरूचीम् । सुशर्माणम् । अदितिम् ।

सुप्रणीतिम् ॥ २ ॥

महीम् महती मंहनीयां वा सुव्रतानाम् । व्रतम् इति कर्मनाम ।

शोभनकर्मणां पुरुषाणां मातरम् मातृस्थानीयाम् ऋतस्य सत्यस्य
 यज्ञस्य वा पत्नीम् पालयित्रीं तुविन्नत्राम् बहुवलां बहुधनां वा ।
 ❀ त्रिचक्रादित्वाद् उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अजरन्तीम् अवि-
 नश्वरीम् उरुचीम् उरुन् महतः अश्वतीम् उरु महद् अतिदूरं वा
 गच्छन्तीं बहुप्रकारगतिं वा । ❀ “चौ” इति पूर्वपदस्य दीर्घ-
 त्वम् ❀ । सुशर्माणम् सुसुखाम् । ❀ “सोर्मनसी अलोमोपसी”
 इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । सुप्रणीतिम् सुखेन कर्मणां प्रणेत्रीं
 सुष्ठु प्रणीयमानां वा अदितिम् अखण्डनीयां देवमातरं नावं वा
 अत्रसे रक्षणाय सु सुष्ठु इवामहे आह्वयामः । ❀ व्यत्ययेन
 शः ❀ । उ इति पदपूरणे ॥

शोभन कर्म वाले पुरुषोंकी मातृस्थानीया, सत्य और यज्ञका
 पालन करने वाली, परम धनवलवती, अविनाशिनी, सुन्दर सुख
 से सम्पन्न अनेक प्रकारकी गति वाली, सुखसे प्रणीत विशाल
 देवमाता अदिति वा नौकाका हम रक्षाकेलिये आह्वान करते हैं २
 तृतीया ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं घामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणी-
 तिम् ।

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अक्षवन्तीमा रुहेमा
 स्वस्तये ॥ १ ॥

सुत्रामाणम् । पृथिवीम् । घाम् । अनेहसम् । सुशर्माणम् ।
 अदितिम् । सुप्रणीतिम् ।

दैवीम् । नावम् । सुस्वरित्राम् । अनागसः । अक्षवन्तीम् । आ ।
 रुहेम । स्वस्तये ॥ १ ॥

सुत्रामाणम् सुष्ठु त्रायमाणां पृथिवीम् विस्तीर्णाम् । ॐ प्रथेः
 पिवन संप्रसारणं च [उ० १. १४८] इति प्रत्ययसंप्रसारणे ।
 पित्वात् ङीप् ॐ । ग्राम् द्योतमानाम् अभिगन्तव्यां वा अनेह-
 सम् अपापाम् । सुगर्माणम् इति पादः पूर्वस्याम् ऋचि व्या-
 ख्यातः । स्वरित्राम् शोभनारित्राम् । अरित्रम् उदकक्षेपणसाधन-
 भूतो दण्डः । अस्तवन्तीम् अच्छिद्रां देवीम् देवानाम् इयम् ।
 ॐ “देवाद् यवर्जा” इति अच् प्रत्ययः ॐ । देवमातरं देवसं-
 वन्धिर्ना वा नावम् नौसदृशीं प्रसिद्धां वा नावम् अनागसः अन-
 पराधा वयं स्वस्तये क्षेमाय आ रुहेम आरूढा भूयास्म ।
 ॐ “लिङ्चाशिष्यङ्” । “अन्येषामपि दृश्यते” इति सांहितिको
 दीर्घः ॐ ॥ अस्य मन्त्रस्य दीक्षायां कृष्णाजिनादिरूढेन यज-
 मानेन जप्यत्वाद् नौशब्देन कृष्णाजिनं विवक्ष्यते । तथा च ऐत-
 रेयब्राह्मणे । “कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः” । इत्याम्नातम् [ऐ०-
 ब्रा० १. १३] । सर्वाणि विशेषणानि पूर्ववद् योज्यानि ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाली विस्तीर्ण, गन्तव्य, पापरहित
 सुन्दर सुखमे सम्पन्न अखण्डनीय देवमाता अदिति वा नौका
 की हम शरण लेते हैं—आरोहण करते हैं—। यह सुखपूर्वक कर्मोका
 प्रणयन करती हैं वा भली प्रकार प्रणीत हैं । छिद्ररहित हैं देव-
 ताओंसे इनका सम्बन्ध है और नौकाकी समान तारने वाली हैं
 इनके पार उतारनेका (वा नौकाका दण्ड शोभन है, और यह
 निरपराधा हैं अत एव ऐसी नौका पर हम चढ़ते हैं, वा देवमाता
 अदितिकी हम शरण लेते हैं ॥ १ ॥

‡ इस मन्त्रको कृष्णमृगचर्म पर आरूढ़ यजमान जपता है अत
 एव नौकाशब्दसे कृष्णमृगचर्म लिया जाता है । इसी बातको ऐत-
 रेयब्राह्मणमें कहा है, कि—“कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः—कृष्णमृग-
 चर्म सुन्दरतासे तारने योग्य नौ है” (ऐतरेयब्राह्मण १ । १३) ॥

चतुर्थी ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदिति नाम वचसा करा-
महे ।

यस्या उपस्थे उर्वं अन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरुथं
नि यच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य । नु । प्रसवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम ।
वचसा । करामहे ।

यस्याः । उपस्थे । उर्वं । अन्तरिक्षम् । सा । नः । शर्म । त्रिवरु-
थम् । नि । यच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य अन्नस्य प्रसवे उत्पत्तौ उत्पत्त्यर्थम् । ❀ “थाथ०”
इत्यादिस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । मातरम् अन्नस्य निर्मात्री महीम्
महतीम् अदिति नाम । अदितिः अदीना अखण्डनीया, वा । एवं-
नामधेयाम् एवं स्वभावां नावं वा नु क्षिप्रं वचसा स्तुत्या करामहे
कुर्महे । अदितिं नावं वा अन्नप्रसवार्थं स्तुम इत्यर्थः । ❀ करो-
तेर्व्यत्ययेन शप् ❀ । यस्या अदित्या उपस्थे उत्सङ्गे समीपे उर्वं
विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आकाशं वर्तते सा अदितिः नः अस्माकं
त्रिवरुथम् त्रिभूमिकं त्रिकक्ष्यं शर्म गृहं नि यच्छात् नियच्छतु प्रय-
च्छतु । ❀ यमेलेति आडागमः । “इषुगमियमां छः” इति आदेशः ❀ ॥

अन्नकी उत्पत्तिके लिये, अन्नका निर्माण कर सकने वाली
विशाल अखण्डनीय नौकाकी हम बाणीसे स्तुति करते हैं, जिस
अखण्डनीय नौकाके समीपमें विशाल आकाश है, वह अदिति
अर्थात् अखण्डनीया नौका हमको तिलन्ना भयन देवे ।

अथवा-अन्नकी उत्पत्तिके लिये हम, अन्नका निर्माण करने वाली विशाला देवमाता अदिति देवीकी वाणीसे स्तुति करते हैं, उन अदिति देवीकी गोदमें बड़ा आकाश है वह अदितिदेवी हम को तिमँजला भवन देवें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

दितेः पुत्राणामदितेस्कारिपमव देवानां बृहतामनर्म-
णाम् ।

तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियन्नैनान् नमसा परो
अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

दितेः । पुत्राणाम् । अदितेः । अकारिपम् । अव । देवानाम् ।
बृहताम् । अनर्मणाम् ।

तेषाम् । हि । धाम । गभिऽसक् । समुद्रियम् । न । एनान् ।
नमसा । परः । अस्ति । कः । चन ॥ १ ॥

कश्यपस्य द्वे भार्ये अदितिर्दिनिश्च । तत्र अदितेरुत्पन्ना देवाः ।
दितेस्तु दैत्या दानवाः । तथा सति देवयागे अस्या ऋचो विनि-
योगाद् देवमशंसापरत्वेन व्याख्यायते । दितेः पुत्राणाम् दैत्यानां
संबन्धि । तेषां हि धामेति तृतीयपादे दैत्यस्थानस्य उक्तत्वाद्
अत्र पठ्या तत्संबन्धि स्थानं विवक्ष्यते । दैत्यानां स्थानम् अथ ।
⊗ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ⊗ । अवकृष्य दैत्येभ्यः अपहृत्य
अदितेः । जन्ये जनकशब्दः । पुत्राणाम् इति वा अनुपद्गः । अदितेः
पुत्राणां देवानाम् । अर्थापेति शेषः । दितेः पुत्राणां स्थानम् अया-

कारिषम् अवकिरामि अवक्षिपामि । यथा तद् धाम दैत्यानां निवा-
साय न भवेत् तथा विप्रकीर्णं करोमीत्यर्थः । ❀ कं विक्षेपे ।
लुङि “आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः” इति इडागमे वृद्धौ रूपम् ❀ ।
देवा विशेष्यन्ते । बृहताम् गुणैर्महताम् अनर्मणाम् अर्म हतस्था-
नम् तद्रहितानां शत्रुभिरनभिभाव्यानाम् । हिर्हेता । हि यस्मात्
समुद्रियं समुद्रे भवम् । ❀ “समुद्राभ्राद् घः” इति घः ❀ ।
समुद्रम् अन्तरिक्षं प्रसिद्धो वा समुद्रः । तत्र दैत्या निवसन्तीति
हि प्रसिद्धिः । तादृशं समुद्रभवं तेषां दैत्यानां धाम स्थानं गभि-
पक् । गम्भीरम् इत्यर्थः । परैर्दुष्प्रवेशम् । दुर्जयम् इति यावत् ।
अतः अवकृष्य किरामि अवक्षिपामि तेषामिति संबन्धः । किमिति
दैत्यतिरस्कारः तद् आह । एनान् । देवानां बृहताम् अनर्मणाम्
इति गुणाधिक्यस्य उक्तत्वात् ते देवा अत्र अन्वादिश्यन्ते । एनान्
देवान् परः । ❀ परशब्दयोगे पञ्चम्या भवितव्यम् । अत्र ब्रान्दसो
विभक्तिव्यत्ययः ❀ । एतेभ्यो देवेभ्यः परः अन्यः कश्चन । चतेति
निपातसमुदायः अप्यर्थे । कश्चिदपि नमसा नमस्कारेण हविर्लक्ष-
णेन अन्नेन वा न संभाव्योस्ति । अतो देवानामेव यष्टव्यत्वेन
प्रशस्तत्वात् तदर्थे नानेन योगेन अस्माभिरभिलषितसिद्धिराशास्यते
... (कश्यप मुनिकी दिति और अदिति नाम वाली दो भार्यायें
थीं । इनमें अदितिसे देवता उत्पन्न हुए और दितिसे दैत्य उत्पन्न
हुए । और देवयागमें इस ऋचाका विनियोग है अतः देवताओंकी
प्रशंसामें इसकी व्याख्या की जाती है, कि-) दैत्योंके स्थानको
मैं दैत्योंसे छीन कर अदितिके पुत्र देवताओंका करता हूँ अर्थात्
जिस प्रकार वह धाम दैत्योंके निवासके लिये न हो तिस प्रकार
उसको विप्रकीर्ण करता हूँ, ये देवता गुणोंसे बड़े हैं और हत-
स्थानसे रहित हैं । उन दैत्योंका स्थान समुद्र (वा) अन्तरिक्षमें
है और वह गम्भीर है अर्थात् शत्रु उसमें कठिनतासे प्रवेश कर

सकते हैं और इन देवताओंसे अधिक हविका वा नमस्कारका पात्र और कोई नहीं है, अत एव पूजनीय होनेके कारण देवताओंके निमित्त क्रिये हुए इस यागसे हम अपनी अभिलषित सिद्धिकी आशा करते हैं ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरपता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशनुं कृणुहि सर्ववीरम्
भद्रात् । अधि । श्रेयः । प्र । इहि । बृहस्पतिः । पुरःपता । ते ।
अस्तु ।

अथ । इमम् । अस्याः । वर । आ । पृथिव्याः । आरेशनुम् ।
कृणुहि । सर्ववीरम् ॥ १ ॥

हे बल्लभनादिलाभकाम पुरुष भद्रात् मङ्गलात् संपदः । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । श्रेयः सपदं प्रेहि प्रगच्छ प्रकर्षेण गच्छ । उत्तरोत्तरं संपदं प्राप्नुहीत्यर्थः । यद्वा भद्रात् भन्दनीयाद् अस्मात् स्थानात् श्रेयः अतिशयितलाभहेतुं स्थानं प्रेहि । देशान्तरं गच्छतः पुरुषस्य बृहस्पतिसाहायकं दर्शयति । ते लाभार्थं । गच्छतस्तव बृहस्पतिः बृहतां देवानां पतिः हिताचरणेन पालयिता एतन्नामा देवः पुरपता अस्तु पुरतो गन्ता अग्रगामी भवतु । ❀ प्राप्तमाले लोट् । “पुरोव्ययम्” इति गतित्वाद् “गतिकारुकोपपदात् कृत्” इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्नम् ❀ ॥ उत्तरार्थे बृहस्पतिः संबोध्यते । हे बृहस्पते त्वम् अथ पुरतो गमनानन्तरम् इमं लाभकामं पुरपम् अस्याः पृथिव्या वर उक्कृष्टे लाभस्थाने आ । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । आस्यापय । यस्मिन् प्रदेशे

धनादिलाभविशेषो भवति तत्र इमं पुरुषं संयोजयेत्यर्थः । अपि च सर्ववीरम् सर्वे वीराः पुत्रभृत्यादयः [यस्य] तादृशं शत्रुम् आरे दूरे कृणुहि कुरु । लाभस्थाने लाभकामस्य पुरुषस्य ये परिपन्थिनो जनाः तान् दूरम् अपसारयेत्यर्थः । ❀ कृविहिंसाकरणयोश्च । “धिन्विकृण्वोर च” इति उपत्ययः । “उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्” इति हेतुगभावः ❀ ॥

हे वस्त्र धन आदिके लाभको चाहने वाले ! आप इस मङ्गलमय कर्मसे उत्कृष्टसम्पत्तिको प्राप्त करिये, अथवा—इस कल्याणमय स्थानसे परमलाभ कराने वाले स्थानको भेजिये (देशान्तरको जाने वाले पुरुषकी बृहस्पतिसाहाय्यको दिखाते हैं, कि—) लाभार्थ जानेवाले तुम्हारे आगे २ बड़े २ देवताओंके पति बृहस्पतिदेव चले । और हे बृहस्पते ! आप आगे २ होने पर इस लाभ चाहने वाले पुरुषको इस पृथिवीके लाभके श्रेष्ठ स्थानमें स्थापित करिये । और जिसके पास पुत्र भृत्य आदि सब वीर हैं उस शत्रुको दूर करिये अर्थात् लाभस्थानमेंसे इसके प्रतिद्वन्द्वियोंको हटादीजिये ।
सप्तमी ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति
प्रजानन् ॥ १ ॥

प्रपथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्रपथे । दिवः । प्रपथे ।
पृथिव्याः ।

उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रियतमे । सधस्थे इति सधस्थे ।

आ । च । परा । च । चरति । प्रजानन् ॥ १ ॥

पूषा पोषको मार्गरक्षको देवः पथाम् मार्गाणां प्रपथे प्रक्रान्तः
पन्थाः प्रपथः । मार्गमुखे अजनिष्ट प्रादुर्भवति रक्षणार्थम् । तथा
पूपैव दिवः, घलोकस्य प्रपथे प्रवेशद्वारे, पृथिव्याः प्रपथे प्रवेश-
द्वारे । अजनिष्ट इति संबन्धः । सोयं पूषा प्रियतमे अतिश्रयेन
प्रीतिमत्यां सधस्ये परस्परं सहैव अवस्थिते । ॐ “सध मादस्थ-
योरद्धन्दसि” इति सहस्य सधादेशः ॐ । तादृश्यां उभे द्यावा-
पृथिव्यां अभिलक्ष्य प्रजानन् यजमानैः कृतं कर्म तत्फलं च प्रक-
र्षेण विद्वान् आ चरति च परा चरति च दिवः पृथिवीम् आ-
गच्छति पृथिव्या दिवं परागच्छति । सर्वप्राणिकृतस्य कर्मणाः
साक्षी भूत्वा उभयोरपि लोकयोर्गमनागमने करोतीत्यर्थः ॥

मार्गरक्षक पोषक पूषा देवता प्रवेश मार्गमें रक्षा करनेके लिये
प्रादुर्भू होजाने हैं, तथा पूषा देवता ही घुलोकके प्रवेशद्वारमें रक्षा
करनेके लिये आविर्भूत होते हैं और पृथिवीके प्रवेशद्वारमें रक्षाके
लिये आविर्भूत रहते हैं । और यह पूषा देवता परमप्रेमी परस्पर साथ
ही साथ स्थित दोनों द्यावापृथिवीको लक्ष्य कर यजमानोंके किये
हुए कर्म और कर्मफलको जानते हुए धीसे पृथिवी पर आते हैं
और पृथिवी परसे धी पर जाते हैं । अर्थात् सब प्राणियोंके किये
हुए कर्मोंके साक्षी बन कर दोनों लोकोंमें गमनागमन करते हैं ?
- अष्टमी ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन
नेपत् ।

स्वस्तिदा आष्टृणिः सर्ववीरोप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्
पूषा । इमाः । आशाः । अनुः । वेदः । सर्वाः । सः । अस्मान् ।
अभयऽतमेन । नेपत् ।

स्वस्तिऽदाः । आघृणिः । सर्वऽवीरः । अमऽयुच्छन् । पुरः । एतु ।
प्रऽजानन् ॥ २ ॥

पूषा पोषको देवः इमाः सर्वा आशाः दिशः अनु वेद अनुक्रमेण जानाति । स पूषा देवः अस्मान् अभयतमेन अत्यन्तभयरहितेन मार्गेण नेषत् नयतु । ❀ नयतेर्लेटि “सिञ्च्यहुलम्” इति सिप् । अडागमः ❀ । सोयं पूषा स्वस्तिदाः क्षेमस्य कल्याणस्य वा दाता आघृणिः आगतदीप्तिर्व्याप्तदीप्तिर्वा सर्ववीरः सर्वैर्वीरैः पुत्रादिभिर्युक्तः अमयुच्छन् । ❀ युञ्ज प्रमादे ❀ । प्रमादम् अकुर्वन् प्रजानन् अस्मदभिप्रायं मार्गं वा प्रकर्षेण जानन् पुर एतु पुरतो गच्छतु । अस्मदभिलषितसाधनायेति शेषः ॥

पोषक पूषा देव इन सब दिशाओंको अनुक्रमसे जानते हैं, वह पूषा देवता हमको परम निर्भय मार्गसे लेजावे यह पूषादेवता क्षेम और कल्याणके देने वाले हैं और दीप्तिसे व्याप्त रहते हैं, पुत्र आदि सब वीरोंसे युक्त हैं—ऐसे सूर्यदेव हमारे अभिलषित मार्गको जानते हुए हमारे आगे २ हमारे अभिलषितको जाननेके लिये चलें ॥ २ ॥

नवमी ॥

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन ।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

पूषन् । तव । व्रते । वयम् । न । रिष्येम । कदा । चन ।

स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ३ ॥

हे पूषन् पोषक देव तव व्रते कर्मणि यागरूपे वर्तमाना वयं कदा चन कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम । पुत्रमित्रादिभि-

धनेन च वियुक्ता मा भूमेत्यर्थः । ॐ रूप रिप हिंसायाम् । देवा-
विक्रः ॐ ॥ किं च इह अस्मिन् कर्मणि इदानीं वा ते तव स्तो-
तारः स्तुतिं कुर्वाणाः स्मसि भवामः ॥

हे पूषन् ! हम आपके यागरूप कर्ममें वर्तमान रहते हुए कभी
भी नष्ट न होवें अर्थात् पुत्र मित्र और धनसे भी वियुक्त न होवें,
क्योंकि-हम इस कर्ममें आपकी स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

दशमी ॥

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् ।

पुनर्नो नष्टमाजंतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

परि : पूषा । परस्तात् । हस्तम् । दधातु । दक्षिणम् ।

पुनः । नः । नष्टम् । आ । अजतु । सम् । नष्टेन । गमेमहि ॥४॥

पूषा पोषको देवः परस्तात् परतः अतिदूरद्व देशादपि । धनम्
आदातुम् इति शेषः । दक्षिणं हस्तं परिदधातु प्रसारयतु । यत्र-
यत्र अस्माकं दित्सितं धनम् अस्ति तद् धनम् अस्माकं दातुं तत्र-
तत्र देशे हस्तं प्रसारयतु इत्यर्थः । न अस्मान् नष्टं धनं पुनः
आजतु पुनरागच्छतु । ॐ अज गतिक्षेपणयोः ॐ । न केवलम्
आगमनं किं तु नष्टेन पुनरागतेन धनेन सं गमेमहि संगच्छेमहि ।
धनेन संगता भवेमेत्यर्थः । ॐ संपूर्वाद् गमेरात्मनेपदिनो “लिङ्ग्या-
शिष्यद्” इति अद् प्रत्ययः ॐ ॥

इति सप्तमे काण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

पोषक पूषा देव अतिदूर देशसे भी धन लेनेके लिये दाहिने
हाथको फैलावें । अर्थात् जहाँ २ हमारे देने योग्य धन है उस
धनको हमको देनेके लिये उस २ देशमें हाथ फैलावें, हमारा नष्ट

हुआ धन हम पर आवे, वह धन हम पर आवे ही नहीं, किन्तु हम उस पुनर्वार आये हुए धनसे संयुक्त हों ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३२५) ॥

“यस्ते स्तनः” इति तृतीयं सूक्तम् । तत्र जम्भगृहीतबालक-
भैषज्यार्थं “यस्ते स्तनः” इत्यनया स्तनम् अभिमन्त्र्य बालं पाययेत्
तथा तत्रैव कर्मणि प्रियंगुतण्डुलानाम् उपरि क्षीरं दुग्ध्वा
अनया ऋचा अभिमन्त्र्य व्याधितं पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । “यस्ते स्तन इति जम्भगृहीताय स्तनं प्रयच्छति ।
प्रियंगुतण्डुलान् अभ्यवदुग्धान् पाययति” इति [कौ० ४. ८] ॥

अशनिनिवारणकर्मणि “यस्ते पृथु स्तनयित्तुः” इति ऋचा
अशनिम् उपतिष्ठेत् । “यस्ते पृथु स्तनयित्तुरित्यशनिम्” इति
[कौ० ५. २] सूत्रात् ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि केतवे
कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिक्लपे । “यस्ते पृथु स्तनयित्तुः [७. १२]
देवो देवान्” [१८. १. २०] इत्यादि “केतुं कृण्वन्नकेतवे [ऋ०
१. ६. ३] इति केतवे” [शा० क० १५] इत्यन्तम् ॥

तथा उपाकर्मणि अनया आज्यं जुहुयात् ॥

“सभा च मा” इति पञ्चर्चेन सभाजयकर्मणि क्षीरौदनं पुरो-
दाशं रसान् वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्रीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि पञ्चर्चं जपन् सभास्तम्भं गृह्णीयात् ॥ :

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन सभाम् उपतिष्ठेत् ॥

“सभा च मेति भक्षयति । स्थूणे गृह्णाति उपतिष्ठते” इति
[कौ० ५. २] कौशिकसूत्रात् ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्मणि कृत्यानिःसारणानन्तरं स्वगृहम् आगत्य
“यथा सूर्यः” इत्यृचं जपन् प्रदक्षिणं गच्छेत् । “यथा सूर्य इत्या-
वृत्याव्रजति” इति सूत्रात् [कौ० ५. ३] ॥

- अभिचारकर्मणि “यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्” इति बृचं शत्रुं दृष्ट्वा जपेत् ॥

तत्रैव कर्मणि “यावन्तो मा सपत्नानाम्” इति जपित्वा शत्रून् निरीक्षते ॥

तथा नैऋतकर्मणि निऋतिप्रतिकृतिविसर्जनानन्तरं “यथा सूर्यः” इति जपन् पुनः स्वगृहम् आगच्छेत् । तद् उत्कं नक्षत्रकल्पे । “उपानहाद्युपमुच्य यथा सूर्य इत्यावृत्त्याव्रजति” इति [न० क० १५]

“यस्ते स्तनः” यह दूसरा सूक्त है । इसकी ‘यस्ते स्तनः’ ऋचासे जम्भगृहीत बालककी चिकित्साके लिये स्तनको अभिमन्त्रित करके पिला देय ।

तथा तहाँ ही कर्ममें कँगनीके चावलोंके ऊपर दूध दुह कर इस ऋचासे अभिमन्त्रित कर रोगीको पिला देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“यस्ते स्तन इति जम्भगृहीताय स्तनं प्रयच्छति । मियंगुतएडुलान् अभ्यवदुग्धान् प्राययति” (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

अशनिनिवारणकर्ममें ‘यस्ते पृथुस्तनयित्नुः’ इस ऋचासे अशनिका उपस्थान करे । कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—‘यस्ते पृथुस्तनयित्नुरित्यशनिम्’ ।

तथा ग्रहयज्ञमें इस ऋचासे हवि घृत होम समिदाधान और उपस्थानोंको केतुके लिये करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है कि—‘यस्ते पृथुस्तनयित्नुः (७ । १२) देवो देवान् (१८ । १ । ३०) इत्यादि ‘केतुं कृएवन्नकेतवे (ऋ० १ । ६ । ३) इति केतवे’ (शान्तिकल्प १५) ॥

तथा उपाकर्ममें इस ऋचासे आहुति देय ।

“सभा चामा” इस पञ्चमसे सभाजयकर्ममें क्षीरौदनको पुरोडाशको वा रसोंको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें पञ्चर्चको पढ़ता हुआ सभास्तम्भको ग्रहण करे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस पञ्चर्चसे सभामें बैठे ।

कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—‘सभा च मेति भक्षयति । स्थूणे गृह्णाति उपतिष्ठते’ ॥

कृत्याभतिहरणकर्ममें कृत्यानिःसारणके अनन्तर अपने घरमें आकर ‘यथा सूर्यः’ इस ऋचाको जपता हुआ प्रदक्षिण जावे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ३ का प्रमाण है, कि—“यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति” ॥

अभिचार कर्ममें ‘यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्’ इस ऋचका शत्रुको देख कर जप करे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें ‘यावन्तो मा सपत्नानाम्’ को जप कर शत्रुओंको देखे ।

तथानैऋतकर्ममें निऋतिकी प्रतिकृतिके विसर्जनके अनन्तर ‘यथा सूर्यः’ को जपता हुआ फिर अपने घरको आवे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—‘उपानहावुपमुच्य यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति’ (नक्षत्रकल्प १५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः
सुदत्रः ।

येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह
धातव्रेकः ॥ १ ॥

यः । ते । स्तनः । शशयुः । यः । मयःऽभूः । यः । सुन्नऽयुः ।
सुहवः । यः । सुदत्रः ।

येन । विश्वा । पुष्यसि । वार्याणि । सरस्वति । तम् । इह ।
धातवे । ऋः ॥ १ ॥

हे सरस्वति वर्णपदवाक्यादिना सरणवति वाग्देवते ते तव यः
स्तनः शिशयुः शिशोः पोपं कूर्मन् भवति । ❀ “प्रातिपदिकाद्
धात्वर्थे बहुलम् इष्टवच्च” इति गिशुशब्दात् पुष्पातिधात्वर्थे
णिच् प्रत्ययः । इष्टवद्भावात् शिशोष्टिलोपः । एयन्ताद् औणा-
दिक उप्रत्ययः । णिलोपाभावरश्चान्दसः । एयन्तत्वादेव अनव
ग्रहः ❀ । शेतेर्वा । गिशयुः निगूढः । अनुपासकानाम् अमकाश
इत्यर्थः । “यस्ते स्तनो गुहायां निहितः” इति वाजसनेयश्रुतेः ।
यश्च स्तनो मयोभूः । मय इति मुखनाम । मुखस्य भावयिता ।
यश्च सुन्नयुः सुम्नं सुखं परेषाम् इच्छतीति सुन्नयुः । ❀ “छन्दसि
परेच्छायाम्” इति क्यच् ❀ । सामान्यविशेषविवक्षया मयोभूः
सुम्नयुरिति विशेषणद्वयम् । सुहवःशोभनादानः सर्वैराप्यायनार्थं
सम्यग् आहूयमानः । काम्यमान इत्यर्थः । यश्च सुदत्रः कन्याण-
दानः सुधनां वा । येन च स्तनेन विश्वा विश्वानि वार्याणि पर-
णीयानि धनानि पुष्यसि पोषयसि । स्तोत्रभ्य इति शेषः । तं
तादृशगुणोपेतं स्तनम् इह अस्मिन् जन्मगृहीतेवालके धातवे धातुं
पातुं योग्यं ऋः कुर । ❀ धेद् पाने । तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ।
करिति । ऋगेश्चान्दसे लुटि “मन्त्रे घस०” इति च्छेर्लुक्
गुणे । “हल्ङघा०” इत्यादिना सिपो लोपे “०अपाहचोगेपि”
इति अडभावे रूपम् ❀ ॥

हे वर्णपदवाक्यादिरूपसे सरने वाली सरस्वती देवि ! आपका

जो स्तन बालकोंको पुष्ट करने वाला है अथवा अनुपासकोंके लिये सोता रहता है † और आपका जो स्तन सुख देने वाला है, सबसे काम्यमान है, सुन्दर धन वाला है और जिस स्तनसे आप बरणीय समस्त धनोंको स्तोताओंके पुष्ट लिये करती हैं ऐसे स्तनको पीनेका पात्र इस बालकको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो देवः केतुर्विश्वमाभूष-
तीदम् ।

मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः
सूर्यस्य ॥ १ ॥

यः । ते । पृथुः । स्तनयित्नुः । यः । ऋष्वः । देवः । केतुः ।

विश्वम् । आऽभूषति । इदम् ।

मा । नः । वधीः । विद्युता । देव । सस्यम् । मा । उत । वधीः ॥

रश्मिभिः । सूर्यस्य ॥ १ ॥

हे देव द्योतनशील पर्जन्य ते तव स्वभूतः पृथुः विस्तीर्णमहान् यः स्तनयित्नुः गर्जनरूपशब्दं कुर्वन् अशनिः यश्च ऋष्वः वाधकः ।
☉ रूपं हिंसायाम् । औणादिकः क्वन् प्रत्ययः ☉ । देवः देवस्य पर्जन्यस्य संबन्धी देवैर्निर्मितो वा । ☉ 'देवाद् यञञौ' इति

† वाजसनेयश्रुतिमें कहा है, कि 'यस्ते स्तनो गुहायां निहितः ।— आपका जो स्तन (अज्ञानियोंके लिये) गुहामें स्थित रहता है— अप्रकाशित रहता है' ।

अथ प्रत्ययः ॐ । फेतुः अनर्थज्ञापकोशनिः फेतुरूपो वा ग्रहः इदं परिदृश्यमानं विश्वम् आभूपति व्याप्नोति । वाधितुम् इति शेषः । हे देव पर्जन्य विद्युता तादृश्या अशन्या नः अस्माकं सस्यम् शाक्यादिकं मा वधीः मा वाधिष्ठाः । ॐ हन्तेर्लुटि वधादेशः ॐ । उत अपि च सूर्यस्य सवितुः रश्मिभिः संतापकरैः किरणैः अस्मदीयं सस्यं मा वधीः मा शोषय । अयम् अर्थः । क्षेत्रेषु उन्नाः शाक्यादयः अतिवृष्ट्यनावृष्टिभ्यां बाध्यन्ते । सस्यविनाशेन तदुपजीविन्यः प्रजा विनश्यन्ति । अतोत्र तत्परिहारः प्रार्थ्यत इति ॥

हे द्योतनशील पर्जन्य ! आपका जो विस्तृत गर्जनरूप शब्दको करने वाला अशनि है वह वाधक फेतु (वह अनर्थसूचक अशनि वा फेतुग्रह) वाधा देनेके लिये सारे विश्वमें व्याप्त होजाता है । हे देव ! तैसी अशनिसे हमारे सटी आदि धान्यको नष्ट न होने दीजिये और सूर्यदेवकी (सन्तापदायिनी) किरणोंके द्वारा हमारे धान्यको न सुखाइये । तात्पर्य यह है, कि-खेतोंमें बोये हुए अन्न अतिवृष्टि और अनावृष्टिसे नष्ट होजाते हैं और धान्य का नाश होनेसे उससे आजीविका चलाने वाली प्रजा विनष्ट होजाती है, अतः उसका परिहार करनेके लिये यहाँ प्रार्थना की है ?

दृनीया ॥

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरां संविदाने
येनां संगच्छा उप मा स शिञ्चाच्चारुं वदानि पितरः
संगतेषु ॥ १ ॥

सभा । च । मा । सम् । इति । च । अवताम् । प्रजापतेः ।

दुहितरां । संविदाने इति सम् । विदाने ।

येन । सम्गच्छैः । उप । मा । सः । शिञ्जात् । चारु । वदानि ।

पितरः । सम्गतेषु ॥ १ ॥

सभा विदुषां समाजः । समितिः संयन्ति संगच्छन्ते युद्धाय
अत्रेति समितिः संग्रामः । सांग्रामीणजनसभेत्यर्थः । यद्वा संग्रा-
मनामानि यज्ञनामानि भवन्तीति यास्केनोक्तत्वात् समितिशब्देन
यज्ञ उच्यते । ❀ परस्परसमुच्चयार्थो चकारौ ❀ । ते उभे अपि
मा मां वादिनम् अवताम् रक्षताम् । कीदृश्या । भजापतेः सर्व-
जगत्स्रष्टुर्दुहितरौ पुत्र्या ।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविध्यमेव वा ।

सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् [या० स्मृ० १. ६]

इति “यद्वा आर्त्ताः प्रशंसन्ति स धर्मः” इति [च] स्मृतेर्विद्व-
त्संघस्य सभात्वात् तदुक्तेश्च सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूपत्वात् प्रजा-
पतिपुत्रीत्वव्यपदेशः । ते च सभे संविदाने अस्मद्रक्षणत्रिपयम्
ऐकमत्यं प्राप्ते । ❀ विदेः संपूर्वात् “समो गम्यच्छिञ्” इति
आत्मनेपदम् ❀ । किं च येन वादिना संगच्छै वक्तुं संगतो
भवानि । ❀ पूर्ववद् आत्मनेपदिनो गमेलोऽति रूपम् ❀ । स
विद्वान् मा मां संगतम् उप शिञ्जात् उपेत्य शिञ्जयतु । समीचीनं
वाद्यत्वित्यर्थः । ❀ शिञ्ज विद्योपादाने । एयन्तात् लेटि आहा-
गमः ❀ । यद्वा शिञ्जात् मा वक्तुं शक्तं समर्थम् इच्छतु । ❀ शक्तेः
सन्नन्तात् पञ्चमलकारे रूपम् ❀ । अयम् अर्थः । येन सह अहं विवदे
स स्वयं मदुक्तवचनविघटनपट्टनि वाक्यानि अभाषमाणः प्रत्युत
मामेव स्ववचनतिरस्कारकवाक्यवादिनं करोत्विति । अहि च हे
पितरः पालकाः मदुक्तं वाक्यं साधु साध्विति अनुमोदमानाः
पितृभूता वा हे सभासदो जनाः संगतेषु मया सह वक्तुं मिलितेषु
वादिषु चारु न्यायोपेत सदुत्तरं वदामि । यथा सम्यग् वदामि तथा
अनुगृहीतित्यर्थः ॥

विद्वान् पुरुषोंका समूह सभा कहलाती है, और यज्ञसभा वा संग्रामसभा समिति कहलाती है ये दोनों सभासमितियों प्रजापतिकी पुत्रियों एकमत होकर ‡ मुझ वादीकी रक्षा करें। जिस वादीसे मैं मंगत होऊँ वह मुझसे अपने बचनोंका तिरस्कार कराने वाले वाक्योंका ही उच्चारण करा सके, हे पालकों ! वा मेरे कहे हुए वाक्यका साधु २ कहकर अनुमोदन करनेसे पितारूप सभासदों ! मैं अपने साथ वाद करते हुए मनुष्योंसे सदुत्तर ही कहूँ, तिस प्रकार मुझ पर अनुग्रह करो ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि ।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

विद्म । ते । सभे । नाम । नरिष्ठा । नाम । वै । असि ।

ये । ते । के । च । सभासदः । ते । मे । सन्तु । सवाचसः २

हे सभे ते तत्र नाम नामधेयं विद्म जानीमः । ❀ “विदो लदो वा” इति मसो मादेशः, ❀ । तन्नाम दर्शयति । हे सभे नाम ।

‡ सभा और समितिको प्रजापतिकी पुत्री कहनेका तात्पर्य यह है कि—‘चत्वारो वेदधर्मज्ञाः परित् त्रैविद्यमेव वा । सा व्रते यं स धर्मः स्यात् ॥—वेद धर्मको जाननेवाले चार पुरुष वा त्रैविद्य पुरुष परित् कहलाते हैं, ऐसी परिपत् (सभा) जो कुछ कहे वह धर्म है’ (याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ६), और यद् आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः ।—शिष्ट पुरुष जिसकी प्रशंसा करें वह धर्म है” । के अनुसार विद्वत्संघके सभा होनेसे और उसकी उक्तिके सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूप होनेसे उन दोनोंको सब जगत्के रचयिता प्रजापतिकी पुत्री कहा है ।

नाम्नेति यावत् । नरिष्टा । ❀ रिषिणा क्तान्तेन नसमासः ❀ ।
 अहिंसिता परैरनभिभाव्या । एतन्नामिका असि वै भवसि खलु ।
 एकस्य वचनम् अन्यैराद्रियते तिरस्क्रियतेपि । बहवः संभूय यद्येकं
 वाक्यं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम् अतः अनतिलङ्घ्यवाक्य-
 त्वाद् नरिष्टेति नाम सभाया युज्यते । अतस्ते तव संबन्धिनः ये
 के च सभासदः सभायां सीदन्तो विद्वांसस्ते सर्वे मे मम सवाचसः
 समानवाक्याः [सन्तु] भवन्तु । न हि सभा सर्वा संभूय एकं
 प्रति व्रूते अपि तु तत्रत्याः कतिपये । तेषु मद्रिपये अनुकूलवाक्या
 भवन्तु इति प्रार्थ्यते ॥

हे सभे ! हम तेरे नामको जानते हैं, तू नरिष्टा नाम वाली है
 (अर्थात् दूसरोंसे अनभिभूत नामवाली है) एकके वाक्यको कुछ
 पुरुष आदर करते हैं और कुछ तिरस्कार भी करते हैं और जो
 बहुतसे एकत्रित होकर एक वाक्यको कहें तो वह वाक्य अलंघ-
 नीय होता है अतः अनतिलङ्घ्य वाक्य वाली होनेसे सभाका नाम
 नरिष्टा नाम ठीक ही है) अतः तेरे जो संबन्धी सभासद् हैं वे
 सब विद्वान् मेरे समानवाक्य हों ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

एषाम् । अहम् । सम्ऽआसीनानाम् । वर्चः । विज्ञानम् । आ । ददे ।

अस्याः । सर्वस्याः । सम्ऽसदः । माम् । इन्द्र । भगिनम् । कृणु ३

समासीनानाम् सभायाम् अवतिष्ठमानानाम् एषाम् पुरोवर्तिनां
 वादिनां वर्चः तेजो वैदुष्यजनितप्रभावविशेषम् विज्ञानम् वेदशास्त्रार्थ-
 विषयं ज्ञानं च । विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरिति तद्विदः । तद् अहम्

आ ददेस्वीकरोमि । अपहरामीत्यर्थः । ॐ ददाते: “आदो दोना-
स्यविहरणे” इति आत्मनेपदम् ॐ । किं बहुना । हे इन्द्र । इन्द्र-
स्यैव वागनुशासनकर्तृत्वात् सभाजयरुर्मणि तस्यैव प्रार्थनम् । तथा
च तैत्तिरीयके । “ते देवा इन्द्रम् अग्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुरु”
इति प्रक्रम्य आन्नातम् । “ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्
तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते” इति [तै० सं० ६. ४. ७. ३] ।
तादृशेन्द्र अस्याः पुरः स्थितायाः सर्वस्याः संसदः सभाया भगि-
नम् । भगो भाग्यं वैदुष्यलक्षणं जयलक्षणं वा । तद्वन्तं मां
कृणु कुरु । सर्वामपि सभां मदेकवाक्यश्रवणपरां कुर्वित्यर्थः ।
अथवा भगो भागः । तद्वन्तं कुरु । सर्वस्याः सभायाः यावती वैदुष्य-
छता संभावना तावद्भागभाजं कुर्विति इन्द्रः माध्यते ॥

इन ममामें सामने बैठे हुए वादियोंके विद्वत्ताके कारण उत्पन्न
हुए ममावविशेषात्मक तेजको और वेदशास्त्रार्थ विषयकज्ञानरूप
विज्ञानको मैं अपहृत करता हूँ (‘अधिक क्या ? इन्द्र ही वाणीके
अनुशासनकर्ता हैं अतः सभाजय कर्ममें उनकी ही प्रार्थना की
जाती है । इसी बातको तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—‘ते देवा इन्द्रं
अग्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु ।—उन देवताओंने इन्द्रसे कहा,
कि—हमारी इस वाणीको व्याकृत करिये । इसका आरम्भ करके
कहा है, कि—‘तां इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्माद् इयं
व्याकृता वाग् उद्यते ।—इन्द्रने उसको मध्यमें अवक्रम करके व्याकृत
किया है, इस कारण यह व्याकृत वाणी कही जाती है”) ऐसे
इन्द्रदेव ! इस पूरी सभाके सामने मुझे भाग्यसम्पन्न करें ॥३॥

पृष्ठी ॥

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।

तद् व आ वर्तयामसि मयि वो स्मतां मनः ॥ ४ ॥

यत् । वः । मनः । परागतम् । यत् । वद्धम् । इह । वा । इह । वा ।
तत् । वः । आ । वर्तयामसि । मयि । वः । रमताम् । मनः ४

हे सभासदः वः युष्माकं यन्मनः मानसं परागतम् अस्मत्तः
परागत्य अन्यत्र गतम् । अस्मदनभिमुखम् इत्यर्थः । यच्च मनः
इह वा अस्मिन् वा विषये वद्धं संसक्तम् । मनसो विषयानासङ्गेन
अनवस्थानात् तत्संबन्धाहान् सर्वान् पदार्थान् अभिनयेन दर्शयति ।
इह वा इह वेति अस्मच्चतिरिक्तसर्वविषयेषु संसक्तं वर्तते । तत्
तादृशं वः युष्माकं मनः आ वर्तयामसि अस्मदभिमुखं कुर्मः । आ-
वर्तितं च वो मनः मयि रमताम् मदनुकूलार्थचिन्तापरं भवत्वित्यर्थः ॥

हे सभासदों ! तुम्हारा जो मन हमसे विमुख होकर अन्यत्र
चला गया है और जो मन हमसे व्यतिरिक्त अमुकअमुक विषय
में आसक्त होरहा है, तुम्हारे ऐसे मनको हम अपनी ओर अभि-
मुख करते हैं, और मेरी ओर लौटा हुआ तुम्हारा मन मुझमें
रमण करे-मेरे अनुकूल विचार करे ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।

एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विपतां वर्च आ ददे ॥१॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उद्यन् । तेजांसि । आऽददे ।

एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विपताम् । वर्चः । आ । ददे १

उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् सूर्यः नक्षत्राणाम् तारकाणाम् तेजांसि
दीप्तिं यथा आददे आदत्ते निस्तेजस्कानि करोति । ❀ आन्दसो
लिट् ❀ । एव एवम् । ❀ अन्त्यलोपश्चान्दसः ❀ । स्त्रीणां
पुंसां च द्विपताम् स्त्रीणां द्विपतीनां पुरुषाणां द्विपतां च । ❀ "पुमान

स्त्रिया” इति पुंसो द्विपत एकशेषः ॐ । वर्चः तेजः पराभिभवन-
सामर्थ्यम् । आ ददे स्वीकरोमि अपहरामि । ॐ ददातेर्वर्तमाने लटि
उत्तमैकवचने रूपम् ॐ ॥

जिस प्रकार उदय होते हुए सूर्य नक्षत्रोंके तेजको ग्रहण कर
लेते हैं अर्थात् नक्षत्रोंको निस्तेज कर देते हैं, इसी प्रकार मैं द्वेष
करने वाले स्त्री पुरुषोंके पराभिभवनशक्तिरूप तेजको हरता हूँ ?
अष्टमी ॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विपतां वर्च आ ददे ॥२॥

यावन्तः । मा । सपत्नानाम् । आयन्तम् । प्रतिपश्यथ ।

उद्यन् । सूर्यः इव । सुप्तानाम् । द्विपताम् । वर्चः । आ । ददे २

सपत्नानाम् शत्रूणां मध्ये यावन्तः यत्परिमाणाः शत्रवो यूयम्
आ यन्तम् युद्धाय युष्मान् अभिगच्छन्तम् मामां प्रतिपश्यत प्रति-
कूलं निरीक्षन्तम् । ॐ अतिसर्गे लोट् ॐ । द्विपताम् तेषां प्रति-
कूलं पश्यतां शत्रूणां युष्माकं वर्चः पराक्रमरूपं तेजः आ ददे अप-
हरामि । तत्र दृष्टान्तः । उद्यन् उदयं गच्छन् [सूर्य इव] । सूर्यो
यथा सुप्तानां उदयकाले स्वपतां जनानां वर्चः अपहरति तद्वत् ।
सूर्यस्योदये अस्तमये वा स्वपतां पुरुषाणां वचसः सूर्येण अपहृत-
त्वात् तत्समाधानाय आपस्तम्बेन प्रायश्चित्तरूपाणि कर्माणि विधि-
तानि । “स्वपन्नभिनिष्क्रुक्तोनाश्वान् वाग्यतो रात्रिम् आसीत् ।
श्वोभूत् उदरुम् उपस्पृश्य वाचं विसृजेत् । स्वपन्नभ्युदितोनाश्वान्
वाग्यतोहस्तिष्टेद् । आ तमितोः प्राणम् आयच्छेदित्येके” इति
[आप० घ० २. ५. १२. १२-१५] ॥

सप्तमकाण्डे प्रथमोनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

[इति] अथर्ववेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे प्रथमोनुवाकः ॥

हे शत्रुओंमेंसे जितने शत्रु तुम मुझको आता हुआ देख रहे हो, द्वेष करने वाले तुम शत्रुओंके तेजको मैं इस प्रकार अपहृत करता हूँ जिस प्रकार सूर्य उदय होते समय सोने वालोंके तेजको हर लेता है † ॥ २ ॥

सप्तमं काण्डकं प्रथमं अनुवाकम् तुनीयं सूक्तं और प्रथम

अनुवाकं समाप्तं (३२९)

द्वितीयेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र “अभि त्यम्” इत्याद्ये सूक्ते आदि-
तथतुष्ट्रं चैनं सूत्रोक्तं स्थानं गत्वा तत्र उदपात्रं संपात्य सोममिश्रं
कृत्वा सारूपवत्सम् ओदनं संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामः अश्नीयात्
“तां सवितः” इति ऋचा एकवारमसूताया गोर्वन्धरज्जुमणिं
कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामो वध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । “अभि त्यम् [७. १५] इति महावकाशोरण्य
उन्नते विमिते प्राग्द्वारे प्रत्यग्द्वारे वाप्सु संपातान् आनयति ।
कृष्णाजिने सोमांशून् विचिनोति । सोममिश्रेण संपातवन्तम्

† सूर्योदय वा सूर्यास्तके समय सोने वालोंके तेजको सूर्यदेव हर लेते हैं, इसका समाधान करनेके लिये आपस्तम्ब मुनिने प्रायश्चित्तरूप कर्म कहे हैं, कि—‘स्वपन्नभिनिष्कृतो नाश्वान् वाग्यतो रात्रिम् आसीत् । श्वोभूत उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेत् । स्वपन्नभ्युदितोऽनाश्वान् वाग्यतोऽहस्तिष्ठेद् । आ तमितो प्राणम् आयच्छेद् ।—सूर्यके अस्तके समय सोनेसे अभिनिष्कृतसंज्ञक होजावे तो कुछ खावे नहीं, बाणीको नियममें रक्खे और रात्रि भर बैठा रहे और दूसरा दिन होने पर जलमें स्नान कर बाणीको खोले, सूर्योदयके समय सोता हो तो भोजन न करे और दिन भर बाणीको नियममें रक्खे वा जब तक अंगोंमें ग्लानि न आवे तब तक प्राणवायुको धारण करे’ (आपस्तम्बधर्मसूत्र द्वितीयप्रश्नपञ्चम पटल चारहवीं खण्डिकाके १३ । १४ । १५ सूत्र) ॥

अश्नाति । आदीप्ते संपन्नं तां सवितः [७. १६] इति गृष्टिदाम
वधनाति” इति [कौ० ३. ७] ॥

तथा सोमकृपणानन्तरम् “अभित्यम्” इत्यनेन ब्रह्मा हिरण्य-
पाणिः सोमं विचिनुयात् । “चर्मणि सोमम् अभित्यम् इति हिरण्य-
पाणिर्विचिनोति” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ३] ॥

“वृहस्पते सवितः” इत्यनया सूर्योदयपर्यन्तं सुप्तं ब्रह्मचारि-
णम् उत्थापयेत् ॥

तथा आधाने संभारस्पर्शनदिवसे सुप्तान् यजमानादीन् अनया
उत्थापयेत् । “अथाग्न्याधेयम्” इति प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् ।
“वाग्यता जाग्रतो रात्रिम् आसते । अपररात्र वा वृहस्पते सवित-
रिति सुप्तान् बोधयेत्” इति [वै० २. १] ॥

“धाता दधातु” इति चतुश्चैत्रेन सर्वफलकामो धातारं यजेत
उपतिष्ठेन वा । सूत्रितं हि । “अदितिर्घाः [७. ६] दितेः पुत्रा-
णाम् [७. ८] वृहस्पते सवितः [७. १७] धाता दधातु”
[७. १८] इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा वीरपुत्रप्रजननार्थम् अनेन चतुश्चैत्रेण गर्भिण्या उदरम्
अभिमन्त्रयेत् । “याम् इच्छेद् वीरं जनयेद् इति धातव्याभिरुदरम्
अभिमन्त्रयेत्” इति [कौ० ४. ११ सूत्रात्] ॥

द्वितीय अनुवाकमें दो सूक्त हैं । तहाँ ‘अभित्यम्’ ये आदिके
सूक्त हैं इनमेंके पहिले चतुश्चैत्रसे सूत्रोक स्थानमें जाकर तहाँ
जलपूर्ण पात्रका सम्पातन कर सोमसे मिलावे फिर सारूपवत्स
ओदनका सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टि चाहने वाला
उसका भक्षण करे ।

‘तां सवितः’ इस ऋचासे एक बार व्याही हुई गाँके बाँधनेकी
रस्सीकी मणि बना सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टिको
चाहने वाला बाँध लेय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘अभित्यम्’ (७।१५) इति महावकाशोरण्य उन्नते विमिते प्राग्द्वारे वाप्सु सम्पातान् आनयति । कृष्णाजिने सोमांशून् विचिनोति । सोममिश्रेण सम्पातवन्तं अश्नाति । आदीप्ते सम्पन्नं तां सवितः (७।१६) इति गृष्टिदाम वध्नाति’ (कौशिकसूत्र ३।७) ॥

तथा सोमक्रयणके अनन्तर हाथमें सुवर्ण लिये हुए ब्रह्मा ‘अभित्यम्’से सोमको ढिल्लावे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है, कि—‘चर्मणि सोमं अभि त्यम् इति हिरण्यपाणिर्विचिनोति’ (वैतानसूत्र ३।३) ॥

‘बृहस्पते सवितः’ इस ऋचासे सूर्योदय तक सोने वाले ब्रह्मचारीको उठावे ।

तथा आधानके संभारस्पर्शन दिवसमें सोते हुए यजमान आदिको इस ऋचासे उठावे । ‘अथाग्न्याधेयम्’ का आरंभ करके वैतानसूत्रमें कहा है, कि—‘वाग्यता जाग्रतोरात्रिम् आसते । अपररात्रं वा बृहस्पते सवितरिति सुप्तान् बोधयेत्’ (वैतानसूत्र २।१) ॥

सर्वफलकाम ‘धाता दधातु’ इस चतुर्ऋचसे धाताका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘अदितिर्घौः (७।६) दितेः पुत्राणाम् (७।८) बृहस्पते सवितः (७।१७) धाता दधातु (७।१८) (कौशिकसूत्र ७।१०) ॥

तथा वीरपुत्र उत्पन्न होनेके लिये इस चतुर्ऋचसे गर्भिणीके उदरका अभिमंत्रण करे । कौशिकसूत्र ४।११ में कहा है, कि—‘याम् इच्छेद् वीरं जनयेद् इति धातव्याभिरुदरम् अभिमंत्रयते’ ॥ तत्र प्रथमा ॥

अभि त्यं देवं सवितारमोरण्योः कविक्रतुम् ।

अर्चामि सत्यसंबं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अभि । त्यम् । देवम् । सवितारम् । ओएयोः । कविऽऽकृतम् ।

अर्चामि । सत्यऽसवम् । रत्नऽधाम् । अभि । मियम् । मतिम् १

त्य तं प्रमिद्धं देवम् द्योतनात्मकम् ओएयोः सर्वस्य अविज्यो-
र्थावापृथिव्योः सवितारम् प्रसवितारम् एतन्नामधेयं देवम् अभ्य-
र्चामि अभिष्टामि । ॐ ओएयोरिति । अवतेः आणादिको
निप्रत्ययः । “ज्वरस्वर०” इत्यादिना ऊट् गुणः । द्वान्दसं एत्वम् ।
“उदात्तम्भरितयोः०” इति श्लोकारः स्वर्यते “उदात्तयो हन्पूर्वात्”
इत्येष स्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ॐ । सवितारं विशिनष्टि । कवि-
कृतुं कवीनां मेधाविनामित्र क्रतुः कर्म यस्य तादृशं कमनीयकर्माणं
वा सत्यसवम् सत्यानुज्ञं यथार्थप्रेरणम् रत्नधाम् रमणीयधनानां
धारयितारं दातारं वा मियमभि मियं प्रेमप्रीणयितारं स्तोतारं वा
अभिलक्ष्य । रत्नधाम् इति संबन्धः । यद्वा अभि आभिमुख्येन मियं
सर्वस्य प्रीतिकरम् अत एव मतिम् सर्वैर्मन्तव्यम् । ॐ “मन्त्रे
वृषेप०” इति क्तिन्नुदात्तः ॐ । ईदृशं देवम् अभ्यर्चामि । ॐ अर्चतिः
स्तुतिकर्मा । पादादित्वात् न निघातः ॐ ॥

उन कमनीय कर्म वाले, यथार्थ प्रेरणा वाले, रमणीय धनोंको
धारण करने वाले अत एव सबको मिय और मन्तव्य तथा रक्षा
कर्मने वाली धावापृथिवीके सवितानामरुदेवकी भैं पूजा करता हूँ १

द्वितीया ॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सर्वामनि ।

हिरण्यपाणिरमिमीत सुकृतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

ऊर्ध्वा । यस्य । अमतिः । भाः । अदिद्युतत् । सर्वामनि ।

हिरण्यऽपाणिः । अमिमीत । सुऽकृतुः । कृपात् । स्वः ॥ २ ॥

यस्य सवितुर्देवस्य अयतिः अयनशीला व्यापनशीला । ❀ अम-
 तेर्गतिकर्मण आँणादिकः अतिप्रत्ययः । अत एव मध्योदात्तः ❀ ।
 एतादृशी भाः दीप्तिः ऊर्ध्वा उत्कृष्टा अदिद्युत् द्योतयति । विश्वम्
 इति शेषः । ❀ द्योततेर्त्यन्तात् चङि उपधाह्रस्वत्वम् ❀ । यस्य
 च देवस्य सवीमनि सवे अनुज्ञायां सत्याम् । ❀ घृ प्रेरणे ।
 “अन्येभ्योपि दृश्यन्ते” इति मनिन् । छान्दसम् इटो दीर्घत्वम् ❀ ।
 येन सवित्रानुज्ञातः सुक्रतुः शोभनकर्मा पुष्टिकामो ब्रह्मा वा हिरण्य-
 पाणिः हिरण्यहस्तः सन् कृपा कल्पनया अंगुल्यादिविषयया स्वः
 स्वर्गप्रदं सुखप्रदम् । सोमम् इत्यर्थः । अपिमीत मिमीते । ❀ छान्दसो
 लङ् ❀ । [त्यं प्रसिद्धम् इति पूर्वमन्त्रेण संबन्धः] ॥ यद्वा ।
 ❀ सवीमनीति निमित्तसप्तमी । सुनोतेरौणादिक ईमनिन् प्रत्ययः ❀ ।
 अधिषवार्थं हिरण्यपाणिः हितरमणीयरश्मिः हिरण्यहस्तो वा ।
 “हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप स्तुहि” इति हि निगमः
 [ऋ० १. २२. ५] । स्वः आदित्यः सविता कृपा कृपया पुष्टि-
 कामं ब्रह्माणं वा आविश्व स्वयमेव मिमीते । सोमम् इति शेषः ।
 ❀ कृपा । कृपू सामर्थ्ये । क्विप् । “सावेकाचः०” इति विभक्ते-
 रुदात्तत्वम् ❀ ॥

जिन सविता देवताकी व्याप्तिस्वभावा कान्ति उत्कृष्ट रूपसे
 विश्वको दमकाती है और जिन देवताकी अनुज्ञा होने पर शोभन
 कर्म वाला ब्रह्मा हितरमणीय हाथसे अंगुलि आदिकी कल्पनासे
 स्वर्ग देने वाले सोमको बनाते हैं उन सविता देवताकी हम स्तुति
 करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सावीर्हि देव प्रथमायं पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै

अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि
पश्वः ॥ ३ ॥

सावीः । हि । देव । प्रथमाय । पित्रे । वर्ष्माणम् । अस्मै । वरि-
माणम् । अस्मै ।

अथ । अस्मभ्यम् । सवितः । वार्याणि । दिवःऽदिवः । आ ।
सुव । भूरि । पश्वः ॥ ३ ॥

हे देव श्रोतनात्मक सवितः प्रथमाय । प्रथम इति मुख्यनाम । प्रथमनाय प्रकृष्टमाय पित्रे पालकाय यजमानाय सावीर्हि प्रेरयैव । फलम् इति शेषः । सामान्येनोक्तं विशिनष्टि । अस्मै पुष्टिकामाय वर्ष्माणम् देहम् । पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिम् इत्यर्थः । तां प्रयच्छेति संबन्धः । अस्मै पुष्टिकामाय यजमानाय वरिमाणम् उरुत्वं च प्रयच्छ । यद्वा वर्ष्माणम् देहं यथा यजमानस्य देहः पुत्रपौत्रादिजननक्षमो भवति तथा कुरु । वरिमाणम् पुत्रपौत्रादिलक्षणम् उरुत्वं प्रयच्छेति ॥ अथ अनन्तरं हे सवितः अस्मभ्यं वार्याणि वरणीयानि फलानि आ सुवेति क्रियया संबन्धः । अपि च दिवोदिवः दिवसान् दिवसान् प्रतिदिवसम् । “दिवेदिव आ सुव” इति शाखान्तरे [ऋ० ३. ५६. ६] पठ्यते । भूरिभूरीन् । ॐ सुपो लुक् ॐ । पश्वः पशून् । ॐ ह्यन्दसो यण् आदेशः ॐ । आ सुव अस्मद्भिमुखं प्रेरय ॥

हे श्रोतनात्मक सवितः देव ! आप इस श्रेष्ठ पालक यजमानके लिये फलोंको प्रेरित ही करिये । इस पुष्टि चाहने वालेको देहको अर्थान् पुत्र पौत्र आदिरूप देहको दीजिये और इसको महत्त्व दीजिये, वा-इस यजमानका देह जिस प्रकार पुत्र पौत्र आदिको

वत्पन्न करनेमें समर्थ हो तैसा करिये और इसको पुत्र पौत्र आदि-
रूप महत्त्व दीजिये । और हे सवितः देवता ! आप हमारे लिये
प्रतिदिन वरणीय फलोंको और बहुतसे पशुओंको हमारे अभि-
मुख प्रेरण करते रहिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधत् रत्नं दक्षं पितृभ्य
आयुषि ।

पिवात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्जमा चित् क्रमते अस्य
धर्माणि ॥ ४ ॥

दमूनाः । देवः । सविता । वरेण्यः । दधत् । रत्नम् । दक्षम् ।
पितृभ्यः । आयुषि ।

पिवात् । सोमम् । ममदत् । एनम् । इष्टे । परिज्जमा । चित् ।
क्रमते । अस्य । धर्माणि ॥ ४ ॥

दमूनाः दान्तमना दानमना वा वरेण्यः वरणीयः सविता सर्व-
प्रेरको देवः रत्नम् रमणीयं धनं दक्षम् । धलनामैतत् । वलं च
दधत् प्रयच्छन् तथा पितृभ्यः पूर्वैभ्यः सकाशात् आयुषि शत-
संवत्सरपरिमितम् आयुः । तपनपरिस्पन्दबाहुल्यात् तत्कालाव-
च्छिन्नस्यापि आयुषो बहुत्वम् पुत्रपौत्राद्यपेक्षया वा बहुवचनम् ।
तादृशम् आयुश्च दधत् विदधत् प्रयच्छन् सोमम् अभिपुतं पिवात्
पिवत् । ❀ पातेर्लेटि आडागमः ❀ । पीतः स सोमः इष्टे यागे
सवितृदेवत्ये एनं सवितारं ममदत् मदयत् । ❀ माचनेर्ण्यन्तात्
लुङि चङि रूपम् । वाक्यादित्वात् न निघातः “चङ्चन्यतरस्याम्”

इति उपोत्तमस्य उदात्तम् ॐ । ततः परिज्मा चित् परितो व्यापनशीलोपि स सोमः अस्य सप्रितुः धर्मणि धारके स्थाने जठररूपे क्रमते अप्रतिबद्धो वर्तताम् । ॐ “वृत्तिसर्गतायनेषु प्रमः” इति आत्मनेपदम् ॐ ॥

दान देनेमें मनको परायण रखने वाले, वरणीय सर्वमेरफ सविता देवता रमणीय धन और बलको देते हुए हमें पितरोंसे आयुओंको देते हुए इस अभिषुत सोमको पियें, और वह पिया हुआ सोम इस सवितुदेवत्य यागमें सविता देवताको मसन्न करे । उस समय वह व्यापनशील भी सोम इन सविता देवताके धारक जठरस्थानमें अप्रतिबद्धरूपसे रहे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणुं सुमतिं विश्वं वाराम् ।

यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १ ॥

ताम् । सवितः । सत्यसवाम् । सुचित्राम् । आ । अहम् । वृणुं । सुमतिम् । विश्ववाराम् ।

याम् । अस्य । कण्वः । अदुहत् । प्रपीनाम् । सहस्रधाराम् । महिषः । भगाय ॥ १ ॥

हे सवितः प्रसवितः सर्वस्य प्रेरयितः तां तादृशीम् उत्तरार्धे वक्ष्यमाणगुणां त्वदीया सत्यसवाम् सत्यानुज्ञां सुचित्राम् मृष्टु चायनीया विश्ववाराम् सर्व्वरणीयां सुमतिम् शोभनाम् अनुग्रहबुद्धिम् ।

❀ “मन्क्तिन्व्याख्यान०” इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । ताम्
 अहम् आ वृणे आभिमुख्येन याचे । याम् अस्य सवितुः संबन्धिनीं
 सुमतिं महिषः । महन्नामैतत् । महान् कण्वः एतन्नामा ऋषिः
 अदुहत् दुग्धवान् । स्वाधीनां कृतवान् इत्यर्थः । कीदृशीम् । प्रपी-
 नाम् प्रवृद्धाम् । ❀ प्यायतेः पीभावः ❀ । सहस्रधाराम् बहुधा-
 राम् । ❀ सुमतेर्गोसादृश्यविवक्षया पीनत्वादिविशेषणयोगाद्
 दुहिधातुप्रयोगः ❀ । किमर्थं दुग्धवान् । भगाय भाग्याय । यां
 कण्वो दुग्धवान् तां सवितुसंबन्धिनीं सुमतिम् आ वृणे इति संबन्धः॥

हे सर्वप्रेरक सविता देव ! मैं उस सत्य अनुज्ञा वाली, भली
 प्रकार चयन करने योग्य, सर्वोसे वरणीय शोभना अनुग्रहरूपा
 बुद्धिकी याचना करता हूँ, कि-जिस आपकी प्रवृद्ध अनेक धारा
 वाली बुद्धिकी भाग्यके लिये महान् कण्व ऋषिने दुहा था-
 अपने अधीन किया था ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

बृहस्पते सवितर्वर्धयन्नं ज्योतयन्नं महते सौभगाय ।
 संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु
 देवाः ॥ १ ॥

बृहस्पते । सवितः । वर्धय । एनम् । ज्योतय । एनम् । महते । सौभगाय ।
 सम्शितम् । चित् । सम्तरम् । सम् । शिशाधि । विश्वे ।
 एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

हे बृहस्पते बृहतां महतामपि देवानां पते हे सवितः प्रसवितः एत-
 चामक देव । ❀ “नामन्त्रिते समानाधिकरणे०” इति पूर्वस्यामन्त्रि-
 तस्य अविद्यमानत्वप्रतिषेधाद् द्वितीयं इदं सवितृपदं निहन्यते ❀ ।

एनं सूर्योदयपर्यन्तं मृप्तं ब्रह्मचारिणं यजमानादिकं वा वर्धय । उदय-
काले स्वपनः पुरुषस्य दोषश्रवणात् तद्दोषपरिहारेण एनं यजमानं
समर्धयेत्यर्थः । ॐ द्वितीयस्य आमन्त्रितस्य अविद्यमानत्वाद् वर्ध-
येति पदं न निहन्यते ॐ । किं च एनं यजमानादिकं महते मभू-
ताय सौभगाय सौभाग्याय द्योतय । यथा महत् सौभाग्यं भवति
तथा दीप्तं कुर्वित्यर्थः । अपि च संशितम् संशितव्रतं चित् अपि
व्रतवन्तमपि संतरम् सम्यक् अतिशयेन । ॐ समस्तरपि प्रत्यये
“अमु च च्छन्दसि” इति अम् ॐ । सं शिशाधि सम्यक् तीक्ष्णी-
कुरु । संतरं सं शिशाधि इत्पुपसर्गद्वयश्रुतेर्व्रतलोपपरिहारेण यज-
मानादेः कर्मसाफलयम् आशास्यते । ॐ शो तनूकरणे । लोटि
“बहुलं छन्दसि” इति शपः श्लुः । इत्वं च अभ्यासस्य छान्द-
सम् । “वा छन्दसि” इति अपित्वे प्रतिपिद्धे पित्वेन ङित्वाभा-
वात् “अङ्गितश्च” इति हेर्धिभावः ॐ । किं च विश्वे सर्वे देवाः
एनं यजमानादिकम् अनुमदन्तु अनुमोदन्ताम् । साधीयान् असा-
विति सर्वेऽनुमन्यन्ताम् इत्यर्थः ॥ -

हे बृहस्पति नामक देव । और हे सविता देव । इस सूर्योदय
नक सोते रहने वाले ब्रह्मचारी वा यजमान आदिको बड़ाइये,
तात्पर्य यह है, कि-उदयकालमें भी सोने वालेके लिये दोषश्रुति
है उस दोषको दूर कर इस यजमानको बड़ाइये । और इस यज-
मानको बड़े भारी भाग्यके लिये प्रदीप्त करिये, यद्यपि यह व्रत
का पालन करता है, इसको और भी व्रतोंका भी पालन करने
वाला करिये सब देवता इसका अनुमोदन करें, कि-यह साधु है १
सप्तमी ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगत्स्पतिः ।

स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता । दधातु । नः । रयिम् । ईशानः । जगतः । पतिः ।

सः । नः । पूर्णेन । यच्छतु ॥ १ ॥

धाता विश्वस्य धारयिता एतन्नामको देवः नः अस्मभ्यं रयिम् धनं दधातु विदधातु प्रयच्छतु । कीदृशः । ईशानः सर्वार्थसाधनशक्तः । ❀ अनुदात्तेच्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् ❀ । जगत्स्पतिः पालयिता । ❀ “पृथ्याः पतिपुत्र०” इति सत्वम् ❀ । किं च स धाता देवः नः अस्मान् पूर्णेन आप्यायितेन समृद्धेन धनेन यच्छतु नियच्छतु । योजयत्वित्यर्थः ॥

विश्वको धारण करने वाले धाता नामक देवता हमको धन देवे, यह धाता देवता सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेमें समर्थ है और जगत्का पालन करने वाले हैं, ऐसे ये धाता देवता हमको पूर्ण धनसे संयुक्त करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।

वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता । दधातु । दाशुषे । प्राचीम् । जीवातुम् । अक्षिताम् ।

वयम् । देवस्य । धीमहि । सुमतिम् । विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता सर्वस्य विधारको देवः दाशुषे हविर्दत्तवते मह्यं यजमानाय प्राचीम् प्रकृष्टगमनाम् अस्मदभिसुखगमनां जीवातुम् जीवनकारिणीम् । ❀ जीवेः आतुप्रत्ययः ❀ । अक्षिताम् अनुपत्नीणाम् । सुमतिम् इति अनुषज्यते । तां दधातु धारयतु ॥ वयमपि विश्वराधसः सर्वधनस्य अतिप्रभूतधनस्य देवस्य धातुः सुमतिम् कल्याणीं मतिम् अनुग्रहात्मिकां धीमहि धारयेम । ❀ धीङ् आधारे ।

श्यनोलुक् ॐ । यद्वा-दाशुपे, यजमानाय प्राचीम् प्राञ्चनाम्, अन्न-
गुणां जीवातुम् जीवनाय पर्याप्ताम् अक्षितां रयि दधातु ॥ वय-
मपि धनप्रदानार्थं धातुः सुमतिं धीमहि ध्यायेम ॥ योचेमेत्यर्थः ॥

सबको धारण करने वाले धाता देवता मुझ हवि अर्पण करने
वाले यजमानको जीवनदायिनी अन्नय सुमतिको देवें, हम परम
धनी देवकी अनुग्रहात्मिका बुद्धिको धारण करते हैं । अथवा-
वह मुझ हवि देने वाले यजमानको प्राचीन कालके योग्य जीवन-
निर्वाहक्षम अन्नत धनको देवें, हम भी धनप्रदानके लिये धाताकी
अनुग्रहरूपा बुद्धिका ध्यान करते हैं-अर्थात् याचना करते हैं २
नवमी ॥

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुपे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः
सजोषाः ॥ ३ ॥

धाता । विश्वा । वार्या । दधातु । प्रजाकामाय । दाशुपे । दुरोणे ।
तस्मै । देवाः । अमृतम् । सम् । व्ययन्तु । विश्वे । देवाः ।
अदितिः । सजोषाः ॥ ३ ॥

धाता देवः विश्वा विश्वानि वार्या वार्याणि वरणीयानि फलानि,
दधातु विदधातु । तस्मै, तस्मिन्निति । तद् आह । प्रजाकामाय
पुत्रादिकम् इच्छते, दाशुपे हविर्दत्तवते यजमानाय, दुरोणे ।
ॐ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्तीति यास्कः [नि० ४. ५] ॐ ।
दुरवने । गृहे । अपि च तस्मै यजमानाय देवा इन्द्राद्याः अमृतम्
अमरणसाधनम्, अविनाशं वा सं व्ययन्तु संवृण्वन्तु । प्रयच्छन्तु
इत्यर्थः । ॐ व्यञ् संवरणे ॐ । के, ते देवाः । विश्वे सर्वे देवाः ।

अदितिः अदीना अखण्डनीया वा देवमाता । सजोषाः सहस्रीय-
माणा परस्परं स्निग्धा । ॐ जुषी प्रीतिसेवनयोः । असृनि रूपम् ।
अदितेर्विशेषणम् । देवविशेषणपक्षे जसो लुक् ॐ ॥

धाता देवता समस्त वरणीय फलोंको हवि देने वाले प्रजापि-
लाषी यजमानको देवें और इस यजमानके घरमें देवता अमरण-
साधन वस्तु स्थापित करें सब देवता और अदितिदेवी प्रसन्न
होकर (इसको वरणीय फल देवें) ॥ ३ ॥

दशमी ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो
अग्निः ।

त्वष्टा विष्णुः प्रजयां संस्राणो यजमानाय द्रविणं दधातु

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजाऽपतिः ।

निधिऽपतिः । नः । अग्निः ।

त्वष्टा । विष्णुः । प्रजया । सम्स्राणः । यजमानाय । द्रविणम् ।

दधातु ॥ ४ ॥

धातां सर्वस्य स्रष्टा रातिः दाता सर्वश्रेयसाम् । ॐ कर्तरि क्तिच् ।
येद्वा “मन्त्रे वृषेप०” क्तिन्नुदात्तः व्यत्ययेन कर्त्रर्थे भवति ॐ ।
सविता सर्वस्य प्रेरकः अभ्यनुज्ञाता वा । प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा
पालयिता च परमेष्ठी । स एव विशेष्यते । निधिपतिः निधी-
यन्ते पुरुषार्था येष्विति निधयो वेदाः तेषां पाता रक्षिता । अग्निः
अंगनादिगुणयुक्तो वह्निः । त्वष्टा रूपाणां कर्ता । विष्णुः व्यापकी
देवश्च । एते धात्रादयः सर्वे नः अस्मदीयम् इदं हविः जुषन्ताम्
सेवन्ताम् । इदानीम् एत एव एकैकंश्च उच्यन्ते । एष धात्रादि-

देवः प्रजया पुत्रपौत्रादिकया संरराणः सम्यग् रममाणः प्रजो-
स्पत्यादिभ्येः । यद्वा प्रजया सह संरराणः संप्रयच्छन् । अभि-
मतं फलम् इति शेषः । ॐ रमतेः श्रन्त्यलोपरदान्दसः । रातेर्वा
शपः श्लुः ॐ । यजमानाय यागं कुर्वते द्रविणम् धनं दधातु
प्रयच्छतु ॥

[इति] सप्तमे काण्डे द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सर्वके स्रष्टा धाता देवता, सप्त वक्ष्याण्योके दाता सर्वभैरक
सूर्यदेव प्रजाश्रोकै पालक और जिनमें पुरुषार्थ स्थापित किये
गए हैं उन वेदोंके रक्षक परमेष्ठी, अंगनादि गुणयुक्त, अग्निदेव,
रूपोंके कर्ता त्वष्टा देवता, व्यापक विश्वुदेव-इनमेंसे मत्येक देवता
इस हमारी इच्छा सेवन करें । और प्रजाके साथ अभिमत फल
को देकर इस याग करने वाले यजमानको धन भी देवे ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डक द्वितीय अनुवाकम प्रथम सूक्त समाप्त (३३३) ॥

“म नभस्व” इति बृचेन वृष्टिकामो मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो
वा देवताभ्यः क्षीरोदनहोमः आज्यहोमः काशादिविधुवक्वेत-
साख्या श्रोपधीरेऋस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्व्य जलमध्ये
अधोमुखं निनयनम् तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रिता-
नाम् अष्टु सायनम् श्वशिरसो मेपगिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अष्टु
प्रक्षेपणम् मानुषनेशनरदुपानहां वंशाग्रे बन्धनम् तुपसहितम् आम
पात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोच्य त्रिपदे शिष्ये निधाय अष्टु
प्रक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि ।
“सुमत् पतन्तु [४. १५] म नभस्व [७. १६] इति वर्षकामो
द्वादशरात्रम्” इत्यादि “त्रिपादेश्मानम् अवघायाष्टु निदधाति”,
इत्यन्तम् [कौ० ५. ५] ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् ।
सूत्रितं हि । “अथ यत्रैतदुपतारका” इति प्रक्रम्य “सुप्तपतन्तु, म,

नभस्वेति वार्षीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः” इत्यन्तम्
[कौ० १३. ११] ॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागं “न घ्नंस्तताप” इत्य-
नया अनुमन्त्रयेत् । “न घ्नंस्तताप [७. १६. २.] सं वर्चसा
[६. ५३. ३] देवानां पत्नीः [७. ५१] सुगार्हपत्यः [१२.
२. ४५] इति पत्नीसंयाजान्” इति वैतानात् [वै० १. ४] ॥

“प्रजापतिर्जनयतु” इति ऋचा बन्ध्यायाः पुत्रलाभकर्मणि
तस्या उत्संगे आज्यं जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया लोहिताजमांसं संपात्य अभिमन्त्र्य
भक्षयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया ऋचा उदकुम्भं सुराकुम्भं वा
संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजा कामां द्विर्यं परिभ्राम्य अग्रे निनयेत् ॥

तथा अनया ओदनं सुरां प्रपां वा संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजा-
कामायै दद्यात् ॥

सूत्रितं हि । “प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति ।
लोहिताजाया पिशितान्याशयति प्रपान्तानि” इति [कौ० ४. ११] ॥

तथा अभिलषितफलकामः अनया प्रजापतिं यजेत् उपतिष्ठेत् वा ॥

“अन्वद्य नोनुमतिः” इति षडृचेन अभिलषितफलकामः अनु-
मतिं यजेत् उपतिष्ठेत् वा । सूत्रितं हि । “धाता दधातु [७. १८]
प्रजापतिर्जनयतु [७. २०] अन्वद्य नोनुमतिः” [७. २१] इति
[कौ० ७. १०] ॥

पूर्णमासयागे अनुमतिदेवताम् “अन्वद्य नः” इति षडृचेन परि-
गृहीयात् । उक्तं वैताने । “देवताः परिगृह्णाति” इति प्रक्रम्य
“अन्वद्य न इति पौर्णमास्याम्” इति [वै० १. १] ॥

पितृमेघकर्मणि इष्टकाभिश्रितं शमशानं “समेत विश्वे” [७. २२]
इत्यनया सर्वे बान्धवाः परिषिञ्चयेयुः ॥

“अयं सहस्रम्” इति द्वाभ्यां पृश्निसवे हविर्भर्शनसंपातप्रदानादीनि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । “आयंगौः पृश्निः [६. ३१] अयं सहस्रम् [७. २३] इति पृश्नि गाम्” इति [कौ० ८. ७] ॥

“प्र नभस्व” इस ऋचसे घृष्टि चाहने वाला मरुत् देवताओंके लिये वा मन्त्रोक्त देवताओंके लिये क्षीरौदनहोम और घृतहोम करे । काश दिविध्रुवक और वेत नाम वाली औपधियोंको एक पात्रमें करके सम्पातन और अभिमन्त्रण करके जलमें नीचेको मुख करके लेजाय, उन ही सम्पातित और अभिमन्त्रित कास आदिको जलमें डुवावे, कुत्तेके और मेढ़के अभिमन्त्रित शिरको जलमें फेंक देवे, मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके अग्रभागमें बाँधे, भूसीसहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे संप्रोक्षित करके तीन लड़वाले छींके पर रखे फिर उसको जलमें फेंक देवे—इन अभिवर्षण कर्मोंको करे ॥ इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“समुत्पतन्तु (४ । १५) प्र नभस्व (७ । १६) इति वर्ष नामो द्वादशरात्रम्” इत्यादि “त्रिपादेऽश्मानम् अवधायान्मु निदधाति” इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तिमें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अथ यत्रैतदुपतारका इति प्रक्रम्य “समुत्पतन्तु प्र नभस्वेति वार्षीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः” इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र १३ । ११) ॥

दर्शपूर्णमासके पत्नी संयाजोंमें सौम्ययागका “न ग्रंस्तताप” ऋचासे अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“न ग्रंस्तताप (७ । १६ । २) सं वर्चसा (६ । ५३ । ३) देवानां पत्नीः (७ । ५१) सुगार्हपत्यः (१२ । २ । ४५) इति पत्नीसंयाजान्” “प्रजापतिर्जनयतु” इस ऋचासे बन्ध्याके पुत्रलाभकर्ममें उसके उत्संग (समीप) में घृतको होमें ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे लाल बकरेके मांसको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा इसी कर्ममें इस ऋचासे जलपूर्ण कलश वा सुराकुम्भ का संपातन और अभिमन्त्रण करके प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको धुमा कर आगे लावे ।

तथा इस ऋचासे ओदन सुरा वा पौंका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके उसको प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको देदेय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति । लोहिताजायाः पिशितान्याशयति प्रपातान्तानि” (कौशिकसूत्र ४ । ११) ॥

तथा अभिलपित फलको चाहने वाला इस ऋचासे प्रजापति का यजन वा उपस्थान करे ।

“अन्वद्य नोनुधितिः” इस षडृचसे अभिलपित फलको चाहने वाला अनुमति का यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“धाता दधातु (७ । १८) प्रजापतिर्जनयतु (७ । २०) अन्वद्य नोनुधिति ७ । २१” (कौशिकसूत्र ७ । १० ॥

पूर्वमासयागमें अनुमति देवताको “अन्वद्य नः” इस षडृचसे परिग्रहण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“देवता परिगृह्णाति” इति प्रक्रम्य “अन्वद्य न इति पूर्वमास्याम्” (वैतानसूत्र १ । १) ॥

पितृमेधकर्ममें ईंटोंसे चिने हुए शमशानकी “समेत विश्वे” (७ । २२) ऋचासे सब बान्धव परिविञ्चन करें ॥

“अयं सहस्रम्” इन दो ऋचाओंसे पृश्निमन्त्रमें हविमर्शन संपात प्रदान आदि कर्म करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि—“आयं गौः पृश्निः (६ । ३१) अयं सहस्रम् (७ । २३) इति पृश्नि नाम्” (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्ही इदं दिव्यं नभः ।

उद्गो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥१॥

प्र । नभस्व । पृथिवि । भिन्दि । इदम् । दिव्यम् । नभः-।

उद्गः । दिव्यस्य । नः । धातः । ईशानः । वि । स्य । दृतिम् १

अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्ट्यर्थं पर्जन्यः प्रार्थ्यते । तदर्थम् आर्दा अतिवृष्ट्या भूमेर्वाधा मा भूद् इति तस्याः स्वैर्यं प्रथमपादे आशा-
स्यते । हे पृथिवि विस्तीर्णे भूमे त्वं प्र नभस्व । ॐ नभतिर्गति-
कर्मा ॐ । प्रकृषेण संगता उच्छ्वसिता भव । अयम् अर्थः । सस्यादि-
वृष्ट्यर्थं पर्जन्यस्तत्रोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति तथातिवृष्ट्या त्वं
शिथिलावयना मा भव किं तु दृढा भवेति । यद्वा । ॐ नभ तुभ
हिंसायाम् । क्रैयादिकः । व्यत्ययेन शप् ॐ । कृष्ट्या प्रकृषेण
वाधिता मृदिता भव । शान्यादिबीजवापनार्थं क्षेत्रादिकर्षणवृत्तेश-
वती भवेत्यर्थः । ॐ नह्यतेर्वा विकरणव्यत्ययः । हकारस्य भकारः ॐ ।
प्र नह्यस्व संनद्धा भवेति । एवं पृथिवीं संस्तुभ्य वृष्ट्यर्थं देवः
प्रार्थ्यते । इदं पुरोवर्ति दिव्यम् दिवि भवं नभः मेघं भिन्दि विदा-
रय । इति सामर्थ्यात् पर्जन्यः संबोध्यते । तथा कृत्वा दिव्यस्य
दिवि भवस्य उद्गः उदकस्य । ॐ “पहन्०” इत्यादिना उदकस्य
उदन् आदेशः । कर्मार्थे पठ्ठी ॐ । उदकस्य भागम् इति वा नः
अस्मभ्यं धातु घेहि प्रयच्छ । ॐ दधातेर्लोपि शपो लुकि “तिहो
तिहो भवन्ति” इति हेस्तादेशः ॐ । एतदेव प्रकारान्तरेणाह ।
ईशानः वृष्टिप्रदानशक्तस्त्वं दृतिम् जलपूर्णा भस्त्रां मेघरूपा विष्य
विमुञ्च । ॐ स्यतिः उपसृष्टो विमोचने । पो अन्तकर्मणि । श्रोतः
श्यनि” इति ओकारलोपः ॐ । यथा जलपूर्णदृतिमुखात् महज्जलं
स्रवति एवं मेघेभ्यो महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

हे पृथिवि ! तू मकृष्टरूपसे संगत होकर उद्धसित हो, तात्पर्य यह है, कि—सस्य आदिकी वृद्धिके लिये पर्जन्य तेरे ऊपर बड़ी भारी वृष्टि करेगा उस वृष्टिसे तू शिथिल अवयव वाली न होना बड़ ही रहना अथवा जोतनेसे बाधित होकर मृदित हो—सर्दी आदिके बीज बोनेके लिये क्षेत्रादिकर्षण क्लेश वाली हो। हे पर्जन्य ! आप इस दिव्य मेघको विदीर्ण करिये और ऐसा करके दिव्य अर्थात् आकाशमें हुए जलको हमें दीजिये। वृष्टिको प्रदान करने में समर्थ आप जलपूर्ण मेघरूपा भस्त्राको खोलिये अर्थात् जैसे जलसे भरी हुई मशकके मुखसे पानी निकलता है तिस प्रकार मेघोंसे बड़ी भारी वृष्टिको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न ग्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः
 आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्
 तत्र भद्रम् ॥ २ ॥

न । ग्रन् । तताप । न । हिमः । जघान । प्र । नभताम् । पृथिवी ।

जीरदानुः ।

आपः । चित् । अस्मै । घृतम् । इत् । क्षरन्ति । यत्र । सोमः ।

सदम् । इत् । तत्र । भद्रम् ॥ २ ॥

ग्रन् । अनुकरणशब्दोप्यम् । घर्म इत्यर्थः । “यद् घञ्चित्य-
 पतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम्” इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० आ० ५. १. ५] ।
 अनेन घर्मशब्दवाच्यः कालो लक्ष्यते । स घर्मः ग्रीष्मो न तताप ।
 ❀ अन्तर्भावितएवर्थः ❀ । न तापयति संतापेन न बाधते । हिमः

हेमन्तर्तुः न जघान । अतिशीत्येन गात्रसंकोचनरूपवाधां न करो-
तीत्यर्थः । पृथिवी च जीरदानुः जीवनप्रदा । ॐ जीवे रदानु-
प्रत्ययः ॐ । यद्वा । ॐ रक्ति ज्यः प्रसारणे जीर इति भवति ।
“दाभाभ्यां नुः” [उ० ३. ३२] इति नुप्रत्यये दानुरिति ।
अस्यां व्युत्पत्तां अग्रहो युज्यते ॐ । जीरदानुः प्रवृद्धदानासती
प्र नभताम् । उक्तो नभनिशब्दार्थः । वर्षेण आप्यायिता भवत्वित्य-
त्यर्थः । किं च अस्मै यजमानाय आपश्चित् आपोपि घृतम् इत् घृत-
मेव सत्यः क्षरन्ति घृतवत् प्रीतिकारण्यो भवन्ति । “आपो भद्रा
घृतमिद् आप आसुः” इति [तै० सं० ५. ६. १. ३] श्रुत्यन्त-
रात् । यद्वा आपः घृतमेव क्षरन्ति कुर्वन्ति । वृष्ट्यागोसमृद्धा घृत-
वृद्धिर्भवतीति यावत् । घर्महेमन्तजनितसंतापशैत्यवाधाभावः पृथि-
व्याप्पायनं घृतक्षरणं च केन हेतुना भवतीति तद् आह । यत्र
यस्मिन् देशे सोमः एतन्नामा देवः । इज्यन् इति शेषः । तत्र
तस्मिन् देशे सदम् इत् सर्वदेव भद्रम् कल्याणं भवति । सौम्य-
यागेन अनिष्ट निवृत्तिः इष्टप्राप्तिश्च भवतीत्यर्थः ॥

जिस देशमें सोम नामक देवताकी पूजा होनी है उस देशमें
सर्वदा कल्याण ही होता है । उसमें घन अर्थात् ऽ ग्रीष्म ताप
नहीं देता है और हेमन्त ऋतु भी अतिशीतके कारण गात्रसंको-
चनरूप वाधाको नहीं करता है । और पृथिवी भी जीवनप्रदान
करती हुई बढ़ती है और जल भी घृतरूप होते हुए ही बरसते

ऽ घन यह अनुकरण शब्द है इसका घर्म अर्थात् ग्रीष्म अर्थ
है । तैत्तिरीय आरण्यक ५ । १ । ५ में कहा है कि-‘यद् घ्नित्य-
पत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम् । जो घन करता हुआ गिरता है यही
घर्मका घर्मत्व है ।’

हैं-घृतका समान प्रीति देने वाले होते हैं + अथवा जल घृतको ही करते हैं अर्थात् वृष्टिसे गोसमृद्धि होने पर घृतकी वृद्धि होती है २
तृतोया ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः
संजानानाः समनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्द-
धातु ॥ १ ॥

प्रजाऽपतिः । जनयति । प्रजाः । इमाः । धाता । दधातु । सुमन-
स्यमानः ।

सम्जानानाः । समनसः । सयोनयः । मयि । पुष्टम् । पुष्ट-
पतिः । दधातु ॥ १ ॥

प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा पालयिता स देवः इमाः प्रजाः पुत्रा-
दिका जनयतु उत्पादयतु । धाता पोषको देवः सुमनस्यमानः
सुमना इवाचरन् । ❀ “कर्तुः क्यङ् सलोपश्च” इति क्यङ् । सलोपो
व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । सौमनस्यं प्राप्तो दधातु पोषयतु । प्रजा
इत्यनुपङ्गः । किं च ताः प्रजाः संजानानाः समानज्ञानाः । कार्य-
विषये परस्परम् ऐकमत्यं प्राप्ता इत्यर्थः । ❀ “संप्रतिभ्याम्
अनाध्याने” इति जानातेरकर्त्रभिप्रायेपि आत्मनेपदम् ❀ । सं-
मनसः संगतमनस्काः । अन्योन्याविसंवादिकार्यचिन्तापरा इत्यर्थः ।
सयोनयः समानकारणाः । यथा प्रजा उक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति

+ तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । १ । ३ में कहा है कि-“आपो
भद्रा घृतमिदं आप आसुः ।-जलं कल्याणकारकं है और जल
ही घृत है” ॥

तथा पुष्टपतिः पोपस्य पतिः एतन्नामा देवो मयि पुष्टम् पोपं प्रजा-
त्रिपयं दधातु विदधातु ॥

प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति देव पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाओंको उत्पन्न करें, पोपक धाता देव सुमनकी समान आचरण करते हुए पुष्ट करें । और वह प्रजाओं प्रत्येक कार्यमें एकमत रहें-एक मन रहें और एक कारण रहें-ऐसा करनेके लिये पुष्टिपति नामक देवना मुझमें प्रजात्रिपयक पुष्टिको स्थापित करें ॥ ३ ॥-

चतुर्थी ॥

अन्वद्य नोनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।

अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुपे मम ॥ १ ॥

अनु । अद्य । नः । अनुऽमतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् ।

अग्निः । च । हव्यऽवाहनः । भवताम् । दाशुपे । मम् ॥ १ ॥

अनुमतिः अनुमन्त्री सर्वकर्मसु अनुज्ञात्री पूर्णमासाभिमानिनी देवता । कलाहीने सानुमतिः पूर्ण राका निशाकरे । इति हि तद्विदः । अद्य इदानीं नः अस्माकं यज्ञं देवेषु यष्टव्येषु अनु मन्यताम् अनुजानातु । ज्ञापयत्वित्यर्थः । अग्निश्च अग्निरपि दाशुपे । ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀ । हविर्दत्तवतो मम हव्यवाहनः हव्यं मापयिता यष्टव्यान् देवान् भवताम् भवतात् । ❀ व्यत्ययेनात्मनेपदम् । हव्यवाहन इति । “हव्येनन्तःपादम्” इति ऽपुट् ❀ ॥

सब कर्मोंकी अनुमन्त्री पूर्णमासकी अभिमानी देवता † आज

† कलाहीने सानुमतिः पूर्ण राका निशाकरे ।—कलाहीनमें यह अनुमति कहलाती है और पूर्णकला वाला चन्द्रमा होने पर वह पूर्णमासी राका कहलाती है ॥

हमारे यज्ञको पूजनीय देवताओंको विदित करे और अग्निदेव भी मुझ हवि देने वाले ही हविको पूजनीय देवताओंको प्राप्त कराने वाले बनें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु । इत् । अनुऽमते । त्वम् । मंससे । शम् । च । नः । कृधि ।

जुषस्व । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रजाम् । देवि । ररास्व । नः २

हे अनुमते एतन्नामिके देवते त्वं अनु मंसिसे अनुमन्येथाः ।
 ❀ इत् अवधारणे । मन्यतेः पञ्चमलकारे रूपम् ❀ । किं च नः
 अस्माकं शम् सुखं कृधि कुरु । आहुतम् आभिमुख्येन अग्नौ
 प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुषस्व सेवस्व । हे देवि द्योतमाने अनुमते
 नः अस्मभ्यं प्रजां पुत्रादिलक्षणां ररास्व प्रयच्छ । ❀ रातेः “बहुलं
 छन्दसि” इति शपः श्लुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे अनुमति नामक देवते ! तुम अनुमति दो, और हमें सुख
 दो और अग्निमें होमी हुई हविका सेवन करो, हे देवि अनुमते !
 हमें पुत्र आदिरूपा प्रजा दीजिये ॥ २ ॥

पष्ठी ॥

अनुमन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्
 तस्य वयं हेडंसि मापि भूम सुसृडीके अस्य सुमतौ
 स्याम ॥ ३ ॥

अनु । मन्यताम् । अनुऽमन्यमानः । प्रजाऽवन्तम् । रयिम् ।
अक्षीयमाणम् ।

तस्य । वयम् । हेडसि । मा । अपि । भूम । सुऽमृडीके । अस्य ।
सुऽमर्ता । स्याम ॥ ३ ॥

अनुमन्यमानः अनुमन्ता पुंदेवः । यद्वा लिङ्गव्यत्ययः । अत एव शाखान्तरे स्त्रीलिङ्गत्वेन पठ्यते । “अनु मन्यताम् अनुमन्यमाना” इति “तस्यै वयं हेडसि” इति च [तै० सं० ३. ३. ११. ४] । अनुमन्त्री अनुमतिर्देवता रयिम् अनु मन्यताम् अनुजानातु । कीदृशम् । प्रजावन्तम् पुत्रादियुक्तम् अक्षीयमाणं च । किं च तस्य अनुमन्तुः पुंदेवस्य तस्या अनुमतेर्वा हेडसि । ❀ क्रोधनामैतत् ❀ । क्रोधेपि वयं मा भूम । क्रोधविषया मा भूमेत्यर्थः । किं तु अस्य अनुमन्तुः अस्या अनुमतेर्वा सुमृलीके । मृलीकम् इति सुखनाम । शोभनसुखरूपे शोभनसुकारिण्यां वा सुमर्ता अनुग्रहात्मिकायां शोभनायां बुद्धी स्याम् भवेम ॥

अनुमन्यमान अर्थात् अनुमन्ता पुंदेव ! हमें पुत्र आदिसे सम्पन्न अक्षय धन देवों, इन देवताके क्रोधमें हम न पड़ें और इनकी सुखदायिनी अनुग्रहात्मिका बुद्धिमें रहें ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेनां नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे
सुवीरम् ॥ ४ ॥

यत् । ते । नाम । सुऽहवम् । सुऽप्रणीते । अनुऽमते । अनुऽमतम् ।
सुऽदानु ।

तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्वस्वारे । रयिम् । नः । धेहि ।

सुभगे । सुवीरम् ॥ ४ ॥

हे सुप्रणीते सुप्रणयने यजमानानां धनादेः सुष्ठु प्रणेत्रि वा हे अनुमते ते तव सुहवम् सुष्ठु हातव्यम् अनुमतम् सर्वेषाम् अभिमतं सुदानु शोभनदानम् अभिमतफलप्रदायकं यन्नाम नामधेयम् अनुमतिरूपम् अस्ति तेन नाम्ना नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय । ❀ “अतिपिपृत्योश्च” इति अभ्यासस्य इत्थम् ❀ । हे विश्ववारे विश्वैः सर्वैर्वरणीये किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते अनुमते नः अस्माकं सुवीरम् शोभनापत्यं रयिम् धनं धेहि ॥

हे यजमानोंके धनका भली प्रकार प्रणयन करने वाली अनुमति देवते ! तेरा जो भली प्रकार आह्वान करने योग्य सर्वोंका अभिमत, अभिमत फलको देने वाला अनुमतिरूप नाम है, उस नामसे हमारे यज्ञको पूर्ण कर, हे सर्वोंसे वरणीय शोभनभाग्ययुक्त अनुमति देवते ! तू हमको शोभनधनसम्पन्न धन दे ॥ ४ ॥

अष्टमी ॥

ए॒मं य॒ज्ञम॒नु॒म॒ति॒र्ज॒गाम॒ सु॒क्षे॒त्र॒ता॒यै॒ सु॒वी॒र॒ता॒यै॒ सु॒जा॒त॒म्

भ॒द्रा ह्य॒स्याः प्र॒म॒ति॒र्ब॒भू॒व॒ से॒मं य॒ज्ञम॒व॒तु॒ दे॒व॒गो॒पा ५

आ । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । अ॒नु॒स्प॒तिः । ज॒गाम॒ । सु॒क्षे॒त्र॒ता॒यै॒ ।

सु॒वी॒र॒ता॒यै॒ । सु॒जा॒त॒म् ।

भ॒द्रा । हि । अ॒स्याः । प्र॒स्प॒तिः । व॒भू॒व॒ । सा । इ॒मम् । य॒ज्ञम् ।

अ॒व॒तु॒ । दे॒व॒गो॒पा ॥ ५ ॥

अनुमतिर्देवी इमम् अनुष्ठीयमानम् अस्मदीयं यज्ञम् आ जगाम

आगच्छतु । ❀ छान्दसो लिट् ❀ । किमर्थम् । सुक्षेत्रतायै सुभूमित्वाय फलाय । सुवीरतायै शोभनपुत्रत्वरूपफलाय सुक्षेत्रपुत्रादिरूपं फलं दातुम् । कीदृशं यज्ञम् । मृजातम् मन्त्रद्रव्यादिना मुष्टु निष्पन्नम् । किं च हि यस्माद् अस्या अनुमतेः भद्रा भन्दनीया कल्याणी ममतिः प्रकृष्टानुग्रहबुद्धिः बभूव अतः देवगोपा देवानाम् अग्न्यादीनां गोप्त्री सा अनुमतिः इमं यज्ञम् अवतु रक्षतु ॥

अनुमति देवी हमारे इस अनुष्ठीयमान मन्त्र द्रव्य आदिसे भली प्रकार सम्पन्न यज्ञमें सुक्षेत्र पुत्र आदिरूप फल देनेके लिये आवे, क्योंकि—इस अनुमतिसे कल्याणी श्रेष्ठ अनुग्रहरूपा बुद्धि होनी है अतः अग्नि आदिकी रक्षक अनुमति इस यज्ञकी रक्षा करे प्र नवमी ॥

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति ।

तस्यांस्ते देवि सुमती स्यामानुमते अनु हि मंससे नः अनुष्मतिः । सर्वम् । इदम् । बभूव । यत् । तिष्ठति । चरति ।

यत् । ऊं इति । च । विश्वम् । एजति ।

तस्याः । ते । देवि । सुष्मती । स्याम । अनुष्मते । अनु । हि । मंससे । नः ॥ ६ ॥

अनुमतिर्देवी इदं परिदृश्यमानं सर्वं जगद् बभूव । सर्वशब्दार्थं विशिनष्टि । यत् जगत् तिष्ठति स्थावरवृक्षगुल्मादिरूपेण वर्तते । चरति यत् जगत् अबुद्धिपूर्वं चेष्टते । यदु च यदपि च विश्वम् सर्वं जगद् एजति बुद्धिपूर्वकं चेष्टते । ❀ एजू कम्पने ❀ । स्था-

वरजङ्गमात्मकं सर्वं जगद् अनुमतिर्बभूव । हे हेवि अनुमते तस्या-
स्तादृश्यास्ते तव सुमती शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ स्याम भवेम ।
हे अनुमते हि यस्मात् नः अस्मान् अनु मंसिपे अनुमन्वसे ।
❀ मन्यतेः पञ्चमलकारे “सिप् बहुलं लोटि” इति सिप् ❀ ॥

जो जगत् स्थावर वृक्ष शुष्म आदिरूपसे स्थित है और जो
जगत् अबुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है और जो जगत् बुद्धिपूर्वक चेष्टा
करता है वह सब स्थावरजङ्गमात्मक जगत् अनुमतिरूप है, हे
ऐसी अनुमतिदेवि ! ऐसी आप हमारा अनुमोदन करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जना-
नाम् ।

स पूर्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एक-
मित् पुरु ॥ १ ॥

सम्ऽएत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । विऽभूः ।

अतिथिः । जनानाम् ।

सः । पूर्यः । नूतनम् । आऽविवासत् । तम् । वर्तनिः । अनु ।

वावृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

पैतृमेधिककर्मणा संस्कृतस्य पुरुषस्य सूर्यप्रशंसापूर्वकं तदनु-
ग्रहं प्रार्थयते । हे विश्वे सर्वे वान्धवाः दिवः द्युलोकस्य पतिम्
स्वामिनं सूर्यं वचसा मन्त्ररूपेण स्तोत्रेण समेत संप्राप्नुत । संस्तु-
तेत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । लोटि तस्य तवादेशः ❀ । सूर्यो विशे-
ष्यते । जनानाम् जन्मवृत्तां प्राणिनाम् एकः मुख्यो विभूः स्वामी

अतिथिः रांततम् अतनशीलः । ❀ अत सातत्यगमने । ऋतन्य-
ज्जीत्यादिना [उ० ४. २] इयिन् प्रत्ययः ❀ । अतिथिवद्
अर्घ्यादिना पूज्यो वा । पूर्व्यः पुरातनः । ❀ स्वार्थिको यत् ❀ ।
[स] सूर्यः नूतनम् पितृभूतम् इमं पुरुषम् आचित्रासत् । ❀ चित्रा-
सतिः परिचरणकर्मा ❀ । परिचरतु । स्वीयोयम् इति अनुगृह्णात्वित्-
त्यर्थः । यद्वा पूर्व्यः । ❀ “पूर्वः कृतम् इनयो च” इति यप्रत्ययः ❀ ।
पूर्वः पितृभिः अम्मदीयायम् इति स्वीकृतः स पुरुषो नूतनम् पुनः-
पुनरुदयेन अभिनयं सूर्यं परिचरतु । अथ वा पूर्व्यः स पितृभूतः
नूतनम् इष्टकृचिन्म अभिनयं प्रदेशम् अभिगच्छत्विति । तम् एक-
मेव सूर्यं पुरु बहुवा वर्तनिः सत्कर्ममार्गः अनु वष्टते अनुवर्तते ॥

(पितृमेधिकर्मसे संस्कृत होने वाले पुरुष पर अनुग्रह करने
के लिये सूर्यकी प्रशंसा करते हैं, कि—) हे सब बान्धवों ! ध्रुलोक
के स्वामी सूर्यकी मन्त्ररूप वचनसे स्तुति करो, यह सूर्यदेव जन्म
वाले प्राणियोंके प्रधान स्वामी हैं और अतिधिकी समान अर्घे
आदिसे पूजनीय हैं, यह प्राचीन सूर्यदेव इस पितृभूत नूतन पुरुष
को अपना-समझ कर इस पर अनुग्रह करें । इन एक सूर्यसे
ही अनेक प्रकारका सन्मार्ग चलता है ॥ १ ॥

अयं सहस्रमानो दृशे कवीनां मतिज्योतिर्विधर्मणि १

अयम् । सहस्रम् । आ । नः । दृशे । कवीनाम् । मतिः । ज्योतिः ।

विधर्मणि ॥ १ ॥

ब्रध्नः समीचीरुपसः समैरयन् ।

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्रिते गोः ॥ २ ॥

ब्रध्नः । समीचीः । उपसः । सम् । ऐरयन् ।

अरेपसः । सचेतसः । स्वसरे । मन्युगतुऽतयाः । चित्ते । गोः २
 एकादशी ॥ अयं परिदृश्यमानः सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानो
 वा सूर्यः न अस्माकं सद्वत्सम् । ❀ “कालाध्वनोः” इति द्वितीया ❀ ।
 सहस्रसवत्सरकालपर्यन्तं दृशे दर्शनाय । ❀ “दृशे विरुधे च”
 इति केषत्ययान्तत्वेन निपातितः । आ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्या-
 हारः ❀ । [आ भवतु] अनेककालपर्यन्तसूर्यः अस्मच्चक्षुर्गोचरो
 भवत्वित्यर्थः । तं विशिनष्टि । कवीनाम् क्रान्तदर्शिनां पुंसां मतिः
 घननीयः । ❀ कर्मणि क्तिन् ❀ । ज्योतिः प्रकाशरूपः । किं च
 विधर्मणि विविधे धर्मसाधने कर्मणि । ❀ निमित्तसप्तमी ❀ ।
 ब्रध्नः सर्वेषां स्वस्वकर्मसु तत्फलेषु च बन्धकः संयोजकः सूर्यः ।
 ❀ बन्धेर्ब्रधिवुधी च [उ० ३. ५] इति नक् प्रत्ययः ❀ । उपसः
 उपःकालोपलक्षितानि अहानि समीचीः संगतानि अनुक्रमेण
 प्राप्तानि समैरयन् । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । सम्यक् प्रेरयतु । सत्कर्म-
 करणाय पुनःपुनरहानि प्रेरयत्वित्यर्थः ॥

द्वादशी ॥ उपसो विशेष्यन्ते । अरेपसः अयापाः पापहारिण्यः
 सचेतसः समानज्ञानाः स्वसरे । अहर्नामैतत् अह्नि विषये मन्यु-
 यत्तमाः । ❀ मन्यतिर्दीप्तिकर्मा ❀ । अतिशयेन दीप्तिमत्यः प्रकाश-
 युक्ताः गोः पृश्निरूपायाः चित्ते । ❀ चायतेश्चित्तशब्दो निपा-
 तितः ❀ । पूजादानादिकर्मणि निमित्ते ब्रध्नः प्रेरयत्वितिपूर्वेण
 संबन्धः । यद्वा । ❀ चिनोतेः संपदादिलक्षणो भावे विवृप् ❀ ।
 गोशब्देन आदित्य उच्यते । ❀ गौः विष्टृप् नभ इति षट् पदानि
 दिवश्चादित्यस्य च साधारणानीति हि यास्कः [निघ० १. ४] ❀ ।
 तस्य आदित्यस्य चित्ते चयनाय ज्ञापनाय । भवन्तु इति शेषः ।
 अथ वा स्वसरे गोश्चित्त इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः ।
 ❀ चायतेर्निशामनार्थादेव चित्तशब्दः ❀ । गोः आदित्यस्य चित्ते
 दर्शनयोग्ये स्वसरे अह्नि विषये उपसो भवन्तु इति ॥

यह सबसे स्वात्मत्वरूपसे अनुभूयमान सूर्य हमें सदस्र वर्ष तक दर्शन देते रहें, यह सूर्यदेव चतुर पुरुषोंके माननीय हैं, प्रकाश रूप हैं और अनेक प्रकारके धर्मोंका साधन करने वाले कर्ममें और फलमें सबको टिके रखने वाले हैं, ऐसे सूर्यदेव उपःकालोपलक्षित दिनोंको अनुक्रमसे संगत करते रहें-सत्कर्म करनेके लिये दिनोंको चारम्बार प्रेरित करें ॥ १ ॥

पापहारिणी समान ज्ञानवाली उषाएँ दिनमें परमप्रकाशयुक्त होती है वे आदित्यको जताने वाली हों ॥ २ ॥

त्रयोदशी ॥

दौःस्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्तं अश्विनस्यः ।

दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

दौःस्वप्न्यम् । दौःजीवित्यम् । रक्तः । अश्विनम् । अश्विनस्यः ।

दुःस्वप्न्यः । सर्वाः । दुर्वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि १

व्याख्याता । [४. १७. ५] ॥

द्वितीयं सूक्तम् । [इति] सप्तमे काण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

दुःस्वप्नमें होने वाले अरिष्टदर्शनरूपी दौःस्वप्नको, कठिनतासे जीवन बितानेकी स्थितिको, राजसजातिको, अभिचारक्रियासे उत्पन्न हुए बड़े भारी भयको, असमृद्धि करनेवाली पापलक्ष्मियोंको, छेदिका भेदिका आदि बुरे नाम वाली पिशाचियोंको, और काट डालूँ खालूँ आदि दुर्वचनोंका नित्य उच्चारण करनेवाली पिशाचियोंको हम इससे दूर करते हैं ॥ १ ॥

सप्तम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३३६) ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

वृत्तीयेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “यन्न इन्द्रः” इति प्रथमं सूक्तम् । यत्र आद्ययर्चा मन्त्रोक्ता इन्द्राद्या नव देवताः सर्वफलकामो यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तत्रैव कर्मणि “ययोरोजसा” इति द्वाभ्यां विष्णुवरुणौ यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

सर्वसंपत्कामो “विष्णोर्नु कम्” इत्यष्टर्चेन विष्णुं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । “यन्न इन्द्रः [७. २५] ययोरोजसा [७. २६] विष्णोर्नु कम्” [७. २७] इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा “वैष्णवीम् अन्नकामस्यान्नक्षये च” इति [न० क० १७] विहितायां वैष्णव्याख्यायां महाशान्तौ “विष्णोर्नु कम्” इति आचपेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “विष्णोर्नु कम् इति वैष्णव्याम्” इति [न० क० १८] ॥

आतिथ्येष्टौ “विष्णोर्नु कम्” इति वैष्णवं हविरभिमृशेत् । तद् उक्तं वैताने । “आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् [७. ५] इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्” [७. २७] इति [वै० ३. ३] ॥

तथा सोमयागे औपवसथ्याहनि हविर्धानयोः उपस्तभ्यमानम् उपस्तम्भनकाष्ठम् अनया अनुमन्त्रयेत् । “विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्” इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. ५] ॥

सोमयागे “यस्योरुषु” इति सोमक्रयणार्थं निष्क्रामेत् । “यस्योरुष्विति निष्क्रम्य” इति [वै० ३. ३] वैतानसूत्रात् ॥

पशुयागात् प्राक् क्रियमाणायाम् इष्टौ “उरु विष्णो” इत्यनया वैष्णवं पूर्णहोमं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमम् उरु विष्णो” [वै० २. ६] इति हि वैतानम् ॥

तथा अद्भुतशान्तौ “उरु विष्णो” इत्यनया विष्णुं यजेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः” इति [न० क० १४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रणीताप्रणयनप्रभृति हविष्कृद्गुद्गादनाद् अर्वाक्
अभिवदनमायश्चित्तार्थम् “इदं विष्णुः” इति जपेत् । “प्रणीतासु
प्रणीयमानासु वाचं यच्छ्रुत्वा हविष्कृत उद्गादनाद् । यदि वदेद्
वैष्णवीं जपेत्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. २] ॥

सोमयागे उत्तरवेद्यग्निप्रणयनानन्तरं दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्म-
होमम् “इदं विष्णुः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि उत्तरहविर्धानस्य वर्त्महोमं “त्रीणि पदा”
इति अनुमन्त्रयेत् ॥ तद् उक्तं वैताने । “दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्मा-
भिहोमम् इदं विष्णुः [७. २७. ४] इत्युत्तरस्य त्रीणि पदा [७.
२७. ५]” इति [वै० ३. ५] ॥

तृतीयसत्रने सोमयागानन्तरम् “इदं विष्णुः” इति चमसान्
अप्सु प्रक्षिपेत् । “अप्सुसोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति”
[वै० ३. १३] इति वैताने सूत्रितम् ॥

तथा “त्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये” इति [न० क० १७] विहितायां
त्वाष्ट्र्याख्यायां महाशान्ती “इदं विष्णुः” इत्यनया त्रिवृन्मणि-
चन्धनं कुर्यात् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “अग्निः सूर्यः [५. २८. २]
इदं विष्णुः [७. २७. ४] इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्” इति [न०
क० १६] ॥

पशुतन्त्रे अत्रटे स्थापितं यूपं “विष्णोः कर्माणि” इति द्वाभ्याम्
शृङ्गभ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “धर्ता धियस्व [१२. ३. ३५]
इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि [७. २७. ६] इति
द्वाभ्याम् उच्छ्रितम्” इति [वै० २. ६] वैतानं सूत्रम् ॥

तथा अग्निचपने कूर्माभ्यञ्जनानन्तरम् उलूखलमुसलं च “विष्णोः
कर्माणि” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “विष्णोः कर्माणीत्युलूखल-
मुसलं निधीयमानम्” इति [वै० ५. २] वैताने सूत्रितत्वात् ॥

तीसरे अनुवाकमे तीन सूक्तं है । उनमे : “यन्न इन्द्रः” यह

सूक्त है। इसकी पहिली ऋचासे मन्त्रोक्त इन्द्र आदि नौ देवताओं का यजन वा उपस्थान करे।

तहाँ ही कर्ममें 'ययोरोजसा' इन दो ऋचाओंसे विष्णु और वरुणदेवका यजन वा उपस्थान करे।

सर्वसम्पत्काम 'विष्णोर्नु कम्' इस अष्टर्चसे विष्णुका यजन वा उपस्थान करे।

इसी वातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—“यन्न इन्द्रः (७।२५) ययोरोजसा (७।२६) विष्णोर्नु कम् (७।२७)” इति (कौशिकसूत्र ७।१०) ॥

तथा “वैष्णवीं अन्नकामस्यान्नक्षये च— अन्नक्षय होने पर अन्नकामके लिये वैष्णवी शान्तिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वैष्णवी नाम वाली महाशान्तिमें “विष्णोर्नु कम्” को पढ़े। इसी वातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“विष्णोर्नु कम् इति वैष्णवकाम्” (नक्षत्रकल्प १८) ॥

आतिथ्ययेष्टिमें “विष्णोर्नु कम्” से वैष्णव हविका अभिमर्शन करे। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् (७।५) इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्” (७।२७) इति (वैतानसूत्र ३।३) ॥

तथा सोमयागके औपवसथ्य दिनमें हविर्धानमें उपस्तभ्यमान उपस्तंभन काष्ठका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ३।५ में कहा है, कि—“विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्” ॥

सोमयागमें 'यस्योरुषु' से सोमऋषणके लिये निष्क्रमण करे। वैतानसूत्र ३।३ में कहा है, कि—“यस्योरुष्विति निष्क्रम्य” ॥

पशुयागसे पहिले की जाने वाली इष्टिमें 'उरु विष्णो' ऋचा से वैष्णव पूर्णहोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इसी वातको वैतान-

सूत्र २ । ६ में कहा है, कि—“अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमं उरु विष्णो” ॥

तथा अद्भुतशान्तिमें “उरु विष्णो” इस ऋचासे विष्णुका यजन करे । इसी वातको नक्षत्रकल्प १४ में कहा है, कि—“उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः” ॥

दर्शपूर्णमासके प्रणीतामणयन आदि हविष्कृतद्विदादनसे पहिले आभेवदनके मायश्चित्तके लिये “इदं विष्णुः” का जप करे । वैतानसूत्र १ । २ में कहा है, कि—“प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छ्रत्या हविष्कृत उद्गादनात् । यदि वदेद् वैष्णवीं जपेत्” ॥

सोमयागमें उत्तरवेदीकी अग्निके प्रणयनके अनन्तर दक्षिण-हविर्धानके वर्त्महोमका ‘इदं विष्णुः’ से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।

उसी कर्ममें उत्तरहविर्धानके वर्त्महोमको “त्रीणि पदा” से अनुमन्त्रित करे । इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि “दक्षिण-हविर्धानस्य वर्त्माभिहोमं ‘इदं विष्णुः (७ । २७ । ४) इत्यु-चरस्य त्रीणि पदा ७ । २७ । ५) (वैतानसूत्र ३ । ५ ॥)

तृतीयसवनमें सोमयागके अनन्तर ‘इदं विष्णुः’ से चमसोंको जलमें डाले । इस वातका वैतानसूत्र ३ । १३ में प्रमाण है, कि—“अप्सु सोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति” ॥

तथा “त्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये-वस्त्रक्षय होने पर त्वाष्ट्री शान्तिको करे” इस नक्षत्ररूप १७ से विहित त्वाष्ट्री नाम वाली महा-शान्तिमें ‘इदं विष्णु’ इस ऋचासे तिलझड़ी पण्डिको चोंधे इसी वातको नक्षत्ररूपमें कहा है, कि—“अग्निःसूर्यः (५ । २८ । २) इदं विष्णुः (७ । २७ । ४) इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्” (नक्षत्र-कल्प १६) ॥

पशुतन्त्रमें अष्टमें स्थापित गूपका “विष्णोः कर्माणि” इन दो ऋचाओंसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रको

प्रमाण भी है, कि—“धर्ता ध्रियस्व (१२ । ३ । ३५) इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि (७ । २७ । ६) इति द्वाभ्यां उच्छ्रितम्” (वैतानसूत्र २ । ६ ॥

तथा अग्निचयनमें कूर्माभ्यञ्जनके अनन्तर उलूखल और मुसलको भी “विष्णोः कर्माणीत्यूलूखलमुसलं निधीयमानम्” (५ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः
तस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात्

यत् । नः । इन्द्रः । अखनत् । यत् । अग्निः । विश्वे । देवाः ।

मरुतः । यत् । सुऽअर्काः ।

तत् । अस्मभ्यम् । सविता । सत्यऽधर्मा । प्रजाऽपतिः । अनुऽ
मतिः । नि । यच्छात् ॥ १ ॥

इन्द्रः । ॐ इति परमैश्वर्ये । “ऋजेन्द्राग्र०” इत्यादिना [उ० २. २८] रक्प्रत्ययान्तो निपातितः । यास्कस्तु इन्द्र इरां दृणाति [नि० १०. ८] इत्यादिना इन्द्रशब्दं बहुधा निरुवाच ॐ । परमैश्वर्यादिगुणविशिष्टो देवः न अस्मभ्यं यत् फलम् असनत् अददात् । ॐ षणु दाने । व्यत्ययेन शप् ॐ । संभजनार्थस्य भौवादि-कस्य वा रूपम् । यत् फलं समभजत् । अग्निः अङ्गनादिगुणविशिष्टो देवो यत् । असनद् इति सर्वत्र क्रियानुपङ्गः । विश्वे देवाः एतन्नामका गणदेवाः । मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका मरुद्गणाः । स्वर्काः । ॐ अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेनार्चन्ति । अर्को देवो भवति यद् एनम् अर्चन्तीति यास्कः [नि० ५. ४] ॐ । सु-

(१०२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मन्वाः सृष्टेवा वा एतन्नामानो देवाश्च । यद् असनन् इति क्रिया-
पदस्य बहुवचनान्तत्वेन विपरिणामः । तत् फलम् अस्मभ्यं सविता
सर्वस्य प्रेरकः सत्यधर्मा यथार्थकर्मा एतन्नामा देवः प्रजापतिः
अनुमतिश्च नि यच्छात् नि यच्छतु स्थापयतु । ॐ प्रत्येकवि-
क्षया एकवचनम् यम उपरमे । अस्मात् पञ्चमलकारे “इपुग-
मियमां हः” । आडागमः ॐ ॥

परम ऐश्वर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न इन्द्रदेवने हमको जो फल
दिया है, अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेवने हमको जो फल दिया
है, विश्वेदेवा और उड़झास मरुद्गण देवताओंने हमको जो फल
दिया है, उस फलको सूर्यदेव, सत्यधर्मा, प्रजापति और अनु-
मति देवी भी हमको देवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा
शविष्ठा ।

यौ पत्येने अप्रंतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्व-
हृतिः ॥ १ ॥

ययोः । ओजसा । स्कभिता । रजांसि । यौ । वीर्यैः । वीरतमा ।
शविष्ठा ।

यौ । पत्येते इति । अप्रतिङ्गत्वात् । सहःऽभिः । विष्णुम् । अगन् ।
वरुणम् । पूर्वहृतिः ॥ १ ॥

ययोः विष्णुवरुणयोः ओजसा वशेन रजांसि । ॐ लोका
रजांस्युच्यन्त इति हि निरुक्तम् [४१. ६] ॐ । रङ्गनात्मकानि
पृथिव्यादीनि स्थानानि स्कभिता स्कम्भितानि । दृढीकृतानीत्यर्थः ।

❀ शैलोपः ❀ । यौ विष्णुवरुणौ वीर्यैः वीरकर्मभिः शत्रुजयादि-
रूपैः पराक्रमैः वीरतमा अत्यन्तशूरौ शत्रिष्ठा । शत्रु इति बलनाम ।
अतिशयेन बलवन्तौ । ❀ शत्रुस्त्रिशब्दाद् इष्टानि विनो लुक् ।
उभयत्र सुप आकारः ❀ । किं च यौ विष्णुवरुणौ सहोभिः बलैः
अप्रतीतौ अप्रतिगतौ अतिरस्कृतौ सन्तौ पत्येते । ❀ पत्यतिरैश्वर्य-
कर्मा ❀ । ऐश्वर्यं सामर्थ्यं प्राप्नुतः । तादृशं विष्णुम् व्यापन-
शीलं देवं वरुणम् अनर्थनिवारकं देवं च पूर्वहृत्तिः पूर्वाह्वानः इत-
रेभ्यः फलार्थिभ्यः प्रथमाह्वानोयं यष्टा अगन् गच्छतु । हविषा संयो-
जयतु इत्यर्थः । गमेशब्दान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेत्तु किं
“मो नो धातोः” इति मकारस्य नत्वे रूपम् ❀ ॥

जिन विष्णु और वरुणके बलसे रंजन/त्मक पृथिवी आदि
लोक दृढ़ हुए हैं, जो विष्णु और वरुण शत्रुजय आदि रूप वीर-
कर्मोंसे अत्यन्त शूर हैं और जो विष्णु और वरुण अतिरस्कृत रह
कर ही ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं, ऐसे व्यापनशील विष्णुदेव
और अनर्थनिवारक वरुणदेवको अन्य फलार्थियोंसे पूर्व आह्वान
वाला यह यष्टा हविसे संयुक्त करे ॥ १ ॥

तृतीया ॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विशोचते प्र चानति वि च चष्टे
शचीभिः ।

पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहृत्तिः २

यस्य । इदम् । प्रऽदिशि । यत् । विशोचते । प्र । च । अनति ।

वि । च । चष्टे । शचीभिः ।

पुरा । देवस्य । धर्मणा । सहःऽभिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् ।

पूर्वऽहूतिः ॥ २ ॥

यस्य विष्णोः वरुणस्य च । ॐ पत्येकप्रिवक्षया एववचनम् ॐ ।
प्रद्विशि प्रदेशने आज्ञाया यद् इदं विश्वं विरोचने विशेषेण दीप्यते ।
प्रानिति च प्रकर्षेण चेष्टते च । ॐ शस प्राणने । अन्न च इति
धातुः ॐ । शचीभिः कर्मभिः प्रि चष्टे च । ॐ पश्यति कर्मतत् ॐ ।
स्वस्वकर्तव्यं फलं वा विशेषेण पश्यति च । किं च देवस्य द्योत
मानस्य विष्णोर्वरुणस्य च धर्मणा धारणेण कर्मणा सहोभिः
बलैश्च पुरा पूर्व जगद् व्यरोचिष्ट प्रानीत् व्यचष्टेति कालविपरि-
णामेन योज्यम् । ॐ पुराशब्दस्य निपातस्य रोचते इत्यादिधातु-
योगे “यावत्पुरानिपातयोर्लट्” इति भविष्यदर्थे लट् ॐ । देवस्य
धारणेण कर्मणा बलैश्च यद् इदं विश्वं विरोचिष्यते प्राणिष्यति
विरुपास्यति विशेषेण द्रव्यति । एवं विश्ववरुणयोराज्ञायां विश्वं
जगद् भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु रोचनादिव्यापारास्पदं भवति ।
तादृशं विष्णुं वरुणं च पूर्वहूतिः इतरेभ्यः प्रथमाद्दानोय फलार्थी
जनः अगन् गच्छतु । हविषा संयोजयतु इत्यर्थः ॥

जिन विष्णु और वरुणकी आज्ञामें जो यह विश्व दमक रहा
है और चेष्टा कर रहा है । और अपने २ कर्तव्य और फलोंको
विशेषरूपसे देवता है । और जिन प्रकाशमान विष्णु और वरुण
के धारक कर्मसे और बलोंसे जगत् चेष्टा कर चुका है कर रहा
है और करेगा उन विष्णु और वरुणको यह पूर्वाद्दान होता हवि-
से संयुक्त करे ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विमसे
रजांसि ।

यो अस्कभायत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः १

विष्णोः । नु । कम् । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यः । पार्थिवानि ।

विममे । रजांसि ।

यः । अस्कभायत् । उत्तरम् । सधस्थम् । विचक्रमाणः ।
त्रेधा । उरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोः व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु क्षिप्रं
पा वोचम् प्रकर्षेण ब्रवीमि । ❀ छान्दसो लुङ् ❀ । कम् इति
पूरणः । विष्णुविशेष्यते । यो देवः पार्थिवानि पृथिवीमयानि
रजांसि लोकान् विममे निर्ममे । “तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीरुतधून्”
इति [ऋ० २. २७. ८] मन्त्रवर्णे एकैकस्य लोकस्य त्रित्व-
संख्या श्रूयते । यद्वा “त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः” इति [ऐ०
वा० २. १७] एकैकस्य त्रिवृत्करणश्रवणात् पार्थिवानीत्यत्र
पृथिवीशब्देन पृथिव्यन्तरिक्षद्यलोका उच्यन्ते । “द्वितीयस्यां
पृथिव्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्” इति हि तैत्तिरीयश्रुतिः [तै०
सं० १. २. १२. १] । पृथिवीषु भवानि । ❀ पृथिवीशब्दाद्
भवार्थे अच् प्रत्ययः ❀ । रजांसि ज्योतींषि अग्निविद्युत्सूर्यात्म-
कानि विममे निर्मितवान् । किं च यो विष्णुः उत्तरम् उद्गततरं
सधस्थं स्थानम् । सह तिष्ठन्त्यस्मिन् देवा इति सधस्थम् स्वर्गम् ।
❀ “सध मादस्थयोश्छन्दसि” इति सहस्य सधादेशः ❀ । अस्क-
भायत् अस्तभ्नात् अधारयत् । ❀ “स्तन्धुस्तन्धु०” इत्यादिना
एकभेः श्नाप्त्यये “शायच् छन्दसि सर्वत्र” इति शायजादेशः ❀ ।
किं कुर्वन् । त्रेधा त्रिधा पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विचक्र-
माणः पादप्रक्षेपं कुर्वन् उरुगायः उरुभिर्महात्मभिर्गीयमानः स्तूय-
मानः उरुगमनो वा । तस्य विष्णोर्वीर्याणि प्रत्रवीमीति संबन्धः ॥

व्यापनशाल विष्णुके वीररुमोंको मैं तुमसे शीघ्रतासे कहता हूँ, कि-इन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गको रचा है और इन विशालकीर्ति विष्णुदेवने श्रेष्ठ स्वर्गको धारण किया है इनको उन्होंने तीन पैर रख कर किया है ॥ १ ॥

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो
गिरिष्ठाः ।

परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

प्र । तद् । विष्णुः । स्तवते । वीर्याणि । मृगः । न । भीमः । कुचरोः ।
गिरिऽस्थाः ।

पराऽवतः । आ । जगम्यात् । परस्याः ॥ २ ॥

यस्योरुपुं त्रिपु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि
विश्वा ।

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

घृतं घृतयोने पिव प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

यस्यं । उरुपुं । त्रिपु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि ।
विश्वा ।

उरु । विष्णो इति । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि ।

घृतम् । घृतऽयोने । पिव । प्रप्र । यज्ञऽपतिम् । तिर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥ तत् । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । स महानुभासो विष्णुः

धीर्याणि वीरकर्माणि । उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः । प्र स्तवते प्र-
कर्षेण स्तूयते । ॐ स्तोतेः कर्मणि व्यत्ययेन शप् ॐ । मृगो न
मृग इव सिंह इव भीमः भयानकः कुचरः कुत्सितं चरन् कौ भूम्यां
वा चरन् गिरिष्ठाः पर्वते तिष्ठन् भूमौ संचरन्नपि सिंहः उत्सव-
नेन पर्वतस्थितो भवति । एवं स विष्णुः परस्याः परावतः अति-
दूराद् देशादपि आजगम्यात् स्तुतिकर्मत्वेन आगच्छतु । ॐ गमे-
श्चान्दसः शपः श्लुः ॐ । यस्य विष्णोः उरुषु विस्तीर्णेषु त्रिषु
विक्रमणेषु पादनिधानस्थानेषु विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतानि
अधिक्षियन्ति अधिवसन्ति । ॐ क्षि निवासगत्योः ॐ । प्रथमे
विक्रमे भौमानि द्वितीये अन्तरिक्ष्याणि तृतीये दिव्यानि भूतानि
वसन्तीत्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ हे विष्णो व्यापक उरु प्रभूतं वि क्रमस्व लोकत्रये
पादत्रयं कुरु । किं च नः अस्माकं ज्ञयाय निवासाय । ॐ षष्ठ्यर्थे
चतुर्थी ॐ । निवासस्य उरु प्रभूतं धनादिकं कृधि कुरु । अस्माकं
निवासं बहुधनादिमुक्तं कुर्वित्यर्थः । हे घृतयोने घृतस्य योने
कारणभूतं घृतं योनिर्यस्येति वा घृतयोनिः । अत्र अग्रचात्मना
विष्णुः स्तूयते । हे विष्णो इदं हूयमानं घृतम् आज्यं पिव । अपि
च यज्ञपतिम् । यजमानं प्रप तिर प्रवर्धय । ॐ प्रपूर्वस्तिरतिवर्ध-
नार्थः । “प्रसमुपोदः पादपूरणे” इति प्रशब्दस्य द्विर्वचनम् ॐ ॥

उन मडानुभाव विष्णुके वीरकर्मांकी प्रशंसाकी जाती है, कि जैसे
भयानक सिंह पृथिवी पर घूमता हुआ भी क्रुद्ध कर पर्वत पर जा
चढ़ता है, इसी प्रकार बहुत दूर पर भी विराजमान विष्णुदेव स्तुतिके
कारण यहाँ आजावें, जिन विष्णुके विस्तीर्ण पादनिधानस्थानोंमें
सकल भुवन निवास कर रहे हैं अर्थात् पहिले पादनिधानस्थान
में भूलोकके दूसरेमें अन्तरिक्षके और तीसरेमें दिव्य भूत निवास
कर रहे हैं (ऐसे विष्णुदेव स्तुतिकर्मसे यहाँ आजावें) । हे व्या-

(१०८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पक विष्णुदेव ! आप तीनों लोकोंमें पैरोंको रखिये, और हमारे निवासके लिये बहुतसा धन आदि हमको दीजिये (अग्निरूपमें विष्णुकी स्तुति करते हैं, कि—) हे घृतसे होने वाले ! इस होमे जाते हुए घृतको पीजिये और यज्ञपति यजमानको बढ़ाइये ॥२॥३॥

सप्तमी ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढस्मय
पांसुरे ॥ ४ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदा ॥ समूढम् ।
अस्य । पांसुरे ॥ ४ ॥

विष्णुः व्यापी भगवान् इदं विश्वं वि चक्रमे विक्रान्तवान् । त्रिधा विचक्रमे इति तद् आह । त्रेधा त्रिधा पदा पदानि नि दधे स्थापयामास । “पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमोँल्लोकाँस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत्” इति श्रुतेः । अस्य विक्रम-माणस्य विष्णोः पांसुरे पांसुमति । ॐ रो मत्वर्थायः ॐ । पादे लोकात्रयं समूढम् सम्पग् ऊढं समवस्थापितं समाकृष्टं वा अभ-वत् । ॐ अत्र “विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्रोतेर्वा । यद् इदं किं च तद् वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाक-पूणिः” [नि० १२. १८] इत्यादि निरुक्तम् अनुसंधेयम् ॐ ॥

व्यापनशील भगवान् विष्णुदेवने इस विश्वका विक्रमण किया अर्थात् इसके ऊपर पैर रखे उन्हींने पैरको तीन बार रक्खा + इन विक्रममाण भगवान्के धूलिसे भरे चरणमें तीनोंलोक समागए थे

+ इस श्रुतिमें वामन अवतारका वर्णन है । अन्य श्रुतियोंमें भी कहा है, कि—“पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमोँल्लोकाँस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत् ।-भगवान् विष्णुने वामन

अष्टमी ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि । पदा । वि । चक्रमे । विष्णुः । गोपाः । अदाभ्यः ।

इतः । धर्माणि । धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि पदा पदानि वि चक्रमे विक्रान्तवान् । गोपाः गोपा-
यिता अदाभ्यः अहिंस्यः परैरनभिभाव्यो विष्णुः । अतः अस्मात्
लोकात् पृथिव्या आरभ्य धर्माणि कर्माणि अग्निहोत्रादीनि धार-
यन् । अपि वा । अतः एभ्यस्त्रिभ्यः पदेभ्यो धर्माणि भूतधार-
काणि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षच्युल्लोकरूपाणि धारयन् । विचक्रमे
इति संबन्धः ॥

दूसरोंसे न दबने वाले रक्षक विष्णुदेवने तीन पैर रखे इन
तीन पैरोंसे ही उन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको धारण
किया था ॥ ५ ॥

नवमी ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । ब्रतानि । पस्पशे ।

इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ६ ॥

घन कर पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनोंमें तीन पैरोंसे
तीनों लोकोंको नाप लिया था ॥

विष्णोः व्यापकस्य देवस्य कर्माणि पश्यत । हे स्तोतार इति शेषः । यतः । ❀ “इतराभ्योपि दृश्यन्ते” इति तृतीयार्थे तसिल् प्रत्ययः ❀ । यैः कर्मभिः व्रतानि नानाविधानि युष्मदीयानि कर्माणि पश्यशे स्पृशति व-नाति वा । ❀ स्पश बन्धनस्पर्शनयोः । स्वरितेत् । छान्दसो लिट् । शर्पूर्वस्य खयः शेषः ❀ । पुनः कीदृशो विष्णोः । इन्द्रस्य देवस्य युज्यः योग्यः अनुगुणः सखा समान-ख्यानो मित्रभृतः ॥ ❀ युज्य इति । युजः संपदादिलक्षणे क्विपि युग् इति पदं भरति । युजि योगे साधुः । “तत्र साधुः” इति यत् ❀ ॥

[इति] तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे स्तोताश्री ! व्यापक विष्णुदेवके कर्मोंको देखो ! कि-जिन कर्मोंसे वे तुम्हारे कर्मोंको बँधते हैं । और यह विष्णुभगवान् इन्द्रके योग्य सखा हैं ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकर्म प्रथम सूक्त समाप्त (३३१) ॥

“तद् विष्णोः” इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आद्ययोर्ऋचाः सर्वसंपत्कर्मणि “विष्णोर्नु कम्” इत्यत्र विनियोगोऽभिहितः ॥

दर्शपूर्णमासयोः “वेदः स्वस्तिः” इति वेदं विमुञ्चेत् । “वेदः स्वस्तिरिति वेदं विचृतति” इति [वै० १. ४] वैतानमूत्रात् ॥

प्रायणीयेष्टौ अनया स्वस्तियागम् अनुमन्त्रयेत् । “प्रायणीयायां पथ्यायाः स्वस्तेः” इति प्रक्रम्य “पथ्या रेवतीवेदः स्वस्तिः” इति [वै० ३. ३] मूत्रितम् ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा “अग्नाविष्णु” इति द्वाभ्यां शरपिञ्जुलीभिः सह उदकघटं सपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आसावयेद् अरसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । “अग्नाविष्णु [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३]” इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जुलीभिरासावयत्यवसिञ्चति” इति [का० ४. ८] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन ब्रूचेन अग्नाविष्णु यजेत् उपतिष्ठेन
चा । [कौ० ७. १०] ॥

गोदानारुख्ये संस्कारकर्मणि “स्वाक्तम्” [१] इत्यनया अञ्ज-
नम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणोऽक्षिणी अभ्यञ्ज्यात् । “आयुर्दाः
[२. १३] इति गोदानं कारयिष्यन्” इति [कौ० ७. ४]
प्रक्रम्य “स्वाक्तं म इत्यनक्ति” इति [कौ० ७. ५] हि सूत्रितम् ॥

पशावज्यमानं यूपम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “स्वाक्तं म
इत्यज्यमानम्” इति वैतानसूत्रात् [वै० २. ६] ॥

आभिचारकर्मणि “इन्द्रोतिभिः” [१] इत्यनया अशनिहत-
वृक्षसमिधम् आदध्यात् ॥

उपनयने आयुष्कामस्य माणवकस्य मूर्धानम् “उप प्रियम्”
इत्यनुमन्त्रयेत् । “आवतस्ते [५. ३०. १] उप प्रियम् [७. ३३]
अन्तकाय मृत्यवे” [८. १] इति [कौ० ७. ६] सूत्रितम् ॥

पुष्टिकर्मणि तटाकादिसर्वजनसाधारणोदके मिश्रधान्यं प्रक्षिप्य
“सं मा सिञ्चन्तु” [१] इत्यनया संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिका-
मोऽश्नीयात् । “सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्रधान्यम्” इति
[कौ० ३. ७] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा अग्निकार्ये अनया माणवकोऽग्निं पयुक्षेत् । “सं मा सिञ्च-
न्त्विति त्रिः पयुक्षति” इति [कौ० ७. ८] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा अग्निचयने अभिषिच्यमानं यजमानं ब्रह्मा एनाम् ऋचं
वाचयेत् । “सं मा सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति” इति
वैतानसूत्रात् [वै० ५. २] ॥

“तद् विष्णोः” यह दूसरा सूक्त है। इसकी पहिली दो ऋचाओं
का सर्वसम्पत्कर्मके ‘विष्णोर्बु क्रम्’ में दिनियोग कहा है ।

दर्शपूर्णमासके ‘वेदः स्वस्तिः’ से वेदका विद्विष्टन करे ।
वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“वेदः स्वस्तिरिति वेदं विचृतति”

प्रायणीयेष्टिमें इस ऋचासे स्वस्तियागका अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र ३ । ३ में कहा है, कि—“प्रायणीयायां पथ्यायाः स्वस्तेः” इति प्रक्रम्य “पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिः” ॥

सर्वव्याधिभैषज्यके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँध कर ‘अग्नाविष्णु’ इन दो ऋचाओंसे सेंटोंके मुट्टों के साथ जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगी को स्नान करा देय अथवा उस पर जल छिड़के ॥ इसी वानको संहिताविधिमें कहा है, कि—“अग्नाविष्णु (७ । ३०) सोमारुद्रा (७ । ४३)” इति प्रक्रम्य “माँझैः पर्वसु वद्ध्वा पिञ्जुलीभिरासावयत्यवसिञ्चति” (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस ऋचसे अग्नि और विष्णुका यजन वा उपस्थान करे । इस वातका कौशिकसूत्र ७ । १० में वर्णन है ।

गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें ‘स्वाक्तम्’ इस ऋचासे अञ्जनका अभिमन्त्रण करके उसको ब्रह्मचारीकी ओखोंमें डाले ‘आयुर्दाः (२ । २३) इति गोदानं कारयिष्यन्” इति (कौशिकसूत्र ७ । ४) प्रक्रम्य “स्वाक्तं म इत्यनक्ति” इति (कौशिकसूत्र ७ । ५) हि सूत्रितम् ॥

पशुमें बाँधे जाते हुए गूपका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र २ । ६ में कहा है, कि—“स्वाक्तं म इत्यज्यमानम्”

अभिचारकर्ममें “इन्द्रोर्तिभिः” ऋचासे विजलीसे मारे हुए वृद्धकी समिधाको रखे ।

उपनयनमें आयु चाहने वाले बालकके मूर्धाको ‘उपमियम्’ से अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—“आवनस्ते (५ । ३० । १) उप मियम् (७ । ३३) अन्तकाय मृत्पत्रे” (८ । १) इति (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

पुष्टिकर्ममें पुष्टिकी कामना वाला तालाव आदि सर्वजनमुलभ

जलमें मिश्रधान्यको डाल कर 'सं मा सिञ्चन्तु' ऋचासे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३।७ का प्रमाण भी है, कि—“सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्र-धान्यम्” ॥

तथा माणवक इससे अग्निकार्यमें अग्निका पयुंक्षणे करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।८ का प्रमाण भी है, कि—“सं मा सिञ्चन्त्विति त्रिः पयुंक्षति” ॥

तथा ब्रह्मा अग्निचयनमें अभिषिच्यमान यजमानसे इस ऋचा का उच्चारण करावे । वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि—“स मां सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति” ॥

तत्र प्रथमा ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

तद् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः ।

दिविऽइव । चक्षुः । आऽततम् ॥ ७ ॥

तत् प्रसिद्धं पूर्वोक्तं वा विष्णोः व्यापकस्य देवस्य परमम् उत्कृष्टं पूर्णं वा पदम् स्थानम् पद्यते गम्यते इति पदं ज्ञातव्यं तत्त्वम् सदा सर्वदा सूरयः मेधाविनः पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति । कादृशम् । दिवि द्युलोके चक्षुरिव आततम् । सर्वेषां चक्षुःस्थानीयं सूर्यमण्डलम् इह चक्षुःशब्देनोच्यते । “चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्रेः” इति हि निगमः [ऋ० १. ११५. १] । आततम् समन्ताद् विस्तारितम् । ❀ “गतिरनन्तरः” इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । सूर्यमण्डलमिव सर्वत्र प्रकाशस्वरूपं तत्त्वं पश्यन्तीत्यन्वयः ॥

भगवान् विष्णुके उस उत्कृष्ट पूर्ण पद वा ज्ञातव्य तत्त्वको

बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं, वह जैसे सबका ज्ञानुः स्थानीय सूर्य-
मण्डल (रूप चक्षु) शुलीकर्म विस्तृत है, इसी प्रकार उस सर्वत्र
प्रकाशस्वरूप तत्त्वको बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं ॥ ७ ॥

द्वितीया ॥

दिवो विष्णो उत वा पृथिव्या महो विष्णो उरोऽन्तरिक्षात्
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्बसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत
सव्यात् ॥ ८ ॥

दिवः । विष्णो इति । उत । वा । पृथिव्याः । महः । विष्णो इति ।
उरोः । अन्तरिक्षात् ।

हस्तौ । पृणस्व । बहुभिः । बसव्यैः । आप्रयच्छ । दक्षिणात् ।
आ । उत । सव्यात् ॥ ८ ॥

हे विष्णो देव दिवः शुलीकात् उत वा अपि वा पृथिव्याः
महः महतः दिवः पृथिव्याश्च महतोऽन्यस्मात् महर्लोकादेः । ॐ मह-
च्छब्दात् पञ्चम्येरुवचने टिलोपरध्वान्दसः । महतेर्षा पूजार्थात्
विश्वन्तात् पञ्चम्येरुवचनम् ॐ । यद्वा मह इति पदम् अन्तरिक्ष-
स्य विशेषणम् । हे विष्णो । पुनरामन्त्रणम् आदरार्थम् । उरोः
विस्तीर्णात् । ॐ भाषितपुंस्फुत्वेन नुमभावः ॐ । अन्तरिक्षात्
लोकात् । आनीर्त्तरिति शेषः । बहुभिः अधिकैः बसव्यैः बसूनां
समूहैः । ॐ “बसोः समूहे च” इति यत्प्रत्ययः ॐ । हस्तौ त्र-
दीयां पृणस्व पूरय । शुलीकादिभ्य आनीर्त्तर्बहुभिर्धनेस्त्रदीयां
हस्तौ पूरय । प्रभूतं धनराशिं हस्ताभ्यां गृह्णाणेत्यर्थः । ततस्तं
प्रभूतं धनराशिं दक्षिणात् हस्ताद्द्वि आप्रयच्छ आभिमुख्येन अस्मभ्यं

देहि । उत अपि च सव्यात् वामहस्ताच्च आ । प्रयच्छेत्यनुपङ्गः ।

ॐ दाण् दाने । “पात्रा०” इत्यादिना यच्छादेशः ॐ ॥

हे विष्णुदेव ! आप द्युलोकसे पृथिवीलोकसे महर्लोकसे और विशाल अन्तरिक्षलोकसे लाये हुए प्रदार्थोंसे अपने दोनों हाथों को भरिये अर्थात् विशाल धनको अपने दोनों हाथोंसे ग्रहण करिये, फिर उस विशाल धनराशिको अपने सीधे और बायें हाथसे हमको भली प्रकार दीजिये ॥ ८ ॥

तृतीया ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः ।

घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ?

इडा । एव । अस्मान् । अनु । वस्ताम् । व्रतेन । यस्याः । पदे ।

पुनते । देवयन्तः ।

घृतपदी । शक्वरी । सोमपृष्ठा । उप । यज्ञम् । अस्थित । वैश्वदेवी

इडा धेनुरूपा । एवशब्दः अवधारणे । अस्मान् सत्कर्मकारिणः व्रतेन कर्मणा अनु वस्ताम् अनुक्रमेणाच्छादयतु । अस्माभिरनुष्ठीयमानं कर्म यथा फलप्रदं भवति तथा करोत्वित्यर्थः ।

ॐ वस आच्छादने । आदादिकः अनुदात्ते ॐ । यस्या इडायाः

पदे पादे देवयन्तः देवकामा यजमानाः पुनते स्वात्मानं पुनन्ति ।

ॐ देवशब्दात् “मुपं आत्मनः क्यच्” ॐ । घृतपदी घृतं पदे

यस्याः सा । “यत्रयत्र न्यक्रामत् तत्र घृतमपीडयत तस्माद् घृत-

पद्युच्यते” इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं २. ६. ७. १] । शक्वरी

शक्ता फलदाने समर्था । ॐ शक्केः क्वनिपि “वनो र च” इति

कीद्रीफौ ॐ । सोमपृष्ठा सोमः पृष्ठे यस्यास्तादृशी वैश्वदेवी विश्वेषां

देवानाम् इयं विश्वदेवात्मिका इडा नाम धेनुः यज्ञम् अस्मदीयम्
उपास्तुत सर्वत्र विस्तृतं करोतु । ॐ स्तृङ् आच्छादने । छान्दसे
लुङि सिचो लुकि रूपम् ॐ ॥

धेनु हम सत्कर्म करने वालोंको कर्मसे आच्छादित करे अर्थात्
क्रिया हुआ कर्म जिस प्रकार फलपद हो तिस प्रकार करे, जिस
धेनुके पादमें देवताओंसे कामना करने वाले यजमान अपनेको
पवित्र करते हैं, ऐसी यह घृतपदी † फलदानमें समर्थ, सीमपृष्ठा
सम्पूर्ण देवताओंसे सम्बन्ध रखने वाली यह इडा (धेनु) हमारे
यज्ञको सर्वत्र विस्तृत करे ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

वेदः स्वस्तिर्द्व्यणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुप-
न्ताम् ॥ १ ॥

वेदः । स्वस्तिः । द्व्यणः । स्वस्तिः । परशुः । वेदिः । परशुः ।
नः । स्वस्ति ।

हविःकृतः । यज्ञियाः । यज्ञकामाः । ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् ।
जुपन्ताम् ॥ १ ॥

वेदो नाम दर्भमुष्टिः स्वस्तिः अविनाशहेतुः अस्माकं भवतु ।

† तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ७ । १ में कहा है, कि—“यत्र यत्र
न्यक्रामत् तत्र घृतमपीड्यत तस्माद् घृतपद्म्यते ॥—उस गौने
जहाँ २ पैर रक्खा तहाँ २ घृत पीड़ित हुआ—निकला, अत एव
यह घृतपदी कहलाती है” ॥

❀ अयं स्वस्तिशब्दो निपातो गुणमात्रे अविनाशे वर्तते । अत्र मनुव्लोपाद् गुणिनि अविनाशहेतौ वर्तते । अत एव सुवृत्पत्तिः । यद्वा सुपूर्वात् अस्तेः क्तिनि भूभावाभावश्चान्दसः ❀ । द्रुघणः द्रुः द्रुमो हन्यते अनेनेति द्रुघणः लवित्रादिः । ❀ “करणेयोविद्रुषु” इति अप् घत्वं च ❀ । स च स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु । परशुः पशुः पार्श्ववङ्किः तृणादिच्छेदनी वेदिः हविरासादनाधारभूता परशुः वृत्तच्छेदनसाधनभूतश्च नः अस्माकं स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु । किं च हविष्कृतः हविःसंपादका यज्ञियाः यज्ञार्हा यज्ञकामा यज्ञकामयमानाः । अथ वा हविष्कृतः ❀ पष्ठ्यन्तं पदम् ❀ । हविःसंपादकस्य मम यज्ञकामास्ते प्रकृतरः वेदद्रुघणादयो देवासः देवात्मकः इमम् अस्मदीयं यज्ञं जुपन्ताम् सेवन्ताम् ॥

वेद अर्थात् दर्भकी मुट्टी हमारे अविनाशमें कारण हो और जिस से पेड़ काटा जाता है वह लवित्र (गडाँसा) आदि द्रुघण हमारे लिये स्वस्ति (अविनाशहेतु) हो जिस पर फरसेसे तृण आदि काटे जाते हैं वह परशुवेदि और फरसा हमारे लिये स्वस्ति हो ये देवात्मक वेद द्रुघण आदि हविका सम्पादन करने वाले मुझ यजमानके सेवन करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अग्नाविष्णु महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।

दमेदमे सप्त रत्ना दर्धानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णु इति । महि । तत् । वाम् । महिःस्त्वम् । पाथः । घृतस्य ।

गुह्यस्य । नाम ।

दमेऽदमे । सप्त । रत्ना । दधानी । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् ।
 आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

हे अग्नापिण् । ❀ “देवताद्वन्द्वे च” इति पूर्वपदस्य आनङ् ।
 वाम् युवयोस्तत् वच्यमाणं प्रसिद्धं वा महित्वम् माहात्म्यं महि
 महत् महनीयं पूजनीयम् । ❀ इन् सर्वधातुभ्यः इति [उ० ४. ११७]
 महेरिन् प्रत्ययः ❀ । यतः गुह्यस्य गोपनीयस्य गुढारूपजुहगतस्य
 वा नाम आज्यसांनायपादिनामवतो घृतस्य क्षरणशीलस्य वस्तुनः
 पायः पिवथः । ❀ पा पाने । शपो लुक् छान्दसः ❀ । कीदृशां ।
 दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यज्वगृहेषु सप्त सप्तसंख्याकानि रत्ना रत्नानि
 रमणीयानि गवाश्वदिसप्तपशुरूपाणि रत्नानि दधानी धारयन्ती ।
 ि च वाम् युवयोः प्रति प्रत्येकं जिह्वा रसना घृतम् ह्यमानम्
 आज्यम् आ चरण्यात् अभिमुख्येन प्राप्नोतु । भक्षयत्वित्यर्थः ।
 एतत् महित्वम् इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ चरण गतो इति कण्ठवादी
 पठथते । तस्मात् लेटि आढागमः ❀ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आपका परमपूजनीय माहात्म्य हैं
 कि-जो सत्रेरूप गुफा वाले क्षरणशील आज्य सांनाय्य आदि
 नामक घृतको पीते हो, आप यजमानोंके घर २ में गौं अश्व
 आदि सात पशुरूप रत्नोंको स्थापित करते हैं, आप दोनोंमेंसे
 प्रत्येककी जिह्वा होमे हुए घृतको अभिमुख होकर प्राप्त करे १
 पृष्ठी ॥

अग्नाविष्णु महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्यां
 जुयाणौ ।

दमेदमे सुष्टुत्या वाग्धानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्च-
 रण्यात् ॥ २ ॥

अग्नाविष्णु इति । महि । धाम । मियम् । वाम् । वीथः । घृतस्य ।
गुह्या । जुषाणौ ।

दमेऽदमे । सुऽस्तुत्या । वृद्धानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् ।
उत् । चरण्यात् ॥ २ ॥

हे अग्नाविष्णु वाम् युवयोः धाम स्थानं तेजो वा महि महत्
महनीयं वा मियम् इष्टं सर्वेषां प्रीतिकारि वा भवति । किं च
घृतस्य गुह्या गुह्यानि सांनाय्यचरुपुरोडाशादीनि स्वरूपाणि वीथः
भक्षयथः । ❀ वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु ❀ । जुषाणौ
परस्परं प्रीयमाणौ दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यजमानगृहेषु सुष्टुत्या
शोभनया गुणिनिष्ठगुणाभिधानरूपया स्तुत्या वावृधानौ अत्यर्थं
वर्धमानौ । यस्माद् एवं तस्माद् वाम् युवयोः जिह्वा प्रति प्रत्येकं
घृतम् उच्चरण्यात् प्राप्तोतु भक्षयतु ❀ चरणयते रूपसिद्धिरुक्ता ❀ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आप दोनोंका तेज (वा धाम)
विशाल है और सबको मिय है, आप घृतके सांनाय्य चरु पुगे-
डाश आदि स्वरूपोंका भक्षण करते हैं और आप परस्पर प्रेम
रख कर सब यजमानोंके घरमें अपने गुणोंकी वर्णनरूपा स्तुतिसे
बढ़ते हैं, इस कारण आपमेंसे प्रत्येककी जिह्वा घृतका भक्षण करे

सप्तमा ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।

स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता कंस्त ॥ १ ॥

सुऽश्नाक्तम् । मे । द्यावापृथिवी इति । सुऽश्नाक्तम् । मित्रः । अकः ।

अयम् ।

सुऽश्वाक्तम् । मे । ब्रह्मणः । पतिः । सुऽश्वाक्तम् । सविता । करत्

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ मे मदीयम् अक्षियुगं यूपं वा स्वा-
क्तम् अञ्जनेन सुप्तु आ सर्वतः अक्तम् रञ्जितं कुरुताम् । अयं
परिदृश्यमानो मित्रः सूर्यः स्वाक्तम् अकः करोतु । सर्वत्र अक्षि-
युगं यूपो वा कर्म । ❀ अकः इति करोतेरञ्जान्दसे लुङि “मन्त्रे
घस०” इति च्लेर्लुकि गुणे “हृङ्ङ्या०” इत्यादिना तिपो लोपे
रूपम् ❀ ॥ तथा ब्रह्मणः मन्त्रस्य पतिः पालयिता देवः मे मदी-
यम् अक्षि यूपं वा स्वाक्तं करोतु । सविता सर्वस्य प्रेरयिता देवोपि
स्वाक्तं करत् करोतु । ❀ करोतेर्लुङि “कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि”
इति च्लेः अङ् । “अमाङ्घोगेपि” इति अङ्भावः । पञ्चमलकारे
वा अडागये रूपम् ❀ ॥

द्यावापृथिवी मेरे नेत्रयुगलको वा यूपको अञ्जनसे भली प्रकार
रञ्जित करें, यह सूर्यदेव मेरे दोनों नेत्रोंको वा यूपको भली प्रकार
रञ्जित करें, तथा ब्रह्मणस्पति देवता भी मेरे नेत्रयुगलको वा यूप
को भली प्रकार रञ्जित करें और सविता देवता मेरे दोनों नेत्रों
को वा यूपको भली प्रकार रञ्जित करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रोतिभिर्वहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवन्धूर
जिन्व ।

यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमुं द्विष्मस्तमुं प्राणो
जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र । उतिऽभिः । बहुलाभिः । नः । अद्य । यावत्श्रेष्ठाभिः ।
मघऽवन् । शूर । जिन्व ।

यः । नः । द्वेष्टि । अधरः । सः । पदीष्ट । यम् । ऊँ इति । द्विष्मः ।

तम् । ऊँ इति । प्राणः । जहातु ॥ १ ॥

हे इन्द्र बहुलाभिः वहीभिः ऊतिभिः रक्षाभिः अद्य इदानीं नः अस्मान् । पालयेति शेषः । हे मघवन् धनवन् हे शूर शौर्य-
वन् इन्द्र श्रेष्ठाभिः प्रशस्यतमाभिस्ताभिरूतिभिः यावत् साकच्येन
अस्मान् जिन्व प्रीणय । ❀ जिवि प्रीणने । इदित्वात् नुम् ❀ ।
यः शत्रुः नः अस्मान् द्वेष्टि हिनस्ति सः अधरः अधोमुखः सन्
पदीष्ट पततु । ❀ सांहितिकः सकाररश्चान्दसः ❀ । यं च शत्रुं
वयं द्विष्मस्तं तदीयः प्राणो जहातु परित्यजतु । ❀ ओहाक् त्यागे ।
जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । “श्लौ” इति द्विर्वचनम् । “तिङ्-
ङतिङः” इति निघातः ❀ ॥

हे इन्द्र ! आप अनेक रक्षाओंसे हमारी रक्षा करिये, हे धन-
वन् शूर इन्द्र ! आप श्रेष्ठतासे रक्षा कर हमको जीवित रखिये,
जो शत्रु हमसे द्वेष करता है वह आँधे मुख होकर गिरपड़े, और
जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं उसको उसका प्राण त्याग देय १
नवमी ॥

उप प्रियं पनिप्रतं युवानमाहुतीवृधम् ।

अगन्म विभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप । प्रियम् । पनिप्रतम् । युवानम् । आहुतिवृधम् ।

अगन्म । विभ्रतः । नमः । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

प्रियम् सर्वेषाम् इष्टं प्रीणनकारिणं वा पनिप्रतम् शब्दायमानं
स्तूयमानं वा । ❀ पण व्यवहारे स्तुतौ च । पन च इत्यस्माद्
यङ्लुगन्ताच्छतरि छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । युवानम् फलस्य

मिश्रयितारं नित्यतरुणं वा आहुतिवृधम् आज्याद्याहुतिभिर्वर्ध-
मानम् अग्नि नमः नमस्कारम् हविर्लक्षणम् अन्नं वा विभ्रतः
धारयन्तो वयम् उपागन्म उपागच्छेम परिचरेम । ❀ गमेश्चान्दसे
लुटि “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुकि “मो नो धातोः” “म्बोश्च”
इति नकारे रूपम् ❀ । अतः मे मम मदीयस्य वा माणवकस्य
दीर्घं शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृणोतु करोतु ।

सबको प्रसन्न करनेवाले-सबको इष्ट, स्तुति पाते हुए, फलको
कर्तासे मिलाने वाले, घृत आदिकी आहुतियोंसे बढ़ने वाले,
अग्निदेवके पास हम हविरूप अन्न वा नमस्कारको लेकर जाते हैं
इस कारण वह मेरी वा मेरे वालककी सौ वर्ष तककी आयु करें ?
दशमी ॥

सं मां सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।

सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः
कृणोतु मे ॥ १ ॥

सम् । मा । सिञ्चन्तु । मरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।

सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्रजया । च । धनेन ।

च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

मरुदादयो देवताः मा मां फलार्थिनं यष्टारं प्रजया पुत्रादि-
रूपया धनेन च सं सिञ्चन्तु संयोजयन्तु अभिषिञ्चन्तु वा । ❀
परस्परसमुच्चयार्थं चशब्दा । प्रतिदेवतं क्रियानुपदद्योतनार्थं सम्
इति उपसर्गः ❀ । किं च मे मम मदीयस्य माणवकस्य वा दीर्घम्
आयुः कृणोतु । अग्निः संनिहितत्वाद् आयुष्करणे संबध्यते । अपि
वा मरुदादयः । तदा कृणोत्विति मत्येकविवक्षया एकवचनम् ॥

इति तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

- मरुत् आदि देवता मुक्त फल चाहने वाले यजमानको पुत्र आदिरूप प्रजासे और धनसे संयुक्त करें और मेरे बालककी दीर्घायु करें, पूषा देवता, बृहस्पति देवता और यह अग्निदेवता भी मुक्त को प्रजा धन और दीर्घायु देवें ॥ १ ॥

तीसरे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३५९) ॥

विद्वेषिणः पुमपत्यराहित्याय “अग्ने जातान्” इत्यनया अश्व-
तरीमूत्रं पाषाणेन संघृष्य अभिमन्त्र्य ओदनेन सह विद्वेषिण्यै
प्रयच्छेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया अश्वतरीमूत्रं पाषाणाभ्यां
संघृष्य अभिमन्त्र्य तस्या अलंकारान् आलिम्पेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया विद्वेषिण्याः सीमन्तम् ईक्षेत ॥

विद्वेषिण्या वन्ध्याकरणकर्मणि “प्रान्यान्” इति तृचेन पूर्व-
मन्त्रोक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “अग्ने जातान् [१] इति न वीरं जनयेत् प्रा-
न्यान् [७. ३६] इति न विजायेतेत्यश्वतरीमूत्रम् अश्ममण्ड-
लाभ्या संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम् अन्वीक्षते” इति [कौ०
४. १२] ॥

अभिचारकर्मणि “अग्ने जातान्” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम्
अशनिहतवृत्तसमिध आदध्यात् ॥

अग्निचयने पञ्चम्यां चितौ असपत्नेष्टकाम् उपधीयमानाम्
“अग्ने जातान्” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “अग्ने
जातान् इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः”
इति [वै० ५. २] हि वैतानं सूत्रम् ॥

विवाहे चतुर्थदिवसे “अक्षौ नौ” इत्यनया वरवध्वौ अन्यो-
न्यम् अक्षिणी अज्जाताम् । “अक्षौ नाविति समज्जाते” इति
[कौ० १०. ५] सूत्रम् ॥

सौभाग्यसंवन्ननकर्मणि “इदं खनामि” इति पञ्चर्चेन सौवर्चल-
मूलं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन शङ्खपुष्पीपुष्पम् अभिमन्त्र्य
स्त्रियः शिरसि बध्नीयात् ॥

“इदं खनामीति सौवर्चलम् ओपधिवत् शुक्लममूनं शिरस्युप-
वृत्त्य ग्रामं प्रविशति” इति सूत्रम् [कौ० ४. १२] ॥

विद्वेषीके पुरुषको पुरुषसन्तानसे हीन करनेके लिये ‘अग्ने
जातान्’ इस ऋचासे खिचरीके मूत्रको पत्यरसे घोटकर अभि-
मन्त्रित करे फिर उसको ओदनके साथ मिलाकर विद्वेषिणीको देदेय

तथा इसी कर्ममें इससे खिचरीके मूत्रको पापाणोंसे घोट और
अभिमन्त्रित करके उसके अलंकारोंको भिगोवे ।

तथा इसी कर्ममें इससे विद्वेषिणीके सीमन्तको देखे ।

विद्वेषिणीको बन्ध्या करनेके कर्ममें “प्रान्यान्” वृचसे पूर्व-
मन्त्रके लिये कहे हुए कर्मोंको करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अग्ने जातान् (१)
इति न वीरं जनयेत् प्रान्यान् (७ । ३६) इति न विजायेतेत्य-
श्नरीमन्त्रम् अश्ममण्डलाभ्यां संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम्
अन्वीक्षते” (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

अभिचारकर्ममें “अग्ने जातान्” इन दो ऋचाओंसे अशनिसे
भारे हुए वृक्षकी समिधाओंको रखे ॥

अग्निचयनकी पाँचवीं चितिमें रक्खी जाने वाली असपत्नेष्टका
को “अग्ने जातान्” इन दो ऋचाओंसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।
इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । २ का प्रमाण है, कि—“अग्ने जातान्
इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः” ॥

विवाहके चतुर्थ दिनमें “अन्नौ नो” ऋचासे वर और बधू

परस्परके नेत्रोंको स्वच्छ करें । कौशिकसूत्र १० । ५ में कहा है,
“अक्षौ नाधिति समञ्जाते” ॥

सौभाग्यसंवन्ननकर्ममें “इदं खनामि” इस पञ्चर्चसे सौवर्चल-
मूलको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस पञ्चर्चसे शङ्खपुष्पीके पुष्पको अभि-
मन्त्रित करके स्त्रीके शिरमें बाँधे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—“इदं खना-
मीति सौवर्चलम् ओषधिचत् शुक्रममूनं शिरस्युपवृत्त्य ग्रामं प्रवि-
शति (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्नें जातान् प्र गुंदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जात-
वेदो नुदस्व ।

अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोनागसस्ते वयमदितये
स्याम ॥ १ ॥

अग्ने । जातान् । प्र । नुद । मे । सपत्नान् । प्रति । अजातान् ।
जातस्वेदः । नुदस्व ।

अधःस्पदम् । कृणुष्व । ये । पृतन्यवः । अनागसः । ते । वयम् ।
अदितये । स्याम ॥ १ ॥

हे अग्ने मे मदीयान् जातान् निष्पन्नान् सपत्नान् शत्रून् प्र
गुद प्रकर्षेण प्रेरय अतिदूरम् अपसारय ॥ तथा हे जातवेदः
जातानां वेदितः जातमङ्ग वा अजातान् अनुत्पन्नान् उत्पत्स्यमा-
नान् शत्रुपुत्रान् प्रति नुदस्व विनाशय ॥ किं च ये शत्रवः पृत-

न्यवः संग्रामेच्छवः । ❀ पृतनाशब्दाद् इच्छायां क्यचि “कप्य-
ध्वरपृतनस्यचि लोपः” इति अन्त्यलोपः ❀ । तान् अस्माभिः
सह योद्धुम् इच्छन् सपत्नान् अधस्पदम् पादस्याधस्ताद् देशे
कृणुष्व कुरु । मदीयपादाधःप्रदेशवर्तिनः कुरु । एवं शत्रुवाधा
प्रार्थिता । अथ तदोपपरिहारश्चतुर्थपादेन प्रार्थ्यते । ते तादृशाः
शत्रुपीडाकांक्षिणो वयम् । ❀ पुत्रादिसाहित्यं वक्तुं बहुवच-
नम् ❀ । अदिनपं अदितिः अखण्डनीया पृथिवी अदीना वा
देवमाता तभ्यं । ❀ पष्ठचर्थं चतुर्थी ❀ । अदित्याः प्रसादाद्
अनागसः स्याम पापरहिता भवेम । अयम् अर्थः । भूमिर्हि पुण्य-
कृतः स्वस्योपरि चिरकालम् अवस्थापयति पापकृतस्तिरस्करोति ।
अतः अत्र शत्रुपीडाकांक्षिणोपि अस्मान् तत्पापपरिहारेण भूमि-
श्चिरकालम् अवस्थापयत्विति प्रार्थ्यते । शत्रुहननार्थम् अग्नेः प्रार्थ-
नाद् वा तन्माता अदितिः पापरहितान् अस्मान् करोत्विति आशा-
स्यते । यद्वा अदितये अखण्डितत्वाय अदीनत्वाय अनभिशास्तये
वा अनागसः स्यामेति ॥

हे अग्ने ! मेरे उत्पन्न हुए शत्रुओंको दूर हटाइये, और हे
उत्पन्न हुआँको जानने वाले जातवेदा अग्ने ! आपअभी उत्पन्न
न हुए किंतु उत्पन्न होने वाले शत्रुके पुत्रोंको नष्ट करिये और
जो हमसे संग्राम करना चाहते हैं, उन संग्रामाभिलाषी शत्रुओं
को पैरके नीचे दवाइये । (इस प्रकार शत्रुवाधाकी प्रार्थना की
अब उसके दोपके परिहारकी चौथे पादमें प्रार्थना करते हैं, कि—)
अखण्डनीया पृथिवी वा अदीना देवमाता अदितिके प्रसादसे हम
पापरहित होवें, अर्थात् अखण्डित रहनेके लिये अदीन रहनेके
लिये और आक्रोशशून्य रहनेके लिये हम निष्पाप होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो
नुदस्व ।

इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः १

प्र । अन्यान् । सपत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजातान् ।

जातवेदः । नुदस्व ।

इदम् । राष्ट्रम् । पिपृहि । सौभगाय । विश्वे । एनम् । अनु ।

मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

हे जातवेदः अन्यान् अस्मत्प्रातिकूल्यकारित्वेन विभिन्नान् सपत्नान् सहसा बलेन शीघ्रं वा प्र सहस्व प्रकर्षेण अभिभव । प्रत्यजातान् इति पादो व्याख्यातः । किं च इदम् अनुभूयमानं स्वनिवासाश्रयं राष्ट्रम् अस्मदीयं जनपदं सौभगाय सौभाग्याय पिपृहि पूरय । यस्मिन् देशे परोपद्रवकारी वर्तते स देशः सस्यादिना अभिवृद्धो न भवतीति प्रसिद्धिः । अतः अत्र राज्यस्य सौभाग्यपूर्तिः प्रार्थ्यते । किं च विश्वे सर्वे देवाः एनं शत्रुहननकर्माणः प्रयोक्तारम् अनु मदन्तु अनुमोदन्ताम् ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप हमारे साथ प्रतिकूलताका व्यवहार करनेके कारण शत्रुओंको शीघ्रतासे धर दवाइये, और जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उन उत्पन्न होने वाले शत्रुपुत्रोंको भी आप नष्ट करें, और इस निवासभूत राष्ट्रको सौभाग्यसे पूर्ण करिये, (जिस देशमें उपद्रव करने वाला शत्रु रहता है वह देश धान्य आदिसे समृद्ध नहीं रह सकता, अत एव राज्यको सौभाग्यसे पूर्ण करनेकी प्रार्थना की है) और सकल देवता भी इस शत्रु-हनन कर्मके प्रयोग करने वालेका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।

तासां ते सर्वासामहमश्मना विलमप्यधाम् ॥ २ ॥

इमाः । याः । ते । शतम् । हिराः । सहस्रम् । धमनीः । उत ।

तासाम् । ते । सर्वासाम् । अहम् । अश्मना । विलम् । अपि । अधाम् २

हे विद्वेषिणि स्त्रि ते त्वदीया या इमाः शतम् शतसंख्याका हिराः नाड्यः गर्भधारणार्थम् अन्तरवस्थिताः सूक्ष्माया नाड्यः सन्ति उत अपि च सहस्रम् सहस्रसंख्याका धमनी धमन्यः गर्भाशयस्य अष्टम्बिका बाह्याः स्थूला या नाड्यः सन्ति ते त्वदीयानां तासां सर्वासां नाडीनां विलम् मुखम् अश्मना पापाणेन अहम् बन्ध्याकरणकर्मप्रयोक्ता अप्यधाम् अपिहितवान् आच्छादितवान् अस्मि । यथा गर्भधारणक्षमा न भवन्ति तथा अकार्षम् । द्यान्दसो वा लुब्ध् । अपिदधामि ॥

हे विद्वेष करने वाली स्त्रि ! तेरी जो साँ सूक्ष्म नाड़ियें गर्भधारण करनेके लिये भीतर स्थित हैं, और गर्भाशयको यामने वाली जो हजार स्थूल नाड़ियें बाहर हैं, बन्ध्याकरणकर्मका प्रयोग करने वाला मैं तेरी इन सब नाड़ियोंके मुखको पत्थरसे दबाता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वे गर्भधारण करनेमें समर्थ न हों तैसा करना हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वां प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।

अस्वं? त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि

परम् । योनेः । अवरम् । ते । कृणोमि । मा । त्वा । प्रजा ।

अभि । भूत । मा । उत । सूनुः ।

अस्वम् । त्वा । अप्रजसम् । कृणोमि । अश्मानम् । ते । अपिधानम् ।

कृणोमि ॥ ३ ॥

हे प्रतिकूले नारि ते त्वदीयं योनेः परं पुत्रजननक्षमत्वेन उत्कृष्टं स्थानं गर्भाशयं योनेः परस्तात् प्रदेशे वर्तमानं वा स्थानम् अवरं कृणोमि निकृष्टं गर्भं धारयितुम् अक्षमं करोमि । योनिप्रदेशात् नीचीनं वहिर्भूतं वा करोमि । यत एवम् अतः प्रजा स्वयपत्यरूपा त्वा त्वां मा अभि भूत् सर्वतो मा प्राप्नोतु । ❀ भवतेः प्राप्त्यर्थात् लुङ्गि रूपम् ❀ । उत अपि च सूनुः पुत्रो मा । अभि भूद् इत्यनुषङ्गः । एतदेवाह । त्वा त्वाम् अप्रजसम् न विद्यते प्रजा स्त्रीपुंसापत्यरूपा यस्यास्ताम् । ❀ नञ्पूर्वात् प्रजाशब्दात् “नित्यम् असिच् प्रजामेभयोः” इति असिच् प्रत्ययः समासान्तः ❀ । प्रजारहिताम् अश्वाम् अश्वतरीमेव कृणोमि करोमि । यथा अश्वतरी स्त्रीव्यञ्जनयुक्तापि प्रजारहिता तथा त्वां करोमीत्यर्थः । किं च ते तव संबन्धिनः । गर्भधारणस्थानस्येति शेषः । अश्मानम् पाषाणम् अपिधानम् संवरणम् आच्छादनं कृणोमि करोमि ॥

हे प्रतिकूल नारि ! तेरी योनिके पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उत्कृष्ट गर्भाशयस्थानको गर्भ धारण करने में असमर्थ अत एव निकृष्ट करता हूँ अथवा योनिप्रदेशसे नीचा अर्थात् बाहर करता हूँ । ऐसा होता है अतः स्त्रीसन्तानरूपा प्रजा तुझको प्राप्त न हो और पुत्र भी तुझको प्राप्त न हो, तुझ स्त्रीपुरुषसन्तानरहिताको खिचरीकी समान करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि-जैसे खिचरी स्त्रीव्यञ्जनसे सम्पन्न होने पर भी प्रजा-

रहित रहती है, तिसी प्रकारकी मैं तुझको करता हूँ और तेरे गर्भधारणस्थानका पापाणको ढकन बनाता हूँ ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒क्षो॑ नो॒ मधु॑संकाशे॒ अनीकं॑ नो॒ समञ्जनम् ।

अ॒न्तः कृ॒णु॒ष्व मां हृ॒दि म॒न इ॒न्नो॒ सहा॑सति ॥१॥

अ॒क्षो॑ । नो॒ । मधु॑संकाशे॒ इति॒ मधु॑संकाशे । अनी॑कम् । नो॒ ।

सम्॑अञ्जनम् ।

अ॒न्तः । कृ॒णु॒ष्व । माम् । हृ॒दि । म॒नः । इत् । नो॒ । स॒ह । अ॒सति॑ १

नो तव च मम च । ❀ “त्यदादीनि सर्वनिर्णयम्” इति अस्मद् एरुशेषे पष्ठीद्विवचनस्य नो इत्यादेशः ❀ । आवयोर्दम्पत्योः अक्षौ अक्षिणी मधुसंकाशे मधुसदृशे । भवेताम् इति शेषः । यथा मधु मधुरं स्निग्धं च एवम् आवयोः अक्षिणी परस्परम् अनुरक्ते मधुरप्रेक्षणे अत्यन्तस्निग्धे च भवेताम् इत्यर्थः । तथा नो आवयोः अनीकम् । अनीकशब्दः अग्रवाची । लोचनाग्रं समञ्जनम् समेताञ्जनं भवतु । किं च माम् । जाया पतिं प्रति पतिर्जायां प्रति स्वात्मानं माम् इति निर्दिशति । हृदि हृदये अन्तः कृणुष्व । यथा तव अहं हृदयंगमा मिया भवामि तथा कुर्वित्यर्थः । नो आवयोः मन इत् । इच्छब्दः अप्यर्थे । मनोपि सह असति समानम् एककार्यकारि भवतु । ❀ अस्तेल्लेष्टि अडागमः ❀ ॥

तेरे और मेरे अर्थात् दोनों दम्पतीके नेत्र मधुकी समान हो-
जावें, तात्पर्य यह है, कि—जैसे मधु मधुर और स्निग्ध होता है,
इसी प्रकार हम दोनोंके नेत्र परस्पर अनुरागयुक्त मधुरतासे देखने
वाले और परम स्निग्ध भी होजावें । हम दोनोंके नेत्रोंका अग्र-

भाग अञ्जनसे युक्त हों। और (जाया पतिसे और पति स्त्रीके लिये कहता है, कि-) तू मुझको हृदयके भीतर कर अर्थात् मैं जिस प्रकार हृदयङ्गम भिय होऊँ, तैसा कर। हमारा मन भी एक कार्यको करने वाला होवे ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।

यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ १ ॥

अभि । त्वा । मनुजातेन । दधामि । मम । वाससा ।

यथा । असः । मम । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन १

स्वपतिं प्रति स्त्रिया वाक्यम् एतत् । हे पते त्वा त्वां मनुजातेन मनुना मन्त्रेण जातेन मन्त्रपूर्वकं परिहितेन मनोर्वा जातेन निष्पन्नेन मम वाससा वस्त्रेण अभि दधामि । ❀ अभिपूर्वो दधातिर्वन्धने वर्तते ❀ । वध्नामि । किमर्थं बन्धनम् तद् आह । यथा येन प्रकारेण मम केवलः असाधारणः असः भवेः । ❀ चनेति निपातसमुदायः चार्थे ❀ । यथा च अन्यासां नारीणाम् । नीमधेयम् इति शेषः । न कीर्तयाः न कीर्तयेः नोच्चरेः । तथा वध्नामीति शेषः । ❀ असः इति । अस्नेलेटि “इत्थ लोपः परस्मैपदेषु” इति इकारलोपः । अडागमः । [कीर्तया इति] । कृत संशब्दने । णिचि “उपधायाश्च” इति इत्त्वम् । तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ ॥

(अपने पतिके प्रति स्त्रीका वाक्य है, कि-) हे पते ! मैं आपको मन्त्रपूर्वक धारण किये हुए वस्त्रसे इस लिये बाँधती हूँ, कि जिस प्रकार आप केवल मेरे ही रहें और अन्य स्त्रियोंके नामका भी उच्चारण न करें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

इदं खनामि भेपजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।

परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदम् । खनामि । भेपजम् । माम्पश्यम् । अभिरोरुदम् ।

परायतः । निवर्तनम् । आयतः । प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदं वशीकरणकारि भेपजम् सौवर्चलाख्यं खनामि उद्धरामि ।
 औपधिं विशिनष्टि । मांपश्यम् । पश्यतीति पश्यः । ❀ “पाप्रा-
 ध्माधेङ्दृशः शः” इति शः । “शित्वात् पाप्रा०” इत्यादिना
 पश्यादेशः । “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” इत्यत्र बहुलग्रहणात् मां-
 पश्यम् इत्यत्र द्वितीयाया अलुक् ❀ । मामेव नारीं पश्यत् ममै-
 वानुकूलम् । यद्वा । ❀ पश्यतिरन्तर्णीतएयर्थः ❀ । मामेव असा-
 धारण्येन पत्ये प्रदर्शयत् पतिवशीकारकम् अभिरोरुदम् पत्युः
 अन्यनारीसंसर्गम् अभितो निरुन्धत् । ❀ रुधिर् आवरणे ।
 यदन्तात् पचाद्यच् । ‘यङोचि च’ इति यङो लुक् । “न धातु-
 लोप आर्धधातुके” इति लघूपधगुणनिषेधः । धकारस्य दकारोप-
 जनश्चान्दसः ❀ । परायतः स्वस्मात् पराङ्मुखं गच्छतः पत्युः
 निवर्तनम् निषेधकं पुनरावर्तनकारणम् आयतः मां प्रति आगच्छतः
 पत्युः प्रतिनन्दनम् आनन्दकारि । एवंगुणविशिष्टं भेपजं खना-
 मीति संबन्धः । ❀ परायत इति । ‘परापूर्वाद्दि आङ्पूर्वाच्च इण्
 गर्ता इत्यस्मात् शतरि “इणो यण्” इति यण् आदेशः । निवर्तनं
 प्रतिनन्दनम् इत्यत्र करणे व्युट् ❀ ॥

मैं इस वशीकरण करने वाली सौवर्चल नामक औपधिको
 खोदती हूँ, यह मुझ नारीको असाधारणरूपसे पतिके लिये
 दिखाती है अत एव यह औपधि पतिवशीकारक है और पतिके

अन्यनारीसंसर्गको रोकने वाली है और अपनेसे पराङ्मुख पति को लौटाने वाली है और मेरी ओर आने वाले पतिको आनन्दित करने वाली है, ऐसे गुणोंसे सम्पन्न औषधिको मैं खोदती हूँ?

अष्टमी ॥

येनां निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परिं ।

तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेसानि सुप्रिया ॥ २ ॥

येनां । निऽचक्रे । आसुरी । इन्द्रम् । देवेभ्यः । परिं ।

तेन । नि । कुर्वे । त्वाम् । अहम् । यथा । ते । असानि । सुऽप्रिया

आसुरी असुरस्य माया । ❀ “असुरस्य स्वम्” “मायायाम् शण्” इति अण् प्रत्ययः ❀ । देवेभ्यः परि । ❀ “अपपरी वर्जने” इति परिः कर्मप्रवचनीयः । “पञ्चम्यपाङ्परिभिः” इति पञ्चमी ❀ । देवान् वर्जयित्वा इन्द्रं येन भेषजेन निचक्रे युद्धे स्वाधीनं कृतवती । यद्वा असुरः असुमान् । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । वलवान् पुलोमाख्यः । तस्येयम् आसुरी शची । शेषं पूर्ववत् । तेन भेषजेन अहम् हे पते त्वां नि कुर्वे स्वाधीनं कुर्वे । यथा येन प्रकारेण ते तव सुप्रिया अत्यन्तं प्रिया असाधारण्येन प्रीतिजननी असानि भवानि । तथा नि कुर्वे इति संबन्धः । ❀ अस्तेलोटि “आहुत्तमस्य पिच्व” इति आडागमः ❀ ॥

पुलोमा नामवाले असुरकी पुत्री आसुरी शचीने जिस औषधि से देवताओंमें श्रेष्ठ इन्द्रको अपने वशमें कर लिया है, हे पते ! उसी औषधिसे मैं तुमको स्वाधीन करती हूँ, जिस प्रकार मैं आपको असाधारणरूपसे प्रीति देने वाली होऊँ तिस प्रकार स्वाधीन करती हूँ ॥ २ ॥

नवमी ॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।

प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥३॥

प्रतीची । सोमम् । अमि । प्रतीची । उत । सूर्यम् ।

प्रतीची । विश्वान् । देवान् । ताम् । त्वा । अच्छ्वावदामसि ३

अनया मकृता शङ्खपुष्पाख्या ओपधिः स्तूयते । हे ओपधे सोमम् प्रतीची वशी करणार्थं प्रत्यगञ्चना असि भवसि । उत अपि च सूर्यम् सृष्टु प्रेरकम् आदित्यं प्रतीची भवसि । अहोरात्राभिमानिनोः सूर्यचन्द्रमसोः अभिमुखा भवसीत्यर्थः । किं बहुना विश्वान् देवान् प्रतीची असि । ॐ प्रतिपूर्वात् अञ्चतेः क्विन् । “अञ्चतेओपसंख्यानम्” इति ङीप् । “अचः” इति अकारलोपः । “चौ” इति पूर्वपदस्य दीर्घः ॐ । यत एवम् अतः तां सर्वदेववशीकरणसमर्थी त्वा त्वाम् अच्छावदानसि पतिरुचिकरणाय अभिमुखं स्तुमः । ॐ ‘अच्छ गत्यर्थवदेपु’ इति अच्छशब्दो गतिसंज्ञकः ॐ ।

(इस ऋचासे शङ्खपुष्पी नामक ओपधिकी स्तुति की है, कि—) हे ओपधे ! तू सोमको वशमें करनेके लिये उनके प्रति जाती है और सूर्यदेवकी ओर भी जाती है, अर्थात् दिन और रात्रिके अभिमानी देवता सूर्य और चन्द्रमाके अभिमुख होती है अधिक क्या सकल देवताओंके अभिमुख होती है अतएव तुझ सब देवताओंको वशमें करनेमें समर्थ ओपधिकी हम पतिकी रुचिको उत्पन्न करनेके लिये अभिमुख होकर स्तुति करती हैं ॥ ३ ॥

दशमी ॥

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।

ममदेसस्त्वं केवलो नान्यसां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सभायाम् । अह । त्वम् । वद ।

मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ४

पतिवशीकरणाय ओपधिं संप्राथम्यं नारी पुनः स्वपतिं ब्रूते । हे पते अहं वदामि त्वं नेत् नैव वदेः । एवं पत्युः सर्वत्र वदननिपेधे प्राप्ते स्थानान्तरे तस्य वाग्व्यापारं दर्शयति । अहश्शब्दो विनिग्रहार्थीयः । त्वं तु सभायां विद्वत्समाजे वद । अयम् अर्थः । हे पते यदा मत्समीपम् आगच्छसि तदा अहमेव वदामि त्वं तु मदुक्तमेव अनुवद कदापि प्रतिकूलं मा वादीः । मन्वतिरिक्तस्थानेपि सभायामेव यथेच्छं वद मान्यत्रेति । एतद् प्रकारान्तरेणाह । यथा हे पते त्वम् । इत् अवधारणे । ममैव केवलः असाधारणः असः भवेः । अन्यासां नारीणां नामधेयमपि [न कीर्तयाः] न कीर्तयेः ॥

(नारी पतिवशीकरणके लिये ओपधिकी प्रार्थना कर फिर अपने पतिसे कहती है, कि—) हे पते ! मैं ही कहूँ आप कुछ न कहें, (इस प्रकार सर्वत्र पतिका भाषणनिषेध प्राप्त होने पर कहती है, कि—) आप तो विद्वानोंके समाजमें ही बोलें । तात्पर्य यह है, कि—हे पते ! जब आप मेरे समीपमें आवें उस समय मुझे ही बोलने दीजिये आप तो मेरी कही हुई बातको ही कहिये, जहाँ मैं न होऊँ उस सभास्थानमें ही यथेच्छ भाषण करिये । आप मेरे लिये असाधारणरूपमें प्राप्त हों अन्य स्त्रियोंके नामका भी आप कीर्तन न करें ॥ ४ ॥

एकादशी ॥

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।

इयं ह मह्यं त्वामोपधिर्वद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

यदि । वा । अस्ति । तिरःऽजनम् । यदि । वा । नद्यः । तिरः ।

इयम् । ह । मह्यम् । त्वाम् । ओपधिः । वद्ध्वाऽइव । निऽन्यानयत् ५

हे पते यदि तिरोचनम् । ❀ क्रियाविशेषणम् एतत् ❀ । तिरः
तिरोभूतम् अचनं गमनं यस्मिन् कर्मणि तत् तिरोचनम् । तिरो-
भूतगतिः मच्चतुर्विपयो न भवेः । वाशब्दो विकल्पे । यदि वा नद्यः
निम्नगास्तिरः आवयोर्व्यवधायिका भवेद्युः । ह । तथापीत्यर्थः ।
इयं प्रस्तुता ओपधिः शङ्खपुष्पाख्या मह्यं पतिप्रीतिकामिन्यै त्वां
पतिं वद्ध्वेव निगृह्येव न्यानयत् नितराम् अभिमुखं नयत् ।
❀ नयतेर्लोटि अडागमः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [इति] सप्तमे काण्डे तृतीयोऽनुवाकः ॥

यदि किसी कार्यवश आपका मेरे सामनेसे चलना फिरना
अन्तर्धान होजाय अर्थात् आप किसी अन्य स्थानको चले जावें
अथवा कोई नदी हम दोनोंके बीचमें आ आपको मुझसे अन्त-
र्हित कर देगी तो यह मेरी शङ्खपुष्पी नामक औपधि मुझ पतिकी
प्रीतिको चाहने वालीके लिये आपको बाँध कर सी मेरे अभि-
मुख ले आवे ॥ ५ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (३५४)

सप्तमकाण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “दिव्यम् सुपर्णम्” इति
आद्यसूक्ते आद्ययर्चा पुष्टिकर्मणि वृषभवपया इन्द्रं यजेत । “दिव्यं
सुपर्णम् इत्यृषभदण्डिनो वपयेन्द्रं यजेत” इत्यादि [कौ० ३. ७]
सूत्रम् ॥

अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतं पुरोडाशं “यस्य व्रतम्” इति
अनुमन्त्रयेत् । “सरस्वत्यै च चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति

ब्रनेषु [७. ७०] यस्य व्रनम्" [७. ४१] इति वैतानं सूत्रम्
[वैः २. ४] ॥

नवगृहकरणार्थं भृशुद्धये "अति घन्वानि" इति द्वाभ्याम्
ऋग्भ्यां गृहनिर्माणस्थाने श्येनदेवनाकं चरं जुहुयान् । सूत्रितं
हि । "अति घन्वानीत्यवशाननिवेशनानुचरणानिनयनेज्या" इति
[कौ० ५. ७] ॥

अग्निश्रौमे द्विविधाने पुरोडाशपिण्डावापानन्तरम् उत्तान् पिण्डान्
"श्येनो वृचक्षाः" इति अनुमन्त्रयेत् । सूत्रितं वैताने । "द्विविधानं
यथाचमसं दक्षिणतः" इति प्रक्रम्य "एतं सयस्याः [६. १२३]
श्येनो वृचक्षाः [७. ४२. २] इत्यनुमन्त्रयेत्" इति [वै० ३. १२] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु वद्वध्वा
"सोमारुद्रा" इति द्वाभ्यां शरपिञ्जलीभिः सह उदकघटं संपात्य
अभिमन्त्र्य व्याधितम् आसावयेत् अवसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं
संहिताविधौ । "अग्नाविष्णु [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३]"
इति प्रक्रम्य "मौञ्जैः पर्वसु वद्वध्वा पिञ्जलीभिरासावयत्यवसिञ्चति"
इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन श्रुत्वेन सोमारुद्रौ यजेत उपनिष्ठेत वा ॥
मिथ्याभिशास्तस्य लोकनिन्दानिवृत्त्यर्थं "शिवास्ते" इत्यनया
शोदनं मन्यं वा अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

नया अनर्थेव दुष्कणमणिं तदाकृतिं पलाशायोत्तोदहिरण्यानाम्
अन्यतमम्य मणिं वा संपात्य अभिमन्त्र्य वद्वनीयान् ॥

सूत्रितं हि । "उतामृतानुः [५. १. ७] शिवास्ते [७. ४४]
इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । दुष्कणशिरो वद्वनानि । प्रतिरूपं
पलाशायोत्तोदहिरण्यानाम्" इति [कौ० ५. १०] ॥

सांमनस्यकर्मणि "उभा जिग्ययुः" इत्यनया हस्त्यादिवानं
संपात्य अभिमन्त्र्य सांमनस्यकामान् आरोप्य सूत्रोक्तप्रकारेण

स्वगृहम् आगत्य ओदनं मन्थं वा संपात्य अभिमन्थ्य सह भोज-
येत् । सूत्रितं हि । “उभा जिग्यथुरित्यार्द्रपादाभ्यां सामनस्यम् ।
यानेन मत्यञ्चो ग्रामान् मतिपाद्य प्रयच्छति” इति [वौ० ५. ६] ॥

तथा उक्थ्ये अच्छावाक्याज्याहोमानुमन्त्रणम् अनया ब्रह्मा
कुर्यात् । “एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपो [७. ६०]
वृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः” [७. ४५] इति हि
वैतानं सूत्रम् [वै० ४. १] ॥

ईर्ष्याविनाशार्थं “जनाद् विश्वजनीनात्” इत्येनाम् ईर्ष्यालुं
पश्यन् जपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया सक्तुमन्थम् अभिमन्थ्य ईर्ष्यावते
दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि ईर्ष्याकृतं स्पृशन् एनाम् ऋचं जपेत् ॥
सूत्रितं हि । “ईर्ष्याया ध्राजिम् [६. १८] जनाद् विश्व-
जनीनात् [७. ४६] त्वाष्ट्रेणाहम् [७. ७८. ३] इति मति-
जापनदानाभिमर्शानानि” इति [वौ० ४. १२] ॥

चाँथे अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इसके ‘दिव्यं सुपणम्’ के
पहिले सूक्तकी पहिली ऋचासे पुष्टिकर्ममें वृषभकी वपासे इन्द्रका
यजन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि-“दिव्यं
सुराणं इत्युपभद्रपिडनो वपयेन्द्रं यजते” (कौशिकसूत्र ३ । ४) ॥

अन्वारंभणीयेष्टिमें सारस्वत पुरोडाशका ‘यस्य व्रतम्’ से अनु-
मन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण है, कि-
“सरस्वत्यै च चरुं सरस्वतेद्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु (७।७०)
यस्य व्रतम्” (७।४१) ॥

नवीन घर बनानेकी भूमिकी शुद्धिके लिये “अति घन्वानि”
इन दो ऋचाओंसे गृहनिर्माणस्यानमें श्येनदेवता वाले चरुकी
आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-“अति-

धन्वानीत्पवशाननिवेशनानुचरणानिनयनेव्या” (कौशिकसूत्र ५।७) ॥

अग्निष्टोमके हविर्धानमें पुरोडाशपिण्ड रखनेके अनन्तर रखे हुए पिण्डोंको “श्येनो नृचक्षाः” से अनुमन्त्रण करे। इस बातका वैतानसूत्रमें प्रमाण भी है, कि—“हविर्धाने यथाचमसं दक्षिणतः” इति प्रक्रम्य “एतं सधस्थाः (६।१२३) श्येनो नृचक्षाः (७।४२।२) इत्यनुमन्त्रयते” (वैतानसूत्र ३।१२) ॥

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशों से जोड़ों पर बाँध कर “सोमारुद्रा” इन दो ऋचाओंसे सैंटोंकी मुट्ठीसहित जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगीको आलावित वा अवसिञ्चित करे। इसी बातको संहिता-विधिमें कहा है, कि—अग्नाविष्णू (७।३०) सोमारुद्रा (७।४३)” इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु वद्ध्वा पिङ्गुलीभिरालावयत्यव-सिञ्चति” (कौशिकसूत्र ४।८) ॥

तथा सत्र प्रकारकी सम्पत्तियोंकी कामना वाला पुरुष इस ऋचसे सोम और रुद्रदेवताका यजन वा उपस्थान करे ॥

जिसको भूँठा कलंक लग रहा हो उसकी लोकनिन्दाको दूर करनेके लिये “शिवास्ते” इस ऋचासे ओदन वा मन्थको अभिमन्त्रित करके देवे।

तथा इसी ऋचासे दुग्णमणि को वा उसकी समान आकार वाली पलाश लोहा और सुवर्णसे एककी मणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“उतामृतासुः (५।१।७) शिवास्ते (७।४४) इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । दुग्णशिरो वध्नाति । प्रतिरूपं पलाशायालोहहिरण्यानाम्” (कौशिकसूत्र ५।१०) ॥

सांमनस्यकर्ममें 'उभा जिग्यधुः' ऋचासे हाथी आदि सवारी को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सांमनस्य चाहनेवालोंको सूत्रोक्तरीतिसे अपने घर पर आ थोदन वा मंथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके जिमावे - इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उभा जिग्यधुरित्यार्द्रपादाभ्यां साम्नस्यम् । यानेन मत्स्यञ्चो ग्रामान् प्रतिपाद्य प्रयच्छति" (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥

तथा उवध्यमें ब्रह्मा इस ऋचासे अच्चावाक्याज्यहोमका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ४ । १ का प्रमाण भी है, कि-"एतेषां याज्यहोमान् इन्द्रावरुणा सुतर्षा (७ । ६०) बृहस्पतिर्न (७ । ५३) उभा जिग्यधुः" (७ । ४५) ॥

ईर्ष्या (डाह) को नष्ट करनेके लिये "जनाद् विश्वजनीनान्" ऋचाको ईर्ष्यालुको देखता हुआ जपे ।

तथा तर्षो ही कर्ममें इससे सक्तुमंथको अभिमन्त्रित करके डाह रखने वालेको देदेय ।

तथा तर्षो ही कर्ममें ईर्ष्या वालेको छता हुआ इस ऋचाका जप करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"ईर्ष्याया धान्निम् (६ । १८) जनाद् विश्वजनीनाद् (७ । ४६) त्वाष्ट्रेणाहम् (७ । ७० । ३) इति प्रतिज्ञापमदानाभिमर्शनानि (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोपधीनाम् ।
अभीपनो वृष्ट्या तर्पयन्तमानो गोष्ठेरधिष्ठां स्थापयाति
दिव्यम् । सुपर्णम् । पयसम् । बृहन्तम् । अपाम् । गर्भम् । वृषभम् ।
ओपधीनाम् ।

अभिपतः । वृष्ट्या । तर्पयन्तम् । आ । नः । गोऽस्थे ।
रयिऽस्थाम् । स्थापयाति ॥ १ ॥

दिव्यम् दिवम् अर्हतीति दिव्यः । ❀ “छन्दसि च” इति
यः । तं सुपर्णम् शोभनपतनं पयसम् पयस्वन्तम् । ❀ पयःशब्दात्
मतुपो लुक् ❀ । उदकवन्तं बृहन्तम् महान्तम् अपां गर्भम् मध्य-
भूतम् ओषधीनां वृषभम् वर्षितारं वृद्धिकरम् । उपलक्षणम् एतत् ।
सर्वेषामपि वृषभम् । यद्वा अपां वृषभम् ओषधीनां गर्भम् । अभी-
पतः अभिगताः सर्वतः संगता आपोस्मिन्निति । ❀ “ऋक्पू-
रब्धुः” इति अप् समासान्तः । “व्यन्तरूपसर्गेभ्योप ईत्” ।
आद्यादित्वात् तसिः ❀ । सर्वतो वृष्ट्या तर्पयन्तम् । विश्वम् इति
शेषः । यद्वा । ❀ पत्नृ गतौ । विवप् । छान्दसम् उपसर्गस्य दीर्घ-
त्वम् ❀ । अभिपतनशीलान् वृष्टिकामान् सर्वमाणिनो वृष्ट्या तर्प-
यन्तं रयिष्ठाम् धनव्रति प्रदेशे तिष्ठन्तम् एवंगुणकं सरस्वन्तं देवं
नः अस्मदीये गोष्ठे गोनिवासस्थाने आ स्थापयाति आस्थापयतु ।
इन्द्र इति विनियोगाद् अवगम्यते । सरस्वांस्तु मन्त्रान्तरप्रसिद्ध्या ।
आस्थापनकर्तृत्वेन इन्द्रस्यैव प्राधान्यात् तस्यैव यष्टव्यत्वम् ॥

स्वर्गके योग्य, शोभनरूपसे चलने वाले, जल वाले, विशाल,
जलोंके मध्यरूप, औषधि आदि सबके बढ़ाने वाले अथवा औष-
धियोंके गर्भरूप, सब ओर वृष्टि करके विश्वको तृप्त करनेवाले,
वृष्टि चाहने वाले सकल प्राणियोंको वृष्टिसे तृप्त करने वाले, धन-
मय देशमें स्थित रहने वाले, ऐसे सरस्वान् देवको इन्द्रदेव हमारी
गौओंके स्थान गोष्ठमें स्थापित करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः ।

यस्य व्रते पुंशुपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ?

यस्य । व्रतम् । पशवः । यन्ति । सर्वे । यस्य । व्रते । उपतिष्ठन्ते ।
आपः ।

यस्य । व्रते । पुष्टिपतिः । निविष्टः । तम् । सरस्वन्तम् । अवसे ।
हवामहे ॥ १ ॥

यस्य सरस्वतो व्रतम् कर्म सर्वेषु पशवो यन्ति अनुगच्छन्ति । तन्निमित्तत्वात् पुष्टेः । यस्य च व्रते कर्मणि आपः उपतिष्ठन्ते परस्परं संगच्छन्ते । तन्निमित्तत्वाद् वृष्टेः । ❀ “अकर्मकाच्च” इति धात्मनेपदम् ❀ । यस्य च व्रते कर्मणि पुष्टिपतिः तत्तपोपण-पतिर्निविष्टः । तदधीनत्वाद् वृष्टेः पुष्टेश्च । ‘तं तादृशं सरस्वन्तम् एतन्नामानं देवम् अवसे रक्षणाय तृप्तय वा हवामहे आह्वयामः ॥

जिन सरस्वान् देवताका सय पशु अनुगमन करते हैं और जिन के कर्मसे जल परस्पर मिलते हैं और जिनके कर्ममें प्रत्येक वस्तुओंके पोषणपति निविष्ट हैं, क्योंकि-वृष्टि और पुष्टि उनके ही आधीन है । उन सरस्वान् नामक देवताका हम वृत्ति वा रक्षण के लिये आह्वान करते हैं ॥ १ ॥

तृतीया ॥

आ प्रत्यञ्च दाशुपे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टिपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोपं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् २
आ । प्रत्यञ्चम् । दाशुपे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्टिपतिम् ।
रयिष्ठाम् ।

रायः । पोपम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह । हुवेम । सदनम् ।
रयीणाम् ॥ २ ॥

प्रत्यक्षम् प्रत्यगञ्जनं हविर्दत्तवतः प्रीणञ्जितुम् अभिमुखं गच्छन्तं
 दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय दाशवांसम् इष्टफलं प्रयच्छन्तम् ।
 ❀ “दाशवान् साहान्” इति कसौ निपातितः ❀ । पुष्टपतिम्
 पोषणपतिं रयिष्ठाम् धनस्थाने तिष्ठन्तं रायस्पोषम् रायो धनस्य
 पोषं पोषकम् । ❀ पुष पुष्टौ । पचायच् ❀ । श्रवस्युम् । श्रव
 इत्यञ्जनाम श्रूयते इति यास्कः [नि० १०. ३] । तद् यजमा-
 नानां दातुम् इच्छन्तं रयीणाम् धनानां सदनम् नित्यनिवासस्था-
 नम् एवंविधं सरस्वन्तं देवं वसानाः । ❀ त्रिवासतेः परिचरण-
 कर्मत्वाद् अत्र केवलोपि वसतिः परिचरणार्थः ❀ । हविरादिना
 परिचरन्तः । ❀ वस्तेरादादिकात् हेत्वर्थे शानच् ❀ । परिचर-
 णाद्धेतोः । इह अस्मिन् कर्मणि आ ह्रुवेम आह्रुवेम । ❀ “ह्रुवतेः
 लिङ्याशिष्यङ्” । “बहुलं छन्दसि” इति संप्रसारणम् ❀ ॥

हवि देने वालेको प्रसन्न करनेके लिये उसके अभिमुख जाने
 वाले, हवि देने वाले यजमानको इष्ट फल देने वाले, पुष्टिके
 स्वामी, धनके स्थानमें स्थित, धनके पोषक, अन्नको यजमानों
 को देनेकी इच्छावाले, धनोंके नित्य निवास्थान सरस्वान् देवता
 की हम हवि आदिसे सेवा कर इस कर्ममें बुलाते हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
 तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्यां शिव आ जग-
 म्यात् ॥ १ ॥

अति । धन्वानि । अति । अपः । तर्द । श्येनः । नृचक्षाः ।

अवसानदर्शः ।

तरन् । विश्वानि । अवरा । रजांसि । इन्द्रेण । सख्या । शिवः ।
 आ । जगम्यात् ॥ १ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा सर्वकर्मसाक्षी प्राणिभिर्द्रष्टव्यो वा । तदे-
 वाह । अवसानदर्शः अवसाने अन्तभूते द्युलोके द्रष्टव्यः । अथ
 वा अवसीयते निश्चीयत इति अवसानं कर्मफलं तद् दर्शयतीति
 अवसानदर्शः । तादृशः रयेनः शंसनीयगतिः सूर्यः घन्वानि मरु-
 देशान् अति अतिक्रम्य अपः उदकानि अति ततर्द । अतिशयेन
 करोत्वित्यर्थः । ॐ उवृदिर् हिंसानादरयोः ॐ । निरुदकप्रदेशेपि
 यथा दृष्टिर्भवति तथा प्रभूतं वर्षत्विति यावत् । किं च अवरा अव-
 राणि द्युलोकाद् अधस्तनानि विश्वानि रजांसि लोकान् तरन्
 अवतरन् अतिक्रामन् रयेनः सख्या समानख्यानेन मित्रभूतेन
 इन्द्रेण । ॐ सहयोगाभावेपि वृतीया ॐ । तेन सह शिवः कन्याण
 कारी सन् आ जगम्यात् नवगृहनिर्माणस्थानम् आगच्छतु ॥

सब प्राणियोंके कर्मके साक्षी वा सकल प्राणियोंसे द्रष्टव्य,
 कर्मफलको दिखाने वाले वा अवसानके अर्थात् अन्तके द्युलोक
 में दीखने वाले प्रशंसनीय गति वाले सूर्यदेव मरुदेशोंको अना-
 दर कर जलोंको वर्षावें अर्थात् जिस प्रकार जलरहित स्थानोंमें
 भी दृष्टि हो तिस प्रकार बहुतसी दृष्टि करें और द्युलोकसे नीचेके
 लोकोंको अतिक्रमण कर सूर्यदेव अपने मित्र इन्द्रके साथ कन्याण-
 कारी हो हमारे नवीन घर बनानेके स्थानमें आवें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

श्येनो नृचक्षां दिव्यः-सुपर्णः सहस्रपाञ्चतयोर्निर्व-
 योधाः ।

स नो न यञ्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकंमस्तु पितृपुं
 स्वधावन्त ॥ २ ॥

श्येनः । नृचक्षाः । दिव्यः । सुपर्णः । सहस्रपात् । शतयोनिः ।
वयोधाः ।

स । नः । नि । यच्छात् । वसु । यत् । पराभृतम् । अस्माकम् ।
अस्तु । पितृषु । स्वधावत् ॥ २ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा दिव्यः दिवि भवः सुपर्णः सुपतनः सहस्र-
पात् सहस्रकिरणः । ❀ पादस्य लोपः समासान्तः ❀ । शत-
योनिः शतस्य अपरिमितस्य कार्यस्य कारणभूतः अपरिमित-
फलस्य मिश्रयिता वा । अथ वा शतसंख्याकानि योनयः कार-
णानि प्रतिपदार्थं भिन्नानि असाधारणानि यस्येति । वयोधाः
अन्नस्य धारयिता दाता स तादृशः श्येनः सूर्यः नः अस्मान् नि
यच्छात् नियच्छतु । चिरकालं स्थापयतिवत्यर्थः । अपि च यद्
वसु धनं पराभृतम् अन्यैश्वोरादिभिः पराहृतम् अपहृतम् अस्ति
अथ वा यद् वसु पुरोडाशशकलरूपं पराभृतम् पराचीनेन पाणिना
आहृतं मत्तिसं तद् वसु अस्माकं पितृषु स्वधावत् स्वधाकारेण
हुतम् अस्तु ॥

मनुष्योंको देखने वाले, स्वर्गमें रहने वाले, सुन्दरतासे चलने
वाले, अनन्त किरणों वाले, अपरिमित कार्योंके कारणभूत वा
अपरिमित फलोंके सम्मेलक अन्नके धारण करने वाले-अन्नसे
पुष्ट करने वाले सूर्यदेव हमको चिरकाल तक स्थापित रखें और
जिस धनको चोर आदि लोगए हैं अथवा जो पुरोडाशशकलरूप
से पराचीन हाथसे अग्निमें होमा गया है, वह हमारा धन पितरों
में स्वधाकाररूपमें आहुत हो ॥ २ ॥

पृष्ठी ॥

सोमारुद्रा वि बृंहतं विभूचीममीवा यानो गयमादिवेशं

वाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्त-
मस्मत् ॥ १ ॥

सोमारुद्रा । वि । वृहतम् । विपूचीम् । अमीवा । या । नः ।
गयम् । आऽविवेश ।

वाधेथाम् । दूरम् । निःऽऋतिम् । पराचैः । कृतम् । चित् । एनः ।
प्र । मुमुक्तम् । अस्मत् ॥ १ ॥

हे सोमारुद्रा । ॐ सुप आकारः ॐ । हे सोमारुद्रौ विपूचीम्
विष्वग्गमनां वक्ष्यमाणम् अमीवाशब्दवाच्यं रोगं वि वृहतम् विना-
शयतम् । ॐ वृह उद्यमने । तौदादिकः ॐ । या अमीवा रोगः
नः अस्माकं गयम् गृहं शरीरं वा आविवेश सर्वतो व्याप्ता । तां
वि वृहतम् इति संबन्धः ॥ किं च निर्ऋतिम् निकृष्टगमनहेतुं
रोगनिदानभूतां पिशाचीं पराचैः पराद्मुखं दूरं वाधेथाम् । यथा
पुनरस्मान् नागच्छति तथा पराद्मुखं दूरं गमयित्वा नाशयतम् ।
ॐ पराचैरिति । निपातोयम् उच्चैर्नाचैरितिवत् ॐ । किं च ।
चिच्छब्दः चेदर्थे । एनः अस्माभिः कृतं चेत् । अप्यर्थे वा चिच्छब्दः ।
कृतमपि एनः पापम् अस्मत् अस्मत्तः । ॐ पञ्चमीबहुवचने
“पञ्चम्या अत्” ॐ । प्र मुमुक्तम् प्रकर्षेण मोचयतम् । ॐ मुञ्चतेः
शपः श्लुः ॐ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं ! विपूचीरोगको और अमीवारोग
को आप नष्ट करिये, जो अमीवा रोग हमारे घरमें सब ओरसे
व्याप्त हो रहा है उसको आप नष्ट करिये । आप निकृष्टगमनकी
हेतु, रोगकी निदानभूत पिशाचीको दूर लेजाकर वाधित करिये,
और यदि हमसे कुछ पाप बनगया हो तो उसको भी आप
हमसे दूर करिये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि
धत्तम् ।

अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु वद्धं कृतमेनो
अस्मत् ॥ २ ॥

सोमारुद्रा । युवम् । एतानि । अस्मत् । विश्वा । तनूषु । भेषजानि ।
धत्तम् ।

अव । स्यतम् । मुञ्चतम् । यत् । नः । असत् । तनूषु । वद्धम् ।
कृतम् । एनः । अस्मत् ॥ २ ॥

हे सोमारुद्रा हे सोमारुद्रौ युवम् युवाम् अस्मत् । पृथ्याः “सुपां
सुलुक्” इति लुक् । व्यत्ययो वा विभक्तेः ॐ । अस्मत् अस्माकं
तनूषु शरीरेषु विश्वा सर्वाणि एतानि रोगनिर्हरणक्षमत्वेन प्रसि-
द्धानि भेषजानि धत्तम् स्थापयतम् । किं च नः अस्माकं तनूषु
वद्धम् संवद्धं यत् अस्माभिः कृतम् एनः पापम् असत् स्यात्
अस्ति वा तद् अस्मत् अस्मत्सकाशाद् मुञ्चतम् मोचयतं विश्ले-
पयतम् । ततो मुक्त्वा तद् अव स्यतम् अवसाययतं विनाशयतम् ।
ॐ षो अन्तर्कर्मणि । लोटि रूपम् ॐ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं ! आप दोनों हमारे शरीरोंमें रोगों
को दूर करनेमें प्रसिद्ध औषधियोंको स्थापित करें, और हमारे
शरीरोंमें जो हमारा किया हुआ पाप चिपट रहा हो उसको आप
हमसे अलग करिये और अलग करके उनको नष्ट कर डालिये २

अष्टमी ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा विभिर्पि सुम-
नस्यमानः ।

निस्त्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि
पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः । विभिर्पि ।
सुमनस्यमानः ।

निस्त्रः । वाचः । निऽहिताः । अन्तः । अस्मिन् । तासाम् । एकाः ।
वि । पपात । अनु । घोषम् ॥ १ ॥

सर्वा हि वाक् परावश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना ।
तत्र पराद्यास्तिस्रोवस्था देहान्तरवस्थानाद् न परेभ्योर्य प्रतिपाद-
यितुं क्षमाः । वैखरी तु तान्बोष्ठादिस्थानेषु वर्णपदवान्वरूपेण
अभिव्यज्यमाना परश्रोत्रग्रहणयोग्या भवति । एवं पराद्यवस्था-
पन्ना वाक् स्तुतिरूपा निन्दारूपा चेति द्विविधा भवति । तथा
च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ते इति युष्मच्छब्देन विभर्षति
मध्यमपुरुषेण च मिथ्यामिश्रस्तः पुरुषोऽभिधीयते । हे अकारणं
निन्दित पुरुष ते तत्र विषये शिवाः स्तुतिरूपाः कल्याण्यः एकाः
अन्या वाचः सन्ति । तथा ते तत्र विषये अशिवाः अस्तुतिरूपा
निन्दार्था एकाः अन्या वाचः सन्ति । सर्वास्ता उभयीर्वाचः त्वं
सुमनस्यमानः। सुमना इवाचरन् । ॐ आचारार्थे “कर्तुः क्यङ्” ॐ ।
स्तुतिमात्रश्रणे यथा सुमनस्कृत्वं प्राप्नोषि एवं निन्दावाक्यश्रव-
णेषु सौमनस्यं प्राप्नुवन् विनीतिं विभृदि । ॐ लोड्यं लट् ॐ ।

स्तुतिनिन्दाजातहर्षविषादयोरपि समानं सौमनस्यं प्राप्नुहीत्यर्थः ।
 अथ वाचः पराश्रयवस्थाचतुष्टयात्मकत्वेऽपि प्रथमावस्थान्नयख्याया
 वाचो नार्थप्रत्यायकत्वं तुरीयावस्थापक्षायास्तु अर्थबोधकत्वम् इति
 उत्तरार्थेनाह । तासां पूर्वोक्तानां द्वितयीनां वाचां मध्ये तिस्रो वाचः
 पराद्याः अस्मिन् शब्दप्रयोक्तारि पुरुषे अन्तः देहमध्ये निहिताः
 अनस्थिता भवन्ति । एका वैखरीरूपा घोषम् अनु तान्त्वोष्ट्रव्यापार-
 जन्यं ध्वनिम् अनुलक्ष्य वि पपात विशेषेण वर्णपदादिरूपेण
 वर्तते । यद्वा पूर्वार्थेन निन्दावाक्यस्य स्तुतिवाक्यसमानताप्रति-
 पत्तिम् आपाद्य निन्दावाक्यत्रयोपि प्रयोक्तुरेव महती वाधा
 नाभियुज्यमानस्य दाधेत्याह । तासाम् अशिवानां निन्दारूपाणां
 वाचां मध्ये तिस्रो वाचः पराद्याः अस्मिन् मिथ्यापवदितरि जने
 अन्तर्निहिताः । एका वाक् वैखरी घोषम् जनसंघध्वनिम् अनु-
 लक्ष्य वि पपात निन्दात्वेन विरुद्धा पतिता । अयम् अर्थः । निन्दा-
 वाक्यस्यापि परादिचतुष्टयात्मकत्वात् तादृशवाक्यप्रयोक्तृशरीर-
 मध्ये त्रयाणां भागानाम् अवस्थानात् तस्मिन्नेव निन्दा महती ।
 मिथ्याभियुज्यमाने तु एक एव भागः पतित इति नास्ति निन्देति ॥

(सब वाणियों परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन चार
 अवस्थाओंसे सन्पन्न होती हैं, इनमें परा आदि तीन अवस्थाएँ
 शरीरके भीतर होनेसे दूसरेको अपना प्रयोजन नहीं जता सकती
 और वैखरी तालु ओष्ठ आदि स्थानोंमें वर्ण पद वाक्यरूपसे प्रकट
 होती हुई दूसरेके कानोंके ग्रहण करने योग्य होती है । इस प्रकार
 परा आदि अनस्थाको प्राप्त होने वाली वाणी स्तुतिरूप और
 निन्दारूपसे दो प्रकारकी होती है । अतः इस ऋचाका यह अर्थ
 होगा, कि—) हे निष्कारण निन्दित पुरुष ! तेरे त्रिपयमें एक स्तुति-
 रूप वाणियों कही जाती हैं और दूसरी निन्दारूप वाणियों कही
 जाती हैं, इन दोनों प्रकारकी वाणियोंको तू सुन्दर गसन्न) मन

से ग्रहण कर अर्थात् अपनी स्तुतिके वचनको सुनकर जिस प्रकार तेरा मन प्रसन्न रहता है इसी प्रकार निन्दाकी बातोंको सुनकर भी तेरा मन प्रसन्न रहे दुःखी न हो, (तात्पर्य यह है, कि— स्तुति और निन्दासे उत्पन्न हुए हर्ष और विपादके कारण भी तेरा मन एकसा रहे ।) पूर्वोक्त दो प्रकारकी वाणियोंकी तीन अवस्थाएँ शब्दप्रयोक्ता पुरुषके देहके भीतर होती हैं, एक वैखरी रूपा घोषके पीछे तालु ओष्ठ आदिसे उत्पन्न भ्रुविको लक्ष्य कर वर्ण पदादि विशेषरूपसे पतित होती है । तात्पर्य यह है, कि— निन्दाप्रयोग करने वालेके शरीरमें ही तीन अवस्थाएँ रहनेसे उसमें ही बड़ी निन्दा रहती है और मिथ्या अभिशस्त होनेवाले में तो एक ही भाग पतित होता है, अत एव उसकी निन्दा नहीं होती है ॥ १ ॥

नवमी ॥

उभा जिग्यथुर्न परां जयेथे न परां जिग्ये कतरश्चैनयोः
इन्द्रेश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तैरयेथाम्

उभा । जिग्यथुः । न । परा । जयेथे इति । न । परा । जिग्ये ।
कतरः । चन । एनयोः ।

इन्द्रः । च । विष्णो इति । यत् । अपस्पृधेथाम् । त्रेधा । सहस्रम् ।
वि । तत् । ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

हे इन्द्राविष्णु उभा उभा युवां जिग्यथुः सर्वदा जयथ एव ।
❀ द्वान्दसो लिट् । “सन्लिटोर्जेः” इति कुत्वम् ❀ । न कदाचि-
दपि परा जयेथे । अन्यैर्न जीयेथे इत्यर्थः । ❀ “विपराभ्यां जेः”
इति आत्मनेपदम् ❀ । किम् एतां परस्परसाहाय्याज्जेतारौ अप-

राजितौ च । नेत्याह । एनयोः इन्द्राविष्णवोर्युवयोर्मध्ये कतरश्चन-
 एकोपि । ❀ “किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्” ❀ । न
 परा जिग्ये नान्यैः पराजितो भवति ॥ हे विष्णो इन्द्रश्च त्वं च
 युवां यद् वस्तु प्रति अपस्पृधेथाम् अस्पृधेथाम् असुरैः सह ।
 ❀ “अपस्पृधेथाम् आनृचुः०” इति स्पर्धतेर्लाङि द्विर्वचनं संप्र-
 सारणं च निपात्यते ❀ । तद् वस्तु त्रेधा त्रिधा लोकवेदवागा-
 त्मना स्थितं सहस्रम् अपरिमितं तद् वस्तु व्यैरयेथाम् । व्यक्रमे-
 थाम् इत्यर्थः । विक्रमणं च वैष्णवमपि ऐकात्म्याद् उभयोरित्यु-
 च्यते । अत्र ऐतरेयब्राह्मणम् । “उभा जिग्यथुरित्युभौ हि तौ
 जिग्यतुः” इत्यादि “इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते । तान् ह
 स्म जित्वोचतुः कल्पामहा इति । ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः । सो-
 ब्रवीद् इन्द्रो यावद् एवायं विष्णुस्त्रिविक्रमते तावद् अस्माकम्
 अथ युष्माकम् इतरद् इति । स इमाँल्लोकान् विचक्रमेथो वेदान्
 अथोवाचम् । तदाहुः किं तत् सहस्रम् इतीमे लोका इमे वेदा अथो
 वाग् इति ब्रूयात्” इत्यन्तम् अनुसंधेयम् [ऐ० ब्रा० ६. १५] ॥

हे इन्द्र और विष्णु देवताओं ! आप सर्वदा जीतते ही रहते
 हैं कभी हारते नहीं हैं, अब यह शङ्का होती है, कि-क्या यह
 परस्परकी सहायतासे जीतते हैं और अपराजित रहते हैं तो इसका
 उत्तर यह है, कि-इन इन्द्र और विष्णुमें कोई एक भी दूसरोंसे
 पराजित नहीं है । हे विष्णुदेव ! और हे इन्द्रदेव ! आप जिस
 वस्तुके लिये असुरोंसे स्पर्धा करते हैं उस लोक वेद और वाणी
 इन तीन प्रकारोंमें स्थित अपरिमित वस्तुको अपने वशमें करलेते हैं १
 दशमी ॥ :

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
 दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१॥

जनात् । विश्वऽजनीनात् । सिन्धुतः । परि । आऽभृतम् ।

दूरात् । त्वा । मन्ये । उत्ऽभृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् ?

अत्र ईर्ष्यानिवर्तनक्षमम् औपधं संबोध्यते ॥ विश्वजनीनात् विश्वजनहितात् । ❀ “आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् स्वः” इति स्वः ❀ । तादृशात् जनात् । जनपदाद् इत्यर्थः । एकदेशेन व्यपदेशो भीमयेनो भीम इतिरत् । तथा सिन्धुतः समुद्रात् । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुगादी ❀ । आभृतम् आहृतम् । ❀ “हृद्यदोर्भः” ❀ । तथा दूरात् दूरदेशाद् उद्भृतम् उद्भृतं त्वांसक्तुमन्थलक्षणम् औपधम् ईर्ष्यायाः क्रोधस्य नाम खलु भेषजम् निवर्तनक्षमम् औपधं मन्ये जानामि । ❀ मन ज्ञाने । दिवादित्वात् श्यन् । लटि उच्चमैकवचने रूपम् ❀ ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके मथमं सूक्तम् ।

(इस मन्त्रमें ईर्ष्याको हटानेमें समर्थ औपधिको सम्बोधित कर कहते हैं, कि—) सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करने वाले जनपदसे तथा समुद्रसे तथा दूर देशसे लाई हुई सक्तुमन्थरूप औपधिकोंमें क्रोधको हटानेमें समर्थ औपधि जानता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें मथम सूक्त समाप्त (३३१) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्तृणि तप्तपरशुना वयाधितम् उदरुम् “अग्नेरिगस्य दहतः” इत्यनया अभिमन्त्र्य ईर्ष्यालुं पायत् त्वा “अग्नेरिवेतिपरशु-फाण्टम्” इति [कौ० ४. १२] सूत्रात् ॥

स ईर्ष्याधि भेषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वतु चङ्कया “सिनीवालि” इति नखैर्न शरपिञ्जूलीस्रिः सह उदकघटं सपारश अभिमन्त्र्य व्याध्याम् आसावरेत् अथसिञ्चद् वा । तद् उक्तं संहिताविना । “सोमास्त्रा [७. ४३] सिनीवालि [७. ४८] वि ते मृञ्चामि [७. ८३] शुम्भनी [७. ११७]

इति मौञ्जैः पर्वसु वद्ध्वा पिञ्जलीभिरास्तावयत्यवसिञ्चति” इति
[कौ० ४. ८] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन नवर्चेन यथालिङ्गं सिनीवाली कुहू
राका देवपत्न्य इति चतस्रो देवता यजेत उपतिष्ठेत वा । ‘अग्ना-
विष्य [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३] सिनीवालि पृथुष्टुके [७.
४८] बृहस्पतिर्नः” [७. ५३] इति कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

तथा दर्शयागे “सिनीवालि” इति वृचेन सिनीवान्तीदेवतां
परिगृह्णीयात् । [तद् उक्तं वैताने] । “देवताः परिगृह्णाति । सिनी-
वालि पृथुष्टुक इति मन्त्रोक्ताम् अमावास्यायाम्” इति [वै० १. १]

दर्शयाग एव “कुहूं देवीम्” इति वृचेन कुहूं देवीं परिगृह्णीयात् ॥
पूर्णमासयागे “राकाम् अहम्” इति वृचेन राकां देवीं परिगृह्णी-
यात् ॥ “कुहूं देवीम् [७. ४६] यत् ते देवा अकृण्वन् भाग-
धेयम् [७. ८४] इत्यमावास्यायाम् । राका अहम् [७. ५०] पूर्णा
पश्चात् [७. ८५] इति पौर्णमास्याम्” इति वैतानसूत्रात् [वै० १. १] ॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु “देवानां पत्नीः” इति वृचेन
देवपत्नीयागम् अनुमन्त्रयेत् । “सं वर्चसा [६. ५३. ३] देवानां
पत्नीः [७. ५१] सगार्हपत्यः [१२. २. ४५] इति पत्नी-
संयाजान्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. ४] ॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें तपे हुए फरसेसे बुझाये हुए जलको ‘अग्ने-
रिवास्य दहतः’ ऋचासे अभिमन्त्रित करके ईर्ष्यालुको पिला देवे
इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अग्नेरिवेति पर-
शुफाण्डम्” (कौशिकसूत्र ४ । १२) ।

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशों
से जोड़ों पर बाँध कर ‘सिनीवालि’ आदि नौ ऋचाओंसे सैंदों
के मुठोंके साथ जलपूर्ण घटको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके
रोगीको आसावित वा अवसिञ्चित करे । इसी बातको संहिता-

विधिमें कहा है, कि—“सोमारुद्रा (७।४३) सिनीवालि (७।४८)
वि ते मुञ्चामि (७।८३) शुंभनी (७।११७) इति मौञ्जैः
पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जुलीभिरास्त्रावत्यवसिञ्चति” (कौशिकसूत्र
४।८) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस नौ श्रुचा वाले मूक्तसे लिंगानुसार
सिनीवाली कुहू राका और देवपत्नी आदि चार देवताओंका
यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।१० का
प्रमाण है, कि—“अमाविष्णु (७।३०) सोमारुद्रा (७।४३)
सिनीवालि पृथुष्टुके (७।४८) बृहस्पतिर्नः (७।५३) ॥

तथा दर्शयागमें ‘सिनीवालि’ श्रुचसे सिनीवाली देवताका
परिग्रहण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“देवता परि-
ग्रहति । सिनीवालि पृथुष्टुक इति मन्त्रोक्ता अमावास्यायाम्”
(वैतानसूत्र १।१) ॥

दर्शयागमें ही “कुहू देवीम्” इस श्रुचसे कुहू देवीका परिग्रहण
करे ॥—पूर्णमासयागमें “राका अहम्” इस श्रुचसे राका देवीका
परिग्रहण करे ॥ इस विषयमें वैतानसूत्र १।१ में कहा है, कि—
“कुहू देवीम् (७।४६) यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम्
(७।८४) इत्यमावास्यायाम् । राका अहम् (७।५०) पूर्णा
पश्चात् (७।८५) इति पूर्णमास्याम्” ॥

दर्श पूर्णमासके पत्नीसंयार्जोंमें ‘देवानां’ पत्नीः’ इस श्रुचसे
देवपत्नीयागका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण
भी है, कि—‘सं वर्चसा (६।५३।३) देवानां पत्नीः (७।५१)
सु गार्हपत्यः (१२।२।४५) इति पत्नीसंयार्जान् (वैतान-
सूत्र १।४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।

एतामेतस्येर्ष्यामुद्गाग्निमिव शमय ॥ १ ॥

अग्नेःऽइव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् ।

एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्गना । अग्निम्ऽइव । शमय ॥ १ ॥

अग्नेरिव दहतः क्रोधेन मदीयकार्याणि विनाशयतः अस्य पुरः परिदृश्यमानस्य ईर्ष्यालोः तथा पृथक् प्रत्येकं प्रतिपदार्थं दहतः भस्मीकुर्वतो दावस्य । अत्र उपमावाचक इवशब्दोऽध्याहार्यः । दावस्य अग्नेरिव पृथक् दहतः एतस्य पुरोवर्तिनः क्रुध्यतः पुरुषस्य । पुरोवर्तिनम् ईर्ष्यालुम् इदमेतच्छब्दाभ्याम् अंगुल्या निर्दिशति । तादृशस्य पुरुषस्य एतां मद्विषये प्रयुज्यमानाम् ईर्ष्याम् उद्गना उदकेन । ❀ “पद्मन्नोमासु” इत्यादिना उदकस्य उदन्भावः ❀ । तत्रपरशुक्वथितेनोदकेन शमय शान्तां कुर्विति ईर्ष्यानिवारको देवः संबोध्यते । तत्र दृष्टान्तः । अग्निमिवेति । यथा अग्निं उवलन्तम् उद्गना उदकेन शमयन्ति तद्वत् ॥

हे ईर्ष्यानिवारक देव ! अग्निकी समान मेरे कार्योंको भस्म करते हुए तथा दावस्यकी समान मेरे प्रत्येक कार्योंको भस्म करते हुए इस ईर्ष्यालु पुरुषकी ईर्ष्याको इस प्रकार शांत करिये, जिस प्रकार जलसे अग्निको शान्त करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सिनीवालि पृथुऽशुके या देवानामसि स्वसा ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिद्धि नः ॥ १ ॥

सिनीवालि । पृथुऽशुके । या । देवानाम् । असि । स्वसा ।

जुषस्व । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रऽजाम् । देवि । दिदिद्धि । नः ॥

दृष्टचन्द्रा अमावास्या सिनीवाली स्त्रीत्वेन रूप्यते । हे सिनी-
वालि । अत्र यास्कः । सिनम् अन्नं भवति सिनाति भृतानि वालं
पर्य वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती वालिनी वा बालेनैवास्याम् अणुत्वा-
च्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वेति [नि० ११. ३१] । पर्वण्य-
न्नवतीति अन्नपक्षलचन्द्रोपेतेति वेति तस्यार्थः । तादृशि हे सिनी-
वालि पृथुण्डुके पृथुजघने पृथुकेशस्तुके वा । ॐ स्त्यायतेः स्तुक-
शब्दः ॐ । बहुभिः संस्तुते वा । ॐ स्तौतेर्निष्ठातकारस्य वर्णोप-
जनश्चान्दसः ॐ । या त्वं देवानां स्वसा स्वयं सारिणी दृष्ट्यादिना
असि भवसि भगिनी वा समानकार्यत्वात् सा त्वम् आहुतम् अभि-
मुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुगस्व सेवस्व । किं च हे देवि सिनी-
वालि नः अस्माकं मजाम् पुत्रादिकां दिदिदि उपचिनु । देही-
त्यर्थः । ॐ दिहेदिशतेर्वा लोटि शपः रलुः ॐ ॥

हे अन्नपचन्द्रकला संयुक्त अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवते
सिनीवालि ! हे अनेकोसे स्तुत सिनीवालि ! आप देवताओंकी
स्वसा हैं अर्थात् दृष्टि आदिसे स्वयं सारिणी होती हैं और समान
कार्य वाली होनेसे आप देवताओंकी भगिनी हैं ऐसी आप इस
अभिमुख आहुत हविका सेवन करें और हे सिनीवालि देवते !
आप हमको पुत्र आदि मजा दीजिये ॥ १ ॥

तृतीया ॥

या सुवाहु स्वंगुरिः सुभ्रूमा बहुस्रवरी ।

तस्यै विश्वत्स्यै हविः सिनीवात्यै जुहोतन ॥ २ ॥

या । सुवाहुः । सुश्रंगुरिः । सुभ्रूमा । बहुस्रवरी ।

तस्यै । विश्वत्स्यै । हविः । सिनीवात्यै । जुहोतन ॥ २ ॥

या सिनीवाली सुवाहुः सुपाणिः स्वंगुरिः शोभनांगुलिः सुभ्रूमा

सुयोनिः । ❀ सूतेः सूमशब्दः ❀ । सुष्टु प्रसवित्री वा । बहु-
सूवरी बह्वीनां प्रजानां सवित्री । ❀ सूतेः कनिप् । “वनो रंच”
इति डीब्रेफौ ❀ । तस्यै सिनीवाल्यै विश्पत्न्यै विशां प्रजानां
पालयिन्त्यै । ❀ “विभाषा सपूर्वस्य” इति पत्युर्नकारः । अय-
स्पयादित्वेन भत्वाद् विशो जश्त्वाभावः ❀ । हविः जुहोतन जुहुत
हे ऋत्विग्यजमानाः । ❀ “तप्तनप्तनधनाश्च” इति तस्य तनवा-
देशः । पितृत्वेन द्वित्वाभावाद् गुणः ❀ ॥

हे ऋत्विज और यजमानों ! सिनीवाली देवता सुन्दर पाणि
वाली, शोभन अंगुलि वाली, सुधूमा है उस प्रजाकी पालिका
सिनीवालीके लिये हविकी आहुति दो ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे
चोदयस्व ॥ ३ ॥

या । विश्पत्नी । इन्द्रम् । असि । प्रतीची । सहस्रस्तुका ।
अभियन्ती । देवी ।

विष्णोः । पत्नि । तुभ्यम् । राता । हवींषि । पतिम् । देवि । राधसे ।
चोदयस्व ॥ ३ ॥

या सिनीवाली विश्पत्नी विशां पालयित्री इन्द्रम् परमैश्वर्य-
संपन्नं देवं प्रतीची प्रत्यगश्चना असि भवसि । अमावास्यायाम्
इन्द्रस्य इज्यमानत्वाद् इन्द्रं प्रतीचीत्युक्तम् । कीदृशी । सहस्रस्तुका ।
सहस्रशब्दो बहुवाची । बहुकेशस्तुका पृथुजयना वा सहस्रसंख्याकैः

स्तोत्रभिः संस्तुता वा । अभियन्ती अभिमुखंगच्छन्ती यष्टव्यान्
देवान् । यद्वा फलप्रदानाय अस्मान् अभिगच्छन्ती देवी द्योतन-
शीला । किं च हे विष्णोः पत्नि विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य
इन्द्रस्य वा पत्नि तुभ्यं हवींषि राता रातानि दत्तानि । अतः हे
देवि सिनीवालि तुष्टा त्वं पतिम् त्वदीयम् इन्द्रं राधसे । राधइति
धननाम । ❀ “क्रियार्थोपपदस्य०” इति चतुर्थी ❀ । अस्मभ्यं
धनं दातुं चोदयस्व प्रेरयस्व ॥

जो सिनीवाली प्रजाओंकी पालिका है, परमेश्वर्यसंपन्न इन्द्र-
देवके सामने जाती है और उनकी पूजा करती है, सहस्रों पुरुष
उसकी स्तुति करते हैं, हे व्यापनशील देवताकी पत्नि ! तुम्हको
हवि देनी है, अतः तू सन्तुष्ट होकर अपने पति इन्द्रको धन देनेके
लिये प्रेरणा कर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

कुहूँ देवीं सुकृतं विद्वानापसमस्मिन् यज्ञे सुहवां जोह-
वीमि ।

सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शत-
दायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

कुहूम् । देवीम् । सुकृतम् । विद्वानापसम् । अस्मिन् । यज्ञे ।
सुहवा । जोहवीमि ।

सा । नः । रयिम् । विश्ववारम् । नि । यच्छात् । ददातु ।
वीरम् । शतदायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

नष्टचन्द्रा श्रमावास्या कुहूः । तां देवीम् । ❀ कुहूशब्दं बहुधा

यास्को निरुवाच । कुहूरुहतेः क्वाभूद् इति वा क्व सती ह्यत इति
 वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वेति [नि० ११. ३२] ❀ । तादृशीं
 कुहूम् अस्मिन् यज्ञे दर्शयागे सर्वाभिलषितसाधने कर्मणि च जोह-
 वीमि मृशम् आहयामि । ह्यतेरिदं रूपं जुहोतेर्वा । हविषा यजामि ।
 तां विशिनष्टि । सुकृतम् सुकर्माणं विद्वानापसम् । अप इति कर्म-
 नाम । विदितकर्माणम् । ❀ विदेः औणादिको मक् प्रत्ययः ।
 [विद्वो वदनम् ।] तद्वत् विद्वानम् । पामादिलक्षणो नप्रत्ययः ।
 तादृशम् अपः कर्म यस्या इति विग्रहः ❀ । सुहवाम् शोभनाहा-
 नाम् । सा कुहूः विश्ववारम् सर्वैर्वरणीयं रयिम् धनं नः अस्मभ्यं
 नि यच्छात् नियमयतु स्थापयतु । प्रयच्छत्वित्यर्थः । तथा शत-
 दायम् बहुधनं बहुप्रदं वा उक्थ्यम् प्रशस्यं स्तोत्रार्हं वा वीरम् वि-
 क्रान्तं पुत्रं ददातु प्रयच्छतु ॥

नष्टचन्द्रा अमावास्या कुहूदेवी सुन्दर कर्म वाली है, विदित
 कर्म वाली है और शोभन आह्वान वाली है उस कुहू देवीका मैं
 इस दर्शयागमें और सब अभिलाषाओंके साधन कर्ममें भी बड़े
 आग्रहके साथ आह्वान करता हूँ, वह कुहू देवी मुझको सबके
 वरण करने योग्य धनको देवे और बहुतसा प्रदान करने वाले
 और प्रशंसा पाने वाले विक्रमी पुत्रको देवे ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

कुहूदेवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुपेत ।
 शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषीं दधातु

कुहूः । देवानाम् । अमृतस्य । पत्नी । हव्या । नः । अस्य । हविषः ।

जुपेत ।

शृणोतु । यज्ञम् । उशती । नः । अथ । रायः । पोपम् । चिकितुषी ।
दधातु ॥ २ ॥

देवानाम् । ❀ निर्धारणे पृष्ठी ❀ । देवानां मध्ये कुहूदेवी अमृतस्य अमृतत्वस्य अविनाशस्य उदकस्य वापत्री पालयित्री । यद्वा देवानां मध्ये यः अमृतः अविनाशरो देवस्तस्य पत्नी नारी । अथवा देवानाम् इति सर्वविकारोपलक्षणम् । सर्वेषां भूतानाम् अमृतस्य च पत्नी पालयित्री हव्या आहानार्हा नः अस्मदीयस्य अस्य दीयमानस्य हविषः । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे पृष्ठी ❀ । अस्मदीयम् इदं हविः जुपेत सेवेत । किं च नः अस्मदीयं यज्ञम् उशती कर्मपमाना । ❀ वशकान्ता । शतरि “ग्रह्ज्या०” इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । अथ इदानीं शृणोतु । अस्मदीयम् आहानम् इति शेषः । ततः चिकितुषी अस्मदीयं यज्ञं ज्ञातवती रायः धनस्य पोपम् पुष्टिं दधातु अस्माकं विद्धातु । ❀ चिकितुषीति । किं ज्ञाने । ववमौ ङीपि संप्रसारणे रूपम् ❀ ॥

देवताओंमें कुहूदेवी अमृतस्वरूप जलका पालन करने वाली हैं, अथवा-देवताओंमें जो अविनाशी देवता हैं उनकी नारी हैं, वा सकल भूतोंका और अमृतका भी पालन करने वाली हैं और आहानके योग्य हैं, ऐसी कुहूदेवी इस हमारी हविका सेवन करें और हमारे यज्ञकी कामना करती हुई आज हमारे आहानको सुनें और हमारे यज्ञको जानती हुई हममें धनकी पुष्टि करें ॥२॥

सप्तमी ॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतुं नः सुभगा बोधतु
त्मना ।

सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदाय-

सुकथ्यम् ॥ १ ॥

राकाम् । अहम् । सुऽहंवा । सुऽस्तुती ॥ हुवे । शृणोतु । नः ।

सुऽभगा । बोधतु । त्मना ।

सीव्यतु । अपः । सूच्या । अच्छिद्यमानया । ददातु । वीरम् ।

शतऽदायम् । सुकथ्यम् ॥ १ ॥

संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका । तां देवीं मुहवाम् शोभनाहानाम्
आहानप्रयोजनकारिणीं सुष्टुती शोभनया स्तुत्या अहं हुवे आह-
यामि । सा च सुभगा सुज्ञानादिका नः अस्माकं शृणोतु आहान-
नम् । श्रुत्वा च त्मना आत्मना । ❀ “मन्त्रेष्वाल्यादेरात्मनः”
इति आकारलोपः ❀ । स्वयमेव बोधतु बुध्यताम् अस्मदभि-
प्रायम् । बुद्ध्वा च अपः कर्म प्रजननलक्षणं सीव्यतु । अपः प्रज-
ननकर्मेति हि यास्कः [नि० ११. ३१] । तत् अच्छिद्यमानया
सूच्या सूचिस्थानीयया सीव्यत्या नाहत्या सीव्यतु संतनोतु वध्नातु ।
❀ पितु तन्तुसंताने । दैवादिकः । “हलि च” इति दीर्घः ❀ ।
यथा वस्त्रादिकं सूच्या स्यूतं चिरं कार्यक्षमं भवति एवम् इदं
करोतु । “राका इ वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यती येषां शिश्रेधि ।
पुमांसोस्य पुत्रा जायन्ते” इति ऐतरेयश्रुतेः [ऐ० ब्रा० ३. ३७] ।
तथा च कृत्वा वीरम् विक्रान्तं पुत्रं शतदायम् बहुधनं बहुप्रदं वा
सुकथ्यम् कर्मभिः स्तोत्रार्हं ददातु प्रयच्छतु ॥

सम्पूर्ण चन्द्रमा वाली पौर्णमासी राका कहलाती हैं । उन
शोभन आहान वाली राका देवीका मैं सुन्दर स्तुतिके द्वारा
आहान करता हूँ, वह सुन्दर ज्ञानवाली हमारे आहानको सुनें

और सुन कर हमारे अभिप्रायको अपने आप जानलें और जान कर न टूटने वाली मूचिस्थानीया सीवनी नाड़ीसे प्रजननकर्मको सन्तन करें जैसे वस्त्र आदि सुईसे सीने पर चिरकालके लिये कार्यक्षम होता है इसी प्रकार ये इस कर्मको करें ‡ और इस प्रकार करके विक्रमी बहुत प्रदान करने वाले और स्तुतिके पात्र पुत्रको मुझको देवें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददांसि दाशुपे
वसूनि ।

ताभिर्नां अथ सुमनां उपागंहि सहस्रापोपं सुभगे
रराणा ॥ २ ॥

याः । ते । राके । सुमतयः । सुपेशसः । याभिः । ददांसि ।
दाशुपे । वसूनि ।

ताभिः । नः । अथ । सुमनां । उपागंहि । सहस्रापोपम् ।
सुभगे । रराणा ॥ २ ॥

हे राके देवि यास्ते तव सुमतयः कल्याणयुद्धयः अनुग्रहात्मिकाः
सुपेशसः सुरूपाः शोभनविषया वा यास्ते सुष्टुतयः सुरूपा इति
वा याभिः सुमतिभिः दाशुपे हविर्दत्तवने यजमानाय वसूनि धनानि

‡ ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३७ में कहा है, कि—“राका हि वा
एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति येषां शिश्वेऽधि । पुमांसोऽस्य पुत्रा
जायन्ते ।—राका अर्थात् पूर्णचन्द्रा रात्रि पुरुषकी शिश्वमेंकी सीवनी
को सीती हैं, ऐसा करने पर इसके पुरुष पुत्र उत्पन्न होते हैं” ॥

ददासि प्रयच्छसि ताभिः सुगतिभिरुपलक्षिता तथाभूतसंकल्पानः
 अस्मान् अद्य इदानीं सुमना भूत्वा उपागहि उपागच्छ । ॐ गमेः
 शपो लुकि मलोपः । तस्यासिद्धत्वेन हेतुर्गभावः ॐ । किं कुर्वती ।
 हे सुभगे शोभनसौभाग्ये कल्याणधनमापिणि वा राके सहस्रपोषम्
 चहूनां धनानां पोषं पुष्टिं रराणा प्रयच्छन्ती उपागच्छेति । ॐ राते-
 र्व्यत्ययेन आत्मने पदम् । शपः श्लुः ॐ ॥

हे राके देवि ! आपमें जो अनुग्रहरूपा कल्याणमयी मूर्तिया
 बुद्धियें हैं कि-जिनसे आप हवि देने वाले यजमानके लिये धन-
 प्रदान करती हैं, आज आप उन बुद्धियोंसे संयुक्त हो प्रसन्न मन
 रख कर हमारे पास आइये, हे सुभगे ! आप बहुतसे धनोंकी
 पुष्टि देती हुई हमारे पास आइये ॥ २ ॥

नवमी ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाज-
 सातये ।

याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः
 शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥

देवानाम् । पत्नीः । उशतीः । अवन्तु । नः । प्र । अवन्तु । नः ।
 तुजये । वाजऽसातये ।

याः । पार्थिवासः । याः । अपाम् । अपि । व्रते । ताः । नः ।
 देवीः । सुहवाः । शर्म । यच्छन्तु ॥ १ ॥

देवानां पत्नीः पत्न्यः उशतीः उशत्यः कामयमानाः नः अस्मान्
 अवन्तु रक्षन्तु । तथा नः अस्माकं तुजये तौकाय अपत्याय वाज-

सातये अन्नलाभाय च प्रावन्तु प्रकर्षेण आगच्छन्तु रक्षन्तु वा ।
 ❀ अथ रक्षणादिषु ❀ ॥ किं च या देवपत्न्याः पार्थिवासः
 पार्थिव्यः । पृथिवीस्थाना इत्यर्थः । याश्च । अपिशब्दः चार्थे ।
 अपां व्रते कर्मणि कारके अन्तरिक्षे स्थितास्ता देवीः देव्यः सृष्ट्वाः
 शोभनाहाना नः अस्मभ्यं शर्मं मुखं गृहं वा यच्छतु । ❀ वचन-
 व्यन्त्ययः ❀ । यच्छन्तु प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥

देवताओंकी पत्नियों हमारी रक्षा करनेकी कामना रखती हुई
 हमारे पास आवें और हमको अन्नप्राप्ति करानेके लिये और हमको
 उन्नत लाभ करानेके लिये आवें । जो देवियों पृथिवी पर रहती
 हैं और जो जलका कर्म करने वाले अन्तरिक्षमें स्थित हैं वे शोभन
 आह्वान वाली देवियों हमको मुख देवें ॥ १ ॥

दशमी ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राय १ ग्नास्यशिवनी राट् ।
 आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतु-
 जनीनाम् ॥ २ ॥

उत । ग्नाः । व्यन्तु । देवपत्नीः । इन्द्राणी । अप्रायी । अशिवनी ।
 राट् ।

आ । रोदसी । वरुणानी । शृणोतु । व्यन्तु । देवीः । यः । ऋतुः ।
 जनीनाम् ॥ २ ॥

उत अपि च देवपत्नीः देवाः पतयो यासां ताः देवानां पत्न्य
 इति वा । ग्नाः देव्यः व्यन्तु कामयन्ताम् अश्नन्तु वा । हवीपीति
 शेषः । ता देवपत्नीर्दर्शयति । इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी । ❀ “इन्द्र-
 वरुण०” इति ङीपानुक्ता ❀ । अग्नायी अग्नेः पत्नी । ❀ “वृष-

कप्यग्निकुसितकुसीदानाम् उदात्तः” इति ऐकारादेशो ङीप् च ॐ ।
 अश्विनी अश्विनोर्जाया राट् राजन्ती । ॐ राजतेः क्विप् ॐ ।
 रोदसी रुद्रस्य जाया वरुणानी वरुणस्य पत्नी आ शृणोतु अभि-
 मुखं सर्वतो वा शृणोतु । अस्मदीयं हव्यं व्यन्तु अश्वन्तु कामयन्ता
 वा हवींषि देवीर्देव्यः । कस्मिन् काले हविःकामनं तम् आह ।
 यः जनीनां जायानाम् ऋतुः कालस्तस्मिन् । पत्नीसंयाजकाल
 इत्यर्थः । ॐ अत्र “अपि च शा व्यन्तु देवपत्न्यः इन्द्राणीन्द्रस्य
 पत्नी । अग्नाय्यग्नेः पत्नी । अश्विन्यश्विनोः पत्नी राट्
 राजते । रोदसी रुद्रस्य पत्नी । वरुणानी [च] वरुणस्य पत्नी ।
 व्यन्तु देव्यः कामयन्ताम् । य ऋतुः कालो जायानाम्” इति
 निरुक्तम् अनुसंधेयम् [नि० १२. ४६] ॐ ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

देवता जिनके पति हैं ऐसी देवपत्नियों हवियोंकी कामना करें
 वा रक्षा करें, इन्द्रदेवकी पत्नी इन्द्राणी, अग्निदेवकी पत्नी अग्नायी
 रुद्रकी जाया रोदसी, वरुणदेवकी स्त्री वरुणानी, अश्विनीकुमारों
 की दमकती हुई पत्नी भली प्रकार सुनें और हमारी हविको
 पत्नियोंके ऋतुकालमें अर्थात् पत्नीसेयाजमें भक्षण करें + ॥२॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३६६) ॥

द्युनजयकर्मणि स्थलशुद्धिम् अक्षाधिवासनं च कृत्वा “यथा
 वृक्षम् अशनिः” इति नवर्चेन अक्षान् अभिमन्त्र्य द्यूतं दुर्यात् ।
 सूत्रितं हि । “पूर्वास्वपाठामु गर्तं खनति । उत्तरामु संभिनत्ति ।
 आदेवनं संस्तीर्य । उद्भिन्दतीं संजयन्तीम् [४. ३८] यथा वृक्षम्
 अशनिः [७. ५२] इदम् उग्राय [७. ११४] इति वासितान्
 अक्षान् निवपति” इति [कौ० ५. ५] ॥

सर्वफलकामः “वृहस्पतिर्नः” इति ऋचा वृहस्पतिं यजेत उप-

+ यही बात निरुक्त १२।४६ में कही है ।

तिष्ठेत वा । “वृहस्पतिर्नः [७. ५३] यत् ते देवाः” [७. ८४]
इति द्वि सूत्रम् [कां० ७. १०] ॥

तथा उक्त्यक्रतो ब्राह्मणान्द्रंसिनो याज्याहोमम् अनया ब्रह्मा
अनुमन्त्रयेत् । उक्तं वैताने । “एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा
मुत्तमां [७. ५८] वृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः”
[७. ४५] इति [वै० ४. १] ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया द्विराज्यहोमसभिदाधानोपस्थानानि वृह-
स्पतये कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । “भद्रादधि श्रेयः प्रेहि
[७. ६] वृहस्पतिर्नः [७. ५३] इति वृहस्पतये” इति [शा०
क० १५] ॥

तथा “वार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य” [न० क० १७]
इति रिहिताया वार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ वृहस्पतिर्नः इत्ये-
नाम् आचरेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “वृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात्
[७. ५३] अमुत्र भूपात् [७. ५५] इति वार्हस्पत्यायाम्” इति
[न० क० १८] ॥

द्युतजयकर्ममें स्थलशुद्धिको और अक्षाधिवासनको करके
“यथा वृत्तम् अशनिः” इस नाम अष्टाचाले डुकड़ेसे फाँसोंको
अभिमन्त्रित करके जुआ खेले । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी
है, कि—“पूर्वास्वपाठापु गर्तं खनति । उत्तरामु संभिनत्ति । आ-
देवनं संस्तीर्य । उद्भिन्दन्तीं सञ्जयन्तीं (४ । ३८) यथा वृत्तं
अशनिः (७ । ५२) इदं उग्राय (७ । ११४) इति वासितान्
अक्षान् निवपति ।—पूर्वापाठामें गड्ढेको खोदे, उत्तरापाठमें भली
प्रकार विदारण करे, फिर आदेवनको ठीक करे फिर चौथे कांड
के अड़तीसवें और सातवें काण्डके वाचनवें और एकसाँ चौदहवें
सूक्तसे वासित अक्षोंसे खेले” (कांशिकसूत्र ५ । ५) ॥

सर्वफलही कामना वाला “वृहस्पतिर्नः” अष्टाचाले वृहस्पति का

यजन वा उपस्थान करे, इस विषयमें कौशिकमूत्र ७।१० का प्रमाण भी है, कि—“वृहस्पतिर्नः (७।५३) यत् ते देवाः (७।८४)”

तथा ब्रह्मा, उक्थ्य ऋतुमें ब्राह्मणाच्छंसीके याज्यहोमका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। इसी वातको वैतानसूत्र ४।१ में कहा है, कि—“एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणासुतपौ (७।५८) वृहस्पतिर्नः (७।५३) उभा जिग्यथुः (७।४५) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें वृहस्पतिके लिये इस ऋचासे हवि, घृत, होम की समिधाओंका रखना आदि, करे इसी वातको शांतिकल्पमें कहा है, कि “भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७।६) वृहस्पतिर्नः (७।५३) इति वृहस्पतये” (शान्तिकल्प १५) ॥

तथा “वार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य-राज्यश्री और ब्रह्म तेजकी कामना वालेके लिये वार्हस्पत्या शांतिको करे” इस नक्षत्र-कल्प १७ से विहित वार्हस्पत्या महाशांतिमें “वृहस्पतिर्नः” इस ऋचाको पढ़े। इसी वातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“वहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात् (७।५३) अमुत्र भूयात् (७।५५) इति वार्हस्पत्यायाम्” (नक्षत्रकल्प १८) ॥

तत्र, प्रथमा ॥

यथा वृत्तमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।

एवाहमद्य कितवान् अक्षैर्वध्यासमप्रति ॥ १ ॥

यथा । वृत्तम् । अशनिः । विश्वाहा । हन्ति । अप्रति ।

एव । अहम् । अद्य । कितवान् । अक्षैः । वध्यासम् । अप्रति ॥१॥

अशनिः वैद्युतोग्निः अप्रति । ❀ प्रतिनिध्यर्थे प्रतिः कर्मप्रवचनीयः ❀ । न विद्यते प्रति प्रतिनिधिः समानो यस्य अप्रतिमः सन् विश्वाहा विश्वेषु सर्वेष्वहःसु यथा वृत्तम् तसं हन्ति

वाधते । यद्वा विश्वस्य हन्ता । ॐ हन्तेः क्विप् ॐ । अशनिः अप्रति
 अप्रतिपत्तं यथा वृत्तं विनाशयति एव एवम् अहम् अप्रति अप्रति-
 निधिः सन् । प्रतिक्रितवपराजये मम सदृशः अन्यो नास्तीत्यर्थः ।
 यद्वा अप्रति अप्रतिपत्तं वध्यासम् इति संबन्धः । अथ इदानीं कित-
 वान् । ॐ कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिरिति यास्कः [नि०
 ५. २२] । अक्षैर्दोष्यन् पुरुषः परैरपहियमाणधनः किं तवास्ति
 न किंचिद् इति सर्वैर्भाष्यत इत्यर्थः ॐ । तादृशान् कितवान्
 अक्षैः देवनसाधनैः अप्रति अप्रतिपत्तं वध्यासं हनिष्यामि । यथा
 प्रतिक्रितवा घृतक्रियायां मम प्रतिस्पर्धिनी न भवन्ति तथा अक्षैः
 पराजितान् करिष्यामीत्यर्थः । ॐ “हनो वध लिङ्” इति हन्ते-
 र्वधादेशः ॐ ॥

वैद्युन अग्नि अपनी सांनी न रखता हुआ जिस प्रकार प्रति-
 दिन वृत्तोंको मारता रहता है, इसी प्रकार मैं आज कितवों ‡
 (जुआरियों) को अपना प्रतिद्वन्द्वी न रखता हुआ अप्रतिम धन
 कर फाँसोंके द्वारा मारता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

११०

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।

समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

तुराणाम् । अतुराणाम् । विशाम् । अवर्जुषीणाम् ।

‡ निरुक्त ५ । २२ में कितव (जुआरी) शब्दकी व्याख्या
 इस प्रकारकी है, कि—“कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः—
 तेरा क्या है किं तव अस्ति—इस शब्दकी अनुकृति कर कितव
 शब्द कहा जाता है तात्पर्य यह है, कि—फाँसोंसे खेलने वाले
 पुरुषका धन जब दिन जाता है तब उससे सब कहने लगते हैं,
 कि—तेरा क्या है ? ।

सम्ऽप्रेतु । विश्वतः । भगः । अन्तःऽहस्तम् । कृतम् । मम ॥२॥

तुराणाम् । ॐ तुर त्वरणे । इगुपधलक्षणः कः ॐ । द्यूतकर्मणि
 त्वरमाणानाम् अतुराणाम् अत्वरमाणानाम् । अहमेव प्रथमः अक्ष-
 प्रक्षेपेण प्रतिवादिनं जेष्यामि अहमेवेति अहमहमिक्रिया त्वरमाणां-
 स्तुराः । विमृश्यकारिण्यः अतुराः । तासाम् अवर्जुषीणाम् अव-
 र्जनशीलानां प्रतिकितवैः पराजयेपि पुनरहमेव जेष्यामीति द्यूत-
 क्रियाम् अपरित्यजन्तीनां पुनःपुनर्जयलाभाद् अवर्जयन्तीनां वा ।
 सर्वदा द्यूतव्यसनवतीनाम् इत्यर्थः । विशाम् प्रजानां भगः भाग्यम्
 जयलक्षणं विश्वतः समैतु सर्वतः सम्यग् अभिसुखम् आगच्छतु ।
 द्यूतजयकामिनं माम् इति शेषः ॥ न केवलं तत एव जयप्रार्थना अपि
 तु मम अन्तर्हस्तम् हस्तमध्ये कृतम् । कृतशब्दवाच्यश्चतुःसंख्या-
 युक्तः अक्षविषयः अयः । स हस्तमध्ये स्थितो वर्तते । एकादयः
 पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र चतुर्णां कृतम् इति संज्ञा ।
 तथा च तैत्तिरीयकम् । “ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ
 ये पञ्च कलिः सः” इति [तै० ब्रा० १. ५. ११. १] ॥ तत्र
 कृतस्य लाभाद् द्यूतजयो भवति । अत एव दाशतर्थां लब्धकृता-
 यात् कितवाद् भीतिराज्ञायते । “चतुरश्चिद् ददमानाद् विभी-
 याद् आ निधातोः” इति [ऋ० १. ४१. ६] तत्र निरुक्तम् ।
 चतुरोक्तान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् विभीयाद् इति [नि०
 ३. १६] ॥

द्यूतकर्ममें त्वरा करने वाले और शीघ्रता न करने वालोंमें
 मैं ही (मुख्य हूँ) द्यूतका त्याग न करने वाली प्रजाओंका भाग
 मुझ कृत नामक फाँसेको हाथमें धारण करने वालेके पास चारों
 ओरसे दृष्ट पड़े ॥ २ ॥

† कृत शब्द चार फाँसोंका नाम है । एकसे लेकर पाँच तकके
 फाँसे अथ कहलाते हैं उनमें चारकी कृत संज्ञा है । इसी बातको

तृतीया ॥

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।
स्थैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृ-
ध्याम् ॥ ३ ॥

ईडे । अग्निम् । स्वऽवसुम् । नमःऽभिः । इह । प्रऽसक्तः । वि ।
चयत् । कृतम् । नः ।

रथैःऽइव । प्र । भरे । वाजयत्ऽभिः । प्रऽदक्षिणम् । मरुताम् ।
स्तोमम् । ऋध्याम् ॥ ३ ॥

स्ववसुम् स्वकीयधनं स्वकीयेभ्यः स्तोतृभ्यो दीयमानं धनं यस्य
तम् अग्निं नमोभिः स्तोत्रैः ईले स्तोमि । इह द्यूतकर्मणि प्रसक्तः
प्ररूपेण आसक्तोऽग्निः देवनकर्माधिपतिः नः अस्माकं दीव्यतां कृतम्
कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं वि चयत् विचिनोतु करोत्वित्यर्थः ।
⊗ विनोतेर्लेटि अडागमः ⊗ । वाजयद्भिः वाजम् अन्नं कुर्वद्भिः ।

तैत्तिरीयब्राह्मणमें कहा है, कि—“ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् ।
अथ ये पञ्च कलिः सः । जो चार स्तोम हैं वह कृत हैं, जो पाँच
फॉसे हैं वे कलि कहलाते हैं” (तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ११ । १)
इनमें कृतका लाभ होनेसे द्यूतमें विजय होती है । अत एव जिस
को कृतकी प्राप्ति होजाती है उस कितवसे भीति होनेका वर्णन
ऋग्वेदसंहितामें कहा है, कि—“चतुरश्विद् ददमानाद् विभीयाद्
आ निधातोः ॥ अर्थात् चार फॉसे देने वाले जुआरीसे डरे”
ऋग्वेदसंहिता १ । ४१ । ८) इस विषयको निरुक्तमें इस प्रकार
कहा है, कि—“चतुरोक्तान् धारयत इति तद् यथा किन्वाद् विभी-
यात्” (निरुक्त ३ । १६) ॥

❀ वाजशब्दात् करोत्यर्थे णिच् ❀ । अन्नलाभकरणै रथैरिव स्थितैरक्षैः प्र भरे प्रहरे । प्रतिक्रितवान् इति शेषः । ❀ “हृग्रहोर्मः” इति भत्वम् ❀ । ततः मरुताम् । देवोपलक्षणम् । सर्वेषां देवानां स्तोमम् स्तोत्रं संघं वा प्रदक्षिणम् अनुक्रमेण ऋष्याम् समर्थयेयम् ॥

जो अपने धनको स्तोताओंको देते रहते हैं ऐसे स्वावसु अग्नि-देवकी मैं स्तोत्रोंसे स्तुति करता हूँ, इस द्यूतकर्ममें प्रसक्त देवन-कर्माधिपति अग्निदेव हम जुआड़ियोंको कृत नामक फाँसेको देवें; तब जैसे रथमें स्थित अक्षोंके द्वारा अन्नको लाते हैं तिसी प्रकार मैं इन अक्षोंके द्वारा शत्रुओंकी सामग्रीको लाऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्
वृणया रुज ॥ ४ ॥

वयम् । जयेम । त्वया । युजा । वृतम् । अस्माकम् । अंशम् ।
उत् । अत्र । भरेभरे ।

अस्मभ्यम् । इन्द्र । वरीयः । सुगम् । कृधि । प्र । शत्रूणाम् ।
मघवन् । वृणया । रुज ४ ॥

हे इन्द्र त्वया युजा सहायेन वृतम् वृणोति अक्षैः संरुणद्धीति वृत् प्रतिक्रितवः । ❀ वृणोतेः क्विप् ❀ । तादृशं क्रितयं वयं जयेम । तथा भरेभरे संग्रामेसंग्रामे द्यूतलक्षणे अस्माकं जिगीषू-णाम् अंशम् जयलक्षणम् उद् अत्र उद्गमय । ❀ अत्र रक्षणा-दिषु ❀ । किं च अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं सुगम् सुगमनं कृधि

कुरु । ❀ उरुशब्दाद् ईयसुनि “मियस्थिर०” इति चर् आदेशः ❀ । हे मधवन् धनवन् इन्द्र शत्रूणाम् शातयितॄणां प्रतिकितवानां वृष्या वृष्यानि वृष्णि भवानि । ❀ “भवे छन्दसि” इति यत् । टिलोपः ❀ । वीर्याणि जयलक्षणानि प्र रुज निवारय । ❀ रुजो भङ्गे तांदादिकः ❀ । यथा प्रतिकितवा अस्मान् न जयेयुः यथा तान् वयं जयेम जयेन च तेभ्यो धनं स्वीकुर्याम तथा कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी सहायतासे मैं जिसका अज्ञोके द्वारा वरण करता हूँ उस प्रतिपक्षीको जीत लूँ और जो घू तलक्षणरूप संग्राममें हमको जीतना चाहते हैं, उनके जयलक्षणरूप अंश को आप उच्चाटित करिये । और हमारे लिये बहुतसे धनको सुगमतासे आने वाला करिये । हे धनवन् इन्द्र ! आप शत्रुओंके जयरुमोंको निवारित करिये । अर्थात् इन्द्रदेव ! हमारी यह प्रार्थना है, कि-जैसे प्रतिपक्षी हमको न जीत सकें और हम जीत कर उनसे धन लेलेवें तैसा आप करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अजैपं त्वा संलिखितमजैपमुन संरुधम् ।

अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

अजैपम् । त्वा । सम्लिखितम् । अजैपम् । उत । सम्रुधम् ।

अविम् । वृकः । यथा । मथत् । एव । मथ्नामि । ते । कृतम् ५

लोके हि कितवाः अस्मिन् पदे प्रतिकितवम् अक्षशलाकादिभिः संरोत्स्यामीति अङ्कान् कुर्वन्ति तत्रैव च संरुन्धन्ति । तादृशः प्रतिकितवोत्र संशोभ्यते । हे कितव संलिखितम् पदेषु सम्यग् अङ्कान् लिखितवन्तमपि त्वा त्वाम् अजैपम् अहमेव जयामि । उत अप्यर्थे ।

संरुधम् । ❀ रुधेः क्विप् ❀ । संरोद्धारमपि ; त्वाम् अजैषु
जयामि । यद्वा संलिखितम् सम्यग् लिखितं चिह्नितं पदम् अभि-
लक्ष्य त्वां जयामि । उत अपि च संरुधम् । ❀ संरुन्धन्ति अत्रेति ।
अधिकरणे कप्रत्ययः ❀ । तादृशं स्थानम् अभिलक्ष्य त्वां जयामि ।

किं च वृकः अरण्यश्वा अविष् अजं यथा मथत् मथ्नाति एव
एवं ते तत्र कृतं कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं मथ्नामि विनाशयामि

(संसारमें जुआरी में इस पदमें अज्ञशलाका आदिसे कितव
को रोकूँगा, इस प्रकार अङ्कित करते हैं और तहाँही रोकते भी
हैं । तैसे ही प्रतिकितवको यहाँ सम्बोधित किया है, कि—) हे
कितव ! पदमें भली प्रकार अंकोंको लिखते हुए भी तुझको मैं
ही जीतूँगा और संरोद्धा भी तुझको मैं जीतूँगा, जिस प्रकार
भेड़िया भेड़को मथ डालता है, इसी प्रकार मैं तेरे कृत नामक
पाशको मथता हूँ ॥ ५ ॥

पृथी ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति
काले ।

यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति
स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत । प्रहाम् । अतिदीवा । जयति । कृतम् इव । श्वघ्नी । वि ।
चिनोति । काले ।

यः । देवकामः । न । धनम् । रुणद्धि । समित् । इत् । तम् ।
रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत अपि च अतिदीवा अतिशयेन दीव्यन् पुरुषः । ॐ कनिन्
 युष्टपितक्षिराजिधन्विद्यु प्रतिदिवः इति [उ० १. १५४] अति पूर्वाद्
 दीव्यतेः कनिन् । किस्वादेव गुणाभावः ॐ । महाम् अक्षैः प्रहन्तारं
 प्रतिकितव्यं जयाति । यतः श्वघ्नी । श्वघ्नी कितवो भवति स्वं
 हन्ति स्वं पुनराहृतं भवतीति यास्कः [नि० ५. २२] ॐ । पर-
 स्वस्य हन्ता कितवः काले घ्नूतकाले कृतमिव । इवशब्द एवार्थे ।
 कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयमेव वि चिनोति मृगयते । हस्तस्थे-
 प्वक्षेपु प्रागेव निधानात् कृतत्वम् अक्षाणां लाभाय अन्विष्यते
 अतो जयातीति संबन्धः ॥ यो देवकामः देवान् कामयग्रानः
 दीव्यन् पुरुषः धनं न रुणद्धि द्यूतलब्धं धनं न व्यर्थं स्थापयति
 किं तु देवतार्थं विनियुङ्क्ते तं राया धनेन स्वधाभिः अन्नैर्वलैर्वा
 सं सृजत्येव संयोजयत्येव । इन्द्र इति देवता गम्यते । इत् अव-
 धारणे ॥

वहा भारी खिलाड़ी पुरुष अक्षोंसे प्रहार करने वाले प्रति-
 कितवको जीत लेता है, क्योंकि—वह जुआड़ी घ्नूतके समयमें लाभ
 के हेतु कृत नामक अयको ही हूँढता है, वह देवताओंकी इच्छा
 करता हुआ खिलाड़ी पुरुष उस धनको रोकता नहीं है अर्थात्
 व्यर्थ ही स्थापित नहीं करता है, किन्तु देवताके निमित्त विनि-
 युक्त करता है और उसको स्वधासे संयुक्त करता है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

गोभिर्ष्टरेमामनिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहून् विश्वे ।

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ७

गोभिः । ष्टरेम । अमतिम् । दुःशकाम् । यवेन । वा । क्षुधम् ।

पुरुहून् । विश्वे ।

वयम् । राजऽसु । प्रथमाः । धनानि । अरिष्टासः । वृजनीभिः । जयेम ।

हे इन्द्र दुरेवाम् दुष्टगमनां दारिद्र्याद् आगताम् अमतिम् दुर्बुद्धिं गोभिः पशुभिः तरेम । हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र विश्वे सर्वे त्रयं यवेन वा । यवशब्दो धान्योपलक्षणम् । धान्येन वा जुधम् बुभुक्षां तरेम निवारयेम ॥ राजसु वृषेषु राजमानेषु दीव्यस्सु वा पुरुषेषु । स्थितानीति शेषः । प्रथमा प्रथमानि मुख्यानि प्रकृतमानि धनानि वयम् अरिष्टासः अहिंसिताः प्रतिकितवैरपराजिताः सन्तः वृजनीभिः बलकारिणीभिरक्षशलाकाभिः जयेम साधयेम ॥

हे इन्द्रदेव ! हम दुष्ट गति वाली दरिद्रतासे आई हुई दुर्बुद्धि को पशुओंके द्वारा तरें, यव आदि धान्यके द्वारा बुभुक्षाका निवारण करें, राजाओंमें स्थित श्रेष्ठ धनको हम प्रतिकितवोंसे पराजित न होकर बलकारिणी अक्षशलाकाओंसे जीत लें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्ये आहितः ।

गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनं जयो हिरण्यजित् ८

कृतम् । मे । दक्षिणे । हस्ते । जयः । मे । सव्ये । आहितः । गोजिद् । भूयासम् । अश्वजिद् । धनम् । जयः । हिरण्यजित् ८

मे मम दक्षिणे हस्ते पाणौ कृतम् कृतशब्दवाच्यो लाभहेतुः अयः अस्ति । कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः । तद् उक्तं द्यूतक्रियाम् अधिकृत्य आपस्तम्बेन । “कृतं यजमानो विजिनाति” इति [आप० ५. २०. १] । तथा मे मम सव्ये हस्ते जय आहितः कृतायसाध्यो जयो निहितोस्ति । अतः अहं गोजिद् परकीयानां गवां जेता भूयासम् । अश्वजित् प्रतिकितवसंबन्धिनाम् अश्वानां जेता । धनं जयः । धनशब्दः सामान्यवाची । दासीभूम्यादिधनस्य

जेता । ॐ “संज्ञायां भृतृदृजिधारिसहितपिदमः” इति जयतेः खच् प्रत्ययः । “अरुद्विपदजन्तस्य मुम्” इति मुम् ॐ । हिरण्यजित् सुवर्णस्य जेता भूयासम् । लोके हि कितवा द्यूतकर्मणि गवादि- धनं शुल्कं कृत्वा दीव्यन्ति तत्र ये जयन्ति ते तद्धनं स्वीकुर्वन्ति । अत्र जयस्य पूर्वार्धेन उक्तत्वाद् गवादिधनजयलाभः उत्तरार्धेन प्राध्व्यते ॥

मेरे दाहिने हाथमें कृतनामरु अथ है, तथा मेरे बायें हाथमें जय नामक अथ है, अत एव मैं दूसरोंकी गाँओंका जीतनेवाला होऊँ, अश्वोंका धनका तथा दासी भूमि आदिका भी जीतने वाला होऊँ तथा सुवर्णका भी जीतने वाला भी होऊँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।

सं मां कृतस्य धारया धनुः स्नान्वेव नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फलवतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम्ऽइव ।

सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नान्वाऽइव । नह्यत ९

अनया देवनसाधनभूतान् अक्षान् जयाय प्रार्थयते । हे अक्षाः द्युवम् द्यूतक्रियाम् । ॐ दीव्यतेः संपदादिलक्षणो भावे विवप् । “च्छोः शुद्धनुनासिके च” इति ऊट् । तदन्ताद् द्वितीयैकवचने अग्नि उवद् आदेशः ॐ । द्यूतक्रियां फलवतीं फलोपेतां दत्त प्रय- च्छत । यथा द्यूतेन धनलाभो भवति तथा कुस्तेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः क्षीरिणीं गामिवेति । फलं कस्माद् भवति तम् आह । कृतस्य कृतशब्दाच्चयस्य चतुःसंख्यायुक्ताक्षविषयस्य लाभहेतोः अयस्य धारया संतत्या उपर्युपरिलाभहेतुकृतायप्रवाहेण मां मां सं नह्यत संयोजयत । तत्र दृष्टान्तः धनुः स्नान्वेवेति । यथा धनुः कामुकं स्नान्वा स्नावनिर्मितया मौर्व्या संनहन्ति । यथा मौर्वी-

संनद्धं कार्मुकं जयकारि भवति एवं मां कृतायपरंपरया जयिनं कुरुतेत्यर्थः ॥

। इस ऋचासे खेलनेके साधन अर्जोकी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं, कि—र्जारिणी गौकी समान फलवती घृतक्रियाको दीजिये अर्थात् जिस प्रकार घृतमें धनलाभ हो तैसा करिये, जैसे धनुष ताँतकी डोरोंसे बँधा हुआ होता है, इसी प्रकार आप मुझे कृनकी धारासे बाँधिये । अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यचा बँधा हुआ धनुष जय करने वाला होता है इसी प्रकार कृतायकी परम्परा से आप मुझको विजयी करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।

इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः

कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्तरस्मात् ।

अधरात् । अघायोः ।

इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखिभ्यः ।

वरीयः । कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः बृहतां देवानां पाता हितकारित्वेन पालयिता एन-
न्नामा देवः नः अस्मान् परि पातु परितः सर्वतो रक्षतु । सर्वत
इत्युक्तम् कस्माद् इति तद् आह । पश्चात् प्रतीच्या दिशः ।
❀ “पश्चात्” इति अस्नात्यर्थे निपातितः ❀ । उत अपि च उत्त-
रस्मात् ऊर्ध्वाल्लोकात् अधरात् अधस्तनाल्लोकात् अघायोः अघं

हिंसालक्षणं परेषाम् इच्छतीति अघायुः । ॐ अघशब्दात् “द्वन्दसि परेच्छायाम्” इति ष्यच् । “अश्वाघस्यात्” इति आश्वम् । “व्याच्छन्दसि” इति उपत्ययः ॐ । अभिजिघांसतः पुरुषात् । परि पात्विति संबन्धः । तथा इन्द्रः पुरस्तात् प्राच्या दिशः उत अपि च मध्यतः मध्यात् मदेशात् नः अस्मान् परि पात्विति । सर्वाभ्यो दिग्भ्यो योऽघायुरागच्छति ततोस्मान् इन्द्राबृहस्पती परिपालयताम् इत्यर्थः । अपि च सखा सखिभूत इन्द्रः सखिभ्यः समानख्यानेभ्यः स्तोत्रभ्यः अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं कृणोतु करोतु ॥

तृतीयं सूक्तम् । समाप्तश्चतुर्थोऽनुवाकः ॥

पङ्के २ देवताओंका हित करके उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवता पश्चिमकी ओरसे ऊपरकी ओरसे नीचेकी ओरसे और हिंसा-लक्षण अघको चाहने वाले अघायुकी ओरसे इस प्रकार सब ओरसे हमारी रक्षा करें । भगवान् इन्द्रदेव पूर्व-दिशासे और मध्यमदेशसे हमारी रक्षा करें । तात्पर्य यह है, कि-चाहे किसी ओरसे हमारा शत्रु आता हो, उससे इन्द्र और बृहस्पति देवना हमको बचावें । और सखाभूत इन्द्र अपने मित्र-रूप स्तोताओंके लिये हममें बहुतसा धन करें ॥ १ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (३६८) ॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम कांडमें चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “संज्ञानं नः” इति आद्यं सूक्तं बृहद्गणे पठितम् । तस्य शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः ॥

तथा सांपनस्यकर्मणि “संज्ञानं नः” इति बृचेन उदकुम्भं सुराकुम्भं वा संपात्य अभिमन्त्र्य ग्रामं परिभ्राम्य ग्राममध्ये निनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन बृचेन त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुस्त्यानि मांसानि संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अन्नं सुरां प्रपां वा अनेन द्यूचेन संपात्य अभिमन्त्र्य यथायोगं भक्षणं पानं वा कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “सं वो मनांसि [६. ६४] संज्ञानं नः [७. ५४] इति सांमनस्यानि । उदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजम् । त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां प्रपां संपातवत् करोति” इति [कौ० २. ३] ॥

उपनयने आचार्यो माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य “अमुत्रभूयात्” इति षडृचं जपेत् । “दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति । आ यातु मित्रः [३. ८] अमुत्रभूयात्” [७. ५५] इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा “वार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य” इति [न० क० १७] विहितायां वार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ “अमुत्रभूयात्” इति आबपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “वृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चात् [७. ५३] अमुत्रभूयात् [७. ५५] इति वार्हस्पत्यायाम्” इति [न० क० १८] ॥

पुष्ट्यर्थे आग्रहायणीकर्मणि अग्निसमीपात् प्रातरुत्थिते “उद्वयम्” इति उत्क्रामेत् । “उदायुषा [३. ३१. १०] इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् [७. ५५. ७] इत्युत्क्रामति” इति हि [कौ० ३. ७] सूत्रम् ॥

अन्नप्राशनकर्मणि भूमौ उपवेशितं बालम् “उद्वयम्” इत्यनया आदित्यं प्रदर्शयेत् ॥

तथा सोमयागे अबभृथस्तानानन्तरम् “[उद्वयम्]” इत्यनया जलाद् उत्क्रामेत् । “संप्रोक्षति । अपां सूक्तैरित्याद्युपस्पर्शानन्तरम् । उद्वयम् इत्युत्क्रामति” इति धैताने सूत्रितम् [वै० ३. १४] ॥

अध्यापकानाम् अर्थाजिनविघ्नशमनार्थम् “ऋचं साम” इत्यनया

आज्यं जुहुयात् । “ऋचं सामेत्यनुवचनीयस्य जुहोति” इति हि
[कौ० ५, ६] सूत्रम् ॥

पाँचवें अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें ‘संज्ञानं नः’ मथम
सूक्तका वृहद्गणमें पाठ है । इसका शान्त्युदकाभिमन्त्रण आदिमें
विनियोग होता है ।

तथा सांमनस्यकर्ममें ‘संज्ञानं नः’ इस द्रव्यचसे जलपूर्ण बलश
वा सुरापूर्ण फलशका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके ग्राममें
घुमा कर ग्राम मध्यमें लेजावे ।

तथा इसी कर्ममें इस ऋचसे त्रिवर्षा वत्सतरीके शुक्त्य मांसों
का सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा इसी कर्ममें अन्न सुरा वा प्रपाको इस ऋचसे सम्पातन
और अभिमन्त्रण करके यथायोग्य पान वा भक्षण करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘सं वो मनांसि’ (६ ।
६४) संज्ञानं नः (७ । ५४) इति सांमनस्यानि उदकुलिजं
सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजं ।
त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां
प्रपां सम्पातवत् करोति ।” (कौशिकसूत्र २ । ३) ॥

उपनयनके समय आचार्य माणवककी नाभिका स्पर्श करके
‘अमुत्र भूयात्’ आदिक छः ऋचाओंको जपे । इस विषयमें
कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे
संस्तभ्य जपति । आयातु मित्रः (३ । ८) अमुत्र भूयात् (७ ।
५५) इति (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा ‘वाहस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवचसकामस्य राज्य श्री और
ब्रह्मतेज चाहने वालेके लिये वाहस्पत्या शांतिको करे’ इस नक्षत्र-
कल्प १७ से विहित वाहस्पत्या नाम वाली महाशान्तिमें ‘अमुत्र
भूयात्’ को पढ़े । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-‘वृह-

स्पतिर्नः परिपातु पश्चात् (७ । ५३) अमुत्र भूयात् (७ । ५५)
इति बार्हस्पत्यायाम्' । नक्षत्रकल्प १८) ॥

पुष्टिके लिये किये जाने वाले आग्रहायणी कर्ममें अग्निके समीपसे प्रातःकाल उठते समय 'उद्वयम्' से उत्क्रमणं करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण भी है, कि—'उदायुषा (३ । ३१ । १०) इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् (७ । ५५ । ७) इत्युत्क्रामति' ॥

अन्नपाशनकर्ममें भूमिमें बैठायें हुए बालकको 'उद्वयम्' ऋचा से सूर्यदेवका दर्शन करावे ।

तथा सोमयागमें अबभूय स्नानके अनन्तर 'उद्वयम्' ऋचासे जलसे उत्क्रमणं करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि—'सम्प्रोक्षति । अपां सूक्तैरित्युदकस्पर्शनान्तम् । उद्वयं इत्युत्क्रामति' ॥

अध्यापकोंके द्रव्य एकत्रित करनेके विघ्नको शांत करनेके लिये "ऋचं साम" इस ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि—"ऋचं सामेत्यनुभव-चनीयस्य जुहोति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।

संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् । १ ।

सम्ज्ञानम् । नः । स्वेभिः । सम्ज्ञानम् । अरणेभिः ।

सम्ज्ञानम् । अश्विना । युवम् । इह । अस्मासु । नि । यच्छतम् ?

स्वेभिः स्वकीयैः पुरुषैः नः अस्माकं संज्ञानम् संगतं ज्ञानम् ऐकमत्यम् । भवद्विवृति शेषः । तथा अरणेभिः अरणैः अरमणैः अनु-

कूलम् अवदद्भिः । ❀ रणतिः शब्दार्थः ❀ । प्रतिकूलैः पुरुषैः ।
यद्वा । ❀ अर्तेः अरणशब्दः ❀ । अरातिभिः सह संज्ञानम् समान-
ज्ञानं भवतु । ❀ स्वेभिः अरणोभिः इत्युभयत्र “बहुलं द्बन्दसि”
इति भिस ऐसोऽभावः । “बहुवचने भ्रूयेत्” इति एत्वम् ❀ ।
हे अश्विना अश्विनो युवम् युवाम् इह अस्मिन् विषये इह इदानीं
वा अस्मासु संज्ञानम् समानज्ञानं स्वीयैः परैश्च सह ऐकमत्यं नि-
यच्छतम् नियमयतम् । स्थापयतम् इत्यर्थः ॥

अपने पुरुषोंमें हमारा एकमत होवे । और जो हमारे अनुकूल
भाषण नहीं करते हैं, वे भी हमारे साथ अनुकूल मत रखें, हे
अश्विनीकुमारो ! आप दोनों इस विषयमें अपने और पराये दोनों
प्रकारके पुरुषोंके साथ एकमतको स्थापित करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा
दैव्येन ।

मा घोषा उत् स्थुर्वहुले विनिर्हते मेपुः पप्तदिन्द्रस्याह-
न्यागते ॥ २ ॥

सम् । जानामहै । मनसा । सम् । चिकित्वा । मा । युष्महि ।
मनसा । दैव्येन ।

मा । घोषाः उत् । स्थुः । बहुले । विनिर्हते । मा । इपुः । पप्तत् ।
इन्द्रस्य । अहनि । आऽगते ॥ २ ॥

मनसा अन्यदीयेन सं जानामहै समानज्ञाना भवाम् । यद्वा
मनः कर्म । परकीयं मनः संयोजयामः । यथा अस्मद्विषयेऽनुकूलं
भवति तथा कुर्म इत्यर्थः । ❀ “संप्रतिभ्याम् अनाध्याने” इति

जानातेरात्मनेपदम् । “संज्ञोन्यतरस्यां कर्मणि” इति मनसस्तृ-
 तीया ॐ । चिकित्वा ज्ञात्वा । सम् । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्या-
 हारः । संगतकार्यकारिणो भवाम् । यद्वा पूर्वं मनसा संगतिरुक्ता ।
 इदानीं निश्चयात्मकज्ञानेन संगतिः प्रार्थ्यते । चिकित्वा चिकि-
 त्वना । ज्ञानेनेत्यर्थः । सं जानामहे इत्यनुपङ्गः । स्वेषां परेषां च
 मनसा ज्ञानेन च संगता भवामेत्यर्थः । ॐ चिकित्सेति । कित ज्ञाने ।
 “समानकर्तृकयोः पूर्वकाले” इति क्त्वाप्रत्ययः । ज्ञान्दसं द्विर्वच-
 नम् । “एकाचः०” इति इणनिषेधः । यद्वा “अन्येभ्योपि दृश्य-
 न्ते” इति व्रनिपि पूर्ववद् द्विर्वचनम् । तृतीयाया डादेशः ॐ ।
 किं च देव्येन देवसंबन्धिना देवताविषयेण ॐ “देवाद् यञ्जो”
 इति यञ् प्रत्ययः ॐ । तादृशेन मनसा मा युष्महि मा त्रियुक्ता
 भूम । प्रतिकूलजनितविज्ञेपराहित्येन स्वकीयं मनः सर्वदा देवता-
 विषयं भवत्वित्यर्थः । ॐ यु मिश्रणामिश्रणयोः । “माङि लुङ्”
 सिच् । “संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः” इति गुणाभावः ॐ । अपि
 च बहुले अधिके विनिहते । ॐ हु कौटिल्ये । “हु द्वरेरञ्जन्सि”
 इति निष्ठायां ह इत्यादेशः ॐ । कौटिल्ये निमित्ते घोषाः वैमन-
 स्यनिबन्धनाः शब्दाः मा उत्स्थुः उच्यिता मा भूवन् । यद्वा बहु-
 लशब्देन तमो विवक्ष्यते । विनिहते विशेषेण स्तैन्यादिकौटिल्य-
 निमित्ते बहुले तमसि । रात्रावित्यर्थः । घोषाः वैमनस्यनिबन्धनाः
 शब्दा उच्यिता मा भूवन् । ॐ उत्पूर्वात् तिष्ठतेः “माङि लुङ्” ।
 वचनस्य ऊर्ध्वकर्मत्वं विवक्षित्वा आत्मनेपदाभावः ॐ । तथा
 अहनि अहि वासरे आगते च इन्द्रस्य इषुः । ऐन्द्रया वाचः
 शत्रुनिवारकत्वाद् इषुत्वेन रूपणम् । “वाग् अस्यैन्द्री सपत्रक्षयणी”
 इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं० १. ६. २. २] । यद्वा इन्द्रस्य इषुः
 अशनिः अशनिरूपा मर्मभेदिनी परकीया वाक् मा पतत् अस्माद्
 मा पततु । अहोरात्रोपलक्षितेषु सर्वेषु दिक्सेष्वपि वैमनस्यनिब-

न्वनाः परेषां वाचः अस्मासु मा पतन्तु कि तु अनुकूला एव
भवन्तु इत्यर्थः ॥

हम अपने मनसे दूसरेके मनको संयुक्त करें अर्थात् उमका
मन जिस प्रकार हमारे विषयमें अनुकूल होवे, तैसा करते हैं ।
किसी बातको जानने पर हम मिलकर कार्य करने वाले होवें
और देवसंबन्धी मनसे हम वियुक्त न होवें, अर्थात् प्रतिकूल
विषयसे उत्पन्न हुए विक्षेपकी शून्यताके कारण हमारा मन सदा
देवताओंके विषयमें रमण करता रहे । और बड़ीभागी कुटिलता
के कारण मनको उच्चाटित करने वाले घोष न होवें दिन आदि
के आने पर इन्द्रकी अशनिरूपा वाणी हम पर न गिरे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।

प्रत्यौहताश्विनां मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिपजां

शचीभिः ॥ १ ॥

अमुत्रभूयात् । अधि । यत् । यमस्य । बृहस्पतेः । अभिशस्तेः ।

अमुञ्चः । -

प्रति । औहताम् । अश्विनां । मृत्युम् । अस्मत् । देवानाम् ।

अग्ने । भिपजां । शचीभिः ॥ १ ॥

हे बृहस्पतेः । ॐ संयुद्धौ सोर्लोपाभावश्चान्दसः ॐ । बृहतां
महतां देवानां पते इविःप्रदानेन पालयितरग्ने अमुत्रभूयात् परलोके
भवनम् अमुत्रभूयम् । ॐ “भुवो भावे” इति भावे ववप् प्रत्ययः ॐ ।
परलोकभवनरूपाद् यमस्य पितृपतेः संबन्धिनः अभिशस्तेः अभि-
शंसनाद् मरणहेतोः यत् यस्मात् अमुञ्चः मोचयति इमं माणवकम्

इति शेषः । अधिशब्दः अनर्थकः । यद्वा । ❀ अमुत्रभूयाद्
इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ❀ । परलोकभवनम् अभिलक्ष्य क्रियमा-
णाद् यमकर्तृकाद् अभिशंसनाद् भोचयसि तस्मात् कारणात् हे
अग्ने त्वयि एवंकुर्वाणे त्वत्प्रसादादेव देवानां भिषजा भिषजो वैद्यौ
अश्विना अश्विनौ शचीभिः क्रियाभिः अस्मत् अस्मत्तः अस्म-
दीयात् । माणवकाद् इत्यर्थः । मृत्युम् मरणकारणं प्रत्याहताम् ।
निवारयताम् इत्यर्थः । ❀ अमुञ्चः आहताम् इत्युभयत्र छान्दसो
लङ् ❀ ॥

हे हवि प्रदान करके बड़े २ देवताओंका पालन करनेवाले अग्ने !
आप परलोकभवनरूप यमके सम्बन्धी मरणहेतुक अभिशंसनसे
इस बालकको बचा सकते हैं, इस कारण हे अग्ने ! आपके
प्रसादसे देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार क्रियाओंके द्वारा इस
बालकसे मृत्युके कारणोंको दूर करें ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजां-
विह स्ताम् ।

शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः २
सम् । क्रामतम् । मा । जहीतम् । शरीरम् । प्राणापानौ । ते ।

सयुजौ । इह । स्ताम् ।

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । अग्निः । ते । गोपाः । अधिपाः ।

वसिष्ठः ॥ २ ॥

हे प्राणापानौ सं क्रामतम् आयुष्कामस्य शरीरे संक्रान्तौ भव-
तम् । तथा शरीरम् आयुष्कामस्य देहं मा जहीतम् मा त्यजतम् ।

सर्वदा शरीरे तिष्ठतम् इत्यर्थः । ❀ ओहाक् त्यागे । लोटि “ईह-
 न्यधोः” इति ईत्वम् ❀ ॥ प्राणापानौ संबोध्य तयोः शरीरेऽवस्थानं
 संपार्थ्य आयुष्कामं प्रत्याह उत्तरेण पादत्रयेण । हे आयुष्काम ते
 तव इह अस्मिन् शरीरे प्राणापानौ प्राणित्तीति प्राणः नासिका-
 धिवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुः । अपानित्तीति अपानः हृदयस्य
 अधोभागे संवर्णन् वायुः । तौ सयुजौ संयुक्तौ परस्परसंयुक्तौ
 स्ताम् भवताम् । यावन्तं कालं प्राणापानौ परस्परसंबद्धौ देहे वर्तते
 तावन्तम् आयुर्भवतीति तयोः साहित्यं प्रार्थितम् । अनन्तरम् हे
 आयुष्काम शतं शरदः शतवर्षपर्यन्तं जीव प्राणान् धारय । तथा
 जीवतस्ते तव वर्धमानः हविरादिना समृद्धिं गच्छन् अग्निः गोपाः
 गोपायिता भवतु । ❀ गुपू रक्षणे । क्विपि “गुपूधूपविच्छि०”
 इति आयप्रत्ययः । “लोपो व्योर्वलि” इति यकारलोपः ❀ ।
 अधिपाः अधिकं पाता मदीयोयम् इति आदरातिशयेन अग्निः पाल-
 यिता भवतु । वसिष्ठः वासयितृत्वमश्वास्तु वसुमत्तमो वा भवतु ।
 ❀ वासयितृशब्दाद् इष्टनि “तुरिष्टेमेयःसु” इति ट्चो लोपः ।
 वसुमच्छब्दाद् इष्टनि मतोर्लुकि टेलोपः ❀ ॥

हे प्राण और आपनो ! तुम इस आयुष्कामके शरीरमें संलग्न
 रहो, हे आयुष्काम ! तेरे शरीरमें नासिका धिवरमेंसे बाहर निक-
 लने वाला प्राण और हृदयके अधोभागमें चलने वाला अपान
 ये दोनों संयुक्त रहें । हे माणवक ! फिर तू सौ वर्ष तक जीवन
 धारण कर । और तुझ जीवितसे हृदि आदिके द्वारा बढ़ते हुए
 अग्निदेव तेरी रक्षा करें । और परमधनी अग्निदेव तेरे ऊपर
 पक्षपात कर तेरी दृढ़तासे रक्षा करने वाले हो जावें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा तावि-
 ताम् ।

अग्निष्टदाहानिर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेश-
यामि ते ॥ ३ ॥

आयुः । यत् । ते । अतिऽहितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः ।
पुनः । आ । तौ । इताम् ।

अग्निः । तत् । आ । अहाः । निऽऽऋतेः । उपऽस्थात् । तत् ।
आत्मनि । पुनः । आ । वेशयामि । ते ॥ ३ ॥

हे आयुष्काम ते तव यद् आयुः जीवनं पराचैः पराङ्मुखम्
अतिहितम् अतिक्रम्य गतम् । ❀ हि गतौ इत्यस्माद् निष्ठायां
रूपं हितम् इति ❀ । यद्वा अतिहितम् अतिक्रम्य अन्यत्र निहि-
तम् । मृत्युनेति शेषः । ❀ “दधातेहिः” इति निष्ठायां हिभावः ❀ ।
तद् आयुरिति उत्तरवाक्येन संबन्धः । आयुषः प्राणापानागमन-
निमित्तत्वाद् वाक्यमध्ये तयोरगमनं प्रार्थयते प्राणोपान इति । तौ
वायू देहधारकौ पुनः एताम् आगच्छताम् । ❀ इण् गतौ । लोटि
प्रथमपुरुषद्विवचने रूपम् ❀ । तद् आयुः अतिहितं जीवनम् अग्निः
निर्ऋतेः निकृष्टगमनस्य मृत्योः उपस्थात् अन्तिकाद् आहाः आहा-
पीत् आहरतु आनयतु । ❀ इरतेरञ्जान्दसो लुङ् । सिचि वृद्धिः ।
“अनित्यम् आगमशासनम्” इति इडभावः । “भूलो भूलि”
इति सिचो लोपः । “हृङ्ङ्या०” इत्यादिना तिपो लोपः ❀ ।
तद् अग्निना आनीतम् आयुः हे आयुष्काम ते तव आत्मनि
शरीरे पुनः आ वेशयामि मन्त्रसामर्थ्येन आस्थापयामि । ❀ विश
प्रवेशने ❀ ॥

हे आयुष्काम ! तेरा जो जीवन पराङ्मुख होकरके मृत्युके
द्वारा अन्तर्हित होने वाला था, उसको प्राण और अपान फिर

मास करावें और उस आयुको निकृष्ट गति वाली मृत्युके पाससे अग्निदेव ले आवें । हे आयुष्काम ! उस अग्निसे लार्ई हुई तेरी आयुको मैं मन्त्रशक्तिसे पुनः स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥

पृष्ठी ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोवहाय परां गात् ।
सप्तर्षिभ्यं एनं परिददामि ते एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ४
मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अवहाय ।
परां । गात् ।

सप्तर्षिभ्यः । एनम् । परि । ददामि । ते । एनम् । स्वस्ति । जरसे ।
वहन्तु ॥ ४ ॥

इमम् आयुष्कामं प्राणः मा हासीत् मा त्यजतु । ॐ ओहाक् त्यागे । लुङि रूपम् ॐ । अपानः अवहाय अस्माच्चरीराद् निष्क्रम्य परित्यज्य वा मा परा गात् मैव परागच्छतु । ॐ अवहायेति । निहीतेर्जडातेर्वा न्यपि रूपम् ॐ । सप्तर्षिभ्यः । ऋषिशब्देन प्राणा उच्यन्ते । “के त ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः” इति वाजसनेयश्रुतेः [श० ब्रा० ६. १. १] । सप्तसंख्याकेभ्यः प्राणेभ्यः । “सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः” इति [तै० ब्रा० १. २. ३. ३] श्रुतेः । तेभ्यः एनम् आयुष्कामम् । ॐ “इदमोन्वादेशो” एनादेशः ॐ । परि ददामि । रक्षार्थं दानं परिदानम् । रक्षितुं प्रयच्छामि । अथ ते सप्त प्राणा एनम् आयुष्कामं जरसे । ॐ तादर्थ्ये चतुर्थी ॐ । जरार्थं स्वस्ति क्षेमेण वहन्तु प्रापयन्तु । जरापर्यन्तं स्थापयन्तु इत्यर्थः । ॐ जराया जरस् आदेशः ॐ । अथ प्राणापानयोः शरीरे चिरकालम् अवस्थानं सर्वेन्द्रियाणां च प्राचन्यं बहुकालं प्रार्थितम् ॥

इस आयुष्कामको प्राण न त्यागे और अपान भी इसके शरीरको त्याग कर न जावे, मैं इस आयुष्कामको सप्त प्राणरूप में सप्तपियोंके लिये रक्षा करनेके लिये समर्पित करता हूँ वे इसको बुझाये तक कल्याणको प्राप्त करावें। (यहाँ प्राण और अपानके शरीरमें चिरकाल तक रहनेकी और सब इन्द्रियोंकी बहुत समय तक प्रबलताकी प्रार्थना की है) ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

प्र विशतं प्राणापानावनद्वाहोविव व्रजम् ।

अयं जरिष्णः शेवधिरिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनद्वाहोऽइव । व्रजम् ।

अयम् । जरिष्णः । शेवधिः । अरिष्टः । इह । वर्धताम् ॥ ५ ॥

आयुषः प्राणापानास्थाननिबन्धनत्वात् पुनःपुनः प्राणापानयोः शरीरे प्रवेशः प्राध्यते। हे प्राणापानौ प्रविशतम् आयुष्कामस्य शरीरम् । प्रवेशमात्रे ह्यन्तः । अनद्वाहो अनोवहनशक्तौ बलीवर्दी यथा व्रजम् गोष्ठं प्रविशतः तद्वत् । [अयम्] आयुष्कामः जरिष्णः जरायाः शेवधिः निधिर्मवतु । ॐ शेवं सुखं धीयतेऽर्नेति “कर्मण्यधिकरणे च” इति घोः किप्रत्ययः ॐ । किं

इं यहाँ ऋपि शब्दसे प्राणोंका ग्रहण किया गया है, क्योंकि- शतपथब्राह्मण ६ । १ । १ । १ श्रुतिमें कहा है, कि-‘के त ऋपय इति । प्राणा वा ऋपयः ।-वे ऋपि कौनसे हैं, प्राण ही वे ऋपि हैं । और तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । ३ । ३ की श्रुतिमें कहा है, कि-‘सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः ।-सात मुख्य प्राण हैं ।

च अरिष्टः अहिंसितः मृत्युवाधारहितः सर्वेन्द्रियैरहीनो वा इह
अस्मिन् लोके वर्धताम् समृद्धो भवतु ॥

(आयु प्राण और अपानके अवस्थानके निमित्तवश ही रह
सकती है, अत एव प्राण और अपानके शरीरमें प्रवेश करनेकी
वारम्बार प्रार्थना की जाती है) हे प्राण और अपान ! जैसे
गाड़ीको खेंचने वालेचैल गोठमें प्रवेश करते हैं, तिसी प्रकार तुम
आयु चाहने वालेके शरीरमें प्रवेश करो । यह आयुष्काम बुढ़ापे
की निधि हो अर्थात् बुढ़ापे तक रहे । और यह मृत्युकी बाधासे
रहित रह कर इस लोकरुमें समृद्ध होवे ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।

आयुर्नां विश्वतो दधद्यमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते । प्राणम् । सुवामसि । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ।

आयुः । नः । विश्वतः । दधत् । अयम् । अग्निः । वरेण्यः ॥६॥

हे आयुष्काम ते तव प्राणम् आ सुवामसि आगमयामः ।
⊗ पू प्रेरणे । नादादिकः । “इदन्तो मसिः” ⊗ ॥ तथा ते तव
यक्ष्मम् आयुःप्रतिबन्धकं रोगं मृत्युं वा परा सुवामि पराङ्मुखं
प्रेरयामि ॥ किं च वरेण्यः वरणीयः संभजनीयः अयं ह्ययमानः
अग्निः नः अस्मदीयस्य आयुष्कामस्य आयुः शतसंवत्सरपरिमितं
जीवनं विश्वतः सर्वतः दधत् विदधातु । करोतिवत्वत्यर्थः ।
⊗ दधातेलेटि “घोर्लोपो लेटि वा” इति लोपः । “लेटोडाटौ”
इति अडागमः ॥

हे आयुष्काम ! हम तेरे प्राणोंको लाते हैं तथा तेरी आयुके
प्रतिबन्धक यक्ष्मारोगको पराङ्मुख करके भेजते हैं और यह

आहूयमानं वरणीयं अग्निदेव हमारो इस आयुष्कामकी सब प्रकार
सौ वर्ष तककी आयु करें ॥ ६ ॥

नवमी ॥

उद् वयं तमसपरि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

उत् । वयम् । तमसः । परि । रोहन्तः । नाकम् । उत्तमम् ।

देवम् । देवत्रा । सूर्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्तमम् ॥ ७ ॥

तमसः । “पाप्मा वै तमः” इति हि श्रुतिः [तै० सं० ५. १. ८. ६] । पाप्मनः परि उपरि वयम् उत्क्रान्ताः । ॐ उदुपसर्गः

ससाधनां क्रियाम् आह । “पञ्चम्याः परावध्यर्थे” इति सकारः ॐ ।

किं कुर्वन्तः । उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् दुःखसंस्पर्शरहितं स्वर्गं

रोहन्तः आरोहन्तः । ततश्च देवत्रा देवेषु । ॐ “देवमनुष्य०”

इति सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः ॐ । उत्तमम् उद्गततमं ज्योतिः ज्योती-

रूपं द्योतमानं सूर्यं देवम् अगन्म गच्छेम । ॐ गमेलुङि “मन्त्रे

यस०” इति च्लेलुक् । “म्बोरच” इति मकारस्य नकारः ॐ ॥

हम स्वर्गमें चढ़ते हुए पापके पार होगए हैं, और हम देव-

ताओंमें उत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यदेवको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ७ ॥

दशमी ॥

ऋचं सामं यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।

एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् । सामं । यजामहे । याभ्याम् । कर्माणि । कुर्वते ।

एते इति । सदसि । राजतः । यज्ञम् । देवेषु । यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् ऋग्वेदं साम सामवेदम् अर्घीतं यजामहे हविषा पूज-
यामः । याभ्याम् ऋक्सामाभ्यां कर्माणि यज्ञरूपाणि कुर्वते ऋत्वि-
ग्यजमानाः । एते ऋक्सामे सदसि सीदन्त्यत्रेति सदः एतन्नामके
मण्डपे राजतः दीप्येते । ऋक्सामयोस्तत्रैव प्रयोगात् । तथा देवेषु
यज्ञं यच्छतः प्रयच्छतः । स्तुतशस्त्राभ्यां यज्ञनिष्पत्तेः ॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हम पढ़े हुए ऋग्वेद और यजुर्वेदकी हविसे पूजा करते हैं इन
ऋक् और सामसे हम ऋत्विज और यजमान यज्ञरूप कर्मोंको
करते हैं । ये ऋक् और साम सदःनामक मण्डपमें दमकते रहते
हैं और यही देवताओंको यज्ञकी प्राप्ति कराते हैं ॥ १ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३७१) ॥

अध्यापकानाम् अर्घार्जनविघ्नशमनार्थम् “ऋचं साम यद्वा अपा-
त्तम्” इति ऋचा केवन्तया “ऋचं साम यजामहे” इति पूर्वमन्त्र-
सहितया च आज्यं जुहुयात् । “ऋचं सामेत्यनुभवचनीयस्य
जुहोति । युक्ताभ्यां तृतीयाम्” इति हि [कौ० ५, ६] सूत्रितम् ॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्मणि “ये ते पन्थानः” इत्येनाम् ऋचं जपन्
प्रथमं दक्षिणपादप्रक्षेपपुरःसरं गच्छेत् ॥

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्मणि असंख्याताः शर्करास्तृणानि वा
अनया अभिमन्थ्य गृहक्षेत्रादिषु प्रक्षिपेद् इन्द्रम् उपतिष्ठेत् वा ॥

सूत्रितं हि । “स्वस्तिदाः [१, २१] ये ते पन्थानः [७,
५७, २] इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति । असंख्याताः शर्करा-
स्तृणानि क्षिप्तवोपतिष्ठते” इति [कौ० ७, १] ॥

वृश्चिकमशकपिपीलिकाशर्कोटकादिविषभैषज्यार्थं “तिरश्चि-
राजेः” इत्यष्टचैनं मधुकम् अभिमन्थ्य वृश्चिकादिदष्टं पाययेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि क्षेत्रमृत्तिकां बन्मीकमृत्तिकां वा सजीव-
पशुचर्मावेष्टिताम् अनेन अष्टचैनं संपात्य अभिमन्थ्य बध्नीयात् ।
केवलां मृत्तिकां शभिमन्थ्य उदकेन पाययेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनैव उदपात्रं हरिद्रामिश्रम् आज्यं
वा संपात्य अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । “तिरश्चिराजेरिति मन्त्रोक्तम् । आकृतिलोष्टव-
ल्मीकौ परिवेष्टय । पायनानि” इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा उपाकर्मणि “अरसस्य शर्कोटस्य” इत्यनया आज्यं जुहु-
यात् । अरसस्य शर्कोटस्य [७. ५८. ५] इन्द्रस्य प्रथमो रथः”
[१०. ४] इति हि सूत्रितम् [कौ० १४. ३] ॥

अध्यापकोंके अर्थाजनके विघ्नको शांत करनेके लिये “ऋचं
सामयद् अप्राक्तम्” केवल इस ऋचासे और “ऋचं साम यजा-
महे” पूर्व ऋचा सहित ऋचासे भी घृतकी आहुति देय । इस
विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि—“ऋचं सामे-
त्यनुभवचनीयस्य जुहोति । युक्ताभ्यां तृतीयाम्” ॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्ममें ‘ये ते पन्थानः’ इस ऋचाका जप करता
हुआ पहि दाहिने पैरको रख कर चले ।

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्ममें असंख्य धूलिकण और तिनकोंको
इस ऋचासे अभिमन्त्रित करके घर क्षेत्र आदिमें पड़े । वा इन्द्र
का उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—
“स्वस्तिदाः (१ । २१) ये ते पन्थानः (७ । ५७ । २) इत्य-
ध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति । असंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्तवोप-
तिष्ठते” (कौशिकसूत्र ७ । १) ॥

बीछू मच्छर चीटीं शर्कोटक आदिके विषकी चिकित्साके
लिये “तिरश्चः तिराजेः” इस अष्टर्चसे मधुशको अभिमन्त्रित
करके बीछू आदिके काटे हुएको पिला देवे ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें खेतकी मट्टीको वा चमईकी मट्टीको सजीव
पशुके चाममें लपेट कर इस अष्टर्चसे सम्पातन और अभिमन्त्रण
करके बाँधे, केवल मट्टीको अभिमन्त्रित करके जलके साथ पिलादेय

तथा इसी कर्ममें इससे जलपूर्ण पात्रका वा हन्दी मिले हुए घीका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके पिला देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“तिरश्चिराजेति मन्त्रोक्तम् । आकृतिलोष्टवल्मीकां परिवेष्ट्य । पायनानि” (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा उपाकर्ममें “अरसस्य शर्कोटस्य” ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ३ का प्रमाण भी है, कि—“अरसस्य शर्कोटस्य” (७।५।५) इन्द्रस्य प्रथमोरयः (१०।४) ॥ तत्र प्रथमा ॥

ऋचं साम यदप्राक्तं हविरोजो यजुर्वलम् ।

एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यत् । अप्राक्तम् । हविः । ओजः । यजुः । बलम् ।

एषः । मा । तस्मात् । मा । हिंसीत् । वेदः । पृष्टः । शचीपते १

ऋचम् ऋग्वेदं हविः अप्राक्तम् पृच्छामि स्म । साम सामवेदम् ओजः । शरीरधारकोष्टमो धातुरोज इत्युच्यते । तद् अप्राक्तम् । यजुः यजुर्वेदं बलम् वाद्यं वीर्यम् अप्राक्तम् । ऋचा याज्यारूपया हविर्हूयत इति ऋग्वेदं प्रति हविःप्रश्नः । माध्यन्दिनसवने गीयमानानां पृष्टस्तोत्राणां यज्ञमाणत्वेन ताण्डकब्राह्मणे संस्तवात् सामवेदं प्रति आन्तरबलरूपौजःप्रश्नः । यजुषा यज्ञशरीरनिर्दृत्तेर्यजुर्वेदं प्रति बलप्रश्नः । ❀ “अकथितं च” इति ऋगादेः कर्मता । अप्राक्तम् इति । पृच्छतेर्लुङि “एकाचः०” इति इणिनपेधे “वद-द्रज०” इति हलन्तलक्षणा वृद्धिः ❀ । यच्छब्दो हेत्वर्थे । यत् यस्मात् ऋगादीन् प्रति हविरादिकम् अप्राक्तं तस्मात् कारणात् तत्तदसाधारणधर्मप्रश्नाद्धेतोः हे शचीपते इन्द्राणीपते इन्द्र ।

वाग्व्याकरणकर्तृत्वाद् इन्द्रः संबोध्यते । तथा च तैत्तिरीयकम् ।
 “ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं व्याकृता वाग्
 उच्यते” इति [तै० सं० ६, ४, ७, ३.] । हे वागनुशासनकर्तः
 इन्द्र पृष्ठः इत्थं विचारित एषः मया सम्यग् अधीतो वेदः ऋक्साम-
 यजुरात्मकः मा माम् अध्यापकं मा हिंसीत् मा हिनस्तु । अध्या-
 पननिबन्धनं प्रत्यवायं मा करोतु अपि तु फलम् अभिमतं प्रयच्छ-
 त्वित्यर्थः ॥

मैंने ऋग्वेदसे हविको ब्रूभा है, सामवेदसे शरीरधारक अष्टम-
 धातु ओजको ब्रूभा है और यजुर्वेदसे बलको ब्रूभा है (ताण्डक-
 ब्राह्मणमें माध्यन्दिनसवनमें गाये जाने वाले पृष्ठ और स्तोत्रोंको
 यज्ञका प्राण कहा है अत एव सामवेदसे आन्तर बलरूप ओज
 को ब्रूभा है और यजुर्वेदसे यज्ञशरीरकी निष्पत्ति होती है अत
 एव यजुर्वेदसे बलके समझनेका वर्णन किया है) क्योंकि-मैंने
 ऋक् आदिसे हवि आदिको ब्रूभ लिया है इस तत्त्वसाधारण-
 धर्मप्रश्नके कारण हे शचीपते इन्द्र ! + इस प्रकार पढ़ा हुआ
 वेद मुझ अध्यापककी हिंसा न करे अर्थात् अध्यापनविषयक
 प्रत्यवायको न करे किंतु अभिमत फलको देवे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये ते पन्थानो व दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।

तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ २ ॥

+ वाणीके व्याकरणका कर्ता होनेसे यहाँ इन्द्रदेवको सम्बोधित
 किया है । इसका प्रमाण तैत्तिरीयसंहिता ६ । ४ । ७ । ३ में
 है, कि-“ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं
 व्याकृता वाग् उच्यते । इन्द्रने इसको मध्यसे पकड़ कर प्रकट किया,
 इस लिये यह व्याकृत वाणी कहलाती है” ।

ये । ते ! पन्थानः । अथ । दिवः । येभिः । विश्वम् । ऐरयः ।
तेभिः । सुन्नया । आ । धेहि । नः । वसो इति ॥ २ ॥

हे वसो वासयितः वसुमन् वसुप्रद वा इन्द्र ते ये तव पन्थानः
मार्गादिवः द्युलोकस्य अथ अवस्ताद् अधोदेशे वर्तन्ते येभिः पथिभिः
विश्वम् जगद् ऐरयः प्रेरयसि स्वस्वकर्मसु । ❀ ईर गतौ । आन्दसो
लङ् ❀ । तेभिः तैर्विश्वप्रेरणसाधनैर्मागैः नः अस्मान् सुन्नया ।
❀ सप्तम्या याजादेशः ❀ । सुम्ने सुखे आ धेहि स्थापय ।

हे धनप्रद इन्द्र ! आपके जो मार्ग द्युलोकके अधोदेशमें हैं, कि-
जिनसे आप जगत्को अपने २ कर्मोंमें प्रेरित करते रहते हैं, उन
विश्वप्रेरणसाधनमार्गोंसे हमको सुखमें स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परिः संभृतम् ।

तत् कङ्कपर्वणो विपमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चिराजेः । असितात् । पृदाकोः । परिः । सम्भृतम् ।

तत् । कङ्कपर्वणः । विपम् । इयम् । वीरुत् । अनीनशत् ॥ १ ॥

• तिरश्चिराजेः तिरश्च्यः तिर्यग्भृता राजयो रेखा यस्य स तिर-
श्चिराजिः सर्पविशेषः । ❀ तिरःशब्दोपपदाद् अञ्चतेः विवन्नन्ताद्
“अञ्चतेष्वोपसंख्यानम्” इति ङीप् “अचः” इति अकारलोपः ।
पुंवद्भावाभावश्चान्दमः । “ङ्यापोः संज्ञाङ्गन्दसोर्वहुलम्” इति
ङीपो ह्रस्वत्वम् ❀ । तिरश्चीननानारेखोपेतात् सर्पविशेषात् असि-
तात् सितः श्वेतः न सितः असितः तस्मात् कालोरगात् पृदाकोः ।
❀ पर्द-कुत्सिते शब्दे । “पर्देः संप्रसारणं च” इति [उ० ३.८०]
आकुप्तयः । तत्संनियोगेन संप्रसारणम् ❀ । पर्दयति कुत्सित

शब्दयति स्वेन दृष्टान् प्राणिन इति पृदाकुः सर्पविशेषः । तस्मात् ।
 ❀ परिः पञ्चम्यर्थाञ्जुवादी ❀ । तिरश्चिराजिप्रभृतेः सर्पविशेषात्
 सभृतम् संपादितं विषम् । तथा कङ्कपर्वाणः एतन्नामकाद् दंशक-
 विशेषात् सभृतं तद् विषम् इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् विशेषेण
 रोहन्ती मधुकाख्या ओषधिः अनीनशत् नाशयतु ॥

जिसमें तिरछी रेखायें पड़ी हुई हैं, ऐसे सर्पसे, काले सर्पसे,
 अपने काटे हुए प्राणीको पदाने वाले पृदाकु सर्पसे भरे हुए विष
 को और कंकपर्वा नामक काटने वाले प्राणीसे भरे हुए विषको
 यह मधुक नाम वाली औषधि नष्ट करे ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।

सा विहृतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

इयम् । वीरुत् । मधुऽजाता । मधुऽश्चुत् । मधुला । मधूः ।

सा । विऽहृतस्य । भेषजी । अथो इति । मशकऽजम्भनी ॥२॥

इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् ओषधिः मधुजाता मधुनो निष्पन्ना
 अत एव मधुश्च्युद् मधुरं रसं श्च्योतति क्षरतीति मधुश्च्युत् मधुर-
 रसस्त्राविणी मधुला मधुमती । ❀ “सिन्धादिभ्यश्च” इति लो
 मत्वर्थीयः ❀ । मधूः नामतः । सा एतत्संज्ञा उक्तविधगुणोपेता मधु-
 काख्या ओषधिः विहृतस्य विशेषेण कौटिल्यकारिणो विषस्य
 भेषजी प्रतिकर्त्री । ❀ हू कौटिल्ये । “हू हरेश्चन्दसि” इति
 निष्ठायां हु इत्यादेशः ❀ । अथो अपि च मशकजम्भनी । ❀ जम्-
 तिर्हिंसाकर्मा ❀ । मशकानां दंशकानां हिंसित्री ॥

यह प्रयोगकी जाती हुई औषधि मधुसे निष्पन्न हुई है अत
 एव मधुर रसको बहाती है, मधुमयी है, और मधु नाम वाली है

और यह औपधि कुटिलता करने वाले विपकी औपधि है तथा काटने वाले प्राणियोंका हिंसन करने वाली है ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यतो॑ दृष्टं॑ यतो॑ धी॒तं॑ तत॑स्ते॒ निर्ह॑यामसि ।

अ॒र्भस्य॑ तृ॒प्रदं॑शि॒नो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒पम् ॥ ३ ॥

यतः॑ । दृष्टम् । यतः॑ । धी॒तम् । ततः॑ । ते॒ । नि । ह॒याम॑सि ।

अ॒र्भस्य॑ । तृ॒प्रदं॑शिनः । म॒शक॑स्य । अ॒रसम् । वि॒पम् ॥ ३ ॥

विपदष्टं संबोध्य उच्यते । यतः । ॐ सप्तम्यर्थे तसिः ॐ । यस्मिन् प्रदेशे दृष्टम् । सर्पादिनेति शेषः । ॐ भावे निष्ठा ॐ । तथा यतः यस्मिन् प्रदेशे धीतम् पीतं सर्पादिना । ॐ धेट् पाने । भावे निष्ठा । “धुमास्था०” इति ईत्वम् ॐ । हे सर्पदष्ट पुरुष ते तव ततः तस्माद् अवयवाद् निर्वयामसि विपं निर्गमयामः । ॐ अय वय पय मय चय तय गर्ता । अन्तर्भावितएयर्थः । तथा त्रिप्रदंशिनः त्रिभिर्मुखपुच्छपादरूपैरङ्गैः प्रकर्षेण दशतीति त्रिप्रदंशी । ॐ “बहुलम् आभीक्ष्ण्ये” इति दंशोर्णिनिः ॐ मुखपुच्छाभ्यां पादेन च दष्टवतः अर्भस्य अर्भकस्य अल्पस्य अल्पसामर्थ्यस्य वा मशकस्य विपम् अरसम् निर्वीर्यम् ।

शृङ्गारादौ रसे वीर्ये गुणे रामे द्रवे रसः ।

इति वचनाद् रसशब्दो वीर्यवाची । निर्वीर्यं निर्वयामसीति संबन्धः । विपं मूर्च्छनादिविकारानुत्पादकं कुर्म इत्यर्थः ॥

(हे विपदष्ट) तेरे जिस अंगमें सर्प आदिने काट लिया है तथा जिस देशमें सर्प आदिने पीलिया है, हे सर्पदष्ट पुरुष ! तेरे उस अंगसे हम विपको निकालते हैं, तथा मुख पूँछ और पैर इन तीन अंगोंसे काटने वाले त्रिप्रदंशी अल्पवीर्य मच्छरके विप

को हम निर्वाय करते हैं अर्थात् उसके विपको मूर्च्छा आदि विकारोंको न कर सकने वाला, करते हैं ॥ ३ ॥

पृष्ठी ॥

अयं यो वक्रो विपरुष्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोपि
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

अयम् । यः । वक्रः । विपरुः । विश्वङ्गः । मुखानि । वक्रा ।
वृजिना । कृणोपि ।

तानि । त्वम् । ब्रह्मणः । पते । इषीकाम् इव । सम् । नमः ४

योयं सर्पादिना दष्टः पुरुषः वक्रः कुटिलावयवः संकोचितावयवः
विपरुः । परुः पर्वः । विश्लिष्टपर्वा विगतसंधि व्यङ्गः विवशाव-
यवः । एवंभूतः सन् मुखानि । आदिशब्दाभ्याहारः । मुखादीनि
अङ्गानि । मुखगतावयवापेक्षया वा बहुवचनम् । वक्रा वक्राणि
कुटिलानि अतएव वृजिना वृजिनानि कृणानि अनवस्थितानि ।
अङ्गानां यथासंनिवेशम् अनवस्थानाद् वृजिनत्वम् । तथाविधानि
कृणोपि । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । कृणोति करोति हे ब्रह्मणस्पते
ब्रह्मणो मन्त्रस्य पालक विपनिर्हरणमन्त्रसामर्थ्यप्रद एतन्नामक देव
त्वं तानि दष्टपुरुषसंबन्धीनि वक्रत्वाद्यवस्थापन्नानि अङ्गानि सं
नमः संनमय ऋजूकुरु । तत्र दष्टान्तः इषीकामिवेति । यथा इषी-
काम् पूर्वम् ऋजुं दीर्घां वलात् कौटिल्यं प्रापितां पश्चात् कौटिल्य-
परिहारेण सहजम् आर्जवं प्रापयन्ति तद्वत् । एनं सर्पादिविषेण
कौटिल्यं गतं विपनिर्हरणेन यथावस्थितम् ऋजुं कुर्वित्यर्थः । ❀ नमोः
अन्तर्णीतस्यर्थात् पञ्चमलकारे अडागमः ❀ ॥

यह जो पुरुष सर्प आदिके काटनेसे अपने अंगोंको सकोड़ रहा

है और इसके जोड़ ढीले पड़ रहे हैं और यह जो मुख आदि अंगों को कुटिल और अनवस्थित कर रहा है। हे विपको दूर करनेकी मन्त्रशक्तिको देने वाले ब्रह्मणस्पते देव ! आप डसे हुए पुरुषके टेढ़े हुए अंगोंको इस प्रकार सरल कर दीजिये, कि जिस प्रकार पहिले सीधी लम्बी सर्पको बलपूर्वक नमा लेते हैं फिर उसको सीधी कर देते हैं, इसी प्रकार सर्प आदिके विपसे कुटिलताको प्राप्त हुए इसको विप हटा कर ऋजु (सरल) करिये ॥ ४ ॥
सप्तमी ॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।

विपं ह्यस्यादिव्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

अरसस्य । शर्कोटस्य । नीचीनस्य । उपसर्पतः ।

विपम् । हि । अस्य । आऽअद्विपि । अथो इति । एनम् । अजीजभम् ५

अरसस्य निर्धार्यस्य विपसामर्थ्यरहितस्य नीचीनस्य न्यग्भू-
तस्य अत्राङ्गुलस्य उपसर्पतः सप्तमिं गच्छतः अस्य शर्कोटस्य
एतन्नामधेयस्य सर्पविशेषस्य विपम् अद्विपि खण्डितवान् अस्मि ।
हिः अवधारणे । विपम् अनीनशमेव । ॐ दो । अवरुण्डने । अस्मात्
लुङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । “स्याध्वोरिच्च” इति धातोः इच्चम् ।
सिचः कित्त्वम् ॐ ॥ अथो अपि च एनं विपिणं शर्कोटम् अजी-
जभम् अनीनशम् । शर्कोटनामकं सर्पं तद्विपं च मन्त्रसामर्थ्येन
अहं प्रयोक्ता अद्विपिपम् इत्यर्थः ॥

विपशक्तिविहीन नीचेको मुख करके समीपमें चलते हुए इस शर्कोटक नामक सर्पके विपको मैंने नष्ट कर दिया है और इस विप वाले सर्पको भी मैंने नष्ट कर दिया है । तात्पर्य यह है, कि मुझ मन्त्रप्रयोक्ताने शर्कोटक नामक सर्पको और उसके विपको भी मन्त्रशक्तिसे नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

न ते बाहोर्वलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।

अथ किं पापयासुया पुच्छे विभर्षिर्भकम् ॥ ६ ॥

न । ते । बाहोः । बलम् । अस्ति । न । शीर्षे । न । उत । मध्यतः ।

अथ । किम् । पापया । असुया । पुच्छे । विभर्षिं । अर्भकम् ॥ ६ ॥

अत्र पुच्छेन दंशी वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक ते तव बाहोः हस्तयोः बलं परपीडाकारि सामर्थ्यं नास्ति । तथा शीर्षे शिरसि बलं नास्ति । उत अपि च मध्यतः । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । मध्ये मध्यावयवे बलं नास्ति । अथेति प्रश्ने । असुया अनया । ❀ अदःशब्दात् तृतीयैकवचने “अदसोसेर्दादु दो मः” इति उत्त्वमत्वे ❀ । पापया पापिष्ठया परपीडाकारिण्या बुद्ध्या अर्भकम् । ❀ अर्तेः औणादिके भन्प्रत्यये अर्भः । सः अल्पार्थवाची । तस्माद् “अल्पे च” इति अल्पार्थे कन् प्रत्ययः ❀ । अत्यल्पं विषं पुच्छे किं विभर्षिं किमर्थं धारयसि । बाहादिस्थानेषु विषं नास्ति । पुच्छेपि वर्तमानम् अत्यल्पमेव । तदपि परपीडायै बहसि । तेनापि परपीडा न भवतीत्यर्थः ॥

(अथ पूँछसे ढसने वाले विच्छूको सम्बोधित करके कहते हैं, कि—) हे वृश्चिक ! तेरी भुजाओंमें दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने वाला बल नहीं है और तेरे शिर तथा मध्यमें भी दूसरोंको पीड़ा देने वाला बल नहीं है, फिर तू दूसरोंको कष्ट पहुँचाने वाली बुद्धिवश स्वल्पसे विषको पूँछमें क्यों लिये फिरता है ? अर्थात् तू जिसको पीड़ा पहुँचानेके लिये पूँछमें लिये फिरता है उससे दूसरेको पीड़ा नहीं होसकती ॥ ६ ॥

नवमी ॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।

सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विपम् ॥ ७ ॥

अदन्ति । त्वा । पिपीलिकाः । वि । वृश्चन्ति । मयूर्यः ।

सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विपम् ॥ ७ ॥

अत्र पूर्वार्धे सर्पः संबोध्यते । उत्तरार्धे विपनिर्हरणक्षमाः संबोध्यन्ते । हे सर्प त्वा त्वां पिपीलिका अदन्ति भक्षयन्ति । मयूर्यः मयूरस्त्रियः । ❀ “जातेरस्त्रीविपयाद् अयोपघात्” इति ङीप् ❀ । वि वृश्चन्ति विशेषेण छिन्दन्ति सर्पम् । ❀ ओग्रश्चू छेदने । “ग्रहिज्या०” इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ ॥ हे सर्वे सर्पविपनिर्हरणक्षमा यूयं शार्कोटम् । शार्कोटो नाम सर्पविशेषः । तस्य संबन्धि । ❀ “तस्येदम्” इति अण् ❀ । विपम् अरसम् निर्वीर्यं भलब्रवाथ साधु वृत । ❀ भल भल्ल परिभाषणहिंसादानेषु । अस्मात् पचाद्यचि भल इति भवति । ससाभ्यर्थवाची । क्रियाविशेषणम् एतत् । सह इति योगविभागात् । तिङन्तेन समासः । ब्रूः पञ्चमलकारे “लेटोडाटी” इति आडागमः ❀ ॥

हे सर्प ! तुझको चीटियें खा डालती हैं और मोरनियें डुकड़े डुकड़े उड़ा देती हैं । हे सर्पविपको दूर करनेमें समर्थश्रीपथियों ! तुम शार्कोटकके विपको निर्वीर्य कहो ॥ ७ ॥

दशमी ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।

आस्येन न ते विपं किमु ते पुच्छघावंसत् ॥ ८ ॥

यः । उभाभ्याम् । प्रहरसि । पुच्छेन । च । आस्येन । च ।

आस्ये, । न । ते । विषम् । किम् । ऊं इति । ते । पुच्छधौ । असत्

अत्र वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक यस्त्वं पुच्छेन आस्येन उभाभ्याम् । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । ताभ्यां प्रहरसि अन्यान् वाधसे तथापि आस्यपुच्छयोर्मध्ये ते तत्र आस्येमुखे विषं न । अस्तीति शेषः । ते तत्र पुच्छधौ । पुच्छं धीयतेत्रेति पुच्छधिः । पुच्छशब्देन तद्वतरोमाणि विवक्ष्यन्ते । पुच्छधिशब्देन रोमवान् अवयवः । उशब्दः अप्यर्थे । तत्र पुच्छेपि किम् असत् विषं किं स्यात् । न भवेद् इत्यर्थः । अतो मुखपुच्छयोर्विषाभावाद् वृश्चिको न वाधत इत्यर्थः । ❀ अस्तेल्लेटि अडागमः ❀ ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे वृश्चिक ! तू पूँछ और मुख दोनोंसे प्रहार करता है तथापि मुख और पूँछ इन दोनोंमेंसे तेरे मुखमें विष नहीं है, फिर तेरी पूँछमें भी क्या थोड़ासा विष होगा ? ॥ ८ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३७३) ॥

याचकानाम् अभिलषितार्थप्राप्तये “यद् आशसा” इति द्वाभ्यां सरूपवत्साया गोर्दुग्धेन शृतं पायसं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्रीयात् । “यं याचामि [५. ७. ५.] यद् आशसा [७. ५६] इति याचिष्यन् मन्त्रोक्तानि” इति हि सूत्रितम् [कौ० ५. १०] ॥

उक्थयक्रतौ मैत्रावरुणयाज्याहोमानुमन्त्रणम् ‘इन्द्रावरुणा सुतपौ’ इत्यनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । “एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [७. ६०] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः” [७. ४५] इति [वै० ४. १] ॥

अभिचारकर्मणि “यो नः शपात्” इत्यनया अशनिहतवृत्त-समिध आदध्यात् ॥

याचकोंके अभिलपित अर्थकी प्राप्तिके लिये 'यद् आशसा' इन दोसे सरूपवत्सा गौके दूधमें बने पायसको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“यं याचामि (५ । ७ । ५) यद् आशसा (७ । ५६) इति याचिष्यन् मन्त्रोक्तानि” (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

'इन्द्रावरुणा सुतर्षा' इस ऋचासे उक्थ्यक्रतुमें मैत्रावरुणयाज्या-होमका अनुमन्त्रण करे ॥ इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि—“एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतर्षा (७ । ६०) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) उभा जिग्यथुः (७ । ४५) इति (वैतान-सूत्र ४ । १) ॥

अभिचारकर्ममें “यो नः शपात्” इस ऋचासे अशनिसे मारे हुए वृक्षकी समिधार्थाको रक्खे ॥

तत्र प्रथमा ॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो
जनाँ अनु ।

यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन
यद् आशसा । वदतः । मे । विचुक्षुभे । यद् याचमानस्य ।
चरतः । जनान् । अनु ।
यद् आत्मनि । तन्वः । मे । विरिष्टम् । सरस्वती । तद् आ ।
पृणत् । घृतेन ॥ १ ॥

वदतः याचितुं दातृन् व्यक्तं भाषमाणस्य मे मम यद् अद्मम्
आशसा । ॐ शसु हिंसायाम् । संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ॐ ।
आशसनेन दातृभिः कृतेनयाश्चाप्रतिघातेन भर्त्सनप्रहरणादिरूपेण

हिंसनेन वा विचुक्षुभे विशेषेण क्षुभितं याच्यमानवस्त्वलाभेन
 विक्षिप्तम् आसीत् तथा याचमानस्य । ❀ “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः”
 इति हेत्वर्थे शानच् प्रत्ययः ❀ । याचनाद्ध तोः जनान् दातन् अनु
 अनुलक्ष्य । ❀ “अनुर्लक्षणे” इति [अनुः] कर्मप्रवचनीयः ❀ ।
 वीप्सार्थे वा अनुः कर्मप्रवचनीयः । जनान्जनान् चरतः गच्छतः
 परिभ्राम्यतो मम यद् अङ्गं विचुक्षुभे इष्टफलप्राप्त्यभावेन पर्या-
 कुलम् आसीत् मे मम तन्वः शरीरस्य विरिष्टम् । ❀ रिषेहिंसा-
 र्थान्निष्ठा ❀ । विशेषेण वाधितं क्लिष्टं तत् अङ्गम् आत्मानि मय्येव
 क्षोभरहितं सरस्वती । स्थापयत्विति शेषः । यद्वा आत्मशब्दः स्व-
 भाववाची । याञ्चायाः पूर्वं यथा क्षोभरहितं तथा स्वभावे स्था-
 पयतु । न केवलं क्षोभराहित्यम् अपि तु सरस्वती वाग्देवता तद्
 अङ्गं घृतेन घृतवत्सारभूतेन फलेन आ पूरयत् आपूरयतु । ❀ पूण
 प्रीणने । लेटि आढागमः ❀ ॥

याचना करनेके लिये दाताओंसे स्पष्टतासे भाषण करने वाले
 मेरा जो अंग याञ्चाके प्रतिघातसे वा भर्त्सन प्रहरण आदि हिंसा
 से विक्षिप्त होरहा है अर्थात् प्रार्थित वस्तुके न मिलनेसे विक्षिप्त हो
 गया है । और याचनाके कारण मत्पेक मनुष्यके पास घूमतेहुए
 मेरा जो अंग इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके अभाववश व्याकुल होरहा है,
 मेरे शरीरके उस विशेषरूपसे वाधित अंगको सरस्वती देवी
 स्वाभाविक दशामें ही स्थापित करे । वह केवल क्षोभरहित ही न
 करे, किंतु वाग्देवता सरस्वती उस अंगको घृतकी समान सार-
 भूत फलसे पूर्ण करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवी-
 वृतन्नृतानि ।

उ॒भे इ॒दं॒स्यो॒भे अ॒स्य॒ रा॒ज॒त॒ उ॒भे य॑ते॒ते उ॒भे अ॒स्य॒
पु॒ष्य॒तः ॥ २ ॥

स॒प्त । क्ष॒र॒न्ति॒ । शि॒श॒वे । म॒रु॒त्व॒ते । पि॒त्रे । पु॒त्रा॒सः । अ॒पि ।
अ॒वी॒ष्ट॒त॒न् । ऋ॒ता॒नि ।

उ॒भे इ॒ति॑ । इ॒त् । अ॒स्य॒ । उ॒भे इ॒ति॑ । अ॒स्य॒ । रा॒ज॒तः॒ । उ॒भे इ॒ति॑ ।
य॑ते॒ते इ॒ति॑ । उ॒भे इ॒ति॑ । अ॒स्य॒ । पु॒ष्य॒तः ॥ २ ॥

मरुत्वने मरुद्भिर्युक्ताय शिशवे अपां पुत्रभूताय वरुणाय सप्त नद्यः क्षरन्ति स्रवन्ति । “सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिंघवः” इति हि दाशतय्याम् आम्रायते [ऋ० ८, ६६, १२] । “अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः” इति मन्त्रान्तरम् [तै० सं० १, ८, १२, १] । यद्वा मरुत्वत्पदसामर्थ्याद् इन्द्र उच्यते । मरुत्वते मरुद्भिस्तद्वते शिशवे । ❀ शो तनूकरणे इत्यस्माद् उत्पन्नः शिशुशब्दः ❀ । शत्रूणां शातयित्रे इन्द्राय । ❀ पृष्ठचर्षे चतुर्थी ❀ । तस्माद्गया सप्त सर्पणशीलाः स्रवणशीलाः सप्तसंख्याका वा नद्यः क्षरन्ति प्रवहन्ति । तथा च दाशतय्यां नदीवाक्यत्वेन अयं मन्त्र आम्रायते ।

इन्द्रो अस्माँ अरदद् चन्नवाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।

देवोनयत् सविता मुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वाः ॥

इति [ऋ० सं० ३, ३३, ६] ॥ किं च पित्रे । पितृशब्देन

द्युलोक उच्यते । “द्यौः पिता पृथिवी माता” इति [तै० ब्रा०

३, ७, ५, ५] मन्त्रवर्णात् । द्युलो रुस्थिताय इन्द्राय इन्द्रपुत्राय

देवगणाय वा । ❀ तात्स्व्यात् ताच्छब्दम् ❀ । पुत्रासः ।

❀ पुत्रः पुरुत्रायने इति निरुक्तम् [नि० २, ११] ❀ । इविः-

प्रदानादिना पोषकाः पुत्रभूता वा मनुष्याः । अपिशब्दः चार्थे ।

ऋतानि सत्यभूतानि यज्ञादिरूपाणि कर्माणि अवीवृतन् वर्तयन्ति
 अनुतिष्ठन्ति । ❀ वर्ततेऽर्त्यन्तात् लुङि चङि “उऋत्” इति
 ऋकारादेशः ❀ ॥ उभे द्विवचनसामर्थ्याद् द्यावापृथिव्यावुच्येते ।
 इत् अवधारणे । ते एव अस्य पितृपुत्रशब्दव्यवहृतस्य देवमनुष्या-
 त्मकस्य संघस्य । निवासस्थाने भवत इति शेषः । तथा उभे द्यावा-
 पृथिव्यौ अस्य देवमनुष्यसंघस्य राजतः ईश्वर्यौ भवतः । ❀ राजतिः
 ऐश्वर्यकर्मा ❀ । तेषाम् आश्रयत्वेन तयोः स्वामित्वम् । उभे द्यावा-
 पृथिव्यौ यतेते प्रयत्नं कुरुतः देवमनुष्यार्थम् । ❀ यती प्रयत्ने ❀ ।
 तथा उभे द्यावापृथिव्यौ अस्य । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतु-
 र्थर्थे षष्ठी ❀ । इमं देवमनुष्यसंघं पुण्यतः अन्नोदकैः पोषयतः ।
 “भूमिं पर्जन्याः जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्रयः” इति [ऋ० १.
 १६४. ५१] श्रुत्यन्तरात् । द्यावापृथिवीकर्तृकपोषणलिङ्गाद् याच-
 काभिलपितृप्राप्तौ अस्य मन्त्रस्य विनियोगोऽभिहितः ॥

मरुतोऽसे युक्त जल्लोके पुत्र रूप वरुणदेवके निमित्त सात नदिये
 बहती रहती हैं † । अथवा मरुतो सहित शातन करने वाले इन्द्र-
 देवकी आज्ञासे सात नदिये बहती रहती हैं । द्युलोक रूप ऋषिता
 के लिये द्युलोकस्थित इन्द्रप्रमुख देवताओंके लिये हविःप्रदान आदि
 पोषण करने वाले पुत्रस्वरूप मनुष्य, यज्ञ आदि कर्मोंका अनु-
 ष्ठान करते हैं । द्यावा और पृथिवी इस पिता पुत्र शब्दसे व्यव-
 हृत देवमनुष्यसंघके ईश्वर हैं, और ये दोनों देवता और मनुष्यों
 के कल्याणके लिये यत्न करते रहते हैं तथा वे देवता और

† ऋग्वेदसंहिता = । ६६ । १२ में कहा है, कि—“सुदेवो
 असि वरुण यस्य ते सप्त सिंधवः” तथा तैत्तिरीयसंहिता १ । ८ ।
 १२ । १ में कहा है, कि—“अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः” ॥

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ५ । ५ में कहा है, कि—द्यौः
 पिता पृथिवी माता ।-द्यौः पिता है, पृथिवी माता है”

मनुष्योंको अन्न और जलसे पुष्ट करते रहते हैं ः ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुनं सोमं पिवतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये
इन्द्रावरुणा । सुतऽपी । इमम् । सुतम् । सोमम् । पिवतम् । मद्यम् ।
धृतऽव्रतौ ।

युवोः । रथः । अध्वरः । देवऽवीतये । प्रति । स्वसरम् । उप ।
यातु । पीतये ॥ १ ॥

हे सुतर्षो सुतस्य अभिपुतस्य सोमस्य पातारौ हे धृतव्रतौ
विधृतकर्माणौ हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ मद्यम् मदार्हं मदकरं वृत्ति-
करम् इमम् अस्मदीयं सुतम् अभिपुतं सोमं पिवतम् । तदर्थं युवोः
युवयोः अध्वरः हिंसारहितः शत्रुभिरपराजितो रथः पीतये युवयोः
सोमपीताय देववीतये देवकामाय । ॐ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ॐ । यज-
मानस्य स्वसरम् गृहं प्रति उप यातु समीपे आगच्छतु ॥

हे अभिपुत सोमका पान करने वाले, कर्मधारी इन्द्र और
वरुण देवताओं ! मद करने वाले वृत्तिमद इस निचोड़े हुए सोम
को पियो । और इस लिये तुम्हारा अपराजित रथ तुम दोनोंको
सोम पिलाने वाले देवकाम यजमानके घरके समीप ले आवे २

ः ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५१ में कहा है, कि—“भूमिं
पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्रयः ।—भूमिको मेघ वृत्त करते
करते हैं और अग्निये द्यौको वृत्त करती हैं ।” अत एव द्यावा-
पृथिवीकर्तृरूपोपणलिंगसे याचककी अभिलषितप्राप्तिमें इस मन्त्र
का विनियोग कहा है ।

चतुर्थी ॥

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्
इदं वामन्धः परिपिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम्
इन्द्रावरुणा । मधुमत्तमस्य । वृष्णः । सोमस्य । वृषणा । आ ।
वृषेथाम् ।

इदम् । वाम् । अन्धः । परिपिक्तम् । आसद्य । अस्मिन् ।
बर्हिषि । मादयेथाम् ॥ २ ॥

हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षकौ हे इन्द्रावरुणा इन्द्रा-
वरुणौ युवां मधुमत्तमस्य अतिशयेन माधुर्योपेतस्य वृष्णः वर्षितुः
अभिमतस्य सेक्तुः सोमस्य । भागम् इति शेषः । सोमं वा आ
वृषेथाम् । आशनीतम् इत्यर्थः । “यथाभागम् आवृषायध्वमिति
यथाभागम् अशनीतेत्येवैतदाह” इति [श० ब्रा० २, ४, २, २०]
वाजसनेयश्रुतेः । वाम् युवयोरर्थाय इदम् अन्धः अन्नं सोमलक्षणं
परिपिक्तम् ग्रहचमसपात्रेषु अस्माभिः परितः सिक्तम् । अतः
अस्मिन् स्तीर्णे बर्हिषि आसद्य उपविश्य मादयेथाम् सोमपानेन
तृप्तौ भवतम् ॥

हे अभिमत फलकी वर्षा करनेवाले इन्द्र और वरुण देवताओ!
तुम परम मधुरता भरे अभिमतफलवर्षी सोमके भागका भक्षण
करो, तुम्हारे लिये यह सोमलक्षणरूप अन्न ग्रह चमस आदि
पात्रोंमें सिक्त है, अतः इस फैले हुए कुशासन पर बैठ कर सोम-
पानसे तृप्त होओ ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृत्त इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।

वृत्तःऽइव । विद्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥१॥

यः शत्रुः अशपतः सनिन्दम् उपालम्भम् अकुर्वाणान् नः
अस्मान् शपात् निन्दावाक्यैर्भर्त्सयेत् । यश्च शपतः परुषवाक्यभयो-
क्तृन् नः अस्मान् शपात् पुनर्निन्देत् स शत्रुः विद्युता अशन्या
हतः भस्मीकृतो वृत्त इव स यथा मूलसहितः शुष्यति एवम् आ
मूलात् । ❀ अभिविधावाकारः ❀ । पितृपुत्रादिभिः सहितः अनु
शुष्यतु अनुक्रमेण विनश्यतु । ❀ शुष शोषे । दिवादिः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [इति] सप्तमे काण्डे पञ्चमोऽनुवाकः ॥

जो शत्रु हम निन्दनीय उपालम्भ न देने वालोंको निन्दा-
वाक्योंसे धमकावे और जो कठोर वाक्यका प्रयोग करने वाले
हमारी पुनर्निन्दा करे वह शत्रु विजलीसे मारे हुए वृत्तकी समान
मूलसहित सूख जावे । पिता पुत्र आदिसहित अनुक्रमसे सूख जावे ?

तृतीयं सूक्तं समाप्तं (३७६) ॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

पष्टेनुवाके चत्वारि सूक्तानि । तत्र “ऊर्जं विभ्रत्” इति आद्ये
सूक्ते आदितः पट्टचं देशान्तराद् आगतः स्वगृहं दृष्ट्वा समिधो
गृहीत्वा प्रजपन् स्वगृहम् आगत्य हस्तस्थाः समिधो वामेन हस्तेन
धृत्वा बलीकट्टणानि दक्षिणेन हस्तेन स्पृष्ट्वा पट्टचं जपित्वा गृहं
प्रविश्य आहितेऽग्नीं अनेन पट्टचेन ताः समिधः पुष्ट्यर्थम् आद-
ध्यात् । सूत्रितं हि । “ऊर्जं विभ्रद् इति गृहसंकाशे जपति ।
सव्येन समिधो दक्षिणेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । अतिव्रज्य
समिध आधाय” इति [का०. ३. ७] ॥

स्वगृहे वर्तमानानां सर्वेषां सांमनस्यार्थं च समिध आनीय

“ऊर्जं विभ्रत्” इति सूक्तं जपित्वा ताः समिधः सकृद् आदध्यात् । तद् उक्तं संहिताविधौ । “समिध आदाय ऊर्जं विभ्रद् इति असं-कल्पयन्नेत्य सकृद् आदधाति” इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा क्रव्याद्विसर्जनानन्तरं सर्वेपि एतत् सूक्तं जपन्तो यज-मानगृहं प्रविशेयुः । “निःशालाम् [२. १४] इति, शालानिवेशनं संप्रोच्य ऊर्जं विभ्रत् [७. ६२] इति प्रपादयति” इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ६. ४] ॥

तथा अन्त्येष्टौ शवदहनानन्तरं संस्कर्ता “ऊर्जं विभ्रत्” इति षट्चं जपन् स्वकीयात् स्वगृहं प्रवेशयेत् ॥

“इहैव स्त” इत्यनया प्रवासं करिष्यन् स्वकीयान् गृहान् पुत्रा-दींश्चावेक्षेत । “इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेक्षते” इति [कौ० ३. ७] सूत्रम्

आग्रहायण्यां “यद् अग्ने तपसा” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां क्षीरौदनपुरोडाशरसानाम् अन्यतमं संपात्य अभिमन्त्र्य मेधाकामः अक्षीयाद् अग्निम् उपतिष्ठेत् वा । “यद् अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां भक्षयति अग्निं उपतिष्ठते” इति [कौ० २. १] सूत्रितत्वात् ॥

तथा उपनयने अग्निकार्ये आभ्याम् ऋग्भ्याम् अग्निं परिसमूहेत् । “सं मा सिञ्चन्तु [७. ३४] इति त्रिः पयुं क्षति । यद् अग्ने तपसा तपः अग्ने तपस्तप्यामहे [७. ६३] इति द्वाभ्यां परिसमूहति” इति [कौ० ७. ८] ॥

आवसथ्याधाने “अयम् अग्निः” इत्येपा महाशान्तिगणे आव-पनीया । “पित्र्यम् अग्निः शमयिष्यन्” इति प्रक्रम्य “अयम् अग्निः सत्पतिः [७. ६४] नक्षम् आ रोह [१२. २] इत्यनु-वाकं महाशान्तिं च शान्त्युदकं आवपति” इति कौशिकसूत्रात् [कौ० ६. १] ॥

तथा अग्निचयने आतिच्छन्दसीष्टकानुमन्त्रणानन्तरम् अनया गार्हपत्ये चीयमानाम् इष्टकां ब्रह्मा अनुमंत्रयेत् । तद् उक्तं धैताने ।

“अग्निं होतारं मन्ये [१. १२७. १] इत्यातिच्छन्दसीः । गार्ह-
पत्य उक्तम् । अयम् अग्निः सत्पतिः [७. ६४] येना सहस्रम्”
[६. ५. १७] इति [वै० ५. २] ॥

छठे अनुवाकमें चार सूक्त हैं । इनमेंसे पहिले ‘ऊर्जं विभ्रत्’
इस पहिले सूक्तकी पहिली छः ऋचाओंकी देशान्तरसे आया
हुआ पुरुष अपने घरकी देख समिधाओंको ग्रहण कर जप करता
हुआ अपने घरमें आवे फिर हाथकी समिधाओंको बायें हाथसे
पकड़ कर बरौनीके तृणोंको दाहिने हाथसे छू छः ऋचाओंको
जप घरमें प्रवेश कर आहित अग्निमें इस पट्टसे उन समिधाओं
को पुष्टिके लिये रखे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है,
कि—“ऊर्जं विभ्रद् इति गृहसकाशे जपति । सव्येन समिधो दक्षि-
णेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । अतिव्रज्य समिध आधाय”
(कौशिकसूत्र ३ । ७) ॥

अपने घरमें वर्तमान सबके सामनस्य (एकसे मन) के लिये
भी समिधाओंको ला ‘ऊर्जं विभ्रत्’ इस सूक्तको जपता हुआ
उन समिधाओंको एक बार रखे । इसी बातको संहिताविधिमें
कहा है, कि—“समिध आधाय ऊर्जं विभ्रद् इति असंकल्पयन्नेत्य
सकृद् आदधाति” (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥

तथा क्रव्याद्विसर्जनके अनन्तर सब ही इस सूक्तको जपते हुए
यजमानके घरमें प्रवेश करें । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । ४
का प्रमाण भी है, कि “निःसालां (२ । १४) इति शाला-
निवेशनं सम्प्रोच्य ऊर्जं विभ्रत् (७ । ६२) इति प्रपादयति” ॥

तथा अन्त्येष्टिमें शवदहनके अनन्तर संस्कर्तापुरुष ‘ऊर्जं विभ्रत्’
इन छः ऋचाओंको जपता हुआ अपने पुरुषोंको अपने घरमें प्रवेश
करावे ॥

“इहैव स्तः” इस ऋचासे प्रवास करते समय अपने घर और

पुत्र स्त्री आदिको देखे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण है, कि—“इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेत्तते” ॥

बुद्धिको चाहने वाला पुरुष आग्रहायणीमें ‘यद् अग्ने तपसा’ इन दो ऋचाओंसे क्षीर ओदन पुरोडाश और रसमेंसे एकको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खावे वा अग्निका उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र २ । १ का प्रमाण भी है, कि—“यद् अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां भक्षयति । अग्निम् उपतिष्ठते” ।

तथा उपनयनके समय अग्निकार्यमें इन दोनों ऋचाओंसे अग्निका परिसमूहन करे ॥ इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि—“सं मा सिञ्चन्तु (७ । ३४) इति त्रिः पयु-
क्षति । यद् अग्ने तपसा तपः अग्ने तपस्तप्यामहे (७ । ६३) इति द्वाभ्यां परिसमूहति” ॥

आवसथ्याधानमें महाशान्तिगणके समय “अयम् अग्निः” को पहना चाहिये । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । १ का प्रमाण भी है, कि—“पिड्यं अग्निं शमयिष्यन्” इति प्रक्रम्य “अयं अग्निः सत्पतिः (७ । ६४) नलं आरोह (१२ । २) इत्यनुवाकं महाशान्तिं च शान्त्युदकं आव्रपति” ॥

तथा अग्निचयनमें आतिच्छन्दसीष्टकाके अनुमंत्रणके अनंतर इस ऋचासे गार्हपत्यमें चिनी जाती हुई ईंटका ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“अग्निं होतारं मन्ये (१ । १२७ । १) इत्यातिच्छन्दसीः । गार्हपत्य उक्तम् । अयं अग्निः सत्पतिः (७ । ६४) येनासहस्रम् (६ । ५ । १७)” । वैतानसूत्र (५ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

ऊर्जं विभ्रद् वसुत्रनिःसुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रि-
येण ।

गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा विभीत मत् १

ऊर्जम् । विभ्रत् । वसुऽवनिः । सुऽमेधाः । अघोरेण । चक्षुपा ।

मित्रियेण ।

गृहान् । आ । एमि । सुऽमनाः वन्दमानः । रमध्वम् । मा । विभीत । मत्

ऊर्जम् अन्नं विभ्रत् धारयन् वसुवनिः अन्नादिसाधनस्य वसुनो धनस्य संभक्ता । ❀ “वन्दसि वनसनरत्तिमथाम्” इति वनतेः कर्मोपपदाद् इन्प्रत्ययः ❀ । सुमेधाः शोभनमेधायुक्तः । ❀ “नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः” इति असिच् समासान्तः ❀ । अघोरेण अभयकरेण न केवलम् अपतिङ्गुलेन किं तु मित्रियेण मित्रं गृहत् तदर्हेण अनुङ्गुलेन स्निग्धेन चक्षुपा । पश्यन्निति शेषः । सुमनाः शोभनमनस्कः । धनादिसाहित्येन प्राप्तसौमनस्यः वन्दमानः स्तुवन् गृहान् ऐमि आगच्छामि । ❀ “गृहाः पुंभृञ्चि” इति वचनाद् गृहशब्दः पुंलिङ्गो बहुवचनान्तश्च ❀ । हे गृहाः यूयं रमध्वम् क्रीडत सुखिनः स्यात । मयाधिपतिनेति शेषः । अतः मत् मत्तः । ❀ “पञ्चम्या अत्” इति अत् आदेशः ❀ । देशान्तराद् आगच्छतो मत्तः मा विभीत अन्यो गृहस्थामी सन् अस्मान् प्रविशतीति भयं मा प्राप्नुत । ❀ “भीत्रार्थानां भयहेतुः” इति मत् इत्यत्र अपादानसंज्ञायां पञ्चमी ❀ ॥

अन्नको धारण किये हुए, अन्न आदिके) साधन धनका संभक्ता, सुन्दर बुद्धि वाला, मैं अभयंकर मित्रभाव भरे स्नेहमय नेत्रसे देखता हुआ और धन आदि सामग्रीसे मनमें प्रसन्न होता हुआ और स्तुति करता हुआ घरोंको आरहा हूँ । हे घरों ! तुम मुझ अधिपतिमे क्रीड़ा करो, सुखी होओ । मुझ देशान्तरसे

आने वाले पुरुषसे न डरो अर्थात् दूसरा गृहस्वामी बनता हुआ हममें प्रवेश कर रहा है, यह भय मत करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।

पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

इमे । गृहाः । मयःऽभुवः । ऊर्जस्वन्तः । पयस्वन्तः ।

पूर्णाः । वामेन । तिष्ठन्तः । ते । नः । जानन्तु । आऽयतः ॥२॥

मयोभुवः । मय इति सुखनाम । सुखस्य भावयितारः ऊर्जस्वन्तः अन्नरसवन्तः पयस्वन्तः क्षीरादिसमृद्धाः वामेन वननीयेन ध्वजेन पूर्णाः संपूर्णाः समृद्धास्तिष्ठन्तः ते इमे पुरतो दृश्यमाना अस्मदीया गृहाः आयतः प्रवासाद् आगच्छतो नः अस्मान् जानन्तु स्वामित्वेन अबुध्यन्ताम् । ❀ आयत इति । आङ्पूर्वाद् एतेः शतरि “इणो यण्” इति यण् ❀ ॥

सुख देने वाले, अन्नरस वाले, क्षीर आदिसे समृद्ध ये हमारे घर प्रवाससे आते हुए हमको स्वामी ही समझें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।

गृहानुपं हयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ ३ ॥

येषाम् । अधिऽएति । प्रवसन् । येषु । सौमनसः । बहुः ।

गृहान् । उप । हयामहे । ते । नः । जानन्तु । आऽयतः ॥ ३ ॥

प्रवसन् प्रवासं कुर्वन् देशान्तरे वसन् पुरुषो येषाम् यान् गृहान्

अध्येनि स्मरति । ❀ इक् स्मरणे । “अधीगर्धदयेशां कर्मणि”
इति येषाम् इत्यत्र षष्ठी ❀ । येषु गृहेषु सौमनसः सौमनस्यवान्
बहुः अधिकः पदार्थो वर्तते । ❀ सुमनःशब्दाद् भावे अण् द्रष्टव्यः ।
सौमनसम् अस्यास्तीति अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययो मत्वर्थीयः ।
सुमनसोऽयम् इति वा । “तस्येदम्” इति अण् ❀ । तान् गृहान्
उक्तविशेषणान् उप हयामहे प्राप्तं प्रार्थयामहे । अनुज्ञास्वीकाराय
यत् प्रार्थनं तद् उपहव इत्युच्यते । ❀ “निसमुपविभ्यो ङः” इति
आत्मनेपदम् ❀ । ते नो जानन्त्वायत इति पादो व्याख्यातः ॥

देशान्तरमें वसता हुआ मनुष्य जिन गृहोंका स्मरण करता
है और जिन घरोंमें बहुतसे सुन्दर पदार्थ हैं उन घरोंको प्राप्त
होनेकी हम प्रार्थना करते हैं, वे घर प्रवाससे आते हुए हमको
अपना स्वामी समझें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंसुदः ।

अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् विभीतन ॥ ४ ॥

उपहूताः । भूरिधनाः । सखायः । स्वादुसंसुदः ।

अक्षुध्याः । अतृष्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मत् । विभीतन ४

हे गृहाः उपहूताः अनुज्ञार्थं प्रार्थिता यूयं भूरिधनाः प्रभूतधनो-
पेताः स्तभवत । सखायः समानख्याना मित्रभूता भवत । स्वादु-
संसुदः स्वादुभिर्मेधुरैः पदार्थैः संभोदमाना भवत । अक्षुध्याः क्षुधं
बुभुक्षाम् अर्हन्तीति क्षुध्याः न क्षुध्या अक्षुध्याः । अतृष्याः तृषं
पिपासाम् अर्हन्तीति तृष्याः न तृष्या [अतृष्या] क्षुत्तृष्णोपेत-
र्जनैर्युक्ता मा भूत अपि तु धनादिसमृद्ध्या सर्वदा तृप्तिर्जनैर्युक्ता
भवतेत्यर्थः । ❀ क्षुत्तृष्णाशब्दाभ्यां “तद् अर्हति” इत्यर्थे “ह्रन्दसि

च" इति यप्रत्ययः । अस्तेलोटि मध्यमबहुवचने रूपं स्तेति ॐ ।
हे गृहाः अस्मत् अस्मत्तः देशान्तराद् आगच्छद्भ्यो मा विभीतन
भयं मा प्राप्नुत । ॐ विभी भये । लोटि तस्य तनादेशः ॐ ॥

हे घरों ! अनुज्ञाके लिये प्रार्थित तुम बहुतसे धनसे सम्पन्न
होओ, मित्ररूप बनो और मधुर पदार्थोंसे सम्पन्न रहो, क्षुधा
और तृष्णासे व्याकुल पुरुषोंसे व्याप्त न रहो किंतु तुममें रहने
वाले धन आदिसे सम्पन्न और तृप्त रहें । हे गृहों ! परदेशसे
लौटते हुए हमसे तुम डरो मत ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।

अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥

उपहूताः । इह । गावः । उपहूताः । अजावयः ।

अथो इति । अन्नस्य । कीलालः । उपहूतः । गृहेषु । नः ॥५॥

इह एषु अस्मदीयेषु गृहेषु गावः धेनव उपहूताः अनुज्ञायै
प्रार्थिता भवन्तु । अजावयः अजाश्च अदयश्च उपहूताः सन्तु ।
अथो अपि च नः अस्माकं गृहेषु अन्नस्य कीलालः सारभूतोऽंशः
उपहूतो भवतु । एतद् उपलक्षणम् । यद्यद् गृहे भोग्यं वर्तते तत्
सर्वम् अनुज्ञायै प्रार्थितं भवत्वित्यर्थः ॥

इन हमारे घरोंमें धेनुएँ उपहूत हों, भेड़ बकरियों उपहूत हों
और हमारे घरमें अन्नका सारभूत अंश उपहूत हो, तात्पर्य यह
है, कि-जो रं उपभोग्य वस्तु है वह सब उपहूत हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।

अ॒तृ॒ष्या अ॒क्षु॒ष्या स्त॒ गृ॒हा मा॒स्मद् वि॒भी॒तन॑ ॥६॥

सू॒नु॒ताऽव॒न्तः । सु॒भ॒गाः । इ॒राऽव॒न्तः । इ॒सा॒सु॒दाः ।

अ॒तृ॒ष्याः । अ॒क्षु॒ष्याः । स्त॒ । गृ॒हाः । मा॒ । अ॒स्मद् । वि॒भी॒त॒न॒ ६

हे गृहा सूनुतावन्तः । मियसत्यात्मिका वाक् सूनुतेत्युच्यते । तद्वन्तः स्त भवत । अरिष्टादिनिमित्तवाग्राहित्येन पुत्रमित्रादिसंपत्तिनिमित्तवाक्सहिता भवतेत्यर्थः । प्रवसति यजमाने गृहे जातमप्यरिष्टं पुनरागच्छति गृहस्वामिनि तद्विषये न ज्ञापनीयम् इत्याश्वलायनेनोक्तम् । “विदितमप्यलीकं न तद् अहर्ज्ञापयेयुः” इति [आश्व० २. ५. १८] । सर्वदापि अरिष्टराहित्यम् अनेन पदेन प्रार्थ्यते । सुभगाः शोभनभाग्योपेता भवत । इरावन्तः इरा अन्नं तद्वन्तः स्त । इसासुदाः । ॐ हसे हसने । भावे विवप् । तदन्तात् तृतीया हसेति । मोदतेः इगुपधलक्षणः कः । “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” इति बहुलग्रहणात् तृतीयाया अलुक् ॐ । हासेन मोदमानाः गृहस्थितानां हासेन तदीयः संतोषोभिव्यज्यते । हासाभिव्यक्तसंतोषा भवत । अतृष्या अक्षुष्या इत्यर्थवो व्याख्यातः ॥

हे घरों ! तुममें मिय और सत्य वाणियों बोली जावें अर्थात् अरिष्ट आदिकी निमित्त वाणीकी शून्यता वाले और पुत्र मित्र आदि सम्पत्तिनिमित्तक वाणीसे सम्पन्न होओ । शोभनभाग्य से सम्पन्न होओ, अन्नसे सम्पन्न होओ, घरमें, स्थित व्यक्तियों के हाससे प्रसन्नता भरे रहो, तुममें क्षुधा और तृपारहित पुरुष रहें और हे घरों ! तुम हमसे डरो मत ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इ॒है॒व स्त॒ मानु॑ गा॒त् विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पु॒ष्यत॑ ।

ऐ॒ष्या॑मि भ॒द्रेणा॑ सह भू॒यांसो॑ भवता मया ॥ ७ ॥

इ॒ह । ए॒व । स्त॒ । मा । अ॒नु॒ । गा॒त॒ । वि॒श्वा॑ । रू॒पाणि॑ । पु॒ष्य॒त॒ ।

आ । ए॒ष्या॑मि । भ॒द्रेण॑ । सह॒ । भू॒यांसः॑ । भ॒वत॑ । मया॑ ॥७॥

हे गृहाः इहैव अस्मिन् प्रदेश एव स्त भवत सुखिनो वर्तध्वम् । मा अनु गात प्रवसन्तं मां गृहस्वामिनं मानुगच्छत । ॐ एतेः “माङ्गि-लुङ्” । “इयो गा लुङ्” इति गादेशः ॐ विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि रूपवन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि पुष्यत समृद्धानि कुरुत । भद्रेण भन्दनीयेन धनेन सह ऐष्यामि पुनरागमिष्यामि । ततः मया देशान्तरात् पुनरागतेन अर्जितधनेन भूयांसः अतिप्रभूता भवत । ॐ भद्रेणा सह भवता मया इत्युभयत्र छान्दसः साहितिको दीर्घः ॐ ॥

हे घरों ! तुम इस ही प्रदेशमें सुखी रहो, मुझ प्रवास करने वाले स्वामीके पीछे न जाओ, रूप वाली पुत्र आदि सम्पूर्ण वस्तुओंको पुष्ट करो । मैं कल्याणकारी धनके साथ फिर लौटूँगा तब तुम-मेरे देशान्तरसे कमाये हुए धनसे अतिप्रभूत होना ॥७॥

अष्टमी ॥

यद॒ग्ने॑ तप॒सा॒ तप॑ उप॒त्प्याम॑हे॒ तपः॑ ।

प्रि॒याः श्रु॒तस्य॑ भू॒यास्मा॑युष्मन्तः सु॒मेध॑सः ॥ १ ॥

यत् । अ॒ग्ने॑ । तप॒सा॒ । तपः॑ । उ॒प॒त्प्या॑महे । तपः॑ ।

प्रि॒याः । श्रु॒तस्य॑ । भू॒यास्म॑ । आ॒युष्म॑न्तः । सु॒मेध॑सः ॥ १ ॥

हे अग्ने तपसा तव संवन्धिना पर्युक्षणपरिसमूहनसमिदाधानादिरूपेण कर्मणा यत् तपो निर्वर्तयितव्यम् अस्ति तत् तपः

उप त्वत्समीपे तप्यामहे आर्जयामः । यद्वा तपसा कृच्छ्रचान्द्राय-
णादिरूपेण यत् तपः तपनं शरीरक्लेशानम् । “तपः क्लेशसहि-
ष्णुत्वम्” इति हि तद्विदः । कृच्छ्रादिचरणेन यच्छरीरशोषणं तत्
तप उपतप्यामहे । तव समीपे परिचरणेन आर्जयाम इत्यर्थः । यद्वा
तपसा । ❀ तप पर्यालोचने इत्यस्माद् अमुन् ❀ । पर्यालोचनेन
देवताविषयज्ञानेन । “मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते” इति
हि तद्विदः । ❀ सहायं तृतीया ❀ । तेन तपसा सहितं तपः
कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपो नियमः । “शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-
प्रणिधानानि नियमाः” इति हि पातञ्जलं सूत्रम् [पा० सू० २.
३२] । तत् तपः हे अग्ने त्वत्समीपे परिचरणेन तप्यामहे आर्ज-
यामः । ❀ “तपस्तपःकर्मकस्यैव” इति कर्मकर्तरि यगात्मनेपदे ❀ ।
तेन तपसा श्रुतस्य सम्यग् अधीतस्य वेदशास्त्रादेः प्रियाः प्रियतमाः
सुहृदः निवासस्थानत्वेन प्रीणयितारः आयुष्मन्तः दीर्घकाल-
जीविनः सुमेधसः शोभनधारणाशक्तिसहिता भूयास्म ॥

हे अग्ने ! आपके पयुंक्षण परिसमूहन समिदाधान आदिरूप
कर्मसे जो कर्म सम्पन्न करना है उस कर्मको हम आपके समीप
करते हैं अथवा कृच्छ्रचान्द्रायण आदिरूप जो तप करना है उसको
हम आपके समीप आपकी सेवा करते हुए करते हैं । उस तपके
द्वारा हम भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिके प्रियतम और
प्रसन्न करने वाले तथा दीर्घायु और शोभन धारणाशक्ति वाले
होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

अग्ने तपस्तप्यामह उपं तप्यामहे तपः ।

श्रुतानि श्रुण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ २ ॥

अग्ने । तपः । तप्यामहे । उप । तप्यामहे । तपः ।

श्रुतानि । श्रुत्वन्तः । वयम् । आयुष्मन्तः । सुमेधसः ॥ २ ॥

हे अग्ने तपस्तप्यामहे शरीरशोषणरूपं नियमम् आर्जयामः । किम् अन्यत्र । नेत्याह । उप तप्यामहे । तव समीप एव तादृशं तपः साधयाम इत्यर्थः । ❀ पूर्ववत् कर्मकर्तारि यगात्मनेपदे ❀ । तेन तपसा श्रुतानि सम्यग् अधीतानि वेदशास्त्रादीनि श्रुत्वन्तः । ❀ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ❀ । वेदशास्त्रश्रवणाद्धेतोः वयम् आयुष्मन्तः दीर्घकालजीवनवन्तः सुमेधसः समीचीनधारणाशक्तियुक्ताश्च । भूयास्मेति शेषः ॥

हे अग्ने ! हम आपके समीप ही शरीरशोषणरूप नियमको साधित करते हैं, उस तपके द्वारा भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिको सुनते हुए हम उस श्रवणके प्रभावसे आयुष्मान् और समीचीनधारणाशक्तिसे सम्पन्न होवें ॥ २ ॥

दशमी ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्नीनजयत् पुरो-
हितः ।

नाभां पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये
पृतन्यवः ॥ १ ॥

अयम् । अग्निः । सत्पतिः । वृद्धवृष्णः । रथीइव । पत्नीन् ।

अजयत् । पुरःहितः ।

नाभां । पृथिव्याम् । निहितः । दविद्युतत् । अधःस्पदम् । कृणु-

ताम् । ये । पृतन्यवः ॥ १ ॥

सत्पतिः सतां महतां देवानां हविःप्रदानेन पालयिता सतो विद्यमानस्य स्थावरजङ्गमादेर्जगतः स्वामी वा वृद्धवृष्णयः वृष्णि भवं वृष्ण्यं बलं प्रवृद्धबलः पुरोहितः पुरतो होमार्थम् अत्विग्भिर्निहितः पुरोभाविहितकारी वा । अयं पुरोवर्ती अग्निः गार्हपत्यरूपः पत्नीम् पालयित्रीं प्रजाम् । पत्नीवत् पत्नी । पत्नीभूताम् इष्टकां वा अजयत् जयति स्वाधीनां करोति । तत्र दृष्टान्तः । रथी रथवान् पुरुषः पत्नीम् प्रजाम् अन्यदीयां स्वीयां वा नारीं यथा जयति स्वाधीनां करोति एवम् अग्निरिति । किं च पृथिव्याम् देवयजनलक्षणायां भूमौ तत्रापि नाभा नाभौ नाभिस्यानीयायाम् उत्तरवेद्याम् । “यद् उत्तरवेदीनाभिः” इति ऐतरेयश्रुतेः [ऐ० ब्रा० १. २८] । तत्र निहितः स्थापितः दविद्युत् अत्यर्थं दीप्यमानः । ॐ द्योततेर्यद्भुक्ति “दाघति०” इति सूत्रे निपातनाद् रूपसिद्धिः ॐ । तादृशोग्निः अधस्पदम् पादस्याधोदेशे कृणुताम् कुरुताम् । कान् इति तत्राह । ये पृतन्यवः पृतनां संग्रामम् इच्छवः शत्रवस्तान् मदीयपादस्याधोदेशे निधत्तादिति ॥

[इति] पष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सत् अर्थात् वहे २ देवताओंको हविःप्रदान कर उनका पालन करने वाले वा—स्थावर जंगमरूप विद्यमान जगत्के स्वामी, प्रवृद्ध बल वाले, होमके लिये अत्विजोंके द्वारा आगे रखे जाने वाले यह गार्हपत्य अग्निदेव पालन करने वाली प्रजाको वा पत्नीकी समान इष्टकाको स्वाधीन करते हैं, उसका उदाहरण यह है, कि—जैसे रथ वाला पुरुष प्रजाको वा अपनी या पराई स्त्रीको स्वाधीन कर सकता है इसी प्रकार यह अग्निदेव इष्टकाको स्वाधीन कर रहे हैं । और देवताओंके यजन करनेकी पृथ्वीकी नाभि-

स्थानीया उत्तरवेदीमें † स्थापित परमप्रदीप्त यह अग्निदेव मुझसे संग्राम करना चाहने वाले योधाओंको मेरे पैरके नीचे दवावें ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३७९) ॥

आवसध्याधाने मथनार्थं यजमानः अरण्यां “पृतनाजितम्” इति ऋचा अग्निम् आह्वयेत् । “मूलत उत्तरारणिम् गपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति” इति हि [कौ० ६. १] सूत्रम् ॥

शरीरे काकाभिघातदोषशान्त्यर्थम् “इदं यत् कृष्णः” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् उदकम् अभिमन्त्र्य काकोपहतशरीरं प्रक्षालयेत् ॥

तथा काकावदंशनदोषशान्तये आभ्याम् ऋग्भ्याम् उल्मुकम् अभिमन्त्र्य काकावमृष्टं शरीरं परिभ्रामयेत् ॥

काकस्पर्शनदोषशान्त्यर्थं “श्यावदता” इति मन्त्रोक्तरोगशान्तये च “प्रतीचीनफलः” इति त्रिभिः अपामार्गसमिध आदध्यात् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । “इदं यत् कृष्णः [७, ६६] कृष्ण-शकुनेनाधिक्षिप्तं प्रक्षालयति । अपमृष्टं पर्यग्निं करोति । प्रतीचीन-फलः [७, ६७] इत्यपामार्गेषु आपामार्गीरादधाति” इति [कौ० ५, १०] ॥

विवाहे कुमार्याः स्नापनानन्तरं “यद् दुष्कृतम्” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अङ्गानि वाससा प्रमार्जयेत् । “यद् दुष्कृतम् इति वास-साङ्गानि प्रमृज्य” इति हि [कौ० १०. २] सूत्रम् ॥

“यद्यन्तरिक्षे” “पुनर्मैत्विन्द्रियम्” इति बृचस्य वृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ चिनियोगः । सूत्रितं हि । “यद्यन्तरिक्षे [७, ६८] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७, ६९] शिवा नः” [७, ७१] इति [कौ० १. ६] ॥

† ऐतरेय ब्राह्मण १ । २८ में कहा है, कि—“यद् उत्तरवेदी-नाभिः--जो उत्तरवेदी है वह नाभि है” ।

तथा “पुनर्मेत्विन्द्रियम्” इत्यनया प्रतिग्रहदोषशान्तये प्रति-
ग्राह्यं वस्त्वभिमन्त्र्य गृह्णीयात् ॥

तथा नित्यनैमित्तिककाम्येषु कर्मसु पाकयज्ञतन्त्रे च कर्मसमा-
पनानन्तरं न्यूनातिरेकदोषशान्तये अनया आत्मानम् अनुमन्त्रयेत्
सूत्रितं हि । “यद् अन्नम् [६. ७१] पुनर्मेत्विन्द्रियम् [७.
६६] इति प्रतिगृह्णाति । उत्तमा सर्वकर्मा । वशया पाकयज्ञा व्या-
ख्याताः” इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा गोदानारूपे संस्कारकर्मणि वपनार्थम् अनया क्षरं संमाज्यं
नापिताय प्रयच्छेत् । “पुनः प्राणः [६. ५३. २] पुनर्मेत्वि-
न्द्रियम् [७. ६६] इति त्रिनिर्मृज्य” इति हि [कौ० ७. ५]
सूत्रम् ॥

सवयवेषु “पुनर्मेत्विन्द्रियम्” इत्यनया इन्द्रियाणाम् अभिमर्श-
नम् अनुमन्त्रणं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । “वाद् म आसन्” [१६.
६०] इति “मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते बृहता [५. १०. ८] द्यौश्च
[६. ५३] पुनर्मेत्विन्द्रियम् [७. ६६] इति प्रतिमन्त्रयते” इति
[कौ० ८. ७] ॥

तथा ब्रह्मचारिणो दण्डभङ्गे अनया अन्यं दण्डम् अभिमन्त्र्य
ब्रह्मचारी गृह्णीयात् । “यद्यस्य दण्डो भिद्येत” इति प्रक्रम्य सूत्र-
तम् । “शीर्णे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मेत्विन्द्रियम् इत्याददीत”
इति [कौ० ७. ८] ॥

अग्निष्टोमे तृतीयसवने हीत्रादिधिष्येषु विहृतान् अग्नीन् “पुन-
र्मेत्विन्द्रियम्” इति ऋचा ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “विहृतान् अनु-
मन्त्रयते । उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः [६. ५३. २] पुन-
र्मेत्विन्द्रियम्” [७. ६६] इति द्विवैतानं सूत्रम् [वै० ३. ८] ॥

आहिताग्नेः प्रेतसंस्कारे “श्रो चित् सखायम्” इति काण्ड-
जपानन्तरं सारस्वतहोमेषु “सरस्वति व्रतेषु” इति व्यृचेन आज्यं
जुहुयात् ॥

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वाणि सारस्वतयागं “सरस्वति व्रतेषु” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “सविता प्रसवानाम् [५. २४] सरस्वति व्रतेषु [७. ७०] प्रपथे पथाम्” [७. १०] इति द्विवैतानं सूत्रम् [वै० २. ४] ॥

तथा अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतचरुयागम् अनया अनुमन्त्रयेत् । उक्तं वैताने । “सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु [७. ७०] यस्य व्रतम्” [७. ४१] इति [वै० २. ४] ॥

यजमान, ! आवसथ्याधानमें मधन करनेके लिये अरणीमें ‘पृतनाजिनम्’ ऋचासे अग्निका आह्वान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । १ का प्रमाण भी है, कि—“मूलत उत्तरारणि उपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति” (कौशिकसूत्र ६ । १) ॥

शरीरके काकाभिघातदोषकी शान्तिके लिये “इदं यत् कृष्णः” इन दो ऋचाओंसे जलको अभिमन्त्रित करके काकोपहतशरीर को प्रक्षालित करे ।

तथा काकके काटनेके दोषकी शान्तिके लिये इन दो ऋचाओंसे उल्मुकको अभिमन्त्रित करके काकावमृष्ट शरीर पर घुमावे ।

काकस्पर्शनदोषकी शान्तिके लिये “श्यावदत्ता” इस मन्त्रमें कहे हुए रोगकी शान्तिके लिये “प्रतीचीनफलः” इन तीन ऋचाओंसे अपामार्ग (चिरचिटे) की समिधाओंको रखे ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—“इदं यत् कृष्णः (७ । ६६,) इति कृष्णशकुने नाधिक्षिप्रं प्रक्षालयति । अपमृष्टं पर्यग्नि करोति । प्रतीचीनफलः (७ । ६७) इत्यपामार्गैर्ध्व आपामार्गैरादधाति” (कौशिकसूत्र (५ । १०) ॥

विवाहमें कुमारीको स्नान करानेके अनन्तर “यद् दुष्कृतं” इन दो ऋचाओंसे अंगोंको वस्त्रसे प्रमार्जित करे । इस विषयमें

कौशिकसूत्र १० । २ का प्रमाण भी है, कि-‘यद् दुष्कृतं इति-
वाससाद्गानि प्रमृज्य’ ॥

‘यद्यन्तरिक्षे’ ‘पुनर्मैत्विन्द्रियम्’ इन दो ऋचाओंका वृहद्ग्रहणमें पाठ है अत एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘यद्यन्तरिक्षे (७ । ६८) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) शिवा नः (७ । ७१) (कौशिकसूत्र १ । ६) ॥

तथा प्रतिग्रह-दोषकी शान्तिके लिये ‘पुनर्मैत्विन्द्रियम्’ ऋचा से प्रतिग्राह्य वस्तुको अभिमन्त्रित करके ग्रहण करे ।

तथा नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मोंमें तथा पाकयज्ञतन्त्रमें भी कर्म समाप्त करनेके अनन्तर न्यूनातिरेकदोषकी शान्तिके लिये इस ऋचासे अपना अनुमन्त्रण करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘यद् अन्नम् (६ । ७१) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) इति प्रतिगृह्णाति । उत्तमा सर्वकर्मा । वशया पाकयज्ञा व्याख्याताः’ (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥

तथा गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें वपन (मुण्डन) करने के लिये इस ऋचासे छुरेको स्वच्छ करके नापिनको देदेय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ५ का प्रमाण भी है, कि-‘पुनः प्राणः (६ । ५३ । २) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) इति त्रिर्निमृज्य ॥

सत्रयज्ञोंमें ‘पुनर्मैत्विन्द्रियम्’ ऋचासे इन्द्रियोंका अभिमर्शन और अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘वाह्म आसन् (१६ । ६०) इति मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते वृहता (५ । १० । ८) द्यौश्च (६ । ५३) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) इति प्रतिमन्त्रयते’ (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥

तथा ब्रह्मचारीका दण्ड भंग होने पर इस ऋचासे दूसरे दंडे

को अभिमंत्रित करके ब्रह्मचारी ग्रहण करे । 'यद्यस्य दण्डो भिद्येत' आदिका आरम्भ करके कौशिकसूत्र ८ । ७ में कहा है, कि—'शीर्षे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मै त्विन्द्रियम् इत्याददीत' ॥

अग्निष्टोमके तृतीयसवनमें दौत्र आदि घृण्योंमें विहित अग्नियों का 'पुनर्मै त्विन्द्रियम्' ऋचासे ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'विहृतान् अनुमंत्रयते उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः (६ । ५३ । २) पुनर्मै त्विन्द्रियम् (७ । ६६)' वैतानसूत्र (३ । ८) ॥

आहिताग्निके प्रेतसंस्कारमें 'ओ चित् सखायम्' इस कांडका जप करनेके अनंतर सारस्वत होमोंमें "सरस्वति व्रतेषु" आदि दो ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय ।

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें सारस्वतयागका "सरस्वति व्रतेषु" से ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण भी है, कि—'सविता प्रसवानाम् (५ । २४) सरस्वति व्रतेषु (७ । ७०) पप्रथे पथाम् (७ । १०)" ॥

तथा अन्वारंभणीयेष्टिमें सारस्वतचरुयागका इस ऋचासे अनुमंत्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु (७ । ७०) यस्य व्रतम् (७ । ४१)" । (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

पृ॒त॒ना॒जि॒तं॒ स॒ह॒मा॒न॒म॒ग्नि॒मु॒क्थै॒र्ह॒वाम॒हे॒ प॒र॒मा॒त् स॒ध॒
स्था॒त् ।

स नः॑ प॒र्ष॒दतिं॑ दु॒र्गाणि॑ वि॒श्वा ज्ञाम॑द दे॒वोतिं॑ दु॒रि॒
तान्य॒ग्निः ॥ १ ॥

पृतनाऽजितम् । सहमानम् । अग्निम् । उर्यैः । इवामहे ।

परमात् । सधऽस्थात् ।

सः । नः । पर्पत् । अति । दुःऽगानि । विश्वा । क्षामत् । देवः ।

अति । दुःऽदतानि । अग्निः ॥ १ ॥

पृतनाजितम् शत्रुसंग्रामजेतारं तदेवाह सहमानम् अभिभवन्तम् ।
 ❀ पह अभिभवने इति नैरुक्तो धातुः ❀ । यद्वा । ❀ पह
 मर्पणे ❀ । देवतागणार्थं यजमानादिभिर्दीयमानं हविर्भारं तितित्त-
 माणम् अग्निम् मध्यमानं परमात् उत्कृष्टात् सधस्यात् सहस्थानाद्
 अरिणलक्षणत्वात् । ❀ “मादस्थयोश्छन्दसि” इति सहस्य सधा-
 देशः ❀ । सर्वस्मान्लोकात् उत्कृष्टाद् देवतानां सहनिवासस्था-
 नाद् द्युलोकाद् वा उर्यैर्वक्तव्यैः स्तोत्रैः इवामहे आह्वयामः । ❀
 हपतेः “बहुलं छन्दसि” इति संभसारणम् ❀ । स आहूतोग्निः
 नः अस्माकं विश्वा विश्वानि दुर्गाणि दुर्गमनानि कृष्टानि अरि-
 ष्टानि अति पर्पत् अतिपारयतु । यथा अस्माकम् आपदो न भवन्ति
 तथा करोत्विति । ❀ पृ पालनपूरणयोः इत्यस्मात् लेटि “सिन्व-
 हुलम्” इति सिप् । आडागमः ❀ । अरिष्टहेतुपापनिवारणम्
 आशास्ते चतुर्थपादेन । देवः दीप्यमानोग्निः मध्यमानः दुरितानि
 दुर्गमनानि पापानि अति क्षामत् अत्यर्थं क्षामाणि दग्धानि करोतु ।
 अरिष्टहेतुभूतं पापसंघं निःशेषेण विनाशयत्वित्यर्थः । ❀ क्षामत्
 इति । क्षै क्षये । अस्मान्निष्ठायां “क्षायो मः” इति निष्ठातकारस्य
 मकारादेशः । क्षामशब्दात् तत् करोतीत्यर्थे णिच् । तस्मात् लेटि
 तिप इकारस्य “इतश्च लोपः०” । इति लोपः । “लेटोडाटौ” इति
 अडागमः । “छन्दस्युभयथा” इति तिप आर्धधातुकत्वात् “णेर-
 निटि” इति णिलोपः ❀ ॥

शत्रुओंको संग्राममें जीतने वाले, देवताओंके लिये यजमान आदिके दिये हविर्भारको सहने वाले अग्निका हम सब लोकोंसे उत्कृष्ट देवताओंके सहनिवासस्थान घुल्लोकसे उक्थ्य नामक स्तोत्रों के द्वारा आह्वान करते हैं । वह बुलाये हुए अग्निदेव हमें सब कष्टोंके पार पहुँचावें अर्थात् जिस प्रकार हम पर आपत्तियें न पड़े तैसा करे । यह मथे जाते हुए अग्निदेव दुर्गति देने वाले पापोंको बहुत ही भस्म करें । अर्थात् अरिष्टके हेतुभूत पापोंको पूर्णरूपसे नष्ट करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।

आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहंसः १

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अभिऽनिष्पतन् । अपीपतत् ।

आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुःऽइतात् । पान्तु । अंहंसः १

कृष्णः कृष्णवर्णः शकुनिः पक्षी । काक इत्यर्थः । अभिनिष्पतन् अभितः सर्वतः अभिमुखं वा आकाशमार्गाद् अवपतन् इदं मदीयम् अंगम् अपीपतत् पातयामास पक्षाभ्याम् अभिजघानेति यत् तस्मात् अभिहननजनितात् सर्वस्माद् दुरिताद् दुष्टगमनाद् अंहंसः पापाद् वा माम् अभिहितावयवम् आपः अभिमन्त्रिताः पान्तु रक्षन्तु ॥

काले वर्ण वाले पक्षी काकने सामनेसे वा आकाशमार्गसे आ कर (पक्षोंसे) मेरे अंगोंको पीड़ित किया है, उस अभिघातके कारण दुर्गतिप्रद पापसे मुझ अभिहितावयवको अभिमन्त्रित जल रक्षा करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृत्तन्निर्ऋते ते मुखेन ।

अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अवऽमृत्तत् । निऽऋते । ते ।

मुखेन ।

अग्निः । मा । तस्मात् । एनसः । गार्हऽपत्यः । प्र । मुञ्चतु । २ ।

हे निऋते मृत्युदेवते ते तव मुखेन कृष्णः शकुनिः काकः इदं मदीयम् अद्भम् अवामृत्तत् अवमृष्टवान् । काकः स्वचञ्चुपुटेन मदीयम् अद्भं नोपहतवान् किं तु मृत्युमुखेनेति काशस्पर्शनदोषः अतिकष्ट इति ज्ञापयितुं निऋतिमुखेन अभिमर्शनवचनम् । ❀ मृश आमर्शने । लुब्धिः “शल इगुपधाद् अनिटः वसः” इति वसः ❀ । काकः अद्भं मुखेन अवमृष्टवान् इति यत् तस्माद् एनसः पापाद् गार्हपत्यः गृहपतिना मया होमार्थं निहितोग्निः एतत्संज्ञको वा मा मां प्र मुञ्चतु मर्कषेण मोचयतु । काकावमर्शनजनितदोपरहितं करोतु ॥

हे मृत्युदेवते ! तेरे मुखके द्वारा जो इस कौएने मेरे अद्भका स्पर्श किया है (कौएने अपनी चोंचसे ही मेरे अद्भको ताड़ित नहीं किया है किंतु मृत्युमुखसे ताड़ित किया है, यह इस बातको ज्ञापित करनेके लिये कहा है, कि-काकस्पर्शन अतिकष्टमद है) उस पापसे गार्हपत्य अग्नि मुझको मुक्त करें अर्थात् कौएके स्पर्शसे उत्पन्न होने वाले दोषसे रहित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रतीचीनंफलो हि त्वमपामार्गं स्रोहिथ ।

सर्वान् मच्छपथाँ अग्नि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

प्रतीचीनऽफलः । हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहित्य ।

सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवयाः । इतः ॥१॥

हे अपामार्ग पापापमार्जनसाधन एतत्संज्ञक इधमपकृतिभूत काष्ठ-
विशेष त्वं हि यस्मात् प्रतीचीनफलः प्रत्यङ्मुखानि फलानि
यस्य । अग्राद्ग्रारभ्य फलस्य मूलपर्यन्तम् आत्माभिमुखं स्पर्शने
कण्टकराहित्यदर्शनात् प्रतीचीनफलत्वम् । तादृशः रुरोहित्य रूढ-
वान् असि तस्मात् सर्वान् शपथान् दोषान् मत् मत्तः सकाशात् ।
❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । इतः अस्माद् वरीयः । ❀ क्रिया-
विशेषणम् एतत् ❀ । उत्तरम् अत्यर्थं यावयाः पृथक्कुरु । इतः
इति मत् इत्यस्य विशेषणम् । अस्मात् काकाभिहतावयवाद् मत्
इति । यद्वा इतः अस्मात् कारणाद् इति व्याख्येयम् । ❀ यावयाः
इति । यु मिश्रणामिश्रणयोः । ख्यन्तात् लेटि आडागमे रूपम् ❀ ॥

हे पापको मार्जित करनेके साधन ईधनरूप चिरचिटे ! तू प्रती-
चीनफलरूपमें बड़ा है अतः मुझमेंसे सकल दोषोंको पूर्णरूपसे
दूर कर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वां चेरिम पापया ।

त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गापं मृज्महे ॥ २ ॥

यत् । दुःऽकृतम् । यत् । शमलम् । यत् । वा । चेरिम । पापया ।

त्वया । तत् । विश्वतःऽमुख । अपामार्ग । अप । मृज्महे ॥ २ ॥

यद् दुष्कृतम् दुःखफलाय कृतं पापं दुष्टं कृतं वा दुष्कृतं
यच्च शमलम् मलिनम् पापम् । वाशब्दो विकल्पवाची । यत्
पापया । ❀ द्वितीयाया याजादेशः ❀ । यत् पापं चेरिम

चरितवन्तः स्मः । अथ वा पापया पापप्रवृत्तिहेतुभूतया बुद्ध्या यद्
एनश्चेरिम । ❀ चरतेर्लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । तत् पापम् हे
विरवनोमुख सर्वतः प्रसृतशाखायुक्त हे अपामार्गं त्वया साधनेन
अप मृज्महे अपमार्जयामः अपसारयामः । ❀ मृजूप् शुद्धी । आंदा-
दिकः ❀ ॥

हम दुःखमय फल देने वाले जिस पापको कर चुके हैं और जो
मलिन पाप हमसे घन गया है और पापप्रवृत्तिकी हेतुभूत बुद्धिसे
जिस पापको हम कर चुके हैं, उस पापकी हे चारों ओर शाखा
वाले चिरचिटे ! तेरे द्वारा हम दूर भगाने हैं ॥ २ ॥

पष्ठी ॥

श्यावदन्ता कुनखिना वण्डेन यत् सहासिम ।

अपामार्गं त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ३ ॥

श्यावदन्ता । कुनखिना । वण्डेन । यत् । सह । आसिम ।

अपामार्गं । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अपं । मृज्महे ॥ ३ ॥

श्यावदन्ता श्यावाः श्याववर्णा दन्ता यस्य तेन । ❀ “विभाषा
श्यावारोकाभ्याम्” इति श्यावपदाद् उत्तरस्य दन्तशब्दस्य दत्
इत्यादेशः ❀ । श्यावदन्तयुक्तेन पुरुषेण कुनखिना कुत्सितानि
नखानि कुनखानि तद्वता च वण्डेन । निर्वीर्यः पण्डो वण्ड इत्यु-
च्यते । नपुंसकेन वा सह आशिम भुक्तवन्तः स्मः । ❀ अश
भोजने । तस्य लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । अशनं व्यवहार-
मात्रोपलक्षणम् । एतैः सह व्यवहृतवन्तः स्म इति यद् अस्ति हे
अपामार्गं त्वया साधनेन सर्वं तत् पापं वयम् अप मृज्महे अपमार्ज-
यामः निवारयामः ॥

काले पीले रंगसे मिश्रित दाँत वाले, कुत्सित नाखूनों वाले, और निर्वीर्य पुरुषके साथ जो हमसे खान पान आदि व्यवहार बन गया है उससे उत्पन्न हुए पापको हे अपामार्ग हम तेरे द्वारा दूर भगाते हैं ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि बोलपेषु ।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपेतुं १
यदि । अन्तरिक्षे । यदि । वाते । आस । यदि । वृक्षेषु । यदि ।
वा । बोलपेषु ।

यत् । अश्रवन् । पशवः । उद्यमानम् । तत् । ब्राह्मणम् । पुनः ।
अस्मान् । उपपेतुं ॥ १ ॥

मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदो मेघे वाताधिक्ये वृक्षच्छायायां हरितसस्यसंनिधौ पशोश्च समीपे नाध्येतव्यः । तथाभ्ययने सम्यक् पठितोपि वेदो निर्वीर्यो भवति । तद् उक्तम् आपस्तम्बेन स्वाध्यायधर्मप्रकरणे । “नाभ्रे न च्छायायां न पर्यावृत आदित्ये न हरिययवान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारयणस्य नापाम् अन्ते” [आप० १५. २१. ८] इति । अत्र तादृशकालस्थलेषु अधीतस्यापि वेदस्य वीर्यवच्चम् अनेन प्रार्थ्यते । अन्तरिक्षे । मेघाच्छन्ने इति विशेषणसाहित्यं द्रष्टव्यम् । तादृशे अन्तरिक्षे यदि ब्राह्मणम् आस । कर्मविधायकं वाक्यं ब्राह्मणम् इत्युच्यते । एतद् मन्त्रस्यापि उपलक्षणम् । मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो यदि तत्राधीत आसीत् । “मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्” इति हि आपस्तम्बवचनम् । यद्वा ब्राह्मणम् ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य अध्येत-

व्यत्वेन संबन्धि । वेदवाक्यम् इत्यर्थः । वाते वायौ । प्रभूते सतीति विशेषणं द्रष्टव्यम् । यदि आस ब्राह्मणम् अधीतम् आसीत् । ❀ अस्तेर्लिटि भूभावाभावशब्दान्दसः ❀ । यदि ब्राह्मणं वृक्षेषु वृक्षच्छायायाम् आस । वाशब्दो विकल्पवाची । उल्लपेषु । उल्लप-शब्दः सस्यमात्रोपलक्षणम् । यदि उल्लपेषु ब्राह्मणम् अधीतम् आसीत् । तथा पशवः ग्राम्या आरण्याश्च उद्यमानम् अभिधीय-मानम् अधीयमानं यद् ब्राह्मणम् अश्रवन् अश्रूएवन् । ❀ शृणो-तेर्लङि सामान्यविहितः शवेव छन्दोविषयत्वाद् अवस्थितः । उद्य-मानम् इति । वद व्यक्तायां वाचि । कर्मणि यकि यजादित्वात् संपसारणम् ❀ । तत् तादृशेषु निमित्तेषु अधीतं ब्राह्मणम् अस्मान् अधीतवतः पुनरुपैतु निषिद्धकालस्थलेषु अध्ययनेन अस्मत्तो निष्क्रान्तं ब्राह्मणं पुनः वीर्यवत्त्वेन फलप्रदं सत् आगच्छतु ॥

(मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेदको मेघ होने पर, अधिक वायु (अंधड़) चलने पर, वृक्षकी छायामें, हरे धान्यके पास, और पशुके पास नहीं पढ़ना चाहिये । क्योंकि-इस प्रकार अध्ययन करने पर भली प्रकार पढ़ा हुआ वेद भी मोघ होजाता है । इसी बातको आपस्तम्बनुनिने स्वाध्यायधर्मप्रकरणमें कहा है, कि-‘नाभ्रे न च्छायायां न पर्यावृत्त आदित्ये न हरितयवान् प्रेक्षमाणे न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारण्यस्य नापां अन्ते’ [आप-स्तम्ब १५ । २१ । ८] और इस मन्त्रसे ऐसे स्थलोंमें पढ़े हुए वेदके वीर्यवत्त्वकी भी प्रार्थना की गई है, कि-मेघसे आच्छन्न अन्तरिक्षमें जो ब्राह्मणसे उपलक्षित मन्त्रभागरूप भी वेद पढ़ा गया, अंधड़में पढ़ा गया, वृक्षकी छायामें पढ़ा गया, हरितसस्यों में पढ़ा गया है और जिसको बोलते समय पशुओंने सुना है तो ऐसे स्थलोंमें पढ़ा हुआ वेद हम पढ़ने वालोंको फिर प्राप्त हो अर्थात् निषिद्ध समय और स्थलोंमें अध्ययन करनेके कारण हम

से निकला ब्राह्मण फिर वीर्यवान् होनेसे हमको फल देता हुआ हममें आवे ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

पुनरैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।

पुनरग्नयो धिष्यायां यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव १

पुनः । मा । आ । एतु । इन्द्रियम् । पुनः । आत्मा । द्रविणम् ।
ब्राह्मणम् । च ।

पुनः । अग्नयः । धिष्यायाः । यथाऽस्थाम । कल्पयन्ताम् । इह । एव १

इन्द्रियम् इन्द्रेण दत्तं वीर्यम् । ❀ “इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम्”
इति सूत्रेण इन्द्रियशब्दो निपातितः ❀ । यद्वा । ❀ इन्द्रियम्
इति जातावेकवचनम् ❀ । चक्षुरादीन्द्रियाणि । मा मां पुनरैतु
पुनरागच्छतु । आत्मा देहाभिमानि । पुनरैतु इत्यनुषङ्गः । द्रवि-
णम् प्रतिग्राह्यं धनम् । माम् ऐतु इत्यनुषङ्गः । तथा ब्राह्मणम्
मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदश्च । पुनरैतु इति संबन्धः । तथा धिष्यायाः
होत्रादिधिष्येषु विहृता अग्नयः इहैव अस्मिन्नेव विहृतप्रदेशे
यथास्थाम । यथास्थानम् इत्यर्थः । ❀ तिष्ठते: “आतोमनिन्” ❀ ।
पुनः कल्पयन्ताम् समर्थाः प्रवृद्धा भवन्तु ॥

इन्द्रदेवका दिया हुआ वीर्य अथवा चक्षु आदि इन्द्रियें मुझमें
फिर आवें, देहाभिमानि जीवात्मा भी मुझमें फिर आवे, प्राति-
ग्राह्य धन मुझमें आवे, और मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी मुझमें फिर
आवे, होत्र आदि स्थानोंमें विहार करने वाली अग्नियें भी यथा-
स्थानमें फिर समृद्ध होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।

जुपस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

सरस्वति । व्रतेषु । ते । दिव्येषु । देवि । धामसु ।

जुपस्व । हव्यम् । आहुतम् । प्रजाम् । देवि । ररास्व । नः १

हे सरस्वति वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति हे देवि ते तव संबन्धिषु व्रतेषु कर्मसु दिव्येषु दिवि भवेषु देवाहोषु वा धामसु स्थानेषु गार्हपत्यादिरूपेषु । ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि मानानि जन्मानि इति हि यास्कः [नि० ६, २८] ❀ । तेषु स्थानेषु आहुतम् अभिमुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् होतव्यं हविः जुपस्व सेवस्व । किं च हे देवि सरस्वति नः अस्मभ्यं प्रजाम् प्रकर्षेण जायमानां पुत्रादिरूपां ररास्व देहि । ❀ रातेः “बहुलं चन्दसि” इति शपः रतुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली सरस्वती देवि ! आपके कर्मोंमें वा देवयोग्य गार्हपत्य आदि स्थानोंमें आहुत हव्य का आप सेवन करिये । और हे सरस्वति देवि ! आप हमको पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाको पुष्कलतासे दीजिये ॥ १ ॥

दशमी ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं १

यत् ।

इमानि त उदिता शतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम २

इदम् । ते । हव्यम् । घृतञ्चत् । सरस्वति । इदम् । पितृणाम् ।
हविः । आस्यम् । यत् ।

इमानि । ते । उदिता । शम्स्तमानि । तेभिः । वयम् । मधुऽमन्तः ।
स्याम ॥ २ ॥

हे सरस्वति ते त्वदर्थं हूयमानं घृतञ्चत् घृतोपेतं यद् इदं हव्यम्
हविः । पितृणाम् । अर्थायेति शेषः । आस्यम् क्षेपणीयम् ।
❀ असु क्षेपणे । “ऋहलोर्णत्” ❀ । पित्रर्थं हूयमानं यद् इदं
हविः । शंतमानि अस्माकम् अत्यर्थं सुखकराणि यानि इमानि
हवींषि हे सरस्वति ते त्वदर्थम् उदिता उदितानि उक्तानि । ❀ वद
व्यक्तायां वाचि । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । यजादित्वात् संप्रसार-
णम् ❀ । त्वदर्थम् उक्तानि शंतमानि यानि इमानि हवींषि इति
वा योज्यम् । एकत्र श्रुतो यच्छब्दः सर्वत्र संबध्यते । तृतीयपादे
विभक्तिविपरिणामेन योज्यः । तेभिस्तैः त्वदर्थं हुतैर्हविर्भिव्यं मधु-
मन्तः मधुररसोपेतान्नवन्तः स्याम भवेम ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे सरस्वति देवि ! आपके निमित्त जो घृतप्लुत हवि होमी जा
रही है, इसको आप पितरोंके निमित्त प्रेरित करिये । आपके
लिये जो कल्याणप्रद हवि हमने कही है उनसे हम मधुररस भरे
अन्नसे सम्पन्न होजावें ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३८५) ॥

“शिवा नः” “शं नो वातो वातु” इत्यनयोर्वृहद्गणे पाठात्
शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः । “शिवा नः [७. ७१]
शं नो वातो वातु [७. ७२] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन्” [११. ६]
इति हि [कौ० १. ६] सूत्रम् ॥

अभिचारकर्मणि “यत् किं चासौ” इति पञ्चर्चेन मध्यमपलाशेन फलीकरणान् जुहुयात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः “परि त्वाग्ने पुरं वयम्” इत्यनया तण्डुलानां पर्यग्निकरणं कुर्यात् ॥

“ब्रह्मणा शुद्धाः [११. १. १८] इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने पुरं वयम् [७. ७४] इति त्रिः पर्यग्नि करोति” इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १. २] ॥

सोमयागे माध्यन्दिवनसवने धिष्ययाग्निम् अवलोकयन् “परि त्वाग्ने पुरं वयम्” इति ब्रह्मा यजमानश्च जपेत् । “धिष्ययम् अवेक्ष्य परि त्वाग्ने इति जपति ब्रह्मा च” इति [वै० ३. ११] ॥

तथा अग्निचयने उखार्यं परिलिख्यमानं मृत्पिण्डम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “परि त्वाग्ने इति मृत्पिण्डं परिलिख्यमानम्” इति वैतानं सूत्रम् [वै० ५. १] ॥

सोमयागे प्रवर्ग्ये घर्मधुग्दोहार्यम् उत्तिष्ठतः अध्वर्यादीन् “उत्तिष्ठताव पश्यत” इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “घर्मधुग्दोहायोत्तिष्ठत उत्तिष्ठताव पश्यत” इति वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

“शिवा नः” और “शं नो वातु” इन दोनों ऋचाओंका वृद्धरणमें पाठ है अन एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण करने आदिमें विनियोग है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । १ को प्रमाण भी है, कि—“शिवा नः (७ । ७१) शं नो वातु (७ । ७२) अग्निं ब्रूषो वनस्पतीन्” (११ । ६) ॥

अभिचारकर्ममें “यत् किं चासौ” इस पञ्चर्चसे मध्यमपलाश के द्वारा फलीकरणोंकी आहुति देय ।

दर्शपूर्ण मासमें “परि त्वाग्ने पुरं वयम्” ऋचासे तण्डुलोंका पर्यग्निकरण करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । २ का प्रमाण भी है, कि—

“ब्राह्मण शुद्धाः (११ । १ । १८) इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने
पुरं वयम् (७ । ७४) इति त्रिः पर्यग्निकरोति” ॥

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें धिष्ण्याग्निको देखता हुआ
“परि त्वाग्ने पुरं वयम्” ऋचाका ब्रह्मा और यजमान जप करें
इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि—“धिष्ण्यम्
अवेक्ष्य परि त्वाग्ने इति जपति ब्रह्मा च” ॥

तथा अग्निचयनमें कुण्डके लिये फोड़ी जाती हुई मिट्टीका ब्रह्मा
इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । १ का
प्रमाण भी है, कि—“परि त्वाग्ने इति मृत्पिंडं परिलिख्यमानम्” ॥

सोमयागके प्रवर्ग्यमें घर्म दुग्दोहके लिये उठतेहुए अध्वर्यु आदिका
ब्रह्मा “उत्तिष्ठतावपश्यत” ऋचासे अनुमन्त्रण करे, इस विषयमें
वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“घर्म दुग्दोहायोत्तिष्ठत
उत्तिष्ठतावपश्यत” ॥

तत्र प्रथमा ॥

शिवा नः शंतमा भव सुमृतीका सरस्वति ।

मा ते युयोम संदृशः ॥ १ ॥

शिवा । नः । शम्स्तमा । भव । सुमृतीका । सरस्वति ।

मा । ते । युयोम । समृदृशः ॥ १ ॥

हे सरस्वति वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति वाग्देवते शिवा सर्व-
सुखरूपा त्वं नः अस्माकं शंतमा अत्यर्थं रोगनिर्हरणक्षमा भव ।
☉ शं योरित्यत्र यास्केन शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्
[नि० ४. २१] इत्युक्तम् ☉ । यद्वा अत्यर्थं सुखपदा भव ।
सुमृतीका । ☉ “मृतीकम्” इति सुखनाम ☉ । शोभनसुखपदा
भव । शंतमेति सुमृतीकेति पदद्वयेन फलविशेषेण सुखदाने तार-

तन्म्यम् उक्तम् इति मन्तव्यम् । हे सरस्वति ने तव संदृशः समीची-
नाद् दर्शनाद् ययार्यस्वरूपज्ञानाद् मा युयोम पृथग्भूता मा भवेम ।
☉ यौतेलोति टत्तमवद्बुवचने शपः श्लुः । “अनित्यम् आगमशास-
नम्” इति आहभावः । व्यत्ययेन गुणः ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली वाग्देवते सरस्वति !
सर्वमुखरूपा आप हमारे रोगको पूर्णरूपसे शान्त करने वाली
हूजिये । शोभन मुख देने वाली हूजिये । हे सरस्वति ! आपके
ययार्यस्वरूपके दर्शनसे हम कभी वञ्चित न हों ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।

अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुपा
नो व्युञ्चतु ॥ १ ॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः ।

अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्री । प्रति । धीयताम् ।

शम् । उपाः । नः । वि । उञ्चतु ॥ १ ॥

वातः वहिः संचरन् वायुः नः अस्माकं शं वातु मुखकरः सन्
चरतु । तथा सूर्यः सृष्टु सर्वस्य प्रेरक आदित्यः नः अस्माकं शम्
मुखं तपतु संतापकारी मा भवतु । अहानि दिनानि च नः अस्माकं
शं मुखं भवन्तु । अहस्मि मुखम् अस्माकं भवत्वित्यर्थः । रात्री ।
☉ “रात्रेश्चाजसौ” इति ङीप् । जातावेकवचनम् ☉ । शम् मुखं
प्रति धीयताम् प्रतिदधातु सन्दधातु । न इत्यनुपङ्गः । ☉ दधातेर्व्य-
त्ययेन कर्त्तरि कर्मप्रत्ययः ☉ । यद्वा । ☉ घीङ् आधारे इति दिवादाँ
पठ्यते ☉ । रात्री शम् मुखं यया भवति तथा प्रति धीयताम् ।

प्रतितिष्ठत्वित्यर्थः । तथा उषाः उपःकालः । ॐजातावेकवचनम् ॐ ।
उपसः नः अस्माकं शम् सुखं यथा भवति तथा व्युच्छतु विवा-
सिताः प्रकाशिता भवन्तु । ॐ उद्धी विवासे ॐ ॥

बाहर विचरण करने वाले वायुदेव ! हमें सुखदायक होते हुए
विचरण करें । तथा सुखपूर्वक सबको प्रेरित करने वाले सूर्यदेव
हमें सुखप्रद ताप दें, सन्ताप न दें । दिन हमें सुखदायक हों अर्थात्
दिवसोंमें हमको सुख हो, रात्रि हमें सुख दें और उपःकाल हम
को सुखदायक होते हुए उदित हों ॥ १ ॥

तृतीया ॥

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा
यजुषा ।

तन्मृत्युना निश्च्युतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं
हन्त्वस्य ॥ १ ॥

यत् । किम् । च । असौ । मनसा । यत् । च । वाचा । यज्ञैः ।
जुहोति । हविषा । यजुषा ।

तत् । मृत्युना । निःश्च्युतिः । सम्ऽविदाना । पुरा । सत्यात् ।
आऽहुतिम् । हन्तु । अस्य ॥ १ ॥

असौ । अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची । दूरस्थः शत्रुः यत् किं च
कर्म शत्रुहननरूपं मनसा । कर्तुं ध्यायतीत्यध्याहारः । यच्च कर्म
वाचा । करोमीति वदतीत्यध्याहारः । तथा यज्ञैः अभिचारकर्मभिः
हविषा तदुचितेन द्रव्येण यजुषा मन्त्रेण जुहोति होमं करोति ।
अस्य प्रतिपन्ननिवारणार्थं मनोवाकायैरुपायं कुर्वतः शत्रोः तत्

मनसा ध्यातं वाचा उक्तं 'कर्म आहुतिम् क्रियया निष्पाद्यमानं होमकर्म सत्यात् सत्यभूतात् कर्मफलात् पुरा पूर्वमेव निश्च्यतिः पापदेवता मृत्युना संविदाना ऐकमत्यं प्राप्ता सती हन्तु विनाशयत् । शत्रुणा करणत्रयेण अस्मद्विषये क्रियमाणम् अभिचारकर्म यावत् फलमदं भवति तस्मात् पूर्वमेव मृत्युसहिता पापदेवता तं शत्रुं विनाशयत्वित्यथः । ❀ संविदानेति । संपूर्वाद् वेत्तेः "समो गम्यच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

यह दूरस्थ शत्रु शत्रुहनन आदिरूप कर्मको मनमें करनेका ध्यान कर रहा हो, और जिस कर्मको वाणीसे "करता हूँ" कह रहा हो और अभिचारकर्मोंसे हवियोंसे और मंत्रोंसे जो होम कर रहा हो तो इस मन वाणी वा शरीरसे उपाय करने वाले मनमें विचारे हुए, वाणीसे कहे हुए वा आहुतिके द्वारा निष्पन्न होने वाले होम कर्मके सत्य होनेसे पहिले ही पापदेवता निश्च्यतिमृत्यु के साथ एकमत होकर नष्ट कर देय । अर्थात् शत्रुका तीनों प्रकार से हमारे लिये किया हुआ कर्म जब तक फलमद हो उससे पहिले ही मृत्युकी सहायतासे पापदेवता उस शत्रुको नष्ट कर डाले ॥१॥

चतुर्थी ॥

यातुधाना निश्च्यतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वन्वृतेन सत्यम्
इन्द्रेपिता देवा आज्यमस्य मध्नन्तु मा तत् संपादि
यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

यातुधानाः । निःश्च्यतिः । आत् । ऊं इति । रक्षः । ते । अस्य ।

घ्नन्तु । अन्वृतेन । सत्यम् ।

इन्द्रोऽपिताः । देवाः । आज्यम् । अस्य । मथ्नन्तु । मा । तत् ।
सम् । पादि । यत् । असौ । जुहोति ॥ २ ॥

यातुधाना । यातन्नो यातनाः पीडास्तासां धानं निधानं यस्याम्
अस्तीति सा यातुधाना परपीडाकारिणी निश्च॑तिः निकृष्टगमना
पापराक्षसी । आदु । अपि चेत्यर्थः । रक्षः राक्षसः । ते निश्च॑ति-
राक्षसाः अस्य शत्रोः सत्यम् यथार्थं कर्मफलम् अनृतेन असत्येन
फलेन घ्नन्तु विनाशयन्तु । यथा शत्रुणा अस्मद्विषये क्रियमाणम्
अभिचारकर्म स्वोचितफलप्रदं न भवति किं तु विपरीतफलप्रदं
भवति तथा कुर्वन्तु इत्यर्थः । फलप्रतिबन्धं प्रार्थ्य तदीयकर्मणो
बाधां प्रार्थयते । इन्द्रेविताः इन्द्रेण प्रेरिता देवाः अस्य शत्रोः
आज्यम् आज्यसाधनं होमकर्म मथ्नन्तु विनाशयन्तु । ❀ मन्थ
विलोडने । क्रयादिः ❀ । असौ शत्रुः यज्जुहोति अस्मद्बाधार्थं
यत् कर्म करोति तत् कर्म मा सं पादि मा संपन्नं भवतु । फल-
प्रदं न भवत्वित्यर्थः । यद्वा अङ्गविकलं भवतु । ❀ पद गतौ ।
“चिण् ते पदः” इति कर्तरि च्लेशिण् आदेशः ❀ ॥

यातनाओंकी खजाना यातुधानी पापराक्षसी निश्च॑ति और
राक्षस शत्रुके यथार्थ कर्मफलको असत्यसे नष्ट करदे अर्थात्
शत्रुका हमारे लिये किया हुआ अभिचारकर्म जिस प्रकार उचित
फल देने वाला न हो किंतु विपरीत फल देने वाला होजाय तैसा
करे । (फलप्रतिबन्धकी प्रार्थना कर उसके कर्मके बाधाकी प्रार्थना
करते हैं, कि- इन्द्रदेवके प्रेरित देवता इस शत्रुके घृतसाधन होम-
कर्मको नष्ट कर डालें यह शत्रु हमको बाधा देनेके लिये जिस
कर्मको कर रहा है वह सम्पन्न न हो अर्थात् फलप्रद न हो,
अंगविकल होजावे ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

अजिराधिराजो श्येनो संपातिनाविव ।

आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ।३।

अजिरऽअधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौऽइव ।

आज्यम् । पृतन्यतः । हताम् । यः । नः । कः । च । अभिऽअघायति३

अजिराधिराजौ । ❀ अज गतिकेपणयोः इत्यस्माद् अजिर-
जिगिर० [उ० १. ५३] इति मूत्रेण अजिरशब्दो निपातितः ❀ ।
शत्रुक्षेपणसमर्थः अजिरः । अधिश्चो राजा अधिराजः ।
❀ “रागाढःसन्निभ्यष्टच्” इति टच् समासान्तः ❀ । एतन्ना-
मानो मृत्युदूतो संपातिनो आकाशमार्गाद् द्वेष्यस्य पक्षिण उपरि
निष्पतनशीलो श्येनो एतन्नामधेयो पक्षिणाविव पृतन्यतः संग्रा-
मेच्छोः पुरुषस्य आज्यम् घृतसाधनकं होमकर्म हताम् हिंस्ताम् ।
❀ हन हिंसागत्योः । लोटि तसस्ताम् आदेशः ❀ । पृतन्यच्छब्दा-
र्थम् आह । यः कश्च शत्रुः नः अस्मान् अघायति अभि-
मुखं हिंसारूपं पापं कर्तुम् इच्छति तस्य आज्यं हताम् इति संबंधः ।
❀ अघशब्दात् “अन्दसि परेच्छायाम्” इति यच्चि “अश्वाघ-
स्याम्” इति आचक्षम् ❀ ॥

अजिर और अधिराज नाम वाले मृत्युके दूत, आकाशमार्ग
से शत्रुपक्षी पर गिरने वाले बाजोंकी समान, संग्राम करना चाहने
वाले पुरुषके घृतसाधनक होमकर्मको नष्ट कर डालें और जो
शत्रु हमारे अभिमुख आकर हिंसारूप पापको करना चाहता है
उसके घृतसे सिद्ध होने वाले होमको नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

पष्ठी ॥

अपाञ्चौ त उभौ वाह् अपि नह्याम्यास्यम् ।

अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेवधिषं हविः ॥ ४ ॥

अपाञ्चौ । ते । उभौ । वाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।
अग्नेः । देवस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥४॥

अनेन अग्नेन शत्रुं संबोध्य ब्रूते । हे अस्मद्विषये अभिचारकर्तः
ते तव उभौ वाहू होमकर्मणि व्यापृतौ पाणी अपाञ्चौ अपाञ्चनौ
पृष्ठभागसंबद्धौ अपि नह्यामि बध्नामि । यथा होमकरणशक्तौ न
भवतः तथा करोमि । तथा आस्यम् मन्त्रोच्चारणसमर्थं मुखम् अपि
नह्यामि यथा बध्नात् होमसाधनभूतमन्त्रा नोद्गच्छन्ति तथा करोमि ।
तेन वाहास्यबन्धनेन कारणेन देवस्य । ❀ दीव्यतेर्विजिगीषा-
र्थात् पचाद्यच् ❀ देवस्य विजयमानस्य अग्नेः मन्युना तेजसा
क्रोधेन वा ते तव हविः होतव्यं द्रव्यं तत्साधनकं कर्म अवधिषम्
हनिष्यामि । ❀ हन्तेश्छान्दसो लुङ् ❀ ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्मको करने वाले शत्रो ! होमकर्म में
रांलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं पीठकी ओर करके बाँधता हूँ
अर्थात् जिस प्रकार वे होम करनेमें समर्थ न रहें तिस प्रकार
बाँधता हूँ । और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधता
हूँ अर्थात् तेरे मुखसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें तिस
प्रकार करता हूँ । और इस बाहुमुखबन्धनके कारण विजयमान
अग्निदेवके क्रोधसे मैं तेरे कर्मको नष्ट कर डालूँगा ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

अपि नह्यामि ते वाहू अपि नह्याभ्यास्यम् ।

अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अपि । नह्यामि । ते । वाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।

अग्नेः । घोरस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिपम् । हविः ॥५॥

पूर्वमन्त्रसमानार्थत्वात् पूर्वेण व्याख्यातकल्पोयं मन्त्रः । घोरस्य भयङ्करस्य इति विशेषः ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्म करने वाले शत्रो ! होमकर्ममें संलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं पीठकी ओर करके बाँधता हूँ अर्थात् वे जिस प्रकार होम करनेमें असमर्थ रहें तिसप्रकार बाँधता हूँ, और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधना हूँ अर्थात् तेरे मुखमेंसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें, तिस प्रकार करता हूँ और इस कारण अग्निदेवके भयङ्कर क्रोधसे तेरी हविसे सिद्ध होने वाली इष्टिको मैं नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

परिं त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।

धृपद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

परिं । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।

धृपत्स्वर्णम् । दिवेऽदिवे । हन्तारम् । भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

हे सहस्य । सह इति बलनाम । तस्मै हितम् । “तस्मै हितम्” इति यत् । सहसो बलाद् वा जात । मथनेन निपन्नत्वात् । “भवे द्दन्दसि” इति यत् मत्ययः । तादृश हे अग्ने पुरम् पूरकं कर्षफलानां विप्रम् । मेधाविनामैतत् । मेधाविनं त्वा त्वां वयं परि धीमहि रक्षसाम् अपहननाय परितो धारयायः परिधि वा कुर्मः । दधातेलिङि द्विर्वचनाभावश्चान्दसः । शपो वा लुक् । अग्निं विशिनष्टि । धृपद्वर्णम् धर्षकरूपं भङ्गुरावतः भङ्ग-शीलकर्मवतो रक्षसः दिवेदिवे अन्वहं हन्तारम् विनाशयितारम् ॥

हे मय कर बलपूर्वक उत्पन्न करे हुए अग्ने ! हम कर्मफलोंके
 पूरक आप विद्वान्को राक्षसोंका संहार करनेके लिये चारों
 ओरसे धारण करते हैं, हे अग्निदेव ! आपका रूप घर्षक है और
 यज्ञ आदिको भंग करनेके स्वभाव वाले राक्षसोंका आप प्रति-
 दिन संहार कर डालते हैं ॥ १ ॥

नवमी ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागश्रुत्वियम् ।

यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । अव । पश्यथ । इन्द्रस्य । भागम् । श्रुत्वियम् ।

यदि । श्रातम् । जुहोतन । यदि । अश्रताम् । ममत्तन ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः उत्तिष्ठत आसनाद् ऊर्ध्वं तिष्ठत नोपविशत ।
 ❀ ऊर्ध्वकर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः ❀ । उत्थाय च ऋत्वियम्
 ऋतौ वसन्तादिकाले भवम् इन्द्रस्य भागम् भजनीयं घर्मं पच्य-
 मानम् अव पश्यत निरीक्षध्वम् । ❀ ऋतुशब्दाद् भवार्थे “इन्द्रसि
 घस्” । “सिति च” इति पदसंज्ञया भसंज्ञाया वाधाद् ओर्गुणा-
 भावः । भजेः कर्मणि घञन्तो भागशब्दः ❀ । श्रातम् । हविः-
 परतया नपुंसकत्वम् । यदि स भागः श्रातः परस्तर्हि जुहोतन
 इन्द्रार्थम् अग्नौ जुहुत । ❀ “तप्तनप्तनयनाश्च” इति तस्य तनवा-
 देशः । पिच्वाद् गुणः ❀ । अश्रातम् । अत्रापि हविःपरतया
 नपुंसकत्वम् । यदि अश्रातः अपक्वस्तर्हि ममत्तन पचत । तप्तानाम्
 अपां मदन्तीशब्दव्यवहारदर्शनाद् अत्र मनत्तनेति शब्दस्य तप्तं
 कुरुतेत्यर्थो युक्तः । यद्वा यदि अपक्वस्तर्हि पाकपर्यन्तं ममत्तन इन्द्रं
 स्तुतिभिर्मदयतेति । ❀ श्रीवृपाके इत्यस्माद् निष्ठा[याम्] “अप-
 स्पृधेयाम् आनृचुः०” इति सूत्रे श्राभावो निपात्यते ❀ ॥

हे ऋत्विजों ! आसनसे ऊपरको उठो, बैठे न रहो और उठ कर वसन्त आदिक ऋतुमें होने वाले गद्यमें इन्द्रके वनते हुए (पकने हुए) भागका निरीक्षण करो, यदि भाग पक्व होगया हो तो उसकी इन्द्रके लिये अग्निमें आहुति दो और पक्व न हुआ हो तो पकने तक इन्द्रको रतुतियोंसे प्रसन्न करते रहो ॥ १ ॥

दशमी ॥

श्रा॒तं ह॒विरो ऽ॒ग्नि॒न्द्र प्र या॒हि ज॒गाम॒ सूर॒ो अ॒ध्व॒नो
वि म॒ध्यम् ।

परि॑ त्वा॒सते नि॒धिभिः॑ सखा॒यः कु॒ल॒पा न ब्रा॑ज॒पतिं
चर॑न्तम् ॥ २ ॥

श्रा॒तम् । ह॒विः । ओ इति॑ । सु । इ॒न्द्र । प्र । या॒हि । ज॒गाम ।

सूरः॑ । अध्व॒नः । वि । म॒ध्यम् ।

परि॑ । त्वा । आ॒सते । नि॒धिभिः॑ । सखा॒यः । कु॒ल॒पाः । न ।

ब्रा॒ज॒पतिम् । चर॑न्तम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र हविः दधिघर्माल्यं त्वदीयं श्रातम् पक्वम् । ओ आ उ सु सुष्ठु मा याहि प्रकर्षेण शीघ्रम् आगच्छ । सूरः सूर्यः अध्वनः गन्तव्यस्य मार्गस्य वि मध्यम् विकलं मध्यम् ईषद् ऊनं मध्यभागं जगाम गतवान् । तव यागार्थं मध्याह्नो जात इत्यर्थः । सखायः समानख्याना ऋत्विजश्च निधिभिः निहितैः अभिपुत्र्य आसादितैः सोमैः सार्धं त्वा त्वा पर्यासते पथुपासते । तत्र दृष्टान्तः । कुलपा न । कुलस्य वंशस्य रक्षकाः पुत्रा यथा वाजपतिम् ब्राजा गन्तव्या गृहास्तेषां पतिं चरन्तम् गच्छन्तम् उपासते तथेत्यर्थः ।

❀ व्रज गतौ । अस्मात् कर्मणि घञ् । “अजिब्रज्योश्च” इति कुत्वनिषेधः ❀ ॥

[इति] षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी दधिघर्म नामक हवि पक्क होगई है, इसलिये आप शीघ्रतासे आइये, सूर्यदेव आघेसे कुब्ज ही कम मार्गमें पहुँच चुके हैं अर्थात् आपके यागके लिये मध्याह्न होगया है । और आपकी समान प्रसिद्धि वाले ऋत्विज भी निचोड़ कर रखे हुए सोमोंको लिए हुए आपकी इस प्रकार उपासना कर रहे हैं, जिस प्रकार कुलके रक्षक पुत्र विचरण करते हुए गृहपति की उपासना करते हैं ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (३९०) ॥

अग्निष्टोमे प्रवर्ग्ये ह्यमानम् आज्यं “श्रातं मन्ये” इति सूक्तेन ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “उप ह्ये [७. ७७. ७] इति घर्मदुघाम् । घर्मसूक्तेन [७. ७७] घर्म ह्यमानम्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

अग्निष्टोमे माध्यन्दिनसवने दधिघर्महोमं “श्रातं मन्ये” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “श्रातं मन्ये इति दधिघर्महोमम् । घर्मवद्भक्तः इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. ११] ॥

प्रवर्ग्ये होतृकर्तृकं वषट्कारम् अनुवषट्कारं च “स्वाहाकृतः” इति द्वाभ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य वषट्कृतेनुवषट्कृते” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

प्रवर्ग्ये दुह्यमानां घर्मदुघाम् “उप ह्ये” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । वैताने सूत्रितम् । “उप ह्ये इति घर्मदुघाम्” इति [वै० ३. ४] ॥

प्रवासं करिष्यन् “स्यवसात्” इत्यनया स्वकीयान् पशून् अभिमन्त्रयेत् । “स्यवसाद् इति स्यवसे पशून् अभिमन्त्रयते” इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ३. ७] ॥

मधुपर्के उत्सृष्टां गाम् अनया अभ्यागतोनुमन्त्रयेत् । “सूयवसाद् इति प्रतिष्ठमानाम्” इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १२, ३] ॥

अग्निष्टोमके प्रवर्ग्यमें होमे जाने वाले घृतका “श्रातं मन्ये” इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“उपह्वये (७ । ७७ । ७) इति घर्मदुघाम् घर्मसूक्तेन (७ । ७७) घर्मं ह्यमानम्” ॥

अग्निष्टोमके मा-यन्दिनसवनमें दधिघर्म होमका “श्रातं मन्ये” से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि—“श्रातं मन्य इति दधिघर्म होमम् । घर्मं वद्भक्तः” ॥

प्रवर्ग्यमें होतृकर्तृक वपट्कार और अनुवपट्कारका “स्वाहाकृतः” इन दोसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य वपट्कृतेऽनुवपट्कृते” ॥

प्रवर्ग्यमें दुही जाती हुई घर्मदुघाका “उप ह्वये” से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण है, कि—“उप ह्वय इति घर्मदुघाम्” ॥

प्रवास करते समय पुरुष “सूयवसात्” ऋचासे आपने पशुओं का अभिमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ में कहा है, कि—“सूयवसात् इति सूयवसे पशून् अभिमन्त्रयते” ॥

मधुपर्कमें उत्सृष्ट गौका अभ्यागत इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १२ । ३ का प्रमाण भी है, कि—“सूयवसादिति प्रतिष्ठमानाम्” ॥

तत्र प्रथमा ॥

श्रातं मन्य ऊर्ध्वनि श्रातमृग्नौ सुश्रुतं मन्ये तदृतं नवीयः
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरु-
कृञ्जुपाणः ॥ १ ॥

श्रातम् । मन्ये । ऊधनि । श्रातम् । अग्नौ । सुऽशृतम् । मन्ये ।
तत् । ऋतम् । नवीयः ।

माध्यन्दिनस्य । सवनस्य । दध्नः । पित्र । इन्द्र । वज्रिन् । पुरुऽकृत् ।
जुपाणः ॥ १ ॥

ऊधनि गोरुधसि एतद् दधिघर्माख्यं हविः पयोरूपेण श्रातम् पक्वम् इति मन्ये जाने । पुनश्च दुग्धं पयः अग्नावपि श्रातम् पक्वम् इदानीं दध्यवस्थमपि अग्नौ पच्यते । ❀ श्रीब्पाके इत्यस्मात् निष्ठा-याम् “अपस्पृधेधाम्” इति सूत्रे आभावो निपात्यते ❀ । अतः सुऽशृतम् सुपक्वम् इति मन्ये जाने । ❀ आ पाके इत्यस्माद् आदा-दिकाग्निष्टायां कर्मकर्तरि “शृतं पाके” इति निपात्यते ❀ । अत एव तत् हविः ऋतम् सत्यभूतं नवीयः नवतरं मत्यग्रतरं भवति । हे वज्रिन् वज्रवन् हे पुरुकृत् बहुकर्मकृद् इन्द्र जुपाणः प्रीयमा-णस्त्वं माध्यन्दिनस्य मध्यन्दिने भवस्य सवनस्य स्रयमानस्य सोमस्य संबन्धिनो दध्नः । ❀ कर्मणि पठि ❀ । दधि दधि-घर्माख्यं हविः पित्र ॥

गौके ऐनमें यह दधिघर्म नामक हवि दुग्धरूपसे पक्व होती है यह मैं जानता हूँ और इस समय दधिकी अवस्थामें भी अग्निमें पक रहा है । अत एव यह सुपक्व है, इस बातको मैं जानता हूँ, अत एव यह हवि सत्य और नवीन है हे अनेकों कर्मोंको करनेवाले वज्र-धारिन् इन्द्र ! आप प्रसन्नतामें भर कर इस मध्य दिनमें निचोड़े हुए सोम पड़े दहीकी दधिघर्म नाम वाली हविको पीजिये ॥१॥

द्वितीया ॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्नसो घर्मो दुह्यते
वामिपे मधु ।

वयं हि वां पुरुदमांसो अश्विना हवामहे सधमादेषु
कारवः ॥ १ ॥

सम्^{२१}ऽद्भः । अग्निः । वृषणा । रथी । दिवः । तप्तः । घर्मः ।

दुहते । वाम् । इषे । मधु ।

वयम् । हि । वाम् । पुरुदमांसः । अश्विना । हवामहे ।

सधस्मादेषु । कारवः ॥ १ ॥

एतदादीनाम् ऋचां प्रवर्ग्य एव लिङ्गानुसाराद् आश्वलाय-
नेन विनियोग उक्तः । तत्र इयम् उत्तरा च दुहते इति लिङ्गेन घर्म-
दुघादोहनसमये विनियुक्ते । हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य
वर्षितारौ हे अश्विनौ दिवः द्युलोकस्य । ॐ तात्स्थ्यात् ताच्छ-
ब्दम् ॐ । द्युलोकस्थितस्य देवगणस्य रथी रथिकः । नेतेत्यर्थः ।
“अग्निमुखा वै देवाः” इति श्रुतेः । तादृशोग्निः समिद्धः सम्यग्
दीप्तः । तेनाग्निना घर्मः महावीरपात्रस्थम् आज्यं तप्तः सम्यक्
पक्वम् । अनन्तरं वाम् युवयोः । ॐ युष्मच्छब्दस्य पृष्ठीद्विवचनं
वाम् इत्यादेशः ॐ । युवयोः इषे अन्नाय मधु मधुररसोपेतं मधुवत्
प्रीणनकारि वा पयः दुहते । गौरध्वयुभिः इति शेषः । ॐ दुह
प्रपूरणे । कर्मणि यक् । दुहेद्विकर्मकत्वाद् “अकथितं च” इति
मधुनः कर्मत्वे द्वितीया ॐ । हे अश्विना अश्विनौ वाम् युवाम् ।
ॐ युष्मदो द्वितीयाद्विवचने वाम् आदेशः ॐ । पुरुदमांसः । दम
इति गृहनाम । बहुगृहाः । पृष्णातेः पुरुशब्दः । हविः पूर्णगृहा वा ।
कारवः स्तोत्रनामैतत् । ॐ करोतेः कृवापाजिमि० इति [उ०१.१]
उण् प्रत्ययः ॐ । स्तुतिकर्तारो वयं हि वयं खलु होतारः सध-
मादेषु । सह माद्यन्ति देवा अत्रेति सधमादा यज्ञाः । ॐ माद्यतेः

अधिकरणे घञ् । “सद्य मादस्थयोश्चन्दसि” इति सहस्यं सधा-
देशः ॐ । यज्ञेषु हवामहे आह्वयामः ॥

हे अभीष्ट फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों ! आप
ध्रुवलोकमें स्थित देवताओंके नेता हैं । और “अग्निमुखा वै देवाः”
इस श्रुतिके अनुसार महिमासम्पन्न प्रदीप्त अग्निदेवके द्वारा दीप्त
महावीर नामक पात्रमें स्थित घृत भली प्रकार पक्व होगया है,
और आपके भक्षण करनेके लिये अध्वर्युओंने गौसे मधुर रस
सम्पन्न दुग्ध भी दुह लिया है । हे अश्विनीकुमारों ! आप दोनों
को हविसे पूर्ण घर वाले हम स्तोता यज्ञोंमें बुलाते हैं ॥ १ ॥

तृतीया ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।

दुहन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दत्ता मदन्ति वेधसः २

सद्इद्धः । अग्निः । अश्विना । तप्तः । वाम् । घर्मः । आ । गतम् ।

दुहन्ते । नूनम् । वृषणा । इह । धेनवः । दत्ता । मदन्ति । वेधसः

हे अश्विना अश्विनौ अग्निः समिद्धः संदीप्तः । तेन वाम्
युवाभ्याम् । ॐ युष्मच्छब्दस्य चतुर्थीद्विवचने वाम् इति आदेशः ॐ ।

युवयोरर्थाय घर्मः महावीरस्थितम् आज्यं तप्तः सम्यग्दीप्तम् ।

अतः आगतम् आगच्छतम् । घर्मरूपं हविर्भोक्तुम् इति शेषः ।

ॐ गमेश्चान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेर्लुकि “अनुदा-
चोपदेश०” इति अनुनासिकलोपे रूपम् । लोटि वा विकरणस्य

लुक् ॐ । हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षितारौ युवयोरर्थाय

इह प्रवर्ग्याख्ये कर्मणि धेनवः प्रीणयिष्यो गावो नूनम् अत्यर्थ

दुहन्ते पयः ॐ । दुहेर्द्विकर्मकत्वात् पय इति कर्मणा अन्येन

भाव्यम् ॐ । अतः दत्ता दत्तौ शत्रूणाम् उपक्षपयितारौ अश्विनौ

वेधसः । ❀ विध विधाने इत्यस्माद् अमृन् ❀ । स्तुत्या परि-
चरन्तो होतारः मदन्ति मदयन्ति । स्तुतिभिरिति होतॄणां परो-
क्षेण अभिधानम् । ❀ माद्यतेऽपिचि “मदी हर्षग्लपनयोः” इति
मिच्वेन ह्रस्वत्वम् । “छन्दस्युभयथा” इति भेः आर्धधातुकत्वेन
णिलोपः ❀ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! अग्नि प्रदीप्त होरहे हैं और उनके द्वारा
आपके निमित्त महावीर पात्रमें रखवा हुआ घृत भली प्रकार
तप गया है, अतः आप धर्मरूप हविका भोग लगानेके लिये
आइये । हे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों !
आपके निमित्त इस प्रवर्ग्य नामक कर्ममें धेनुएँ बहुतसा दूध
देरही हैं, अतः शत्रुओंको ध्वस्त करने वाले अश्विनीकुमारोंकी
स्तुतिसे सेवा करते हुए होता आनन्दमें मग्न होरहे हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

स्वाहा॑कृत॒ शुचि॑र्दे॒वेषु॑ य॒ज्ञो यो अ॒श्विनो॑श्चम॒सो दे॒व-
पानः॑ ।

तमु॑ विश्वे॑ अ॒मृता॑सो जु॒पाणा॑ गन्ध॒र्वस्य॑ प्रत्या॒स्ना
रिह॑न्ति ॥ ३ ॥

स्वाहा॑कृतः । शुचिः॑ । दे॒वेषु॑ । य॒ज्ञः । यः । अ॒श्विनोः॑ । च॒मसः॑ ।
दे॒व॒ष्पानः॑ ।

तम् । ऊँ॑ इति । विश्वे॑ । अ॒मृता॑सः । जु॒पाणाः॑ । गन्ध॒र्वस्य॑ । प्रति॑ ।
आ॒स्ना । रिह॑न्ति ॥ ३ ॥

स्वाहाकृतः इति लिङ्गाद् घर्मयागानन्तरम् इयं पठनीयेति आश्व-
लायनेनोक्ता । शुचिः दीप्तो यज्ञः प्रवर्ग्याख्यो देवेषु अश्विमभृ-

तिष्ठ । अथ वा देवशब्देन अश्विनावुच्येते । प्रवर्ग्ये तयोरेव यष्ट-
व्यत्वात् । ❀ बहुवचनं तु पूजायाम् । विषयसप्तमी ❀ । देवविषये
स्वाहाकृतः । स्वाहाशब्दो दानवाचकः । दत्त इत्यर्थः । न चात्र
स्वाहाकारेण हविर्हूयते किं तु वषट्कारेण । देवपानः देवो अश्विनो
पिवतः अत्रेति देवपानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । तादृशः अश्विनो-
श्चमसः । ❀ चमतेर्भक्त्यर्थार्थाद् औणादिकः असप्रत्ययः ❀ । भक्षण-
साधनो य उपयमनाख्यः पात्रविशेषोस्ति तमु तमेव चमसं विश्वे
सर्वे अमृतासः अमृताः अमरलधर्माणो देवा अग्न्यादयो जुषाणाः
प्रीयमाणाः । ❀ हेत्वर्थे जुषे शानच् प्रत्ययः ❀ । प्रीतेर्हेतोः गन्ध-
र्वस्य । गां वेदरूपां वाचं धारयतीति गन्धर्वः आदित्यः । तथा च
तैत्तिरीयके आदित्यस्य वेदसाहित्यं श्रूयते । “ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि
देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते ।
वेदैरशुन्यस्त्रिभिरेति सूर्यः” इति [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] ।
❀ गोशब्दोपपदाद् धृजो “गवि गं धृजो चः” इति वप्रत्ययः गो-
शब्दस्य गम् इत्यादेशः ❀ । तस्यादित्यस्य । राज्ञावादित्यस्य
अग्नावनुमवेशात् तदभेदेन अग्निर्वा गन्धर्वः । तस्य आसना आस्येन ।
❀ “पहन्नः०” इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ ।
प्रति रिहन्ति प्रत्येकं लिहन्ति आस्वादयन्ति । “त्वामग्न आदि-
त्यास आस्यम्” इति हि [ऋ० २. १. १३] मन्त्रवर्णे अग्नि-
रूपेण आस्येन देवा हविर्भक्षयन्तीति स्पष्टम् आम्नातम् ॥

(स्वाहाकृतः लिगसे घर्मयागके अनन्तर इसका पाठ करना चाहिये, यह आशलायन मुनिने कहा है, और देवशब्दसे यहाँ अश्विनीकुमारोंका ग्रहण किया गया है और आदर करनेके लिये बहुवचन दिया गया है, क्योंकि—प्रवर्ग्ये अश्विनीकुमारोंका ही यजन होता है । श्रीरहस्यमन्त्रका स्वाहाशब्द दानवाचक है, यहाँ स्वाहाकारसे हवि नहीं होपी जाती है, किंतु वषट्कारसे हवि

होमी जाती है । गंधर्व शब्दका अर्थ सूर्य है, क्योंकि-वह वेदरूपा
वाणीको धारण करते हैं । तैत्तिरीयकमें आदित्यका वेदसाहित्य
इस प्रकार वर्णित है, कि-“ऋग्भिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते ।
यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदेर-
ग्रान्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ।-पूर्वाह्नके समय दिवमें देव ऋग्वेदकी
ऋचाओंसे सम्पन्न रहते हैं, और मध्याह्नके समय यजुर्वेदमें रहते
हैं और अस्तके समय सामवेदसे महीयमान होते हैं, इस प्रकार
तीनों वेदोंसे भरेहुए सूर्यदेव आरहे हैं” तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।६।१
और गंधर्व शब्दसे अग्निका ग्रहण होसकता है, क्योंकि-रात्रिमें
आदित्यका अग्निमें प्रवेश होता है अतएव अभेदवश अग्निको ही
यहाँ गंधर्वशब्दसे कहा है । और भी एक बात है, कि-ऋग्वेद-
संहिता २।१।१३ में स्पष्टरीतिसे कहा है, कि-अग्निस्वरूप
मुखसे देवता हविका भक्षण करते हैं । यथा-“त्वामग्न आदित्यास
आस्यम्”) मदीप्त मवर्ग्य नामक यज्ञ अश्विनीकुमारोंके लिये
हुआ है । और जो अश्विनीकुमारोंके पानका पात्र उपयमन नामक
भक्षणपात्र है उसी चमसको मत्येक अमर देवता अग्निरूप मुखसे
चाटते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

यदुक्षियास्वाहुतं घृतं पयोयंस वामश्विना भाग आ
गतम् ।

माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं धर्मं पिवंतं रोचने
दिवः ॥ ४ ॥

यत् । उक्षियासु । आऽहुतम् । घृतम् । पयः । अयम् । सः ।
वाम् । अश्विना । भागः । आ । गतम् ।

माध्वी इति । धर्तारौ । विदधस्य । सत्पती इति सत्पती । तप्तम् ।
धर्मम् । पिवतम् । रोचने । दिवः ॥ ४ ॥

एषा ऋक् पिवतम् इति लिङ्गाद् घर्मयागे याज्यात्वेन आश्व-
लायनेन विनियुक्ता । उस्त्रियासु । गौनामैतत् । पयोनिवासस्थान-
भूतासु गोषु वर्तमानं घृतम् घृतवत् क्षरणशीलं घृतोत्पादकं वा यत्
पयः क्षीरम् आहुतम् महावीरपात्रे अभिमुखं प्रक्षिप्तम् । ॐ हु
दानादानयोः । कर्मणि निष्ठा ॐ । हे अश्विना अश्विनौ सोयं
तद् इदं प्रक्षिप्तं पयः । ॐ भागविशेषणत्वात् तदिदंशब्दयोः
पुंलिङ्गता । “निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकत्वम् आपादयन्ति
सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गताम् उपाददते” इति वचनात् ॐ ।
इदं तत् पयः वाम् युवयोर्भागः भजनीयोऽंशः । अतः आ गतम्
आगच्छतम् । आगत्य च हे माध्वी । ॐ मधुशब्दाद् अणि
स्त्रियाम् “ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि” इति
यणादेशो निपात्यते ॐ । मधुसंबन्धिनी विद्या माध्वी । विद्या-
वेदित्रोरभेदोपचाराद् अश्विनावपि माध्वीशब्देन उच्येते । अत
एव प्रगृह्यता । “माध्वी मम श्रुतं हवम्” इति हि मन्त्रान्तरम्
[ऋ. ५. ७५. १] । अश्विनोर्मधुविद्यावेदितृत्वं दाशतय्याम्
आम्नायते । “आथर्वणायाश्विना दधीचेरव्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।
स त्वां मधु प्र वोचद् ऋतायन्” इति [ऋ० १. ११७. २२] । हे
माध्वी मधुविद्यावेदितारौ विदधस्य । यज्ञनामैतत् । विदन्ति जानन्ति
अनेन फलम् इति विदयो यज्ञः । तस्य धर्तारौ धर्तारौ धारयि-
तारौ । यज्ञस्वरूपनिर्वर्तकावित्यर्थः । द्रव्यदेवते हि यागस्य स्व-
रूपम् इति हि तद्विदः । हे सत्पती सतां महतां देवानां पालयि-
तारौ आपन्निर्हरणत्वेन रत्नकौ । “अश्विनौ हि देवानां भिषजां”

इति [ऐ० ब्रा० १. १८] श्रुतेः । तादृशौ युवां दिवः द्युलोकस्य
रोचने रोचके प्रकाशके अशौ तप्तम् श्रुतं धर्मम् आज्यं पिबतम् ॥

(इस ऋचाका “पिबतम्” इस लिंगसे धर्मयागमें याज्यात्व-
रूपसे आश्वलायन मुनिने विनियोग किया है । मधुसम्बन्धी विद्या
माध्वी विद्या कहलाती है । विद्या और उसके जानने वालोंमें अभेद
का उपचार करने पर उस विद्याको जाननेवाले अश्विनीकुमारों
को भी माध्वी शब्दसे वर्णन किया है । ऋग्वेदसंहिता ५ । ७५ । १
में कहा है, कि—“माध्वी मम श्रुतं हवम् ।—हे मधुविद्याको जानने
वाले अश्विनीकुमारों ! तुम मेरे आह्वानको सुनो” और अश्विनी-
कुमारोंके मधुविद्या जाननेकी बात ऋग्वेदसंहिता १ । ११७ । २२
में वर्णित है । यथा—“आथर्वणायाश्विना दधीचेरव्यं शिरः प्रत्यै-
रयतम् । स वां मधु प्रवोचद् ऋतायन् ।—हे अश्विनीकुमारों !
तुम अथर्ववेदी दधीचिके निमित्त अश्वके शिरको मेरित करो, तो
वह तुमको मधुविद्याका यथार्थरीतिसे उपदेश देंगे” । ऐतरेयब्राह्मण
१ । १८ में अश्विनीकुमारोंको रोगरूप आपत्तिको दूर करने
वाले होनेके कारण देवताओंके रक्तक अर्थात् वैद्य कहा है, यथा
“अश्विनौ हि देवानां भिपजा ।—अश्विनीकुमार देवताओंके
वैद्य हैं” ।) हे अश्विनीकुमारों ! गीओंमें रहने वाला घृतका
उत्पादक दुग्ध महावीर नामक यज्ञपात्रमें डाल दिया गया है । हे
अश्विनीकुमारों ! यह दुग्ध आपका भाग है, अतः आप आइये
और आफर हे मधुविद्याको जानने वाले अश्विनीकुमारों ! आप
इस यज्ञके यज्ञस्वरूपपूरक बनिये (क्योंकि—द्रव्य और देवता ही
यागके स्वरूप होते हैं, यह यज्ञवेत्ताओंका मत है) और हे सत्
अर्थात् बड़े २ देवताओंकी आपत्तिको दूरकर उनकी रक्षा करने
वाले अश्विनीकुमारों ! आप द्युलोकके प्रकाशक अग्निमें तपे हुए
घृतको पीजिये ॥ ४ ॥

पष्ठी ॥

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चस्तु
पयस्वान् ।

मधोर्दुग्धस्याश्विना तनायां वीतं पातं पयस उस्त्रियायाः
तप्तः । वाम् । घर्मः । नक्षतु । स्वहोता । प्र । वाम् । अध्वर्युः ।

चरतु । पयस्वान् ।

मधोः । दुग्धस्य । अश्विना । तनायाः । वीतम् । पातम् । पयसः ।

उस्त्रियायाः ॥ ५ ॥

इयमपि वीतं पातम् इति लिङ्गाद् घर्मयाज्यात्वेन द्विनियुक्ता ।
हे [अश्विना] अश्विनौ वाम् युवां स्वहोता स्वाधीनहोतृकः ।
होत्रा सम्यग् अभिष्टुत इत्यर्थः । ❀ “ऋतश्चन्दसि” इति क-
प्रत्ययनिषेधः ❀ । तप्तः सम्यग् रुचिरः घर्मः महावीरपात्रस्यम्
आज्यं नक्षतु । ❀ नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा इति यास्कः [निघ० २. १८] ।
नक्ष गतौ इति धातुः ❀ । व्याप्नोतु । तथा वाम् युवाभ्याम् ।
❀ चतुर्थीद्विवचनस्य वाम् आदेशः ❀ । युवयोरर्थाय अध्वर्युः
एतन्नामा ऋत्विक् प्रयस्वान् । ❀ प्रीणतेः अमुनि प्रयः ❀ ।
प्रीणनकारिपयoyुक्तः सन् प्र चरतु यजतु । हविर्ददात्वित्यर्थः ।
अथ अनन्तरम् हे अश्विना अश्विनौ तनायाः । ❀ तनोतेः पचा-
द्यजन्तात् स्त्रियां टापि तनेति भवेति ❀ । पयोद्ध्याज्यरूपहविः-
प्रदानेन यज्ञं विस्तारयन्त्या उस्त्रियायाः । गोनामैतत् । घर्म दुग्धाया
दुग्धस्य मधोः मधुररसोपेतस्य मधुवत्प्रीणनकारिणो वा पयसः ।
❀ कर्मार्थे पष्ठी ❀ । पयः वीतम् भक्षयतं पातम् पिबतं च ।

ॐ वी गतिमजननकान्त्यशनखादमेषु । अस्मात् लोटि अदादित्वात्
शपो लुक् । पा पाने । “बहुलं दन्दसि” इति शपो लुक् ॥

(इस ऋचाका भी ‘वीतम्’ ‘पातम्’ लिंगसे धर्मयाज्यात्वरूपसे
विनियोग होता है) हे अश्विनीकुमारों ! आप दोनोंमें होतासे भली
प्रकार अभिष्टुत तपा हुआ महावीरस्थित घृत व्याप्त होवे, और
आप पर प्रसन्न होता हुआ अश्वयुँ आपको हवि देवे । और
आप दुग्ध दही धृतरूप हवि देकर यज्ञका विस्तार करने वाली
गौके मधुकी समान वृत्त करने वाले दुग्धको पियो और भक्षण करो
सप्तमी ॥

उप॑ द्रव॑ पय॑सा गोधु॑गोप॒मा घ॒र्मे सिञ्च॑ पय॑ उ॒स्रिया॑याः ।
वि॑ नाकं॑ म॒ख्यत् स॒विता॑ वरे॑ण्योनुप्र॒याणं॑मु॒पसो॑ वि
रा॑जति ॥ ३ ॥

उप॑ । द्रव॑ । पय॑सा । गो॑धुक् । ओप॑म् । आ । घ॒र्मे । सिञ्च॑ ।
पयः॑ । उ॒स्रिया॑याः ।

वि॑ । नाकं॑म् । अ॒ख्यत् । स॒विता॑ । वरे॑ण्यः । अ॒नु॒प्र॒याणं॑म् ।
उ॒पसः॑ । वि॑ । रा॒जति॑ ॥ ६ ॥

पया ऋक् पयसा उप द्रवेति लिङ्गाद् घर्मदुग्धापयसि आहिय-
माणे होत्रा पठनीयेति आश्वलायनेनोक्तम् । हे गोधुक् घर्मदुग्धा-
दोग्धरश्वर्यो त्वम् ओपम् तप्तं घर्मम् । ॐ उपप्लुपदाहे । अस्मात्
कर्मणि घञ् ॐ । रुचितं घर्मं पयसा दुग्धेन सह उप द्रव निक-
टम् आगच्छ । ॐ द्रु गतौ । भौवादिरूः ॐ । आगत्य च उस्रि-
यायाः घर्मदुग्धाया घेनोः पयः क्षीरं घर्मं तप्ते आज्ये आ सिञ्च

आक्षारय । यतः वरेण्यः वरणीयः सविता सर्वस्य प्रेरक आदित्यः
 नाकम् दुःखेन असंभिन्नं सुखरूपं स्वर्गं व्यख्यत् । प्रकाशयती-
 त्वर्थः । ❀ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अस्मात् लुङि ख्यानादेशे
 “अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योङ्” इति च्लेः अङ् आदेशः । ख्या
 प्रकथने इत्यस्माद् वा लुङि पूर्ववत् अङ् ❀ । स आदित्यः उपसः
 प्रयाणम् प्रकृष्टं गमनम् अनुलक्ष्य वि राजति विशेषेण दीप्यते ।
 उपसोनन्तरं सूर्यः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । तथा च आम्नातम् अन्यत्र ।
 “सूर्यो देवीम् उपसं रोचमानां मर्यो न योषाम् अभ्येति पश्चात्”
 इति [ऋ० १. ११५. २.] । यस्माद् उदितः सूर्यः द्युलोकं स्व-
 तेजसा प्रकाशयति अतः पयसा सह आगच्छ । आगत्य तत् पयः
 घर्मं आसिञ्च इति होता अध्वर्युं ब्रूते ॥

(आश्वलायन मुनिने कहा है, कि—“पयसा उप द्रव” इस
 लिंगसे होताको चाहिये, कि—घर्मदुग्धा (गौ) के दूधको लाते
 समय इस ऋचाका पाठ करे है घर्मदुग्धाको दुहनेवाले अध्वर्यो !
 आप तपे हुए घृतके पास दूध लेकर आइये और आकर घर्म-
 दुग्धा धेनुके दूधको तपे हुए घृतमें डालिये । क्योंकि—वर-
 णीय सर्वप्रेरक सवितादेवताने दुःखके लेशसे शून्य स्वर्गलोकको
 प्रकाशित कर दिया है । और वह आदित्य उपाके प्रयाणको
 लक्ष्य कर विशेषरूपसे दिप रहे हैं ‡ ॥६६ ॥

‡ सूर्यदेव उपःकालके अनन्तर उदित होते हैं, इस विषयका
 ऋग्वेदसंहिता १ । ११५ । २ में भी वर्णन है, कि—“सूर्यो देवीं
 उपसं रोचमानां मर्यो न योषां अभ्येति पश्चात्” । इस मन्त्रमें
 होताने अध्वर्युसे कहा है, कि—उदित हुए सूर्यदेव अपने तेजसे
 द्युलोकको प्रकाशित करने लगे हैं अतः आप दूधके साथ आइये
 और आकर उस दूधको घृत पर छिड़किये ॥

अष्टमी ॥

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तां गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविपन्नोभीद्भो घर्मस्तद्वे पु प्र
वोचत् ॥ ७ ॥

उप । ह्वये । सुदुघाम् । धेनुम् । एनाम् । सुहस्तः । गोधुक् ।
उत । दोहात् । एनाम् ।

श्रेष्ठम् । सवम् । सविता । साविपत् । नः । अभिद्भः । यर्मः ।
तत् । ऊं इति । सु । प्र । वोचत् ॥ ७ ॥

एषा ऋक् उप ह्वये इति लिङ्गाद् दोहार्यं घर्मदुघादाने विनि-
युक्ता । सुदुघाम् दोग्धं सुशकाम् । ॐ दोग्धेः “ईपदुःसुपु०” इति
खल् प्रत्ययः । हकारस्य घकारोपजनश्चान्दसः ॐ । एतां पुरोच-
र्तिर्नां धेनुम् उप ह्वये आह्वयामि । ॐ ह्वयतेः “निसमुपविभ्यो हः”
इति आत्मनेपदम् ॐ । उत अपि च एनाम् आहृतां धेनुं सुहस्तः
कल्याणहस्तः गोधुक् गोर्दोग्धा अध्वर्युः दोहत् दोग्धु । ॐ दुहेः
पञ्चमलकारे “लेटोडाटो” इति अडागमः ॐ । श्रेष्ठम् प्रशस्यतमम् ।
ॐ “प्रशस्यस्य श्रः” इति श्रादेशः ॐ । सवम् । सूयते प्रेर्यत इति
सवः पयः । ॐ एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सर्वानां यद् उदकं यद्
वा पय इति हि यास्कः [नि० ११. ४३] । पू प्रेरणे इत्यस्मात्
“जवसवौ छन्दसि” इति अच् प्रत्ययः ॐ । तं सर्वं सविता सर्वस्य
प्रेरको देवः नः अस्माकं साविपत् प्रेरयतु । ॐ पू प्रेरणे । अस्मात्
लेटि “सिञ्चहुलम्” इति सिप् । इडागमः । “सिञ्चहुलं छन्दसि
णित्” इति णिद्भावाद् वृद्धिः । वृद्धौ आवादेशः ॐ । यर्मः
प्रवर्ग्यः अभीद्भः अभिदीप्तः अभिरुचितः । तत् । ॐ सुपो लुक् ॐ ।

उ इति अवधारणे । तमेव दीप्तं घर्मं सुसुष्टु प्र वोचत् प्रव्रवीति
अभिष्टौति । अथ वा यस्माद् अभीष्टो घर्मः तत् तस्माद् घर्मो
पय आसेचयितुं सुष्टु प्रव्रवीति धेनुम् इति होतुः परोक्षेण अभि-
धानम् । ॐ ब्रूवश्चान्दसो लुब् । अमाङ्गयोगेपि” इति अडभावः ॥

(“उपह्वये” इस लिंगसे दोहार्थं घर्मदुग्धाह्वानमें इस ऋचाका
विनियोग होता है) मैं इस अच्छी प्रकार दुही जा सकने वाली
धेनुका आह्वान करता हूँ, इस आहूत धेनुको कल्याणमय हाथ
वाला गोधुक् अध्वर्यु दुहे । और इस सब ऋ उपनामक दूधको
सर्वप्रेरक सचितादेवता हमारे लिये प्रेरित करें (होना परोक्षरूप
से कहता है, कि—) क्योंकि—घृत तप गया है अतः वह धेनुसे
दूध डालनेके लिये कह रहा है ॥ ७ ॥

नवमी ॥

हिङ्क्ष्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा
न्यागन् ।

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्नयेयं सा वर्धतां महते सौभगाय

हिङ्क्ष्वती । वसुपत्नी । वसूनाम् । वत्सम् । इच्छन्ती । मनसा ।

निऽन्यागन् ।

दुहाम् । अश्विभ्याम् । पयः । अघ्न्या । इयम् । सा । वर्धताम् ।

महते । सौभगाय ॥ ८ ॥

‡ निरुक्त ११ । ४३ में कहा है, कि—“एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां
यद् उदकं यद् वा पय इति हि यास्कः ।—यास्क मुनिका मत है,
कि—यह जल और उदक सब सबोंमें श्रेष्ठ सब है” ॥

एषा ऋक् न्यागन्नित्यागमनलिङ्गाद् धेनो आगच्छन्त्यां पठ-
नीयेति आश्वलायनेनोक्तम् । हिङ्कृएवती हि इति शब्दानुकृतिः
हि कुर्वन्ति हि वत्सं प्रति गायः । हिङ्कारं कुर्वती वसूनाम् धनानां
वसुपत्नी वसूनां पालयित्री । ❀ वसूनां वसुपत्नीत्यत्र वृत्त्यवृत्तिभ्यां
स्वामित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते ❀ । एतादृशी धेनुः मनसा वत्सम्
इच्छन्ती कामयमाना नि नितराम् आगन् आगच्छतु । ❀ गमे-
रब्दान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुं कि “गो नो धातोः” इति-
नत्वम् ❀ । आगता च इयम् अघ्न्या । गोनामैतत् । अहन्तव्या गो
अश्विभ्याम् देवताभ्याम् । प्रवर्ग्ये अश्विनावेव यष्टव्यौ । तयोरर्थाय
पयः क्षीरं दुहाम् दुग्धाम् । ❀ दुहेलोटि “लोपस्त आत्मनेपदेषु”
इति तकारलोपः ❀ । सा धेनुः स्वयं च अस्माकं महते प्रभूताय
सौभगाय सौभाग्याय सुधनत्वाय वर्धताम् समृद्धा भवतु ॥

(आश्वलायन मुनिने कहा है, कि—“न्यागन्” इस आगमन-
लिङ्गसे धेनुके आते समय इस ऋचाका पाठ करना चाहिये) वद्वे
की ओर हि शब्द करती हुई, धनोंकी पालिका धेनु मनसे वद्वे
को चाहती हुई आवे और यह अहन्तव्य अघ्न्या गो अश्विनी-
कुमारोंके लिये दुग्धको दुहे । और वह धेनु स्वयं भी हमें बड़ा
भारी सौभाग्य देनेके लिये समृद्ध होवे ।

दशमी ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भंरा
भोजनानि ॥ ६ ॥

जुष्टः । दमूनाः । अतिथिः । दुरोणे । इमम् । नः । यज्ञम् । उप ।
याहि । विद्वान् ।

विश्वाः । अग्ने । अभिष्युजः । विहृत्य । शत्रुस्यूताम् । आ । भर ।

भोजनानि ॥ ६ ॥

हे अग्ने जुष्टः मीतः सर्वैः सेव्यमानो वा दमूनाः दान्त[मनाः] ।
 ❀ दममना वा दानमना वा [दान्तमना वा] इति यास्कः [नि०
 ४. ४] ❀ । तादृशः अतिथिः अतिथिवत् पूज्यः । यद्वा दुरोणे
 अतिथिरिति संबन्धः । ❀ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्ति
 दुस्तर्पाः इति हि निरुक्तम् [नि० ४. ५] ❀ । सर्वेषु यज्वगृहेषु
 अतिथिः अतनशीलः विद्वान् जानन् मदीयां त्वद्विषयभक्तिं जानन्
 नः अस्पदीयम् इमं यज्ञम् उप याहि समीपे आगच्छ । आगत्य
 च हे अग्ने विश्वाः सर्वाः अभिषुजः अभियोक्त्रीः परसेना विहृत्य
 विशेषेण हत्वा शत्रूयताम् शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां भोजनानि
 भुज्यमानानि धनानि आ भर आहर । अस्पभ्यम् इति शेषः ।
 ❀ “हृद्यहोर्भः” इति हरतेर्हकारस्य भकारः । शत्रूयताम् इति ।
 शत्रुशब्दात् क्यच् “अकृतसार्वधातुकयोः” इति दीर्घः ❀ ॥

हे अग्ने ! सब आपकी सेवा करते हैं और आपका मन दान्त
 है और सकल यजन करने वालोंके घरमें आप जाते रहते हैं
 अतः आप मेरी भक्तिको जान कर मेरे यज्ञमें आइये । और
 आकर हे अग्निदेव ! सब अभियोक्त्री सेनाओंको नष्ट कर शत्रुओं
 के भोगमें आते हुए धनको हमारे लिये लाइये ॥ ६ ॥

एकादशी ॥

अग्ने शर्वं महते सौभगाय तव दुम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
 सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि-तिष्ठा
 महांसि ॥ १० ॥

अग्ने । शर्धे । महते । सौभगाय । तव । धुम्नानि । उत्तमानि ।
सन्तु ।

सम् । जाःस्पत्यम् । सुयमम् । आ । कृणुष्व । शत्रुष्यताम् ।
अभि । तिष्ठ । महांसि ॥ १० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्माकं महते सौभगाय सुधनर्त्नाय शर्धे । आर्द्र-
हृदयो भवेत्यर्थः । अस्मभ्यं धनं दातुं सुमना भवेति यावत् ।
⊗ शृधु मृत् उन्दे । भौवादिकः । आमन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वेन
पादादित्वाद् अनिघातः ⊗ । तव धुम्नानि द्योतमानानि तेजांसि
उत्तमानि उद्गततमानि सन्तु भवन्तु । किं च जास्पत्यम् । जाया
च पतिश्च जास्पती तयोः कर्म जास्पत्यम् । ⊗ “पत्यन्तपुरोहि-
तादिभ्यो यक्” इति यक् ⊗ । तत् सुयमम् सुखयमम् अनन्य-
श्लिष्टं सभा कृणुष्व सम्यक्कुरु । यथा आवां जायापती त्वदेक-
परिचरणवन्ती भवाव तथा अनुगृहाणेत्यर्थः । सुयमम् इति । यमेः
खल् मत्ययः घश्च मत्ययो वा ⊗ । अपि च शत्रुष्यताम् शत्रून्
आत्मन इच्छतां परेषां महांसि तेजांसि अभि तिष्ठ आक्राम ।
अभिभवेत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! आप हमको बहुतसा धन देनेके लिये आर्द्रहृदय हृजिये
आपके प्रदीप्त तेज ऊपरकी जाने वाले होजावे और जायापतीके
के कर्मकी आप अन्योन्यसंश्लिष्ट करिये, तात्पर्य यह है, कि-
जिससे हम दोनों दम्पती एक आपसी ही सेवा करने वाले होवे
और जो हमको शत्रु समझते हैं उनके तेजको आप दवा दीजिये ॥

द्वादशी ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूषा अथा वयं भगवन्तः
स्याम ।

अद्धि तृणमध्न्ये विश्वदानीं पिव शुद्धमुदकमाचरन्ती
सुयवसंऽअत् । भगवती । हि । भूयाः । अथ । वयम् । भगवन्तः ।
स्याम ।

अद्धि । तृणम् । अध्न्ये । विश्वदानीम् । पिव । शुद्धम् । उदकम् ।
आचरन्ती ॥ ११ ॥

एषा ऋक् प्रवर्ग्ये परिधानीयात्वेन आश्वलायनेन विनियुक्ता ।
हे धर्मदुये सूयवसात् शोभनवृणानि अदन्ती । अद भक्षणे इत्य-
स्मात् कर्मोपपदात् “अदोनन्ने” इति विट् प्रत्ययः ॐ । शोभनं
यवसम् अदन्ती त्वं भगवती धनवती भाग्यवती वा भूयाः । हीति
पूरणः । ॐ भवतेः आशीर्लिङि रूपम् ॐ । अथ अनन्तरं वयं
भगवन्तः धनवन्तः स्याम भूयास्म । हे अध्न्ये अहिंस्ये गौः विश्व-
दानीम् सर्वदा । ॐ कालार्थे “दानीं च” इति तदिदंशब्दाभ्यां
विहितः छन्दोविषयत्वाद् विश्वशब्दादपि उत्पन्नः ॐ । सर्वदा
तृणं घासम् अद्धि भक्षय । ॐ अद भक्षणे । लोटि “हुक्लभ्यो
हेधिः” ॐ । तथा आचरन्ती सर्वतश्चरन्ती त्वं शुद्धम् निर्मलम्
उदकं पिव च ॥

चतुर्थं सूक्तम् ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे षष्ठोऽनुवाकः ॥

(आश्वलायन मुनिने इस ऋचाका प्रवर्ग्यमें परिधानीयास्वरूप
से विनियोग किया है) हे धर्मदुये ! तू शोभन वृणोंको खाती
हुई भाग्यवान् बन, फिर हम भी धनी होवें । हे अहिंस्ये गौ !
तू सदा घासको खा और चारों ओर घूमती हुई शुद्ध निर्मल
जलको पी ॥ ११ ॥

चतुर्थं सूक्तं समाप्तं (३६१) ॥

अथर्ववेदसंहिता सातवें काण्डमें छठा अनुवाक समाप्त ॥

सप्तमेजुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “अपचिताम्” इति आयु
सूक्ते प्रथमाभ्याम् ऋग्भ्यां प्रत्युचं गण्डमालाभैपज्यार्थं सूक्तोक्त-
लक्षणैः धनुषा शरेण च गण्डमालां विधेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि कृष्णोर्णास्तु कावज्वालितम् उदरम्
आभ्याम् अभिमन्त्र्य उपःकाले व्याधितम् अत्रसिञ्चेत् ॥

सूत्रितं हि । “अपचिताम् इति वैणवेन दार्भूपेण कृष्णोर्णा
ज्येन” इत्यादि [ऋ० ४. ८] ॥

ईर्ष्याविनाशकर्मणि “त्वाष्ट्रेणाहम्” इत्येनाम् ईर्ष्यावन्तं दृष्ट्वा
जपेत् ॥

तथा ईर्ष्यावन्ते अनया संवतुमन्यम् अभिमन्त्र्य दद्याद् ईर्ष्या-
वन्तं स्पृष्ट्वा वा जपेत् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । “त्वाष्ट्रेणाहम् इति प्रतिजापमदानाभि-
मर्शनानि” इति [ऋ० ४. १२] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रतोपायने “व्रतेन त्वं व्रतपते” इत्येषा विनि-
युक्ता । “व्रतम् उर्षति व्रतेन त्वं व्रतपते” इति हि कौशिकं सूत्रम्
[ऋ० १. १] ॥

“मजावतीः इति श्रुवस्य गौपुष्टिकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

“आ सुस्तसः” इति द्वाभ्यां गण्डमालाभैपज्यकर्मणि शङ्खं घृष्ट्वा
अभिमन्त्र्य शुनफलां वा अभिमन्त्र्य गण्डमालां प्रलिम्पेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन श्रुचेन जलूकां गृहगोधिकां वा अभि-
मन्त्र्य रुधिरमोक्षार्थं गण्डमालास्थाने संश्लेषयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि सैन्धवलवणं चूर्णयित्वा अनेन श्रुचेन
अभिमन्त्र्य गण्डमालास्थाने विकीर्य तूष्णीं निष्ठीवेत् ॥

सूत्रितं हि । “अपचिताम् [७. ७८] आ सुस्तसः [७. ८०]
इति किस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्याभिनिष्ठीवति” इति
[ऋ० ४. ७] ॥

तथा गण्डमालाभैषज्यकर्मण्येव “अपचित्तौ लोहिनीनाम्” इत्यत्रोक्तानि कर्माण्यपि अनेन व्युत्थेन कुर्यात् । सूत्रमपि तत्रैवोदाहृतम् ॥

राजयक्ष्मभैषज्यार्थं “यः कीकसाः” इति वृत्तेन वीणातन्त्री-खण्डं वाद्यखंडं शङ्खखंडं वा संपात्य अभिमन्थ्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि “यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति” इत्यादि [कौ० ४.८] ॥

सप्तम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें “अपचिताम्” इस प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे प्रत्येक ऋचा पर गण्डमाला की चिकित्साके लिये सूत्रोक्त रीतिसे धनुष और बाणसे भी गंडमालाको बींधे । और काले ऊनके स्तुकसे तपे हुए जलको इन ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके उपःकालके समय रोगी पर अवसेचन करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि—“अपचित्तौ इति वैणवेन दार्भूपेण कृष्णोर्णाज्येन” इत्यादि (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें “त्वाष्ट्रेणाहम्” ऋचाका ईर्ष्यावान्को देख कर जप करे ।

तथा इस ऋचासे सक्तुमन्त्रका अभिमन्त्रण करके ईर्ष्या वाले को देदेय, वा ईर्ष्या वालेको देख कर इस ऋचाका जप करे ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—“त्वाष्ट्रेणाहं इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि” (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

दर्शपूर्णमासके व्रतोपायनमें ‘व्रतेन त्वं व्रतपते’ ऋचाका विनियोग किया जाता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । १-का प्रमाण भी है, कि—“व्रतं उपैति व्रतेन त्वं व्रतपते” ॥

“प्रजावतीः” इस व्युत्थका गोपुष्टिकर्ममें विनियोग कहा है ।

“आ सुस्सः” इन दो ऋचाओंसे गण्डमालाकी चिकित्साके

कर्ममें शंखको घिस कर अभिमन्त्रित करके गण्डमाला पर पोत देय वा कुत्तेकी लारको अभिमन्त्रित करके गण्डमाला पर पोत देय।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस ऋचसे जाँक वा छिपकलीको अभि-
अभिमन्त्रित करके रुधिर चूसनेके लिये गण्डमालाके स्थानमें
लगा देय।

तथा तहाँ ही कर्ममें सैन्धा नमकका चूरा करके इन दोनों
ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके गण्डमालाके स्थानमें बुरक कर
चुप चाप थूकना आरम्भ करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अपचिताम् (७।७८)
आ सूत्रवः (७।८०) इति किंस्त्यादीनि लोहितत्वणं संलुधा-
भिनिष्ठीवति” (कौशिकसूत्र ४ । ७) ॥

तथा गण्डमालाकी चिकित्साके कर्ममें ही “अपचितां लोहि-
नीनाम्” में कहे हुए कर्मोंको भी इस ऋचसे करे। सूत्र भी तहाँ
ही कहा है।

राजयक्ष्मा रोगकी चिकित्साके लिये, “यः कीकसाः” तृचसे
वीणातन्त्रीखण्डको, वाद्यखण्डको वा शंखखण्डको सम्पातित
आरअभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ४।८ का
प्रमाण भी है, कि—“यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति०”

तत्र प्रथमा ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।

मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अपचिताम् । लोहिनीनाम् । कृष्णा । माता । इति । शुश्रुम ।

मुनेः । देवस्य । मूलेन । सर्वाः । विध्यामि । ताः । अहम् ॥१॥

दोषवशाद् अपाक् चीयमाना गलाद् आरभ्य अधस्तात् कक्षा-

दिसंधिस्थानेषु प्रकृता गण्डमालाः अपचितः । यद्वा अपचिन्वन्ति
 पुरुषस्य वीर्यम् इति अपचितः । ❀ अपपूर्वात् चिनोतेः कर्तरि
 कर्मणि वा क्तिप् । “ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्” ❀ । ताश्च लोहिन्यः
 लोहितवर्णाः । ❀ लोहितशब्दाद् “वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात्
 तो नः” इति डीप् । तत्संनियोगेन तकारस्य नकारः ❀ । वर्ण-
 भेदविशिष्टा गण्डमालाप्रभेदाः षष्ठ्याण्डे “अपचितः प्र पतत” इति
 [६. ८३] सूक्ते स्पष्टम् उक्ताः । लोहितवर्णानाम् अपचितां कृष्णा
 कृष्णवर्णा रोगनिदानभूता पिशाची माता जननी उत्पादयित्रीति
 शुश्रुम श्रुतवन्तः स्म । ❀ शृणोतेलिटि उत्तमबहुवचने “कृष्टभृष्ट-
 स्तुदुस्तश्रुवो लिति” इति इरिनपेधः ❀ । मातृकीर्तनेन अपचितः
 रोगान्तरवत्साधारणोपधादिना परिहरणीया न भवन्तीति प्रोह्यते
 ताः पूर्वोक्तदुःसाधाः सर्वा अपचितः मुनेः मननीयस्य देवस्य
 द्योतमानस्य । अथर्वण इत्यर्थः । मूलेन । ❀ मूल प्रतिष्ठायाम् इति
 धातुजोयं शब्दः ❀ । अथर्वसंबन्धिना सर्वकारणभूतसामर्थ्येन ।
 तदात्मना भावितेन शरेणेत्यर्थः । तेन शरेण अहं प्रयोक्ता विध्यामि
 विदारयामि । यद्वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन शरप्रकृतिभूतो
 वृक्षविशेष उच्यते । मुनेर्मननीयस्य स्तुत्यस्य देवस्य देवरूप-
 स्य वनस्पतेः । तस्य देवतात्मकत्वम् “अञ्जन्ति त्वाम् अध्वरे देव-
 यन्तः” [ऋ० ३. ८. १] इत्यादिषु स्पष्टम् अवगम्यते । तस्य
 मूलेन मूलवत् सारभूतो यो वृक्षस्यांशस्तन्निर्मितेन मूलप्रदेशनि-
 मितेन वा शरेण विध्यामि । अथ वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन
 धनुःप्रकृतिभूतो वेणुदाभूपसंज्ञको वृक्ष उच्यते । तस्य मूलेन
 सामर्थ्याधायकेन शरेण विध्यामीति संबन्धः । अधिज्यस्य हि
 धनुषः सामर्थ्यम् इषुविसर्जनेन गम्यते इति तस्य मूलभूतः शर
 इत्युक्तम् । कंचिद् आहुः । मुनेः मन्युमतः देवस्य । ❀ दीव्यते-
 विजिगीषार्थात् प्रचाञ्च् ❀ । विजयमानस्य क्रोधवतः क्रूरस्य ।

रुद्रस्य इत्यर्थः । तस्य मूलेन प्रधानभूतवीर्यरूपेण शत्रून्मूलनसाधनेन वा शरेण विध्यामि । गण्डमालावेधनसाधनभूतोयं शरः लौकिकः शरो न भवति किं तु असुरपुरनिर्भेदकस्य रुद्रस्य संबन्धी शरोयम् इति लौकिकशरस्य रुद्रशरात्मना भावनम् इति । रुद्रस्य पुनर्निर्भेदनार्थम् इषुत्रिसर्जनं तैत्तिरीये समाध्यायते । “त इषुं समस्कृर्वत । अग्निम् अनीकं सोमं शन्यं विष्णुं तेजनम् तेद्युवन् क इमाम् असिष्यतीति । रुद्र इत्यद्युवन् । रुद्रो वै क्रूरः । सोस्पतु” इति [तै० सं० ६, २, ३, १] । एतद् उक्तं भवति । पापदेवतानिष्पादिता गण्डमाला अहं भैषज्यकर्ता लौकिकेन शरेण न विध्यामि किं तु रुद्रस्य शरेणेति ॥

(दोषवश नीचेको फैलने वाली गलेसे लेकर नीचेके बगल आदि संधिस्थानोंमें फैली हुई) गण्डमालाएँ अपचित् कहलाती हैं और वह पुरुषके वीर्यका अपचिन्वन कर डालती हैं, उन) लोहित वर्ण वाली अपचित्-गण्डमालाओंकी माता रोगनिदान-भूता माता कृष्णवर्णा पिशाची कृष्णा है यह हम सुनते हैं (माता का कीर्तन करके यह सूचित किया है, कि-अन्य रोगोंकी समान साधारण औषधि आदिसे इनकी चिकित्सा नहीं होसकती अतः) इन दुःसाध्य सब अपचितोंको मैं प्रकाशवान् अथवा मुनिके सबके कारणरूपसे भावित शरसे वीधता हूँ (वा मननीय अर्थात् स्तुत्य देवरूप वनस्पतिके मूलकी समान सारभूत अंशसे निर्मित वा भड़से निर्मित बाणसे हम अपचितोंको वीधते हैं, वनस्पतिका देवतात्मकत्वं ऋग्वेदसंहिता ३ । १ । ८ में स्पष्टरूपसे वर्णित है, कि-“अद्भन्ति त्वां अध्वरे देवयन्तः” ॥ अथवा वेणुदारभूप नामक वृक्षके मूलसे बने बाणसे वीधता हूँ । अथवा क्रोध वाले रोद्रदेवके प्रधानभूतवीर्यरूप शत्रून्मूलनसाधन बाणसे वीधता हूँ । तात्पर्य यह है, कि-गण्डमालाको वेधनेका साधनभूत यह बाण लौकिक

वाण ही नहीं है, किन्तु असुरपुरध्वंसक रुद्रसम्बन्धी है। इस प्रकार रुद्ररूपसे इसकी भावना की गई है। पुरोंको भेदनेके लिये रुद्रदेवका वाण छोड़ना तैत्तिरीयसंहिता ६।२।३।१ में कहा है, कि—“त इषुं सप्तसुर्वत । अग्निं अनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम् । तेऽब्रुवन् क इमां असिष्यतीति । रुद्र इत्यब्रुवन् । रुद्रो वै क्रूरः सोऽस्यतु ।—उन्होंने वाण बनाना आरम्भ किया । अग्निको अनीक बनाया । सोमको फलक बनाया । विष्णुको वाँस बनाया । फिर उन्होंने कहा, कि—इसको कौन छोड़ेगा, तब उन्होंने फिर कहा, कि—रुद्र इसके योग्य हैं । रुद्रदेवता क्रूर हैं अतः वह इसको छोड़ें ।” तात्पर्य यह है, कि—इस पाप देवता से निष्पादित गण्डमालाको मैं चिकित्सक-लौकिकशरसे नहीं वीधता हूँ किन्तु रुद्रदेवके वाणसे वीधता हूँ) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।

इदं जघन्यामासामा च्छिनन्नि स्तुकांभिव ॥ २ ॥

विध्यामि । आसाम् । प्रथमाम् । विध्यामि । उत । मध्यमाम् ।

इदम् । जघन्याम् । आसाम् । आ । च्छिनन्नि । स्तुकांश्च २

दोष—प्रकर्षसाम्याल्पत्वभेदेन गण्डमालास्त्रविधाः । तासाम् अपसारणम् अनया उच्यते । आसाम् अपचितां मध्ये प्रथमाम् मुख्यां दोषप्रकर्षेण उद्भूतां दुश्चिकित्सामपि गण्डमालां विध्यामि । मुनेदवस्य मूलेनेति संबन्धः अस्या अपि ऋचः शरेण वेधने विनियुक्तत्वात् । उत अपि च मध्यमाम् दोषसाम्येन उद्भूतां नातिदुःसाधाम् । सुसाधाम् इत्यर्थः । तादृशीम् अपचितं विध्यामि शरेण । तथा इदम् इदानीम् आसाम् अपचितां मध्ये जघन्याम् अल्पदोष-

समुद्भूताम् ईपत्नयत्नेन निर्हरणीयां गण्डमालाम् आ द्विनत्रि
सर्वतो विदारयामि । ❀ द्विदिर् द्वैधीकरणे । रुधादिः ❀ । छेदने
दृष्टान्तः स्तुकाम् इवेति । यथा ऊर्णास्तुका अनायासेन च्छिद्यते
तथेति ॥

(दोपके प्रकर्ष साम्य और अल्पत्वके भेदसे गण्डमालाओंके
तीन भेद हैं । उनके अपसारणका इममें वर्णन है, कि—) इन
गण्डमालाओंमें दोपप्रकर्षके कारण मुख्य उभरी हुई दुश्चिकित्स्य
गण्डमालाको भी मैं (जड़के बने बाणसे) वेधता हूँ और मध्यम
अर्थात् दोपसाम्यसे उद्भूत अतिदुःसाध्य नहीं किंतु सुसाध्य
गण्डमालाको भी वीधता हूँ और इन गण्डमालाओंमें जो निकृष्ट
अल्पदोपसे उभरी हुई अत एव थोड़े ही मयत्रसे दूर करने योग्य
गण्डमाला है उसको मैं इस प्रकार वीध डालूँगा जिस प्रकार
ऊर्णास्तुकाको अनायास ही छेद डाला जाता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि तं ईर्ष्याममीमदम् ।

अथो यो मन्युष्टं पते तमुं ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रेण । अहम् । वचसा । वि । ते । ईर्ष्याम् । अमीमदम् ।

अथो इति । यः । मन्युः । ते । पते । तम् । ऊं इति । ते ।

शमयामसि ॥ ३ ॥

हे ईर्ष्यामि ते तव ईर्ष्याम् क्रोधं स्त्रीविषये, क्रियमाणं
त्वाष्ट्रेण । अवयवविभागकर्ता त्वष्टा । श्रूयते हि । “यावच्छो वै
रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजा-
यते” इति [तै० सं० १. ५. ६. २] । तत्संबन्धि त्वाष्ट्रम् । तेन
वचसा वाक्येन मन्त्रेण अहं प्रयोक्ता स्त्री वा व्यमीमदम् विगत-

मदां करोमि । निवारयामीत्यर्थः । ईर्ष्याया मदो नाम उद्रेकः । ईर्ष्याम् उद्रेकरहितां करोमीति यावत् । न केवलम् ईर्ष्योद्रेकशमनम् । अथो अपि तु हे पते वल्लभ ते तव यो मन्युः क्रोधः मद्द्विषयः ते तव तं क्रोधं शमयामसि शमयामः । उ इत्यवधारणे । अत्रापि त्वाष्ट्रेण वचसा इति संबध्यते । यथा लोके दुर्वृत्ताः पुत्राः पितुराज्ञया दुर्व्यसनाद् निवर्तन्ते एवं पुरुषगतेर्ष्याविनाशने सर्वोत्पादकस्य तदण्डरुक्तिः करणत्वेनोक्ता ॥

हे ईर्ष्याके चक्रमं पड़े हुए व्यक्ति ! मैं तेरे स्त्री वा पुरुष-विषयक क्रोधको त्वष्टा ‡ देवके मन्त्ररूप वचनसे मद्दरहित करता हूँ अर्थात् निवारण करता हूँ और हे पते ! आपका मुझ पर जो क्रोध है उसको हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमनां दीदिहीह ।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उपं सदेम सर्वे
व्रतेन । त्वम् । व्रतऽपते । समऽअक्तः । विश्वाहा । सुऽमनाः ।
दीदिहि । इह ।

‡ त्वष्टा देवता अवयवोंका विभाग करने वाले हैं । श्रुतिमें भी कहा है, कि—“यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते।—त्वष्टा देवता सिक्त वीर्यके जितने रूप बनाते हैं उतने रूपमें वह वीर्य उत्पन्न होता है” (तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ६ । २) अत एव उन पितारूप सर्वोत्पादक त्वष्टादेवके वचनसे क्रोधको शान्त करना कहा है । क्योंकि—दुर्वृत्त पुरुष भी पिताकी आज्ञा पाने पर दुराचरणसे निवृत्त होजाते हैं ॥

तम् । त्वा । वयम् । जातज्वेदः । सम्ऽइद्धम् । प्रजाऽवन्तः । उप ।
सदेम । सर्वे ॥ ४ ॥

हे व्रतपते व्रतस्य कर्मणः पालयितः । कर्मफलप्रदातृत्वाद् व्रत-
पतित्वम् अग्नेः । “त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि” इति [तै० सं०
१. २. ११. १] मन्त्रान्तरम् व्रतेन अनुष्ठीयमानेन दर्शपूर्ण-
मासादिकर्मणा समक्तः संस्कृतः संभावितः । सम्यग्ऽष्ट इत्यर्थः ।
❀ अञ्जेः कर्मणि निष्ठा ❀ । एवंविधस्त्वं विश्वाहा विश्वेषु
अहस्यु सर्वदा सुमनाः शोभनमनस्कः अस्मद्विषये अनुग्रहबुद्धियुक्तः
सन् इह अस्मिन् अस्मदीये गृहे दीदिहि । ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मेति
यास्कः ❀ । दीप्यस्व । हे जातवेदः जातानां भूतानां वेदितः
जातैर्विद्यमान ज्ञायमान वा जातमज्ञ जातधन वा हे अग्ने समि-
द्धम् सम्यग्दीप्तं तं पूर्वोक्तगुणं त्वा त्वां प्रजावन्तः प्रजायन्त इति
प्रजाः पुत्रपौत्रादिसमेताः सर्वे वयम् उप सदेम उपसद्यास्म तव परि-
चरणं क्रियास्म । ❀ सदेः “लिङ्याशिप्यङ्” इति अङ्प्रत्ययः ❀ ॥

हे व्रतपते † ! अर्थात् कर्मफल देनेके कारण कर्मके स्वामिन्
अग्ने ! आप इस अनुष्ठीयमान दर्श पूर्णमास आदि कर्मसे भली
प्रकार पूजा पाकर सब दिनोंमें हम पर अनुग्रहबुद्धि रखते हुए हमारे
घरमें प्रज्वलित रहिये । हे उत्पन्न हुआंको जानने वाले अग्ने !
प्रदीप्त आपकी हम सब पुत्र पौत्र आदिसहित उपासना कर रहे हैं ४

पञ्चमी ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे
पिवन्तीः ।

† तैत्तिरीयसंहिता १ । २ । ११ । १ में कहा है, कि-“त्वं
व्रतानां व्रतपतिरसि” ॥

मा व स्तेन ईशत माघशंसः परिवो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु
प्रजाऽवतीः । सुऽयवसे । वृशन्तीः । शुद्राः । अपः । सुऽप्रपाने ।
पियन्तीः ।

मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघशंसः । परि । वः । रुद्रस्य ।
हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

प्रजावतीरित्येषा पञ्चमी व्याख्याता [४. २१. ७] ॥

पुत्र पौत्र आदि से सम्पन्न, शोभन वृण वाले देशमें घासका
भक्षण करती हुई, सुखसे उतरने योग्य मार्ग वाले जलाशयमें निर्मल
जलको पीती हुई तुमको चोर न हर सके और तुमको मारना
चाहने वाला व्याघ्र आदि भी तुम्हारा हरण न कर सके और
उपरके अभिमानी देवता रुद्रका आयुध तुमको छोड़ देय ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः ।

उप मा देवीदेवेभिरेत ।

इमं गोष्ठमिदं सदो धृतेनास्मान्समुञ्जत ॥ २ ॥

पदज्ञाः । स्थ । रमतयः । समुञ्जिताः । विश्वनाम्नीः ।

उप । मा । देवीः । देवीभिः । आ । इत् ।

इमम् । गोऽस्थम् । इदम् । सदः । धृतेन । अस्मान् । सम् । उञ्जत

हे रमतयः । गोनामैतत् । तद् उक्तम् आपस्तम्बेन । “चिद्
असि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः सन्नः मूनरीत्युच्चैरुपहवे सप्त

मनुष्यगवीः” [आप० ४. १० ४] इति पयःप्रदानादिना रम-
यिष्यो धेनवः । ❀ रमु क्रीडायाम् । श्रीणादिकः अतिप्रत्ययः ❀ ।
पदज्ञाः सहचरीणां गवां पदानि जानत्यः स्य भवथ । यद्वा पद्यते
गम्यत इति पदं गृहं तज्जानत्यः स्य । गोसंचरस्थाने चरित्वा
पुनरस्मदीयमेव गृहं ज्ञात्वा आगच्छन्त्यो भवतेत्यर्थः । गा विशि-
नष्टि । संहिताः वत्सैः सहिताः अन्यगत्रीभिर्वा सहिताः परस्परम्
आनुकूल्यं प्राप्ताः । विश्वनाम्नीः व्याप्तनामधेयाः । ❀ “वा छन्दसि”
इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । सर्वत्र प्रसिद्धसंज्ञाः बहुविधनाम-
धेया वा । एकस्या गोरनेकसंज्ञासद्भावस्तैत्तिरीये समाम्नायते ।
इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये
नामानि” इति [तै० सं० ७. १. ६. ८] । यद्वा विश्वं जगत्
नमयन्ति स्वात्माभिमुखं कुर्वन्तीति विश्वनाम्यः । क्षीरादि-
लाभाय हि सर्वे धेनूः प्रार्थयन्ते । अत एव हे देवीः देव्यः दीव्यन्त्यो
गावो यूयं देवेभिः देवैर्दीव्यद्भिः स्वकीयवत्सादिभिः सह मा मां
पुष्टिं कामम् उपैत समीपम् आगच्छत । ❀ इण् गतौ । लोटि
मध्यमबहुवचने रूपम् ❀ । आगत्य च इमम् अस्मदीयं गोष्ठम्
गावस्तिष्ठन्ति अत्रेति गोष्ठः गोनिवासस्थानम् । ❀ गोशब्दोप-
पदात् तिष्ठतेः अधिकरणे कः । “अम्बाम्बगोभूमि०” इति सका-
रस्य मूर्धन्यादेशः ❀ । इदम् अस्मदीयं सदः सीदन्त्यत्रेति सदो
गृहम् अस्मान् गोष्ठगृहस्वामिनश्च घृतेन घृतोत्पादकेन दयसा घृतेन
वा समुद्धत सम्यक् सिञ्चत । ❀ उक्तं सेचने ❀ । यथा गव्य-
समृद्धिर्भवति तथा यूयम् अस्मद्गृहेषु समृद्धा भवतेत्यर्थः ॥

हे दुग्ध आदि प्रदान कर आनन्दित करने वाली रमतिर्यो +

+ आपस्तम्ब मुनिने गौश्रोकं अनेक नाम लिखे हैं, कि-
“चिदसि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः सूनुः सूनरीत्युच्चैरुपह्वये
सप्त मनुष्यगवीः ।” (आपस्तम्ब ४ । १० । ४) ॥

गौओं ! तुम अपने निवास स्थानको जानती हो अर्थात् जंगलमें चरनेके स्थानमें चर कर फिर हमारे घरको जान कर आज्ञाया करती हो और बछड़ोंसे अनुकूलता रखती हो। आपके बहुतसे × नाम हैं वा आप सबको दुग्ध आदि देकर अपने अनुकूल नमा लेती हैं अत एव सब धेनुओंकी प्रार्थना करते हैं। इस प्रकारकी दमकती हुईं तुम अपने दमकते हुए बछड़ोंके साथ मुक्त पुष्टिकी कामना वालेके पास आओ और आकर हमारे गोठको हमारे घरको और हम गृहस्वामियोंको भी घृतके उत्पादक दुग्ध से वा घृतसे भली प्रकार समुचित करो ! तात्पर्य यह है, कि-जिस प्रकार गव्यसमृद्धि हो तिस प्रकार तुम हमारे घरोंमें बढ़ो २ सप्तमी ॥

आ सुस्रसः सुस्रसा असतीभ्यो असत्तराः ।

सेहोः सरसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

आ । सुस्रसः । सुस्रसाः । असतीभ्यः । असत्तराः ।

सेहोः । सरसतराः । लवणाद् । विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचित इत्युत्तरमन्त्रेऽभिधानाद् अत्रापि अपचित एवोच्यन्ते । सुस्रसः अत्यर्थं स्रवन्त्यः सर्वदा पूयादिस्रवणशीलाः ।
 ❀ सुपूर्वात् स्रसतेः विवप् । “अनिदितां हल उपधायाः क्विडति” इति नकारलोपः ❀ । अत एव असतीभ्यः सतीविरुद्धा असत्यः वाधिका रोगव्यक्तयस्ताभ्योपि असत्तराः अत्यर्थम् असत्यो

× एक गौके अनेक नामोंका होना तैत्तिरीयमें कहा है, कि-
 “इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये नामानि ।-हे अघ्निये गौ ! तेरे इडा रन्ता सरस्वती दिति प्रिया प्रेयसी मही ये नाम प्रसिद्ध है” (तैत्तिरीयसंहिता ७ । १ । ६ । ८ ॥

वाधिका एवंविधा अपचिन्नामिका गण्डमालाः आमुस्रसः आसमन्ताद् निरवशेषं स्रवणशीला भवन्तु । मन्त्रोपधप्रयोगेण निःशेषं स्रवणेन विनश्यन्तु इत्यर्थः । अपचितो विशिनष्टि । शोढोः शोढुर्नामविप्रकीर्णवियवः अत्यन्तं निःसारस्तूलादिरूपः पदार्थः तस्मादपि अरसतराः निःसारतराः । अपचितो हि पाकावस्थातः पूर्वम् अवाधिका इव दृश्यन्ते । पश्चात् कक्षादिसंधिप्रदेशेषु व्याप्ता ब्रणरूपेण वाधन्ते । रोगप्रादुर्भावकाले स्वरूपापरिज्ञानेन अरसत्वम् उक्तम् । पाकोत्तरकालं कृत्स्नावयवव्याप्त्यनन्तरं लवणात् सर्वदा स्रवणशीलत्वेन प्रसिद्धात् एतन्नामधेयात् पदार्थादपि विक्लेदीयसीः अतिशयेन विविधं क्लेदनवत्यः । यथा लवणो यत्रकुत्रापि निहितोपि सर्वदा स्रवति तस्मादपि पाकावस्थोत्तरकालं सर्वाङ्गसंधिषु पूयादिस्रवणशीला भवन्ति । एतादृश्योऽपचितः आमुस्रसो भवन्त्विति संबन्धः । ❀ विक्लेदीयसीरिति । विविधः क्लेदो यासां ता विरज्जेदाः अतिशयेन विक्लेदा विक्लेदीयस्यः । “द्विवचनविभज्योपपदे०” इति ईयमुन् प्रत्ययः । “टेः” इति टिलोपः । “वा छन्दसि” इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥

ग्रीवार्धे रहने वाली गण्डमालायें सदा पीपको बहाती रहती हैं वे सती वाधिका रोगव्यक्तियोंसे भी अधिक पीड़ा देती हैं अत एव असती हैं, ये गण्डमालायें मन्त्र तथा औपधिके प्रयोग से बहुत ही बहने लगें अर्थात् नष्ट होजावें । ये गण्डमालायें विप्रकीर्ण अवयव वाले अत्यन्त निःसारतूलादिरूप सेहुसे भी अधिक निःसार हैं, (क्योंकि—ये अपचित् पाकावस्थासे पहिले पीड़ा न देने वालीसीं दीखती हैं, फिर बगल आदि संधिप्रदेशोंमें व्याप्त हो ब्रणरूपसे पीड़ा देती हैं, अतएव रोगप्रादुर्भाव कालमें स्वरूप का ज्ञान न होनेके कारण इनको अरसकहा है) और यह लवण से भी अधिक बहने वाली हैं (अर्थात् पाकके अनन्तर सारे शरीर

में व्याप्त होजाने पर सदा स्रवणशील लवणकी समान सर्वांग-
संधियोंसे बहती रहती हैं ऐसी अपचित् भी और अधिक बहें ?
अष्टमी ॥

या ग्रैव्यां अपचितोथो या उपपद्याः ।

विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

याः । ग्रैव्याः । अपचितः । अथो इति । याः । उपपद्याः ।

विजाम्नि । याः । अपचितः । स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

ग्रैव्याः ग्रीवायां भवाः गलप्रदेशे उत्पन्नाः । ❀ ग्रीवाशब्दात्
“ज्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्” इति “तत्र भवः”
इत्यर्थे ज्यप्रत्ययः । “ग्रीवाभ्योण् च” इति अप्रत्यये तु ङीपि
यथादेशे च कृते ग्रैव्य इति भवति ❀ । ग्रीवाभवा या अपचितः ।
अथो अपि च उपपद्याः उपपक्षे पक्षसमीपे उपकक्षे भवाया अप-
चितः । विजाम्नि विशेषेण जायते अपत्यम् अत्रेति विजामा गुह्य-
प्रदेशः । ❀ जायते: “अन्येभ्योपि दृश्यन्ते” इति मनिन् ।
“विद्वन्नोरनुनासिकस्यात्” इति प्रत्ययविशेषे विहितम् आत्वं
छन्दोविषयत्वाद् अस्मिन्नपि भवति ❀ । विजाम्नि गुह्यप्रदेशे
तदुपलक्षिते ऊरुसंधौ या अपचिताः दोषवशाद् अपाक् चीयमाना
गण्डमालास्ताः सर्वाः स्वयंस्रसः स्वयं स्रवणशीलाः मन्त्रौपध-
प्रयोगेण निरवशेषं स्रवन्त्यो भवन्तु इति तच्छब्दाध्याहारेण वाक्यं
पूरणीयम् । यद्वा स्वयंस्रसः क्षाराद्यौपधप्रक्षेपाभावेपि दोषातिरेक-
वशाद् ग्रीवोपपन्नोरुसंधिस्थानेषु व्रणरूपेण पूयादिस्रवणशीला या
अपचितः सन्ति ताः सर्वाः आसुस्रसो भवन्तु इति पूर्वमन्त्रेण
संबन्धः । या ग्रैव्या इत्युत्तरमन्त्रे यच्छब्दश्रुतेः आसुस्रस इति पूर्व-
मन्त्रे तच्छब्दं विनापि वाक्यं पूर्यते ॥

गलेकी गण्डमालाएँ, बगलमें होनेवाली ककहारियें गुह्यप्रदेश
आदि की अपचित् जो दोषवश बढ़ जाती हैं वे मन्त्र और
श्रौपधिके प्रयोगसे अपने आप बहने लगें ॥ २ ॥

नवमी ॥

यः क्रीकसाः प्रशृणाति तलीद्युमवतिष्ठति ।

निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥३॥

यः । क्रीकसाः । प्रशृणाति । तलीद्युम् । अवतिष्ठति ।

निः । हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि ।
श्रितः ॥ ३ ॥

यो राजयक्ष्माख्यो रोगः क्रीकसाः अस्थीनि प्रशृणाति प्रस-
रति व्याप्नोति । अस्थिपर्यन्तं व्याप्नोतीत्यर्थः । ॐ सरतेर्विकरण-
व्यत्ययः ॐ । यश्च रोगः तलीद्यम् । तलिद् इति अन्तिकनाम ।
अन्तिके भवं तलीद्यम् । ॐ “भवे छन्दसि” इति यत् । इकारस्य
दीर्घशब्दान्दसः ॐ । अस्थिसमीपगतं मांसम् अवतिष्ठति अवकृष्य
तिष्ठति । मांसं शोषयतीत्यर्थः । यः कश्चित् दुःसाधो राजयक्ष्मा-
ख्यो रोगः ककुदि ककुन्नाम ग्रीवापरभागः तस्मिन् श्रितः संश्रितः
ककुत्स्थानं तनूकुर्वन् यो रोगोस्ति तं सर्वं शरीरगतसर्वधातु-
शोषकं जायान्यम् निरन्तरजायासंभोगेन जायमानं क्षयरोगं निर्हाः
निर्हरतु । मन्त्रसस्कृतम् श्रौपद्यम् अग्न्यादिसंज्ञको वा देवः विना-
शयतु । ॐ हरतेश्चान्दसे लुङि रूपम् ॐ । जायान्यशब्दो रोग-
निशेषपरः । स च जायासंबन्धेन प्राप्नोतीति तैत्तिरीयके समा-
म्नायते । “प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञे
ददात् । तासां रोहिणीम् उपैत्” इति प्रक्रम्य समाम्नायते । “तासां
रोहिणीम् एवोपैत् । तं यक्ष्म आर्द्धत् । तद् राजयक्ष्मस्य जन्म । यत्

पापीयान् अभवत् तत् पापयक्ष्मस्य यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जाये-
न्यस्य । य एवम् एतेषां जन्म वेद नैनम् एते यक्ष्मा विन्दन्ति”
इति [तै० सं० २. ३. ५. २] । तत्र जायेन्य इति पठ्यते अत्र-तु
जायान्य इति आकारवच्चेन इति विशेषः ॥

जो राजयक्ष्मा नाम वाला रोग हृदियोंतकमें व्याप्त होजाता
है और अस्थियोंके पासके प्रांसको खेंच लेता है और जो (दुःसाध्य)
यक्ष्मारोग ककुदमें होजाता है, उन शरीरगत सब धातुओंको
सोखने वाले निरन्तर जायासंभोगसे उत्पन्न हुये जायान्य ऋ-
क्षयरोगोंको (मन्त्रसंस्कृत औषध वा अग्नि आदि देवता) नष्ट
कर डालें ॥ ३ ॥

दशमी॥

पृच्छी जायान्यः पतति स आ विंशति पूरुषम् ।

ऋ जायान्य शब्द रोगविशेषका वाचक है और इसके जायाके
संबंधसे प्राप्त होनेका वर्णन तैत्तिरीयकमें वर्णित है, कि—“प्रजा-
पतेस्त्रयस्त्रिंशद्बुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञेऽदाद्बु । तासाम्
रोहिणीं एवोपैत् ।—प्रजापतिकी तैंतीस पुत्रियें थीं, उनको प्रजा-
पतिने राजा चन्द्रमाके अर्पण कर दिया, वह उनमेंसे रोहिणी पर
ही आसक्त रहा” इसका आरंभ कर आगे कहा है, कि—“तासां
रोहिणीमेवोपैत् । तं यक्ष्म आर्च्यत् तद्बु राजयक्ष्मस्य जन्म । यत्
पापीयान् अभवत् तत् पापयक्ष्मस्य । यज्जायाभ्योन्विन्दत् तज्जा-
येन्यस्य । य एवं एतेषां जन्म वेद नैनं एते यक्ष्मा विन्दन्ति ।—
जब वह रोहिणीमें ही आसक्त रहा तब यक्ष्मा रोगने उसको
घेर लिया । यही राजयक्ष्माका जन्म है । जो पापीय होगया
यही पापयक्ष्माका जन्म है । और जो जायाओंसे प्राप्त हुआ
यही जायान्यकी व्युत्पत्ति है । जो इस प्रकार इनके जन्मको
जानता है उसको ये यक्ष्मा रोग प्राप्त नहीं होते हैं” ॥

तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षितस्य च ॥ ४ ॥

पत्नी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पुरुषम् ।

तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सुक्षितस्य । च ॥ ४ ॥

जायान्यः क्षयरोगः पत्नी पक्षवान् पतत्री भूत्वा पतति सर्वत्र चरति । स रोगः पुरुषम् पुरुषम् आ विशति सर्वतः प्रविशति । पुरुषस्य कृत्स्नं शरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः । अक्षितस्य । ❀ क्षि निवासगत्योः ❀ । शरीरे चिरकालावस्थानरहिनस्य । सुक्षितस्य चिरकालम् अवस्थितस्य । यद्वा ❀ । क्षणु हिंसायाम् इति धातुः । इकारोपजनश्चान्दसः ❀ । अक्षितस्य अर्हिसकस्य शरीरम् अशोषयतः सुक्षितस्य शरीरगतसर्वधातून् सुप्तु निःशोषयतः । ❀ चशब्दः समुच्चये ❀ । उभयोः अक्षितसुक्षितयोः क्षयरोगयोः तत् प्रसिद्धं मन्त्राभिमन्त्रितं वीणातन्त्रीखण्डादिरूपं भेषजम् निवर्तनोपथं भवति ॥

[इति] सप्तमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जायान्य नामक क्षयरोग पर बाला (सा) बन कर सर्वत्र विचरण करता है । वह रोग पुरुषके सारे शरीरमें व्याप्त होजाता है, वह चिरकालके नहीं किन्तु थोड़े समयसे शरीरमें बसे हुए जायान्य रोगको और चिरकालसे शरीरमें बसे हुये जायान्य रोगको इस प्रकार दोनों प्रकार जायान्य-क्षयरोगको मन्त्राभिमन्त्रित वीणातन्त्रीखण्ड आदि रूप आपधि, हटाने वाली है ॥४॥

सप्तम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२६५) ॥

“विद्य वै ते” इत्यस्या ऋचो राजयक्ष्मभेषज्ये “यः कीकसाः”

[७. ८०] इति ऋचेन सह उक्तो विनियोगः ॥

सोमयागे माध्यन्दिनसवने “धृपत् पिव” इत्यनया द्रोणकलश-

स्थं सोमं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “द्रोणकलशस्थम् अनुमन्त्रयते धृपत् पिबेति माध्यन्दिने” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ६] ॥

अभिचारकर्मणि “सांतपनाः” इति तृचेन विद्युद्धतवृत्तसमिध आदध्यात् ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि मध्यन्दिने काले सांतपनमरु-
द्यागं “सांतपनाः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने ।

“मध्यन्दिने सांतपनानां मरुतां सांतपनाः” इति [वै० २. ५] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यकर्मणि “वि ते मुञ्चामि” इत्यनया उदकघटं
संपात्य अभिमन्त्र्य सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितम् आस्तावयेद् अव-
सिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । “सिनीवालि [७. ४८] वि ते मुञ्चामि
[७. ८३] शुम्भनी [७. ११७] इति यौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा
पिञ्जुलीभिरास्तावत्यवसिञ्चति” इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः मुच्यमानयोक्तां पत्नीम् अनया ब्रह्मा
अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने । “वि ते मुञ्चामि [७. ८३]

अहं विष्यामि [१४. १. ५७] प्रत्वा मुञ्चामि [१४. १. १६]

इति पत्नीं योक्त्रेण विमुच्यमानाम् अनुमन्त्रयते” इति [वै० १. ४]

दर्शपूर्णमासयोः “अस्मै क्षत्राणि” इत्यनया हविरासादना-
नन्तरम् इधमम् उपसमादध्यात् । “अग्निर्मूष्याम् [१२. १. १६]

इति तिसृभिरुपसमादधाति अस्मै क्षत्राणि [७. ८३] एतम्

इधमम्” [१०. ६. ३५] इति [कौ० १. २] सूत्रात् ॥

“यत् ते देवा अकृएवन्” इति चतसृभिः स्वाभिलषितफल-
कामः अमावास्यां यजेत् उपतिष्ठेत् वा । “वृहस्पतिर्नः [७. ५३]

यत् ते देवा अकृएवन् [७. ८४] पूर्णा पश्चात्” [७. ८५]

इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

तथा दर्शयागे पार्वणहोमं “यत् ते देवा अकृएवन्” इत्यनया
कुर्यात् । “यत् ते देवा अकृएवन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्”

इति कौशिकसूत्रात् [कौ० १. ५] ॥

तथा श्रौतदर्शयागे “यत् ते देवा अकृण्वन्” इति कुहूदेवतां परिगृहीयात् । “कुहूं देवीं यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्य-मावास्यायाम्” इति वैतानं सूत्रम् [वै० १. १] ॥

“विद्म वै ते” इस ऋचाका राजयक्ष्माकी चिकित्सामें “यः कीकसः” इस ७ । ८० के वृचके साथ विनियोग कह दिया है ।

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें “धृपत् पिब” ऋचासे द्रोणक-लशमें स्थित सोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतान सूत्र ३ । ६ का प्रमाण भी है, कि—“द्रोणकलशस्थं अनुमन्त्रयेत् धृपत् पिबेति माध्यन्दिने” ॥

अभिचारकर्ममें “सांतपनाः” वृचसे विजलीसे मारे हुये वृक्ष की समिधाओंको रखे ।

तथा चातुर्मास्यके साक्रमेधपर्वमें मध्यन्दिनसमयमें सान्तपन मरुद्यागका “सान्तपनाः” से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इसी बात का वैतानसूत्रमें वर्णन है, कि—“मध्यन्दिने सान्तपनानां मरुतां सातपनाः” (वैतानसूत्र २ । ५) ॥

सर्वव्याधिभैषज्यकर्ममें “वि ते मुञ्चामि” ऋचासे जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके सूत्रोक्त रीतिसे रोगीको आलावित वा अवसिञ्चित करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“सिनीवाल्लि (७ । ४८) वि ते मुञ्चामि (७ ८३) शंभनी (७ । १११) इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जलीभिरा-सावत्पवसिञ्चति” (कौशिरुसूत्र ४ । ८) ॥

तथा दर्श पूर्णमाममें रस्सीसे छूटी हुई पत्नीका ब्रह्मा इस मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि—“वित्ते मुञ्चामि (७ । ८३) अहं विप्यामि (१४ । १ । ५७) म त्वा मुञ्चामि (१४ । १ । १६) इति पत्नीं योक्त्रेण विमुच्य-मानां अनुमन्त्रयेत्” (वैतानसूत्र १ । ४) ॥

दर्श पूर्णमासमें “अस्मै चत्राणि” ऋचासे हविके आसादनके अनन्तर ईधनको रक्खे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ४ का प्रमाण भी है, कि—“अग्निर्भूम्यां (१२ । १ । १६) इति तिसृभिरुपसमादधाति अस्मै चत्राणि (७ । ८३) एतम् इधम् (१० । ६ । ३५) ॥”

अपने अभिलषित फलको चाहने वाला “यत् ते देवा अकृएवन्” इन चार ऋचाओंसे अमावास्यामें यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—“बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) यत् ते देवा अकृएवन् (७ । ८४) पूर्णा पश्चात् (७ । ८५)” ॥

तथा “यत् ते देवा अकृएवन्” ऋचासे दर्शयागमें पार्वण-होमको करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण है, कि—“यत् ते देवा अकृएवन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्” ॥

तथा श्रौतदर्शयागमें “यत् ते देवा अकृएवन्” से कुहूदेवताका परिग्रहण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि—“कुहूं देवीं यत् ते देवा अकृएवन् भागधेयं इत्यमावास्यायाम्” ॥
तत्र प्रथमा ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।

कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृएवमो हविर्गृहे ॥ १ ॥

विद्म । वै । ते । जायान्य । जानम् । यतः । जायान्य । जायसे ।

कथम् । ह । तत्र । त्वम् । हनः । यस्य । कृएवमः । हविः । गृहे १

हे जायान्य जायाभ्य आगत राजयच्चाख्य रोग ते तव जानम् जन्म उत्पत्तिनिदानं वा विद्म वै जानीमः खलु । वैशब्दः श्रुत्यन्तर-प्रसिद्धिद्योतनार्थः । “यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जायेन्यस्य” इति

तैत्तिरीयश्रुतिः [तै० सं० २. ३. ५. २] उदाहृता । हे जायान्य जायासंबन्धाद् आगत रोग यतः यस्मान्निदानात् जायसे उत्पद्यसे तन्निदानं जानीम इति संबन्धः । एवं तत्रोत्पत्तिं जानाना वयं यस्य यजमानस्य गृहे हविः रोगनिर्हरणक्षमेन्द्रादिदेवतासंबन्धि आज्यादिरूपं कृणमः कुर्मः देवतोद्देशेन तदुचितं हविः प्रक्षिपामः तत्र तस्मिन् यजमाने । ❀ विषयसप्तमी ❀ । तद्विषये हे क्षयरोग त्वं कथं ह हनः केन प्रकारेण हन्याः । यद्रोगनिर्हरणार्थं यत्र देवता इज्यन्ते तत्र स रोगो न बाधत इत्यर्थः । ❀ हनइति । हन्तेः पञ्चम-लकारे अडागमः । कृणम इति । “लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः” इति उप्रत्ययलोपः ❀ ॥

हे स्त्रीसे आये हुए जायान्य राजयक्ष्मा रोग ! हम तेरी उत्पत्ति वा उत्पत्तिनिदानको जानते ही ‡ हैं । हे जायासंबन्धसे आये हुए ! तू जिस कारणसे उत्पन्न होता है उसको हम जानते हैं, इस प्रकार तेरी उत्पत्तिको जानने वाले हम जिस यजमानके घर में रोगको दूर करनेमें समर्थ इन्द्र आदि देवताओंकी घृत आदि की हविको कर रहे हैं उस घरमें तू किस प्रकार संभार कर रहा है ? अर्थात् जहाँ रोगको दूर करनेके लिये देवताओं की पूजा की जाती है तहाँ वह रोग पीड़ा नहीं देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

धृपत् पित्र कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।

‡ (वै) ही शब्द इस वार्ताको जताता है; कि-इस विषयका वर्णन अन्य श्रुतिमें भी है । जैसे जायान्य रोगका वर्णन तैत्तिरीय संहिता २ । ३ । ५ । २ की श्रुतिमें भी है, कि-‘यज्जायाभ्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य ।’

माध्यन्दिने सवने आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु
धेहि ॥ २ ॥

धृपत् । पिव । कलशे । सोमम् । इन्द्र । वृत्रहा । शूर । सम्-
अरे । वसूनाम् ।

माध्यन्दिने । सवने । आ । वृषस्व । रयिस्थानः । रयिम् ।
अस्मासु । धेहि ॥ २ ॥

हे इन्द्र धृपत् धृष्टः धर्षको वा शत्रूणाम् । ❀ जिघृषा प्रागल्भ्ये ।
शतरि व्यत्ययेन शः ❀ । कलशे द्रोणकलशाख्ये स्थितं सोमं
पिव । किंनिमित्तम् । हे शूर विक्रान्त वृत्रहा वृत्रं हतवान् त्वं वसू-
नाम् धनानां समरे संगमे निमित्ते । अस्मान् धनं संयोजयितुं पिवे-
त्यर्थः । ❀ संपूर्वाद् अर्तेः “ऋदोरप्” । “धाथ०” इत्यादिस्व-
रेण अन्तोदात्तः ❀ । सोमपानस्य कालम् आह । माध्यन्दिने
मध्यन्दिनसंबन्धिनि सवने । सूयते अभिपूयते सोमः अत्रेति सवनः
कालः । तत्र आ वृषस्व सर्वतः सिञ्च । जठरे सोमम् इति शेषः ।
यद्वा । ❀ आवृषतिर्भक्षणकर्मा इति यास्कः ❀ । भक्ष च । सोमम्
इति शेषः । ततः रयिस्थानः तिष्ठन्ति अस्मिन् धनानि इति
स्थानः । ❀ अधिकरणे व्युट् प्रत्ययः ❀ । धननिवासस्थानभूतः
स त्वं रयिम् धनम् अस्मासु धेहि धारय ॥

हे शत्रुओंको धमकाने वाले इन्द्र ! आप द्रोणकलशमें स्थित
सोमको पीजिये क्योंकि—हे वृत्रहन् शूर ! धनोंके संगमनके निमित्त
अर्थात् हमें धनसम्पन्न करनेके लिये हमको धनसे सम्पन्न करिये
आप मध्यन्दिनसवनके समय सोमका भक्षण करिये फिर धनके
निवासस्थान आप ! हममें धनको स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन ।

अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

साम्स्तपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन ।

अस्माकं । ऊती । रिशादसः ॥ १ ॥

हे सांतपनाः संतापकारी संतपनः सूर्यः तत्संबन्धिनः । मध्य-
न्दिने हि सूर्यः संतपति । ॐ संतपनस्य इमे इति “तस्येदम्” इति
अण् । “आमन्त्रितस्य च” इति पाठिकम् आद्युदात्तत्वम् । यद्वा
संपतनं संतापः । तस्येमे इति पूर्ववद् अण् ॐ । उभयत्रापि मध्य-
न्दिनकाले यष्टव्या इत्यर्थः । हे मरुतः इदं हविः । गुप्मभ्यं कल्पि-
तम् इति शेषः । हे मरुतः तत् हविः जुजुष्टन सेवध्वम् । ॐ जुप-
तेर्व्यत्ययेन श्लुः ॐ । अस्माक अस्माकम् ऊती । ॐ “सुपां
मुलुक्” इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः ॐ । ऊतये अस्मद्रत्ता-
णार्थम् हे रिशादसः रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः । तेषाम् उपत्त-
पयितारः । ॐ दस्यतेः अन्तर्णीतण्यर्थात् क्तिप् ॐ । यद्वा रिशा-
नाम् अत्तारः । ॐ अद् भक्तणे । इत्यस्माद् अष्टुन् । दस्यतेर्त्तेर्वा
रूपम् इति अनवधारणाद् अनवग्रहः । अपादादित्वाद् आष्टमिकं
सर्वाजुदात्तत्वम् ॐ । अस्मान् रक्षितुं शत्रूणां बाधका यूयं हविः
सेवध्वम् इति संबन्धः ॥

हे सूर्यसे संबन्ध रखने वाले मरुत देवताओं ! ये हवि आपके
लिये कल्पित हैं आप इसका सेवन करिये, हमारी रक्षा करनेके
लिये शत्रुओंके बाधक आप हविका सेवन करिये ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो
जिघांसति ।

द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्

यः । नः । मतः । मरुतः । दुःऽहृणायुः । तिरः । चित्तानि ।

वसवः । जिघांसति ।

द्रुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् । सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तन ।
तम् ॥ २ ॥

हे वसवः वासकाः । प्रशस्या इत्यर्थः । वसुप्रदा वा हे मरुतः
यो मर्तः मरणधर्मा मनुष्यः दुर्हणायुः दुष्टं क्रुध्यन् तिरः तिरो-
भूतः अन्तर्हितः दृष्टिविषयम् अप्राप्तः सन् नः अस्माकं चित्तानि
जिघांसति हन्तुम् इच्छति । क्षोभयतीत्यर्थः । स शत्रुः द्रुहः पापानां
द्रोघुर्वरुणस्य पाशान् प्रति मुञ्चताम् धारयतु । वरुणपाशैर्वद्धो
भवत्वित्यर्थः । तं जिघांसन्तं जनं तपिष्ठेन तापयित्तमेन तपसा
तापकेन आयुधेन हन्तन हिंस्त हे मरुतः । ❀ हन्तेलोटि तस्य
तस्य तनवादेशः । पिच्वाद् अनुनासिकलोपाभावः ❀ ॥

हे धन देने वाले मरुत-देवताओं ! जो मरणधर्मी पुरुष दुर्भाव
से क्रोध कर हमारे परोक्षमें हमारे चित्तोंको झुंथ करना चाहता
वह शत्रु पापसे द्रोह करने वाले वरुणदेवके पाशको धारण करे ।
और आप उस घात करनेकी इच्छा वाले पुरुषको तापक आयुध
से मार डालिये ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

संवत्सरीणां मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सर्गणा मानुषासः ।

ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा
मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

सम्बत्सरीणाः । मरुतः । सुऽअर्काः । उरुऽक्षयाः । सगणाः ।
मानुपासः ।

ते । अस्मत् । पाशान् । प्र । मुञ्चन्तु । एनसः । साम्ऽतपनाः ।
मत्सराः । मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

संबत्सरीणाः संबत्सरं भाविनः वर्षेवर्षे मादुर्भविष्यन्तः ।

⊗ “तम् अयीष्टो भृतो भूतो भावी” इत्यर्थे “संपरिपूर्वात् ख
च” इति संपूर्वाद्द वत्सरात् खमत्ययः ⊗ । स्वर्काः । ⊗ अर्क-
शब्दं यास्को बहुधा निरुवाच । अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेना-
र्थन्ति अर्कोऽदेवो भवति यद् एनम् अर्चन्ति अर्कम् अन्नं भवति
इत्यादि [नि० ५. ४] ⊗ । सुमन्त्राः । मन्त्रैः सम्यक् स्तूय-
माना इत्यर्थः । सूर्यरूपदेवसंबन्धिनो वा अन्नप्रदत्त्वेन शोभनात्वा
वा । उरुक्षयाः । क्षयशब्दो निवासवाची । उरुर्दिस्तीर्णः क्षयः
अन्तरिक्षरूपो निवासो येषां ते । अन्तरिक्षसंचारिण इत्यर्थः ।
सगणाः । “सप्तगणा वै मरुतः” इति [तै० सं० २. २. ५. ७]
श्रुतेः स्वीयस्वीयसंघयुक्ताः । मानुपासः वृष्टिनिमित्तत्वेन मनुष्य-
हितकारिणः । सांतपनाः शत्रूणां संतापकारिणः । मत्सराः माद्यन्तः
मादयिष्णवः सर्वस्य संतोषकरणशीलाः । ते एवंगुणविशिष्टा
मरुतः अस्मत् अस्मत्तः सकाशाद् एनसः पापकारिणः पाशान्
बाधकान् प्र मुञ्चन्तु प्रमोचयन्तु ॥

प्रत्येक सम्बत्सरमे मादुर्भूत होने वाले, सुन्दर मन्त्रोंसे स्तूय-
मान, अन्तरिक्षरूप विशाल निवास वाले, वृष्टिके निमित्त होनेके

कारण मनुष्योंका हित करने वाले, शत्रुओंको सन्तप्त करने वाले (सात) गण वाले और सबको संतोष देने वाले मरुत् देवता हमको पापमय पाशोंसे मुक्त करें ॥ ३ ॥

पृष्ठी ॥

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।

इहैव त्वमजस एध्याग्ने ॥ १ ॥

वि । ते । मुञ्चामि । रशनाम् । वि । योक्त्रम् । वि । नियोजनम् ।

इह । एव । त्वम् । अजसः । एधि । अग्ने ॥ १ ॥

हे अग्ने ते तव त्वत्कर्तृकां रशनाम् व्यापिकां रज्जुम् । ❀ अशो-
रश च [उ० २. ७५] इति युच् प्रत्ययः ❀ । त्वत्कर्तृकां रुग्ण-
विषयां कल्याणस्थितां कण्ठबन्धनसाधनभूतां वा बाधिकां रज्जुं
वि मुञ्चामि विमोचयामि प्रयोक्ता अहम् । तथा योक्त्रम् योजनोप-
युक्तं रज्जुविशेषं मध्यप्रदेशबन्धनसाधनम् । वि मुञ्चामीति क्रिया-
नुपङ्गः । तथा नियोजनम् नितरां योजनसाधनं नीचीनं वा बन्धन-
साधनं सर्वावयवबंधकं रज्जुविशेषम् । वि मुञ्चामीत्यनुपङ्गः ।
सर्वत्र क्रियानुपङ्गं द्योतयितुं वीत्युपसर्गश्रुतिः । अतः बंधनमोच-
नात् हे अग्ने त्वम् इहैव अस्मिन्नेव रोगार्ते । ❀ विषयसप्तमी ❀ ।
रुग्णविषये अजसः । ❀ जमु हिंसायाम् इति धातुः । “नमि-
कम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः” इति ताच्छीलिको रप्रत्ययः ❀ ।
अवाधनशीलः एधि भव । ❀ अस्तेल्लोडि हेर्धिभावे “ध्वसो-
रेद्धौ०” इति एकारादेशः ❀ ॥ यद्वा रोगार्त एव संबोध्यते ।
हे रोगार्त ते तत्र संबन्धिनीम् रशनाम् हननसाधनभूतं मृत्युपाशं
वि मुञ्चामि । एवं योक्त्रनियोजनशब्दौ व्याख्येयौ । अतो रश-
नादिविमोकात् हे अग्ने । अग्निवद् अग्निः । अग्निवद् दीप्य-

मान रोगान्मुक्त पुरुष त्वम् इहैव अस्मिन्नेव लोके अजस्रः परै-
र्मृत्युना वा अवाधितः एधि भव । ॐ अस्मिन् पक्षे कर्मणि
रप्रत्ययो द्रष्टव्यः ॐ ॥ पत्नी वा संबोध्यते ॥

मैं प्रयोक्ता आपकी रोगरूपिणी कण्ठ वा बगलमें व्याप्त रज्जु
को खोलता हूँ और मध्यप्रदेशके बंधनकी साधन योक्त्ररज्जुको
खोलता हूँ और सर्वावयवबन्धनसाधक नीचीन योक्त्रको भी
खोलता हूँ । इस बन्धनको खोलनेके कारण हे अग्ने ! आप इस
रोगार्त पुरुषके यहाँ अवाधनशील होकर बढ़िये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन
दीदिह्यं १ स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दा देवतासु
अस्मै । क्षत्राणि । धारयन्तम् । अग्ने । युनज्मि । त्वा । ब्रह्मणा ।
दैव्येन ।

दीदिहि । अस्मभ्यम् । द्रविणा । इह । भद्रम् । प्र । इमम् ।
वोचः । हविःऽदाम् । देवतासु ॥ २ ॥

हे अग्ने अस्मै यजमानाय क्षत्राणि । बलनामैतत् । बलानि
धारयन्तम् । प्रयच्छन्तम् इत्यर्थः । तादृशं त्वा त्वां दैव्येन देव-
संबन्धिना ब्रह्मणा मन्त्रेण युनज्मि हविर्वह्नार्यं योजयामि । अथ
अस्मभ्यं द्रविणा द्रविणानि धनानि भद्रम् भंदनीयं सुखं
पुत्रादिलाभादिनिमित्तं च इह इदानीं दीदिहि । देहीति यावत् ।
ॐ ददातेऽद्यादसं रूपम् ॐ । अथवा । ॐ दीदेतिर्दीप्तिकर्मा इति
यास्कः [निय० १. १६] ॐ । अस्मभ्यं धनादिकं संदीपय ।
समर्घयेत्यर्थः । यद्वा धनं सुखं च अस्मभ्यं दातुम् इह इदानीं

दीदिहि । इध्मेन दीप्यस्वेत्यर्थः । ततः हविर्दाम् चरुपुरोडाशादिरूपं हविः प्रयच्छन्तम् । ॐ ददातेः क्विप् ॐ । तादृशम् इमं यजमानं देवतासु अग्नीन्द्रादिषु प्र वोचः प्रब्रूहि । असौ यजमानो हविषा देवता यजत इति तस्यै तस्यै यष्टव्यदेवतायै कथयेत्यर्थः ॥

हे अग्निदेव ! इस यजमानको बल देने वाले आपको मैं दिव्य मन्त्रसे हवि वहन करनेके लिये नियुक्त करता हूँ, अतः आप इस समय हमको धन और पुत्रलाभ आदिसे होनेवाला सुख दीजिये । अथवा—आप हमको धन और सुख देनेके लिये इस समय प्रदीप्त हूजिये, तदनन्तर चरु पुरोडाश आदिरूप हविको देने वाले इस यजमानकी बात इन्द्र अग्नि आदि देवताओंसे कहिये अर्थात् यह यजमान हविसे अमुक देवताओंका यजन कर रहा है यह बात आप पूज्य देवताओंसे कहिये ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।

तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ १ ॥

यत् । ते । देवाः । अकृण्वन् । भागधेयम् । अमावास्ये । सम्वसन्तः । महित्वा ।

तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्ववारे । रयिम् । नः । धेहि ।

सुधगे । सुवीरम् ॥ १ ॥

अमा सह वसतः सूर्यचन्द्रावस्याम् इति अमावास्या । ॐ "अमा-

वस्यदन्यतरस्याम्” इति पक्षे एयत् प्रत्ययः । णिच्चाद् उपधा-
 वृद्धिः ॐ । तस्याः संयुद्धिः । हे अमावास्ये ते तव महित्वा मह-
 श्वेन । ॐ तृतीयाया आकारादेशः ॐ । यद्वा महित्वा महित्त्वे ।
 ॐ सप्तम्या आकारः ॐ । कर्मकालव्याप्तिपर्यन्तं संवसन्तः सम्यग्ब-
 सन्तः । हविरपेक्षया तिष्ठन्तो देवाः अग्नीन्द्रसोमादयः भागधेयम्
 हविषो भागम् अकृण्वन् अकुर्वन् । स्वीकृतवन्त इति यत् । “यत्
 ते देवा अदधुर्भागधेयम्” इति तैत्तिरीये श्रूयते [तै० सं० ३. ५.
 १. १] । यद्वा हे अमावास्ये ते तुभ्यं यद्वा भागधेयं हविषो भागम्
 अमावास्यायां यष्टव्यत्वेन संवसन्तो देवा अकृण्वन् अकुर्वन् प्राय-
 च्छन् । दर्शो अमावास्याया अपि हविषो भागोस्ति । ॐ भागधे-
 यम् इति । “रूपनामभागेभ्यो०” धेयप्रत्ययः ॐ । तेन हविर्भाग-
 स्वीकरणेन नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय सार्द्रं कुरु हे विरव-
 वारे विरवैः सर्वैर्वरणीये । किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते
 अमावास्ये नः अस्मभ्यं सुवीरम् । वीराः कर्मणि कुशलाः पुत्रा-
 दयः । शोभनपुत्रादियुक्तं रयिम् धनं धेहि मयच्छ ॥

हे अमावास्ये ! पूज्य होनेसे साथमें वसते हुए देवताओंने
 तुम्हारे लिये महत्वके कारण जो भाग दिया है, उस हविर्भागको
 स्वीकार करं तुम हमारे यज्ञको पूर्ण करो—सांग करो । हे सर्वोसे
 वरणीय सौभाग्यवति अमावास्ये ! आप हमको कर्ममें कुशल
 शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न धन दीजिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
 मयि देवा उभये साध्याश्चन्द्रज्येष्ठाः समंगच्छन्त सर्वे
 अहम् । एव । अस्मि । अमावास्या । माम् । आ । वसन्ति । सु-
 कृतः । मयि । इमे ।

मयि । देवाः । उभये । साध्याः । च । इन्द्रज्येष्ठाः । सम् । क्व-
च्छन्त । सर्वे ॥ २ ॥

अत्र देवतावासस्थानभूतत्वेन अमावास्याशब्दनिष्पत्तिरिति देवता स्वयमेव स्वनाम निर्वक्ति । अहमेव अमावास्याभिमानिनी देवता अमावास्या अस्मि । न केवलं शब्दतः अपि तु अर्थतोपि एतन्नामिका भवामि । तद् दर्शयति पादत्रयेण । सुकृतः सुकर्माणो देवा मां मयि आ वसन्ति निवसन्ति यष्टव्यत्वेन अवतिष्ठन्ते । ❀ “उपान्वध्याङ्वसः” इति आङ्पूर्ववसिप्रयोगे माम् इत्यस्य कर्मता । आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्दनिरुक्तिः । आङ्वसत्योर्मध्ये मा इति अस्पदो द्वितीयैकवचनस्य प्रयोगः । आङ्पसर्गस्य ह्रस्वत्वम् । इति अमावास्याशब्दनिष्पत्तिः प्रदर्शिता । प्रत्ययस्तु पूर्वमेव उक्तः ❀ । माम् इति द्वितीयार्थमेव विष्टणोति मयीमे इति । इमे देवाः मयि निवसन्ति इति आवासपदस्य अर्थकथनद्वारेणापि अमावास्याशब्दो निरुच्यते । साध्याः । चशब्दः अनुक्तसमुच्चयार्थः । सिद्धाश्च साध्यसिद्धनामका उभये द्विप्रकारा इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रप्रमुखाः सर्वे देवाः मयि सपगच्छन्त संगच्छन्ते यष्टव्यत्वेन मिलिता भवन्ति । एतद् उक्तं भवति । माम् आ वसन्ति देवा मयि निवसन्ति यष्टव्यत्वेन मयि संगच्छन्ते इति अन्वर्थम् अमावास्याशब्दवाच्या भवामीति । अया सह वसुत्व इन्द्रो वसति अस्यां तिर्यो इति अमावास्याशब्दनिरुक्तिरिति तत्तिरीये श्रूयते । “अमा वै नोद्य वसु वसतीति । इन्द्रो हि देवानां वसु । तद् अमावास्याया अमावास्यास्त्वम्” इति [तै० सं० २. ५. ३. ६] ॥

(यहाँ देवताके आवासरूपसे अमावास्या शब्दको कदा गया है वह देवता स्वयमेव कहते हैं, कि-) मैं ही अमावास्याका अपि-
मानिनी देवता हूँ, (केवल शब्दसे ही ऐसा नहीं है किन्तु अर्थसे

भी ऐसा ही हैं, क्योंकि-) सुन्दर कर्म वाले देवता मुझमें यष्टव्यरूपसे रहते हैं (आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्द निरुक्तिः) यही मेरा अमावास्यात्मक अन्वर्थक नाम है। ये देवता मुझमें रहते हैं। और साध्य सिद्ध नामक इन्द्रज्येष्ठ और इन्द्र-प्रमुख इस प्रकार दोनों प्रकारके भी देवता मुझमें यष्टव्यत्वसे मिलित होजाते हैं ‡ ॥ २ ॥

दशमी ॥

आगन् रात्रीं संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती ।
अमावास्याये हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न
आगन् ॥ ३ ॥

आ । अगन् । रात्री । सम्गमनी । वसूनाम् । ऊर्जम् । पुष्टम् ।
वसु । आवेशयन्ती ।

अमावास्याये । हविषा । विधेम । ऊर्जम् । दुहाना । पयसा ।
नः । आ । अगन् ॥ ३ ॥

रात्री अमावास्याकालयुक्ता तिथिः वसूनाम् धनानां संगमनी संयोजयित्री । ॐ विधेयविशेषणम् एतत् ॐ । अस्मान् धनं संयो-

‡ अमा अर्थात् साधमें वसुरूप इन्द्र इस तिथिमें रहते हैं-इस प्रकारकी अमावास्या शब्दकी निरुक्ति तैत्तिरीयसूक्ती श्रुतिमें है, कि-“अमा वै नोऽद्य वसु वसतीति । इन्द्रो हि देवानां वसु । तद् अमावस्याया अमावास्यत्वम् ।-हमारे वसु आज साधमें वसते हैं, इन्द्र ही देवताओंके वसु हैं, यही अमावास्याका अमावास्यापन है” (तैत्तिरीयसंहिता २।५।३।६) ॥

जयितुम् आगन् आगच्छतु । ॐ गमेश्वान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०”
इति च्लेलुक् । “मो नो धातोः” इति नत्वम् ॐ । तथा ऊर्जम्
अन्नरसं पुष्टम् पोषं वसु धनं च आवेशयन्ती अस्मदभिमुखं प्रय-
च्छन्ती आगन्निति संबन्धः । अमावास्यां गोरूपेणाह । नः अस्मा-
कम् ऊर्जम् अन्नरसं पयसा क्षीरेण सह दुहाना आगन् आगच्छतु ।
“अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना” इति
शाखान्तरे श्रूयते [तै० ब्रा० ३. ७. ५. १३] । तादृश्यै अमा-
वास्यायै तदर्थम् । यद्वा । ॐ कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ॐ ।
अमावास्यां देवतां हविषा आज्यादिरूपेण विधेम परिचरेम ॥

[इति] सप्तमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

अमावास्याकालसम्पन्न तिथि वाली रात्रि धनोंका सम्मेलन
कराने वाली है, वह हमको धनसे सम्पन्न करनेके लिये आवे ।
तथा अन्नरसका धनका और पुष्टिका अपनेमें समावेश करती
हुई हमारी ओर आवे । (अमावास्याका गोरूपमें वर्णन करते
हैं, कि—) यह हमारे लिये अन्नरसको क्षीरके साथ दुहाती हुई
आवे † । ऐसी अमावास्याकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३९९) ॥

“अमावास्ये न” इत्यस्याः सर्वाभिलषितकर्मणि “यत् ते देवा
अङ्गुणवन्” इत्यत्र विनिये ग उक्तः ॥

सर्वफलकामः “पूर्णा पश्चात्” इति द्वाभ्याम् “पौर्णमासी
प्रथमा यज्ञियासीत्” इत्यनया च पौर्णमासी यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि “प्रजापते न त्वत्” इत्यनया प्रजापतिं यजेत
उपतिष्ठेत वा ॥

† तैत्तिरीयब्राह्मण ३। ७। ५। १३ में भी कहा है, कि—

“अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना” ॥

“यत् ते देवा अकृण्वन् [७. ८४] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] प्रजापते” [७. ८५. ३] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

पूर्णमासयागे “पूर्णा पश्चात्” इति पूर्णमासीं देवतां परिगृह्णीयात् । “राकाम् अहम् [७. ५०] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] इति पूर्णमास्याम्” इति [वै० १. १] वैतानसूत्रात् ॥

तत्रैव कर्मणि “पूर्णा पश्चात्” इति पार्वणहोमं जुहुयात् । “पूर्णा पश्चात् इति पूर्णमास्याम्” इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १. ५.] ॥

दर्शपूर्णमासयोः संनतिहोमानन्तरं “प्रजापते न त्वद्” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । “पृथिव्याम् अग्नये समनमन् [४. ३६] इति संनतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [७. ८५. ३] इति च” इति [कौ० १. ५] सूत्रात् ॥

तथा सर्वेषु श्रौतकर्मसु अनुमन्त्रणमन्त्रानादेशे “प्रजापते न त्वद्” इत्यनया अनुमन्त्रणं कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । “मन्त्रानादेशे लिङ्गवतेति भागलिः । प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति युवा कौशिकः । यथादेवतम् इति माठरः” इति [वै० १. १] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः प्राजापत्यम् आघारम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति प्राजापत्यम् आघारम्” इति [वै० १. २] सूत्रात् ॥

तथा “मारुहणीं घल्लकामस्य” इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तीं “प्रजापते न त्वद्” इत्येनाम् ऋचम् आवपेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “मरुतां मन्वे [४. २७] प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [७. ८५. ३] इति मारुहण्याम्” इति [न० क० १८] ॥

विवाहे “पूर्वापरम्” इति ऋचेन आज्यसमित्पुरोडाशादीनि जुहुयात् । सूत्रितं हि । “सत्येनोत्तमिता [१४. १] पूर्वापरम् [७. ८६] इत्युपदधीत” इति [कौ० १०. १] ॥

महाशान्तीं ग्रहयज्ञे “सोमस्यांशो युवां पते” इति चतुर्ऋचेन

हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि बुधाय कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिब्रह्मणे । “यद् राजानः [३. २६] सोमस्यांशो बुधां पते [७. ८६; ३-६] इति बुधाय” इति [न० क० १५] ॥

“अमात्रास्ये न” इसका सर्वाभिलषित कर्ममें “यत् ते देवा अकृण्वन्” में विनियोग कह दिया है ।

सर्वफलकाम व्यक्ति “पूर्णा पश्चात्” इन दोसे और “पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीत्” इस ऋचासे पौर्णमासीका यजन वा उपस्थान करे ।

उसी कर्ममें “प्रजापते न त्वत्” ऋचासे प्रजापतिको यजन वा उपस्थान करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—
“यत् ते देवा अकृण्वन् (७ । ८४) पूर्णा पश्चात् (७ । ८५) प्रजापते (७ । ८५ । ३)” ॥

पूर्णमासयागमें “पूर्णा पश्चात्” से पूर्णमासी देवताका परिग्रहण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि—

“राकां अहम् (७ । ५०) पूर्णा पश्चात् (७ । ८५) इति पौर्णमास्याम्”

तहाँ ही कर्ममें “पूर्णा पश्चात्” से पार्वणहोमकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण भी है, कि—“पूर्णा पश्चात् इति पौर्णमास्याम्” ।

दर्शपूर्णमासमें सन्नतिहोमके अनन्तर “प्रजापते न त्वत्” ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण भी है, कि—“पृथिव्यां अग्रये समनमन् (४ । ३६) इति सन्नतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः (७ । ८५ । ३) इति च” ॥

तथा सकल श्रौत कर्मोंमें जहाँ अनुमन्त्रणका मन्त्र न लिखा हो तहाँ “प्रजापते न त्वत्” से अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—“मन्त्रानादेशे लिंगवतेति भागलिः ।

प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति युवा कौशिकः ।-भागलि ऋषि का मत है, कि-अनुमन्त्रणके मन्त्रका आदेश न होने पर लिंग (चिह्न) वाले मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे और युवा कौशिक ऋषिका मत है, कि-“प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः” से अनुमन्त्रण करे” । (वैतानसूत्र १ । १) ॥

तथा दर्शपूर्णमासमें प्राजापत्य आधारका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । २ प्रमाण है, कि-“प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः इति प्राजापत्यं आधारम्” ॥

तथा “मारुद्गणी बलकामस्य ।-बलकी कामना वालेके लिये मारुद्गणी शान्तिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महाशान्तिमें “प्रजापतये न त्वत्” ऋचाको भी सम्मिलित कर लेय । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-“मरुतां मन्वे (४ । २७) प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः (७ । ८५ । ३) इति मारुद्गण्याम्” (नक्षत्रकल्प १८) ॥

विवाहमें “पूर्वापरम्” ऋचसे घृत समिधा पुरोडाश आदिकी आहुति देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-“सत्येनो-त्तभिता (१४ । १) पूर्वापरम् (७ । ८६) इत्युपदधीत” (कौशिकसूत्र १० । १) ॥

महाशान्तिके ग्रहयज्ञमें “सोमस्यांशो युधां पते” इस चतुर्ऋच से ऋवि घृतहोम समिदाधान और उपस्यानोंको बुधके निमित्त करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि-“यद् राजानः (३ । २६) सोमस्यांशो युधां पते (७ । ८६ । ३-६) इति बुधाय” (नक्षत्रकल्प १५) ॥

तत्र मथमा ॥

अर्मावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वां रूपाणि परि-
भूर्जेजानि ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो
रयीणाम् ॥ ४ ॥

अमावास्ये । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि ।
परिभूः । जजान ।

यत्कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम ।
पतयः । रयीणाम् ॥ ४ ॥

हे अमावास्ये त्वत् त्वत्तः अन्यः कश्चिद् देवः एतानि इदानीं
वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि । ❀ “शेखन्दसि बहुलम्”
इति शैलोपः ❀ । रूपाणि रूप्यमाणानि भूतजातानि परिभूः ।
❀ कृद्योगलक्षणपष्ठ्यभावशब्दान्दसः ❀ । परिभूः । परिपूर्वो भवतिः
परिग्रहार्थः । परिग्राहको व्यापको न जजान नोत्पन्नः । त्वमेव
एतानि परिगृह्णासीत्यर्थः । ❀ जन जनने । लिटि रूपम् ❀ ।
यद्वा एतानि भूतजातानि त्वत्तः अन्यो देवः परिभूः व्यापकः
सन् न जजान नोत्पादयामास । त्वमेव एतानि परिगृह्ण स्रष्टुं
शक्नोषीति भावः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । एयन्तस्य लिटि मन्त्र-
विषयत्वाद् आमभावः । “णेरनिटि” इति णिलोपः ❀ । वयं च
यत्कामाः यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छामः
तत् फलं नः अस्माकम् अस्तु भवतु । तथा वयं च रयीणाम्
धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम ॥

हे अमावास्ये ! तेरे बिना कोई भी देवता सब प्राणियों
को व्यापक होकर उत्पन्न नहीं कर सका है अर्थात् तू ही इन
देवताओंको परिग्रहण करके सृष्टि रचनेमें समर्थ हुई है । हम भी

जिस फलकी कामना करते हुए तेरे लिये इचिकी आहुति देते हैं वह फल हमको प्राप्त हो और हम धनके स्वामी होवें ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

पूर्णा पश्चाद्भुत पूर्णा पुरस्ताद्भुतः पौर्णमासी
जिगाय ।

तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिपा
मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा । पश्चात् । उत । पूर्णा । पुरस्तात् । उत् । मध्यतः ।
पौर्णमासी । जिगाय ।

तस्याम् । देवैः । सम्सवसन्तः । महित्वा । नाकस्य । पृष्ठे ।
सम् । इपा । मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा पूर्णचन्द्रोपेता पौर्णमासी पश्चात् प्रतीच्यां दिशि जिगाय जपति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । उत अपि च पूर्णा पौर्णमासी पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जिगाय । तथा मध्यतः मासप्रतीच्योर्दिशोर्मध्ये आकाशमध्ये पौर्णमासी । पूर्णः संपूर्णो मासचन्द्रः अस्मिन् पर्वणीति पौर्णमासी तिथिः । ❀ “सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम्” इति अणन्तत्वेन निपातितः ❀ । उज्जिगाय उज्जपति । पूर्णकलचन्द्रोपेता पौर्णमासी प्राच्यां प्रतीच्यां च दिशि मध्ये च प्रकाशयुक्ता वर्तते इत्यर्थः । अत्र जेतव्यस्याश्रवणाज्जयतिः उत्कर्षवाची । ❀ “सन्निटोर्जेः” इति अभ्यासाद् उत्तरस्य जयतेः कवर्गादेशः ❀ । तस्यां पौर्णमास्यां देवैः यष्ट्यैरग्नीषोमादिभिः सह महित्वा महत्त्वेन संवसन्तः संभूय निवसन्तो वयम् । यष्टयष्टव्ययोः एकप्रदेशावस्थानात् संवसन्त इत्युक्तम् । नाकस्य दुःखरहितस्य

स्वर्गस्य पृष्ठे उपरि भागे इषा अन्नेन सं मदेमसंमाद्येम । ❀ माद्यतेः
 “लिङ्घाशिष्यङ्” ❀ । पौर्णमास्याम् अग्नीषोमादियागेन स्वर्ग-
 भोगप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

जिसमें चन्द्रमा पूर्ण होता है वह तिथि पौर्णमासी कहलाती है ऐसी पूर्णमासी पूर्वदिशामें सर्वोत्कृष्टरूपसे रहती है, पश्चिम दिशामें सर्वोत्कृष्ट भावसे दमकती है और इन दोनों दिशाओंके मध्य आकाशमें यह पूर्णिमातिथि दमकती है । उस पौर्णमासीमें पुननीय अग्नि सोम आदि देवताओंके साथ महत्वके कारण वसते हुए हम स्वर्गके ऊपर अन्नसे आनन्दको प्राप्त होंगे । तात्पर्य यह है, कि-पौर्णमासीमें अग्नीषोम आदि याग करनेसे स्वर्गके भोगों की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

तृतीया ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।

स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्णमासम् । यजामहे ।

सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रयिम् । अनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् वर्षितारम् अभिमतफलानां प्रधानभूतं वा वाजिनम् अन्नवन्तम् अन्नसाधनत्वात् द्विविभिर्वा युक्तं पौर्णमासम् । ❀ पूर्णो मासश्चन्द्रः अस्मिन्निति पूर्णमासः । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकः अण् । पौर्णमासं पर्व वयं यजामहे आहुत्या । स च अस्माभिरिष्टः पौर्णमासः नः अस्माकम् अक्षिताम् अविनाशितां परैरवाधिताम् अनुपदस्वतीम् उपभोगेपि क्षयरहितां रयिम् रायं धनं दधातु । अक्षिताम् इत्यनेन परकृतः क्षयो निरस्यते । अनुपदस्वतीम् इत्यनेन उपभोगेन व्ययेपि क्षयरहित्यम् उच्यते । ❀ अक्षिताम् इति ।

न्ति क्षये । कर्मणि क्तः । “निष्ठायाम् अण्यदर्थे” इति पयुंदासाद् दीर्घाभावः । अत एव “क्षियो दीर्घात्” इति निष्ठानत्वाभावरश्च । अनुपदस्वतीम् इति । दस्यु उपक्षये । संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । तदन्तान्मतुप् । “मादुपधायाः०” इति बत्वम् । “तसौ मत्वर्थे” इति भसङ्गायां पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः । अनुपदस्वतीम् इति । “नञ्” इति तत्पुरुषसमासः । “तत्पुरुषे तुल्यार्थे०” इति अव्यय-पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हविरूप अन्न वाले पौर्णमास पर्वकी हम आहुति से उपासना करते हैं, हमसे पूजित हुआ पौर्णमास हममें विनाशरहित और उपभोग करने पर भी क्षयरहित धनको स्थापित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रजांपते न त्वदेतान्यन्यो विश्वां रूपाणि परिभूर्जजान
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो
रयीणाम् ॥ ३ ॥

प्रजांपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि ।
परिभूः । जजान ।

यत्कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः ।
रयीणाम् ॥ ३ ॥

एषा ऋक् “अमावास्थे न त्वदेतानि” [७. ८४. ४] इत्यनेन व्याख्याता । अमावास्यापदस्थाने प्रजापतिपदं विशिष्यते ॥ हे प्रजापतिदेव ! आप व्यापकरूपसे सब रूपोंकी सृष्टि करने वाले हुए हैं आपके बिना और किसीमें ऐसी शक्ति नहीं है, हम

जिस कामनाको मनमें रख कर आहुति दे रहे हैं वह कामनाएँ हमको प्राप्त हों और हम धनके भी स्वामी बनें ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।

ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः

पौर्णमासी । प्रथमा । यज्ञिया । आसीत् । अह्नाम् । रात्रीणाम् ।

अतिशर्वरेषु ।

ये । त्वाम् । यज्ञैः । यज्ञिये । अर्धयन्ति । अमी इति । ते । नाके ।

सुकृतः । प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्णमासी पूर्णचन्द्रवती एतन्नामिका तिथिः अह्नां रात्रीणाम् अहो रात्राणां मध्ये प्रथमा आदिभूता मुख्या वा यज्ञिया यज्ञार्हा आसीत् भवति । ❀ “यज्ञैर्विग्भ्यां घखर्जा” इति घप्रत्ययः ❀ । कस्मिन् विषय इति तद् आह । अतिशर्वरेषु । अतिक्रान्तानि शर्वरीम् अतिशर्वराणि । ❀ “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया” इति समासः ❀ । रात्रिम् अतीत्य वर्तमानेषु सोमादिहविष्णु । यद्वा अतिशयिता शर्वरी येषु हविष्णु इति अतिशर्वराणि । तृतीय-सवनव्यापिषु हविष्णु । यज्ञियासीद् इति संबन्धः । अयम् अर्थः । इष्टिपशुसोमानां दर्शपूर्णमासौ प्रकृतिभूतौ । तत्रापि पूर्णमासयागः प्रथमानुष्ठेयः । स च पौर्णमास्यामेव तिथौ क्रियत इति सर्वेषाम् अहोरात्राणां प्रथमत्वेन यज्ञार्हेति ॥ हे यज्ञिये यज्ञार्हे पौर्णमासि त्वां ये ऋत्विग्यजमाना यज्ञैः दर्शपूर्णमासादिभिः अर्धयन्ति अभि-मतफलं याचन्ते । ❀ अर्धं गतो याचने च ❀ ॥ अमी इष्टवन्तस्ते

सुकृतः सुकर्माणो यजमानाः नाके दुःखरहिते स्वर्गलोके प्रविष्टाः
स्थिता भवन्ति ॥

पूर्ण चन्द्र वाली तिथि पौर्णमासी दिन और रात्रियोंमें मुख्य
है और यज्ञके योग्य है । यह पौर्णमासी रात्रि विता कर होने
वाली तृतीयसवनव्यापी और सोमादि हवियोंमें यज्ञिया है, तात्पर्य
यह है, कि-इष्टिपशुसोम दर्श और पूर्णमासके प्रकृतिभूत हैं, क्यों-
कि-तहाँ पर भी पूर्णमासयागका अनुष्ठान प्रथम ही किया जाता
है, और वह पौर्णमासीमें ही किया जाता है, अतः यह सबल
दिन और रात्रियोंमें प्रथमत्वरूपसे यज्ञिया है । हे यज्ञिये पौर्ण-
मासी ! जो ऋत्विज और यजमान दर्श और पूर्णमास यज्ञोंके
द्वारा तुझसे अभीष्ट फलकी याचना करते हैं, वे यज्ञ करनेवाले
सुकृती दुःखरहित स्वर्गलोकमें प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥

पृष्ठी ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम्
विश्वान्यो भुवना विचष्टे ऋतून्यो विदधञ्जायसे नवः
पूर्वऽअपरम् । चरतः । मायया । एता । शिशू इति । क्रीडन्तौ ।

परि । यातः । अर्णवम् ।

विश्वा । अन्यः । भुवना । विचष्टे । ऋतून् । अन्यः । विदधत् ।

जायसे । नवः ॥ १ ॥

कश्चित् पूर्वो गच्छति सूर्यः । अन्यस्तम् अनुचरति चन्द्रमाः ।
एवम् एता सूर्यचन्द्रौ पूर्वापरम् । क्रियाविशेषणम् एतत् । पूर्वा-
पर्येण मायया सह चरतः शुलोके गच्छतः । ता शिशुवद् भ्रम-
णात् जायमानत्वाद् वा शिशू इत्युच्येते । शिशू सन्तौ क्रीडन्तौ

विहरन्तौ अर्णवम् । अन्तरिक्षनामैतत् । अर्णोसि उदकानि अस्मिन्
 सन्तीति अर्णवः । ❀ “अर्णसः सलोपश्च” इति वप्रत्ययः
 सकारलोपश्च ❀ । अन्तरिक्षं परि यातः परि गच्छतः । तयो-
 रन्यः आदित्यो [विश्वा] विश्वानि भुवना भुवनानि भूतजातानि
 विचष्टे पश्यति । ❀ “एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम्” इति निघात-
 निषेधः । “तिष्ठि चोदात्तवति” इति गतेर्निघातः ❀ । अन्य-
 श्चन्द्रमाः ऋतून् वसंतादीन् तदवयवभूतान् मासान् अर्धमासांश्च
 विदधत् कुर्वन् नवः नूतनः जायते उत्पद्यते । यद्यपि उभयोर्जनि-
 रस्ति तथापि सूर्यस्य सर्वदा प्रवृद्धेः उदयो नाभिप्रेतः । चन्द्रस्य
 तु कलाहासवृद्धिसद्भावाद् नवो जायत इत्युक्तियुक्ता । “चन्द्रमा
 वै जायते पुनः” इत्यादिश्रुतेश्च [वा० सं० २३. १०] ॥

(एक सूर्य पहिले चलता है, दूसरा चन्द्रमा उसके पीछे चलता
 है इस प्रकार) पूर्वापरकी मायासे दुलोकमें विचरण करते हुए
 सूर्य और चन्द्रमा । बालककी समान भ्रमण करनेसे वा उत्पन्न
 होनेसे) शिशु रूपमें जिसमें जल रक्खा होता है उस अर्णवोप-
 नामक अन्तरिक्षमें चलने रहते हैं । इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् सूर्य
 सकल भुवनों प्राणियों-को देखता है और दूसरा चन्द्र वसन्त
 आदि ऋतुओंको उनके अवयवरूप मास पक्षोंको भी करता हुआ
 नवीन ही उत्पन्न होता रहता है † ॥ १ ॥

† यद्यपि दोनोंकी जनि (उदय) होती है तथा सदा प्रवृद्धि
 रहनेके कारण सूर्यका उत्पन्न होना कहना उपपन्न नहीं है । और
 चन्द्रमामें कलाओंका हास और वृद्धि होती रहती है अतः उसका
 नवीन उत्पन्न होना कहना युक्तिसंगत ही है । वाजसनेयसंहिता
 २३ । १० में भी कहा है, कि-“चन्द्रमा वै जायते पुनः ।-चन्द्रमा
 फिर उत्पन्न होता है” ॥

सप्तमी ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुपसामेप्यग्रम् ।

भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः

नवःऽनवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उपसाम् । एपि ।

अग्रम् ।

भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आऽयन् । प्र । चन्द्रमः ।

तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

हे चन्द्रमः त्वं जायमानः शुक्रपक्षप्रतिपदादिषु एकैकलाधिक्येन उत्पद्यमानः सन् नवोनवः पुनः पुनरभिनवो भवसि प्रतिदिनं नूतन एव भवसि । ❀ “अनुदात्तं च” इति द्वितीयो नवशब्दः अनुदात्तः ❀ । किं च अह्नाम् तिथीनां केतुः केतुवत् केतयिता ज्ञापयिता प्रतिपदादादीनां तिथीनां चन्द्रकलाहासवृद्धयधीनत्वात् । तादृशस्त्वम् उपसाम् रात्रीणाम् अग्रम् एपि अग्रणीर्भवसि । रात्रीणां कर्तृत्वात् । यद्वा अह्नां केतुः अहरवसाने शुक्रपक्षे प्रतीच्यां दिशि दृश्यसे कृष्णपक्षे तु उपसाम् रात्रीणाम् अग्रम् अवसानम् एपि । प्राच्यां दिशि दृश्यसे इत्यर्थः । केचन एतं पादम् आदित्यदेवत्यम् आहुः । तस्मिन् पक्षे अह्नां केतुत्वम् उपसाम् अग्रगतिश्च सूर्यस्य प्रसिद्धे । एवम् आयन् आगच्छन् प्रतिदिनं द्वासवृद्धिभ्यां पक्षान्तम् अभिगच्छन् हे चन्द्रमः त्वं देवेभ्यो भागम् हविर्भागं वि दधासि करोषि । तिथिविशेषरूपपर्यनिबन्धनत्वात् सर्वयागानाम् । एवमुक्तलक्षणं हे चन्द्रमः त्वं दीर्घम् आयुः प्र तिरसे । ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः ❀ । प्रवर्धयसि । ❀ अत्र निरुक्तम् । नवोनवो भवसि जायमान इति पूर्वपक्षादिम् अभि-

प्रेत्य । अर्हां केतुरूपसाम् एत्यग्रम् इति अपरपक्षान्तम् अभिप्रेत्य ।
आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके । भागं देवेभ्यो विदधात्या-
यन्निति अर्धमासेज्याम् अभिप्रेत्य । प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घम्
श्यायुः इति [नि० ११. ६] ❀ ॥

हे चन्द्रदेव ! आप शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा आदिमें एक एक
कलाके अधिक होते रहनेसे प्रतिदिन नवीन ही उत्पन्न होने रहते
हैं और आप केतुकी समान तिथियोंके ज्ञापक हैं, क्योंकि तिथियें
चन्द्रमाकी कलाके अधीन होती हैं, ऐसे आप रात्रियोंके अग्रणी
हैं, क्योंकि—आप रात्रियोंके कर्ता हैं । अथवा दिनोंके केतु हैं
दिनके अन्तमें शुक्लपक्षमें पश्चिम दिशाकी ओर दीखते हैं और
कृष्णपक्षमें रात्रिके अवसानसे पहिले ही आप अवसानको प्राप्त
होजाते हैं, इस प्रकार प्रतिदिनकी हासवृद्धिसे पक्षान्तको प्राप्त
होते हुए हे चन्द्रदेव ! आप देवताओंके लिये हविका विभाग
करते रहते हैं (क्योंकि—सब यागतिथिविशेषरूप पर्वमें होते हैं)
हे पूर्वोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न चन्द्रदेव ! आप दीर्घायुको बढ़ाते हैं २

अष्टमी ॥

सोमस्यांशो युधां पतेन्नूना नाम वा असि ।

अन्नूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

सोमस्य । अंशो इति । युधाम् । पते । अन्नूनः । नाम । वै । असि ।

अन्नूनम् । दर्श । मा । कृधि । प्रजया । च । धनेन । च ॥३॥

हे सोमस्यांशो सोमस्य चन्द्रमसः अंशभूत सोमपुत्र हे बुध हे
युधां पते युद्धानां योधानां वा पालक । बुधग्रहवलेन हि युद्धजयो
भवतीति प्रसिद्धम् । ❀ आमन्त्रितद्वयेपि “सुवामन्त्रिते पराब्रवत्
स्वरे” इति सोमस्येति युधाम् इति च पदद्वयस्य आमन्त्रितानु-

प्रवेशः । तत्र सोमस्यांशो इत्यत्र “आमन्त्रितस्य च” इति पाष्टिकम् आद्युदात्तत्वम् । युधां पते इत्यस्य “नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्” इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवच्चनिषेधात् “आमन्त्रितस्य च” इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ॐ । एवंगुणविशिष्ट सोमपुत्र हे बुध त्वम् अनूनः संपूर्णो नाम असि वै भवसि खलु । सर्वदा तेजस्वित्वेन अनूनत्वम् । अतः हे दर्श द्रष्टव्य बुध मा मां हविरादिना त्वां प्रीणयन्तं प्रजया पुत्रादिक्रया धनेन । परस्परसमुच्चयायां चशब्दौ । अनूनम् संपूर्णं समृद्धं कृधि कुरु ॥ एवं विनियोगानुसारेण बुधग्रहपरतया व्याख्यातः । मन्त्रार्थपर्यालोचनया सोम एव प्रतीयते । तस्मिन् पक्षे अयम् अर्थः । हे सोमस्यांशो सोमस्य संपूर्णकलस्य चन्द्रस्य अंशो अंशभूत एककलावच्छिन्न शुक्लप्रतिपदि दृश्यमान चन्द्र हे युधां पते त्वं नाम नाम्ना अनूनोसि संपूर्णकल इति प्रसिद्धोसि । चन्द्रस्य संपूर्णकलत्वमेव सहजो धर्मः । तत्र कलाहासवृद्धी सूर्यमरीचिसमाश्लेषतारतम्येनेति ज्योतिःशास्त्रविद् आहुः । यतः संपूर्णकलः अतो हे दर्श द्रष्टव्य सर्वैरभिनन्दनीय त्वं मामां तुभ्यं हविः प्रयच्छन्तम् । प्रजाधनाभ्यां संपूर्णं कुरु इति । सोमदेवत्योपि मंत्रो जन्यजनकयोरभेदोपचाराद् बुधग्रहविषयहविर्दानादिषु विनियुज्यते । ॐ कृधीति । डुकृब् करणे । लोटि हेः “श्रुशृणुपृकृष्टभ्यश्छन्दसि” इति धिरादेशः । विकरणस्य लुक् छान्दसः ॐ ॥

हे सोमके अंश अर्थात् पुत्ररूप बुध ! और युद्धोंके वा योधाओं पालक बुध ! (क्योंकि—बुधग्रहके बलसे ही युद्धमें विजयकी प्राप्ति होती है, यह प्रसिद्ध है) आपका अनून-संपूर्ण नाम है (सर्वदा तेजस्विताके कारण आपको अनून कहा है) अतः हे दर्श अर्थात् द्रष्टव्य बुध ? आपको हवि आदिसे प्रसन्न करते हुए मुझको आप पुत्र आदि प्रजा और धनसे सम्पूर्ण समृद्ध करिये । (इस प्रकार

विनियोगके अनुसार यह बुधग्रहपरक व्याख्या करदी । मन्त्रार्थकी पर्यालोचनासे यह सोमपरक ही सिद्ध होता है, इस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि—हे सम्पूर्ण कलावाले चन्द्रमाके अंशभूत एक कलावच्छिन्न शुक्तप्रतिपदामें दीखते हुए चन्द्र ! हे युधांपते ! आप अनून अर्थात् सम्पूर्ण कला वाले ही प्रसिद्ध हैं (अर्थात् सम्पूर्ण-कलात्व ही चन्द्रमाका स्वाभाविक धर्म है और कलाओंकी जो वृद्धि और हास दीखता है यह सूर्यकी किरणोंके संगकी न्यूनाधिकताके अनुसार दीखता है, यह ज्योतिषशास्त्रज्ञोंका सिद्धान्त है, इस प्रकार सम्पूर्ण कला वाले होनेसे) हे दर्श ! सर्वोंसे अभिनन्दनीय आप मुझ हवि देने वालेको प्रजा और धनसे पूर्ण करिये (सोमदेवता वाला मंत्र भी जन्यजनकके अभेदोपचारवश बुधग्रहविदान आदिमें विनियुक्त होता है) ॥ ३ ॥

नवमी ॥

दर्शो॑सि दर्शतो॑सि सम॒ग्रो॑सि सम॒न्तः॑ ।

सम॒ग्रः॑ सम॒न्तो भूयासं॑ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जयां॑ प॒शुभिर्गृ॑-
हैर्धने॑न ॥ ४ ॥

दर्शः । असि । दर्शतः । असि । सम॒ऽग्रः । असि । सम॒ऽन्तः ।

सम॒ऽग्रः । सम॒ऽन्तः । भूयासम् । गोभिः । अश्वैः । प्र॒जयां ।

पशु॒ऽभिः । गृहैः । धने॑न ॥ ४ ॥

हे सोम त्वं दर्शोसि सूर्येण सहैव द्रष्टव्यो भवसि । अमावास्यायां सूर्येण सह चन्द्रमा दृश्यते इति सा तिथिर्दर्शशब्देन उच्यते । यद्वा दर्शोसि शुक्लप्रतिपदि एककलात्मना द्रष्टव्यो भवसि । अनन्तरं दर्शतः तृतीयादिषु ततोपि स्फुटं दर्शनीयो भवसि । अथ

समग्रः अष्टम्यादिषु ततोपि स्फुटतरं कलासमृद्धो भवति । अनन्तरं समन्तः पूर्णमास्यां संगतान्तप्रदेशः सर्वकलापूर्णमण्डलो भवति । यत् एवम् अतोहं गवादिभिः समग्रः समृद्धः समन्तः संपूर्णश्च भूयासम् ॥

हे सोम ! आप दर्श हैं (अर्थात् सूर्यके साथ ही द्रष्टव्य होते हैं, अमावास्यामें सूर्यके साथ ही चन्द्रमा दीखता है अतः वह तिथि दर्श कहलाती है वह तिथिरूप आप हैं अथवा “आप दर्श हैं” का यह अर्थ भी होसकता है, कि—शुक्ल-प्रतिपदामें एककलारूपसे आप द्रष्टव्य होते हैं) फिर तृतीया आदिमें उससे भी स्फुट दर्शनीय होजाते हैं, फिर आप समग्र हो जाते हैं अर्थात् अष्टमी आदिमें उससे भी स्फुटतर कलासमृद्ध हो जाते हैं फिर आप समन्त होजाते हैं अर्थात् पूर्णमासीमें सर्व-कलाओंसे पूर्ण मण्डल वाले होजाते हैं । आप ऐसे हैं अत एव मैं भी गौ आदिसे समग्र समृद्ध और सम्पूर्ण होजाऊँ ॥ ४ ॥
दशमी ॥

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेनाप्यायस्व
आ वयं प्याशिपीमहि गोभिरश्वैः प्रजयां पशुभिर्गृ-
हैर्धनेन ॥ ५ ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तस्य । त्वम् ।

प्राणेन । आ । प्यायस्व ।

आ । वयम् । प्याशिपीमहि । गोभिः । अश्वैः । प्रजयां । पशुभिः ।

गृहैः । धनेन ॥ ५ ॥

यः शत्रुः अस्मान् द्वेष्टि प्रातिहून्यम् आचारति यं वा शत्रुं वयं

द्विष्मः तस्य प्राणेन हे सोम त्वम् आ प्यायस्व आप्यायितो भव ।
 शत्रोः प्राणम् अपहरेत्यर्थः । वयं च गवादिभिः आ प्यासिर्षी-
 महि आप्यायिता भूयास्म । ❀ स्फायी ओप्यायी वृद्धौ । आ-
 शिषि लिङि “सिञ्चहुलम्०” इति बहुलवचनाद् अलेट्यपि सिप् ।
 “लोपो व्योर्वलि” इति यकारलोपः । “लिङः सीयुट् । इडागमः ❀ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है अर्थात् हमारे प्रतिकूल आचरण
 करता है वा जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं हे सोम ! उसके प्राणसे
 आप आप्यायित हूजिये अर्थात् उसके प्राणको हरिये । हम भी
 गौओंसे घोड़ोंसे प्रजासे पशुओंसे वरसे और धनसे आप्यायित होवें
 एकादशी ॥

यं देवा अंशुमाप्यायन्ति यमञ्जितमञ्जिता भक्षयन्ति ।
 तेनास्मान्निन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्यायन्तु भुवनस्य
 गोपाः ॥ ६ ॥

यम् । देवाः । अंशुम् । आप्याययन्ति । यम् । अञ्जितम् ।
 अञ्जिताः । भक्षयन्ति ।

तेन । अस्मान् । इन्द्रः । वरुणः । बृहस्पतिः । आ । प्याययन्तु ।
 भुवनस्य । गोपाः ॥ ६ ॥

यम् अंशुम् एककलात्मकं सोमं देवा आप्याययन्ति शुक्लपक्षे
 प्रतिदिनम् एकैककलाप्रदानेन वर्धयन्ति यं च सोमम् अञ्जितम्
 अविच्छिन्नं सर्वेष्वपि अहस्तु क्षयरहितं यं सोमम् अञ्जिताः अञ्जीणाः
 पित्रादयः भक्षयन्ति पिवन्ति । ❀ “वा क्रोशदैन्ययोः” इति पक्षे
 दीर्घाभावः ❀ । तेन सोमेन सह इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नो देवा-

नाम् अधिपतिः वरुणः पापनिवारको देवः बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां हितकारित्वेन पतिः पालयिता च देवः भुवनस्य भूत-जातस्य गोपाः गोपायितारः प्रवृद्धिमदा इन्द्रादयः अन्ये वा विश्वे देवाः अस्मान् हविरादिना प्रीणयितुन् आप्याययन्तु वर्धयन्तु ॥

सप्तमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीर हरिहरमहाराजप्रवर्तिते

अथर्वसंहिताभाष्ये सप्तमकाण्डे सप्तमोऽनुवाकः ॥

जिस एककलात्मक सोमको देवता आप्यायित करते हैं अर्थात् शुक्रपत्तमें प्रतिदिन एक २ कलाको प्रदान कर सोमको बढ़ाते हैं और जिस सब ही दिनोंमें क्षयरहित सोमको अक्षीण पितर आदि भक्षण करते हैं—पीते हैं, उस सोमके साथ देवाधिपति परमेश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेव, पापनिवारक वरुणदेव, बड़े २ देवताओंके हितकारक होनेसे उनके पालक बृहस्पति, ये प्राणियोंके रक्षक वृद्धिदाता इन्द्र आदि देवता और विश्वेदेवा भी हम हवि आदिसे वृत्त करने वालोंको बढ़ावें—वृत्त करें ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४०१) ॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें सप्तम अनुवाक समाप्त

अष्टमेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र “अभ्यर्चत” इति आद्ये सूक्ते आद्येन षडृचेन संपत्कामः सर्वफलकामो वा अग्निं यजेत उपतिष्ठेत् वा । “समास्त्वग्ने [२. ६] अभ्यर्चत [७. ८७] इत्यग्निं संपत्कामः” “इति अभ्यर्चत [७. ८७] को अस्या नः” [७. १०८] इति च कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

अग्निचयने समिदाधानानन्तरम् “अभ्यर्चत” इति ब्रह्मा जपेत् । तद् उक्तं वैताने । “उदेनम् उत्तरं नय [६. ५] इति समिध आधीयमानाः । चत्वारि षृङ्गा [ऋ० ४. ५८. ३] अभ्यर्चत ७. ८७] इति जपति” इति [वै० ५. २] ॥

तथा “आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च” इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ “अभ्यर्चत” इति आचपेत् ॥

तथा वास्तोष्पत्याख्यायां महाशान्तौ “अभ्यर्चत” इत्यनेन औदुम्बरमणिं बध्नीयात् ॥

तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “अभ्यर्चतेत्याग्नेय्याम्” इति [न० क० १८] ॥

“अभ्यर्चतेत्यादुम्बरम्” इति च [न० क० १९] ॥

ब्रह्मचारिणः स्वाग्निनाशमायश्चित्तार्थं “मय्यग्रे” इति पञ्चर्चेन पञ्च समिध आदध्यात् । सूत्रितं हि । “मय्यग्र इति पञ्चमश्रेणादधाति” इति [कौ० ७. ८] ॥

तथा आधाने मथितार्थि “मय्यग्रे” इत्यनेन आज्येनाक्तं कुर्यात् । “मय्यग्र इत्येतयानक्ति” इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. १] ॥

दर्शपूर्णमासयोः “घृतं ते अग्ने” इत्यनया आज्यनिर्वापकाले अग्निं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “घृतं ते अग्न इत्याज्ये निरुप्यमाणेशिम्” इति वैतानं सूत्रम् [वै० १. २] ॥

जलोदरभैषज्यार्थं नद्योः संगमे मण्डपं कृत्वा “अप्सु ते राजन्” इति चतुर्ऋचेन उष्णोदकं संपात्य अभिमन्त्र्य पिंजूलीभिस्तस्मिन् मण्डपे व्याधितम् आसावयेत् ॥

तथा अनेन चतुर्ऋचेन अभिमन्त्रितशीतोदकेन तस्मिन् मण्डपे व्याधितं पिंजूलीभिः सह अवसिञ्चेद् वा ॥

सूत्रितं हि । “अप्सु त इति बहन्त्योर्मध्ये त्रिमिते पिंजूलीभिरासावयति । अवसिञ्चति । अत्युष्णाः संपातवतीरसंपाताः” इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा धूमकेतुदर्शनलक्षणाद्भुतमायश्चित्तार्थं वारुणपशोरवदानानि “अप्सु ते राजन्” इति चतुर्ऋचेन प्रत्यृचं जुहुयात् । तद् उक्तं

कौशिकेन । “अप्सु ते राजन्निति चतसृभिर्वारुणस्य जुहुयात्” इति [कौ० १३. ३५] ॥

पशुतन्त्रे हृदयशूलोद्वासनानन्तरम् “अप्सु ते राजन्” इत्यस्य जपे विनियोगः । “अप्सु ते राजन्निति जपन्ति” इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. ६] ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तौ “अप्सु ते राजन्” इति वरुणं यजेत । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “इन्द्रेणं प्रतरं कृधि [६. ५. २] इति इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् [७. ८८] इति वरुणस्य” इति [न० क० १४] ॥

तथा शवसंस्कारानन्तरम् उदकसपीपे ब्रह्मा “उदुत्तमम्” इति जपेत् ॥

अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थं “प्रास्मत् पाशान्” इति जपेत् ॥ आठवें अनुवाकमें दो सूक्त हैं । इनमेंसे “अभ्यर्चत” इस प्रथम सूक्तके पहिले पढ़नसे सम्पत्तिको चाहने वाला वा सब प्रकारके फलको चाहने वाला अग्निका यजन वा उपस्थान करे ॥ इस विषयमें कौशिक ७ । १० का प्रमाण भी है, कि-समास्त्वाग्रे (२ । ६) अभ्यर्चत (७ । ८७) इत्यग्निं सम्पत्कामः” इति “अभ्यर्चत (७ । ८७) को अस्या नः” (७ । १०८) इति च ॥

अग्निचयनमें समिदाधानके अनन्तर “अभ्यर्चत” का ब्रह्मा जप करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-“उदेनं उत्तरं नव (६ । ५) इति समिध आधीयमानाः । चत्वारि भृंगा (ऋ० ४ । ५८ । ३) अभ्यर्चत (७ । ८७) इति जपति” ॥ (वैतानसूत्र ५ । २) ॥

तथा “आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च ।-अग्निका भयहोने पर और सर्वकामके लिये आग्नेयी शान्तिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महाशान्तिमें “अभ्यर्चत” को पढ़े ।

तथा वास्तोष्पत्या नामकी महाशान्तिमें “अभ्यर्चत” से औ-
दुम्बर मणिको बाँधे ।

इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“अभ्यर्चतेत्याग्ने-
य्याम्” (नक्षत्रकल्प १८) और ‘अभ्यर्चतेत्यौदुम्बरम्’ (नक्षत्र-
कल्प १६) ॥

ब्रह्मचारीके अपनी अग्निके नाशके प्रायश्चित्तके लिये ‘मध्यग्रे’
इस पञ्चर्चसे पाँच समिधाओंको रक्खे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण
भी है, कि—‘मध्यग्र इति पञ्चप्रश्नेनादधाति’ (कौशिकसूत्र ७।८) ॥

तथा आधानमें मथित अग्निको ‘मध्यग्रे’ से घृतसे आक्त
करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । १ का प्रमाण भी है, कि—
‘मध्यग्र इत्येतयानक्ति’ ॥

दर्शपूर्णमासमें ‘घृतं ते अग्ने’ से आज्यनिर्वापकालमें ब्रह्मा
अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । २ का प्रमाण भी
है, कि—‘घृतं ते अग्ने इत्याज्ये निरुप्यमाणेऽग्निम्’ ॥

जलोदरकी चिकित्सा करनेके लिये दो नदियोंके संगम स्थान
पर मण्डप बना कर ‘अप्सु ते राजन्’ इस चतुर्ऋचसे उष्णजल
को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके मुट्टियोंसे उस मण्डपमें
रोगीको आस्नावित करे ।

तथा इस चतुर्ऋचसे अभिमन्त्रित शीतल जलके द्वारा उस
मण्डपमें व्याधितको पिञ्जूलियों (कुशा आदिकी मुट्टियों) से
अवसिञ्चित करे ।

सूत्रमें भी कहा है, कि—‘अप्सु त इति वहन्त्योर्मध्ये विमिते
पिञ्जुलीभिरास्नायति । अवसिञ्चति । अत्युष्णाः सम्पातवतीर-
सम्पाताः।’ (कौशिकसूत्र (४ । ८) ॥

तथा धूमकेतुदर्शनरूप अद्भुतका प्रायश्चित्त करनेके लिये वारुण-
पशुके अवदानोंका “अप्सु ते राजन्” इस चतुर्ऋचकी प्रत्येक

ऋचासे आहुति देवे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-
‘अप्सु ते एजन्निति चतृसृभिर्वारुणस्य जुहुयात्’ (कौशिकसूत्र
१३ । ३५) ॥

पशुतन्त्रमें हृदयशूलोद्वासनके अनन्तर ‘अप्सु ते राजन्’ का जप
में विनियोग किया जाता है । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ६ का
प्रमाण भी है, कि-‘अप्सु ते राजन्निति जपन्ति’ ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तिमें ‘अप्सु ते राजन्’ से वरुणका यजन
करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-“इन्द्रेमं प्रतरं कृधि
(६ । ५ । २) इति इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् (७ । ८८) इति
वरुणस्य” (नक्षत्रकल्प १४) ॥

तथा शवसंस्कारके अनन्तर जलके समीपमें ब्रह्मा “उदुत्तमम्”
का जप करे ।

अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये “मास्मन् पाशान्” का
जप करे ॥

तत्र प्रथमा ॥

अभ्यर्चित सुष्टुतिं गव्यंमाजिमस्मासुं भद्रा द्रविणानि
धत्त ।

इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम्

अभि । अर्चत । सुस्तुतिम् । गव्यम् । आजिम् । अस्मासु ।

भद्रा । द्रविणानि । धत्त ।

इमम् । यज्ञम् । नयत । देवता । नः । घृतस्य । धाराः । मधुमत् ।

पवन्ताम् ॥ १ ॥

सुष्टुतिम् सुस्तोत्रम् अग्निम् । ❀ “नञ्मुभ्याम्” इति उत्तर-

पदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अभ्यर्चत । ❀ अर्चतिः स्तुतिकर्मा ❀ ।
 अभिष्टुत । आपो गावो वा संबोध्यन्ते । कीदृशम् । गव्यम् गो-
 संबन्धिनम् आजिम् संघम् अभिलक्ष्य सुस्तुतिम् । गोसंघादि-
 लाभार्थं स्तूयमानम् इत्यर्थः । ❀ “गोरजादौ तद्धिते यद्वक्तव्यः”
 इति यत् प्रत्ययः । “वान्तो यि प्रत्यये” इति वान्तादेशः । “यतो-
 नावः” इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । यद्वा गव्यम् गोभ्यो हितम् ।
 ❀ हितार्थं यत् ❀ । आजिम् अभिगन्तव्यं यज्ञैः । अथवा आजि-
 शब्देन विजिगीषूणां लक्ष्यदेशगमनम् उच्यते । आजिम् आजि-
 धावनं प्रति सुस्तुतिम् इति संबन्धः । सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वम्
 अग्नेरेव निर्दिष्टदेशगमनात् । तथा च ऐतरेयके श्रूयते । “तासां
 वै देवतानाम् आजिं धावन्तीनाम् अभिष्टुष्टानाम् अग्निमुखं प्रथमः
 प्रत्यपद्यत” इति [ऐ० ब्रा० ४. ८] । किं च भद्रा भद्राणि
 भन्दनीयानि द्रविणानि धनानि अस्मासु धत्त निधत्त । तथा नः
 अस्पदीयम् इमं यज्ञं देवताः अग्न्यादिकाः नयत प्रापयत । अत
 एव घृतस्य क्षरणशीलस्य आज्यस्य धाराः प्रवाहा मधुमत् ।
 क्रियाविशेषणम् एतत् । मधुररसोपेतं यथा तथा पवन्ताम् ।
 ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । गच्छन्तु यष्टव्या देवता इति । यद्वा मधु-
 मत् मधुमत्स्यो धारा इति । ❀ डीञ्जसोर्लुक् छान्दसः ❀ ॥

गोसंघकी प्राप्तिके लिये सुन्दर स्तुतियोंके पात्र युद्धस्थलमें
 गमन करने वाले ‡ अग्निकी हे गौत्रों ! पूजा करो और हममें
 कल्याणमय धनोंको स्थापित करो और इस यज्ञमें अग्नि आदि
 देवताओंको लाओ और हमारे यज्ञमें घृतकी धारायें मधुरभावसे
 देवताओंकी ओर चलें ॥ १ ॥

‡ सबसे पहिले अग्निका युद्धगमन तैत्तिरीयकमें प्रसिद्ध है,
 “तासां वै देवतानां अग्निं धावन्तीनां अभिष्टुष्टानां अग्निमुखं
 प्रथमं प्रत्यपद्यत ।” (ऐतरेयब्राह्मण ४ । ८) ।

द्वितीया ॥

मय्यग्नें अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

मयि । अग्ने । अग्निम् । गृह्णामि । सह । क्षत्रेण । वर्चसा । बलेन ।

मयि । प्रजाम् । मयि । आयुः । दधामि । स्वाहा । मयि । अग्निम् २

अग्ने प्रथमम् अग्निम् आहुताधारं मथ्यमानम् अग्निं मयि गृह्णामि धारयामि । मदधीनं करोमीत्यर्थः । केन सहेति तद् आह । क्षत्रेण बलेन वर्चसा तेजसा । यद्वा क्षत्रेण क्षतात् त्रायकेण वर्चसा बलेन शारीरेण सामर्थ्येन सह अग्निं गृह्णामि । क्षत्रतेजोबलार्थम् अग्निं स्वाधीनं करोमीत्यर्थः । तथा अग्निस्वाधीनीकरणेन प्रजाम् पुत्रादिलक्षणं मयि दधामि । पुत्रादिकं लभेयेत्यर्थः । आयुः जीवनं मयि दधामि । आयुष्मान् भूयासम् इति यावत् । तथा अग्निम् जाठरं वैश्वानरम् अग्निं मयि दधामि अन्नपाकादिजनितारोग्यार्थम् अग्निं धारयामि । स्वाहा इदं सामदादिरूपम् अग्नौ स्वाहुतम् अस्तु ॥

पहिले मैं आहुताधार मथ्यमान अग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, अपने आधीन करता हूँ, क्षत्रसे रक्षा करने वाले शारीरिक बल क्षत्रको पानेके लिये मैं अग्निको स्वाधीन करता हूँ, फिर अग्निस्वाधीनीकरणके अनन्तर मैं अपनेमें पुत्र आदि लक्षणों वाली प्रजाको धारण करता हूँ अर्थात् पुत्र पात्र आदि प्रजाको मैं पाऊँ । मैं अपनेमें जीवनको धारण करता हूँ अर्थात् मैं आयुष्मान् होऊँ तथा अन्नपाक आदिसे होने वाले आरोग्यके अर्थ मैं जाठर वैश्वानरअग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, यह समिधा आदि अग्नि में भली प्रकार आहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इहैवाग्ने अ॒धिं धार॒या र॒यिं मा त्वा नि क्र॒न् पूर्वा॒चित्ता
नि॒कारि॑णः ।

क्ष॒त्रेणा॒ग्नेसु॒यम॑मस्तु तु॒भ्यमु॒पस॒त्ता वर्ध॑तां ते अ॒निष्टु॑तः ३

इ॒ह । ए॒व । अ॒ग्ने । अ॒धि । धा॒र॒य । र॒यि॒म् । मा । त्वा । नि ।

क्र॒न् । पूर्वा॑चित्ताः । नि॒का॒रि॑णः ।

क्ष॒त्रेण॑ । अ॒ग्ने । सु॒य॒म॒म् । अ॒स्तु । तु॒भ्य॒म् । उ॒प॒स॒त्ता । वर्ध॑

ता॒म् । ते । अ॒नि॒ष्टु॑तः ॥ ३ ॥

हे अग्ने इहैव अस्मास्वेव त्वां परिचरत्सु रयिम् धनम् अधि
धारय अधिकं स्थापय । ❀ “अन्येषाम् अपि दृश्यते” इति
दीर्घः ❀ । ये पूर्वचित्ताः अस्मत्तः पूर्वं त्वद्विषयमनस्का निकारिणः
अस्मदपकारिणः ते त्वा त्वां मा नि क्रन् स्वाधीनं मा कार्पुः ।
एवं वा योजना । निकारिणः अस्मदपकारिणः पूर्वचित्ताः अस्मत्तः
पूर्वमपि त्वद्विषयागकरणमनसोपि त्वां यागेन स्वाधीनं मा कार्पु-
रिति । ❀ करोते: “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुक् ❀ । हे अग्ने
तुभ्यं तव । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । क्षत्रेण बलेन सह । स्वरूपम्
इति शेषः । सुयमम् अस्तु सुस्थितम् अस्तु येन अस्मान् अनु-
शुद्धासि । ❀ यमे: खलि “लिति” इति प्रत्ययात्पूर्वस्य उदात्त-
त्वम् । “तुभ्यमहौ ङयि” इति तुभ्यादेशे “ङयि च” इति
आद्युदात्तत्वम् ❀ । अपि च ते तव उपसत्ता उपसदनशीलः परि-
चारकोयं यजमानः वर्धताम् पूर्यतां कामैः । अनिष्टुतः केनचिदपि
अहिंसितः अतिरस्कृतमभावः । ❀ स्त्रुणातिर्हिंसाकर्मा द्यादनकर्मा

वा । उपसत्तेति । पङ्क्तु विशरणगत्यवसादनेषु । अस्मात् वृचि
“एकाचः०” इति इयिनपेघः ॐ ॥

हे अग्निदेव ! आपकी सेवा करने वाले हममें ही आप धनको अधिकाधिक स्थापित करिये । और जो हमसे द्वेष रखने वाले हमसे पहिले ही आपके लिये यज्ञ करनेका संकल्प कर चुके हों वे आपको यागसे स्वार्थीन न कर सकें । हे अग्ने ! अपने बलके साथ आप अपने (हम पर अनुग्रह कर सकने वाले) रूपमें सुस्थिर हूजिये । और आपकी सेवा करने वाला यह यजमान किसीसे भी न्यूनप्रभाव न होता हुआ कामोंसे सम्पन्न होवे-वदे ३ चतुर्थी ॥

अन्व॒शिरु॒पसा॒मग्रं॑म॒ख्यद॒न्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः ।

अनु॒ सूर्यं॑ उ॒पसो॑ अनु॒ रश्मी॑ननु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ
विवेश ॥ ४ ॥

अनु॑ । अ॒ग्निः । उ॒पसा॑म् । अग्रं॑म् । अ॒ख्यत् । अनु॑ । अ॒हानि॑ ।
प्रथ॑मः । जा॒तवे॑दाः ।

अनु॑ । सूर्यः॑ । उ॒पसः॑ । अनु॑ । र॒श्मीन् । अनु॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ ।
आ । वि॒वेश ॥ ४ ॥

अग्निः अद्भुतदृष्टिपुण्यशुक्लो देवः उपसाम् अग्रम् आदुर्भावम् अनु अख्यत् ख्याति प्रकाशते । दृश्यत इति यावत् । प्रथमं तावद् उपसां मुखे अग्निः प्रकाशते । ॐ “लक्षणैर्त्यंभूत०” इत्यादिना अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” इति ख्याते- लुङ् । “अस्पतिवक्तिख्यातिभ्योङ्” ॐ । अहानि च । अन्व- ख्यत् इति क्रियानुपङ्गः । अहान्यनु प्रतिप्रकाशते । प्रथमो मुख्यः ।

प्रयमानो वा । ❀ प्रथेरमच् प्रत्ययः ❀ । महान् जातवेदाः जातानि
 वस्तूनि वेदयतीति जातवेदाः जातानां वेदिता जातमज्ञो वा प्रका-
 शते । ❀ गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च [उ० ४. २२६]
 इति वेत्तेरमुन् ❀ । सूर्यात्मना अग्निः उत्तरार्धेन स्तूयते । सूर्यः
 सूर्यात्मकः । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “उद्यन्तं वावादित्यम् अग्नि-
 रनुसमारोहति । तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे” इति [तै० ब्रा०
 २. १. २. १०] । सूर्यात्मकोग्निः उषसोऽनु प्रकाशते । ततो
 रश्मीन् व्यापनशीलान् किरणान् अनु प्रकाशते । इत्थम् अनेन
 क्रमेण द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्वा विवेश सर्वत्र द्यावापृथि-
 व्योराविष्टः प्रकाशत इति । ❀ “दिवसश्च पृथिव्याम्” इति द्यावा-
 देशः । द्वितीयाद्विवचनस्य “वा छन्दसि” इति पूर्वसवर्णदीर्घः ।
 “देवताद्वन्द्वे च” इति पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत् प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव उषःकालोंके प्रादुर्भावके साथ
 ही प्रकाशित होते हैं—दीखते हैं, पहिले उषःके मुखोंमें अग्नि प्रकाशित
 होते हैं, और यह अग्निदेव दिनोंके साथ भी प्रकाशित होते हैं
 और यह मुख्य जातवेदा अग्नि सूर्य बनकर † उषःको प्रकाशित
 करते हैं फिर किरणोंको प्रकाशित करते हैं । इस क्रम से यह
 सूर्यात्मक अग्नि द्यावापृथिवीमें सर्वत्र व्याप्त होकर प्रकाश फैलाते हैं।
 पञ्चमी ॥

प्रत्यग्निरुपसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।

† इस मन्त्रके उत्तरार्धमें सूर्यरूप अग्निकी स्तुति की गई है ।
 तैत्तिरीयकमें भी कहा है, कि—“उद्यन्तं वावादित्यं अग्निरनुसमा-
 रोहति । तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे ।—उदय होते हुए सूर्यदेव
 पर अग्निदेव अनुसमारोहण करते हैं । इस कारण दिनमें अग्नि
 का धुआँ ही दीखता है” (प्रकाश नहीं दीखता है) (तैत्तिरीय-
 ब्राह्मण २ । १ । २ । १०) ॥

प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ
ततान ॥ ५ ॥

प्रति । अग्निः । उपसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि ।
प्रयमः । जातस्वेदाः ।

प्रति । सूर्यस्य । पुरुधा । च । रश्मीन् । प्रति । द्यावापृथिवी
इति । आ । ततान ॥ ५ ॥

पूर्वार्धे पूर्वमन्त्रेण व्याख्यातम् । अनोः स्थाने प्रति पदं विशि-
ष्यते । ❀ “लक्षण०” इत्यादिना प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वम् ❀ ।
किं च पुरुधा पुरुन् बहुरूपत्वाद् बहुधा प्रवृत्तान् । ❀ “देव-
मनुष्य०” इत्यादिना त्रामत्ययः ❀ । सूर्यश्च रश्मीश्च प्रति अख्यत्
प्रकाशते सूर्यस्य रश्मीन् प्रति स्वयमेव प्रकाशते अग्निसूर्ययोः
अत्यन्तभेदाभावात् । इत्थम् अनेन क्रमेण द्यावापृथिवां प्रत्या
ततान सर्वत्र द्यावापृथिव्योरात्ततो भवति । प्रकाशम् आत्मीयम्
आतनोतीति यावत् ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव प्रत्येक उपःकालके प्रादुर्भावमें
प्रकाशित होते हैं और यह अग्निदेव प्रत्येक दिनोंके साथ ही प्रका-
शित होते हैं और मुख्य जातवेदा सूर्यात्मक अग्निदेव, अनेकरूप
होनेसे अनेक प्रकारसे प्रवृत्त सूर्यकी किरणोंमें भी स्वयं ही प्रका-
शित होते हैं, (क्योंकि-अग्नि और सूर्यमें अत्यन्त भेद नहीं है)
इस प्रकार यह द्यावापृथिवी आदि सबमें अपने प्रकाशका विस्तार
करते हैं ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वा मनुख्या समिन्धे ।

घृतं ते देवीर्नप्स्यंश्च आवहन्तु घृतं तुभ्यं दुहता गावो
अथे ॥ ६ ॥

घृतम् । ते । अग्ने । दिव्ये । सधस्थे । घृतेन । त्वास् । मनुः ।
अथ । सम् । इन्धे ।

घृतम् । ते । देवीः । नप्स्यः । आ । वहन्तु । घृतम् । तुभ्यम् ।
दुहताम् । गावः । अग्ने ॥ ६ ॥

हे अग्ने ते तव संबन्धि घृतम् आज्यं दिव्ये दिवि भवे सधस्थे
सहस्थाने देवैः सह निवासस्थाने । वर्तत इति शेषः । अथ इदानीं
मनुः एनत्संज्ञकः त्वां घृतेन क्षरणशीलेन दीपकेन वा आज्येन
समिन्धे सम्यग् दीपयति । मनुर्नाम राजर्षिः इदानीमपि अग्निम्
आज्याहुतिभिः समर्पयतीत्यर्थः । हे अग्ने ते तुभ्यं देवीः द्योतमानाः
नप्यः न पातयिष्यः नत्संज्ञापत्यभूता वा । आपइत्यर्थः । घृतम्
आज्यम् आ वहन्तु अभिसुखं प्रापयन्तु । उदकैरेव ओषध्यादि-
वृद्ध्या अपां न पातयितृत्वम् । “अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदि-
त्यम् उपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः” इति [म० स्मृ० ३. ७६]
स्मृते अपां नत्संज्ञकापत्यभूतत्वम् । किं च हे अग्ने तुभ्यं त्वदर्थं
गावः धेनवः घृतं दुहताम् दुहताम् । ❀ “बहुलं वन्दसि” इति
रुद्रागमः ❀ ॥

हे अग्निदेव ! आपका घृत देवताओंके साथ २ रहनेके स्थान
घाँमें है । आज कल भी मनु नामक राजर्षि आपको क्षरणशील
(दीपक वा) घृतके द्वारा भली प्रकार प्रदीप्त करते रहते हैं

। आपके मकाशवान् नत्ता जल † घृतको आपके अभिमुख लावें
और हे अग्ने ! गाँएँ आपके लिये घृतको दुहें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।

ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप॒सु । ते । रा॒जन् । व॒रुण । गृ॒हः । हि॒र॒ण्य॒यः । मि॒थः ।

ततः । धृ॒त॒व्र॒तः । रा॒जा । सर्वा । धा॒मा॒नि । मु॒ञ्च॒तु ॥ १ ॥

हे राजन् सर्वेषां देवानां स्वामिन् वरुण पापनिवारक देव ते
तव अप्सु उदकेषु उदकमध्ये मिथः अनन्यसाधारणः परेषाम् अन-
भिगम्यो वा हिरण्ययः हिरण्ययः । ❀ “ऋत्वास्त्ववास्त्ववास्त्व-
माञ्चीहिरण्ययानि च्छन्दसि” इति मयटो मकारलोपो निपात्यते ❀ ।
सुवर्णमयो गृहः निवासस्थानम् अस्ति यतः ततः तस्मात् कारणाद्
धृतव्रतः । व्रतम् इति कर्मनाम । नियतकर्मा सत्यकर्मा राजा वरुणः
सर्वा सर्वाणि धामानि स्थानानि अस्मदीयानि मुञ्चतु, त्यजतु ।
❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति हि
यास्कः [नि० ६, २८] ❀ । जलोदरादयो रोगा हि वरुण-
कर्तृकाः । तस्य हि जलमध्ये निवासस्थानम् अस्ति । अतः स्वेन

‡ जलसे ही आपधि आदिकी वृद्धि होती है अत एव जलों
का ‘न पातयितृत्व’ है और अपत्यरूप नष्टत्व भी है, क्योंकि—
मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके द्विहत्तरवें श्लोकमें लिखा है, कि—
‘अग्नीं प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते
वृष्टिः० ।—अग्निमें भली प्रकार होमी हुई आहुति आदित्यके
पास पहुँचती है । और आदित्यसे वृष्टि होती है ।’ इस प्रकार
जल अग्निका पीता हुआ ।

भृहीतानि अस्मदीयावयवरूपाणि स्थानानि त्यक्त्वा स्वगृहे निव-
सत्त्वित्यर्थः ॥

हे सब देवताओंके स्वामिन् पापनिवारक वरुणदेव ! जलोंके
भीतर जो दूसरोंको नहीं मिल सकता ऐसा मिथः अर्थात् अनन्य-
साधारण सुवर्णमय घर है । इस कारण सत्यकर्मा राजा वरुण-
देव उन हममें विद्यमान अपने सब घरोंको छोड़ देवें ॥ (तात्पर्य
यह है, कि-जलोदर आदि रोग वरुणदेवके करनेसे होते हैं ।
इन वरुणदेवका जलके मध्यमें निवासस्थान है अतः वह अपने
आप ग्रहण किये हुए हमारे अवयवरूप स्थानोंको छोड़ कर अपने
घरमें निवास करें) ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धाम्नां धाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण
मुञ्च नः ॥ २ ॥

धाम्नःऽधाम्नः । राजन् । इतः । वरुण । मुञ्च । नः ।

यत् । आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम ।

ततः । वरुण । मुञ्च । नः ॥ २ ॥

हे राजन् हे वरुण इतः अस्माद् धाम्नो धाम्न सर्वस्माद् रोग-
स्थानात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । ॐ धाम्नो धाम्न इति । वीप्सायां
द्विर्वचनम् । “अनुदात्तं च” इति आग्नेडितस्य अनुदात्तत्वम् ॐ ।
किं च हे वरुण ततोपि पापात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । हे आपः
इति हे अघ्न्याः इति हे वरुण इति यद् ऊचिम यच्छापवाक्यम्
अवोचाम । यच्छापवाक्यवचनेन पापम् आर्जितं तस्मादपि मुञ्चेति

संबन्धः । शापो हि प्रशस्तदेवतानामसंकीर्तनेन परेषाम् अनर्थाशंसनम् । यद्वा सत्यसति वा विषये “आपो वै सर्वा देवताः” [ऐ० ब्रा० २. १६] इति सर्वदेवतात्मिकानाम् अपां साक्षित्वेन प्रमाणीकरणम् । हविराधारभूताया गोर्वा जलाधिपतेर्वरुणस्य वा । उपलक्षणम् एतत् प्रशस्तदेवतानाम् अन्यासामपि । हे आपः यूयम् अस्मिन् सत्ये असत्ये वा विषये साक्षिभूता भवथ हे आपः युष्मभ्यं शपामहे इदम् इत्थम् इत्येवंविधं प्रशस्तदेवतानामधेषपुरःसरं यद्वाचायं तेन पापम् आर्ज्यते । सत्येपि हि विषये शपथकरणेन धर्मस्यार्थं चैवस्वतो निकृन्तीति किल असत्ये किमु वक्तव्यम् । अतो देवतानामधेयकीर्तनरूपशपथकरणजनितपापाद् अस्मान् मोचयेत्यर्थः । अत्र ऊचिमेति पदेन वचनमात्रं न विवक्षितं किं तु शपथरूपमेव । अत एव तैत्तिरीये “यदापो अघ्निया इति वरुणेति शपामहे” [वै० ब्रा० २. ६. ६. २] इति समाम्नायते । ❀ आपो अघ्न्या वरुणेति श्रुताद्युदात्तानां मन्त्रपदानाम् इदम् अनुकरणम् । ततश्च सत्यपि पदात् परत्वे आमन्त्रितनिघातो न प्रवर्तते । अघ्न्याशब्दो यप्रत्ययान्तः अन्तोदात्तः । यथा “दुहाम् अश्विभ्यां पयो अघ्न्येयम्” [ऋ० १. १६४. २७] इति । तस्य आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । वरुणेति । पाष्ठिकम् । आद्युदात्तत्वम् । ऊचिमेति । द्रुवो लिटि चच्यादेशः । यजादित्वात् संप्रसारणम् । “लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्” इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् ❀ ॥

हे राजन् वरुणदेव ! हमारे शरीरमें स्थित अपने सब रोगस्थानों (की पीड़ा) से हमको मुक्त करिये और हे वरुण ! हमको पापसे भी मुक्त करिये । हे जलों ! अघ्न्य । हे वरुण ! और हम जिस शापवाक्यको बोल चुके हैं (अर्थात् शापवाक्य कहनेसे जो पाप हमने अर्जित किया है) उस पापसे भी हमको मुक्त करिये † २

नवमी ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।

अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ३

उत् । उत्तमम् । वरुण । पाशम् । अस्मत् । अत्र । अधमम् ।

वि । मध्यमम् । श्रथय ।

अध । वयम् । आदित्य । व्रते । तव । अनागसः । अदितये । स्याम ३

हे वरुण उत्तमम् ऊर्ध्वकायस्थितं पाशम् अस्मत् अस्मत्तः सका-

कहना शाप कहलाता है, और जिस विषयके सत् वा असत् होने पर 'आपो वै सर्वा देवताः ।-जल सम्पूर्ण देवमय है' इस ऐतरेय ब्राह्मण २ । १६ के अनुसार सर्वदेवतात्मक जलोंका साक्षीरूपसे प्रमाण करना भी शाप कहलाता है । और हविकी आधारभूत गौका तथा जलाधिपति वरुणका साक्षीरूपमें प्रमाण करना शाप कहलाता है, अधिक क्या ? सकल प्रशस्त देवताओं का साक्षीरूपमें प्रमाण करना यहाँ शापशब्दवाच्य है । जैसे कि— हे जलों ! तुम इस सत्य वा असत्य विषयमें साक्षी रहो, हे देवताओं ! हम आपके लिये इस प्रकार शाप खाते हैं । इस प्रकार जो प्रशस्त देवताका नाम लेकर शाप खाया जाता है तो उससे पाप अर्जित होता है । बात सच्ची हो तब भी शपथकरणसे धर्मके आधे भागको यमराज अवश्य काट लेते हैं, फिर असत्य के विषयमें तो कहा ही क्या जावे । अतः देवताके नाम लेने रूप शपथसे उत्पन्न हुए पापसे हमको छुड़ाइये । (तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ६ । ६ । २ में कहा है, कि—“यदापो अग्निा इति वरुणेति शपामहे” ॥

शाद्र उच्छ्रयय ऊर्ध्वम् उत्कृष्य नाशय । अधमम् अधःकायस्थितं
 पाशम् अथ श्रथय अधस्ताद् अवकृष्य नाशय । मध्यमम् मध्यदेह-
 स्थितं पाशं वि श्रथय विकृष्य नाशय । ॐ अथ दीर्घन्त्ये । चुरादि-
 रदन्तः । वर्णव्यत्ययेन उपान्त्यस्य दीर्घत्वम् । यद्वा श्रन्थ प्रति-
 हर्षमोचनयोः । अस्मात् लोटि “शायच्छन्दसि सर्वत्र” इति श्रा-
 प्रत्यघस्य शायजादेशः । “अतो हेः” इति हेर्लुक् ॐ । अध
 अनन्तरम् हे आदित्य अदितेः पुत्रः । ॐ “दित्यदित्यादित्य०”
 इति एयमत्ययः ॐ । हे आदित्य वरुण तव व्रते कर्मणि । ॐ विषय-
 सप्तमी ॐ । कर्मार्थं यागयोग्यतासिद्धयर्थम् अनागसः विमुक्तसर्व-
 पाशा वयम् अदितये अखण्डितत्वाय अनभिशास्तये स्याम भवेम ।
 ॐ अनागस इति । बहुव्रीहौ “नञ्सृभ्याम्” इत्येप स्वरो व्यत्य-
 येन न प्रवर्तते ॐ ॥

हे वरुण ! हमारे शरीरके ऊपरके भागमें स्थित पाशको हमारे
 पाससे ऊपरको खींच कर नष्ट करिये । और शरीरके नीचे
 भागमें स्थित पाशको भी खींच कर नष्ट करिये । और मध्य-
 देहमें स्थित पाशको भी निकाल कर नष्ट करिये । हे अदितिके
 पुत्र ! इसके अनन्तर हम आपके यागकी योग्यताकी सिद्धिके
 लिये सब पाशोंसे रहित होकर अखण्डित स्थितिमें रहनेके लिये
 समर्थ होवें ॥ ३ ॥

दशमी ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अंधमा
 वारुणा ये ।

दुष्प्रप्यं दुरितं निष्वास्मदथं गच्छेम सुकृतस्य लोकम्

प्र । अस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । ये । उत्तमाः ।
अधमाः । वारुणाः । ये ।

दुःस्वप्न्यम् । दुःइतम् । निः । स्व । अस्मत् । अथ । गच्छेम ।
सुकृतस्य । लोकम् ॥ ४ ॥

हे वरुण अस्मत् अस्मत्तः सर्वान् पाशान् प्रमुञ्च । ये वारुणाः वरुणस्य भवतः संबन्धिनः उत्तमा अधमाश्च ये पाशाः सन्ति । उद्भूताभिभूतशक्तिभेदाद् अधर्मपाशानां द्वैविध्यम् । ❀ “उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र” इति उञ्छादिषु पाठाद् उत्तमशब्दः अन्तोदात्तः ❀ किं च दुष्स्वप्न्यम् दुष्टे स्वप्ने भवं दुरितम् पापम् अरिष्टम् अस्मत् अस्मत्तः निः पत्र निस्सुव । निर्गमयेत्यर्थः । ❀ प्रप्रेरणे । अस्मात् लोटि तुदादित्वात् शः । यणादेशो व्यत्ययेन ❀ । अथ पाशदुरितविमोचनानन्तरं सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य पुण्यस्य लोकं गच्छेम प्राप्नुयाम ॥

[इति] अष्टमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे वरुणदेव ! हमसे सब पाशोंको छुड़ाइये, जो वरुणदेवके (उद्भूत और अनुद्भूतशक्ति-भेदसे) उत्तम और अधम पाश हैं, उनसे आप हमको मुक्त करिये । दुःस्वप्न देखनेसे होने वाले पाप को हमसे दूर करिये । इस प्रकार पाश और पापोंसे मुक्त होनेके उपरान्त हम पुण्यलोकको प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

अष्टम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४०३) ॥

“अनाधृष्यो जातवेदाः” इति प्रथमाया ऋचः अग्न्युपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

इन्द्रमहारुये उत्सवे “इन्द्रं क्षत्रम्” इत्यनया हविर्जुहुयात् । “इन्द्रं क्षत्रम् इति हविषो हुत्वा” इति हि [कौ० १४. ४] सूत्रम् ॥

अग्निचयने पुरीपाच्छन्नां चितिं “मृगो न भीमः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “मृगो न भीमा [७. ८६. ३] वैश्वानरो न ऊतये [६. ३५] इति चितिं पुरीपाच्छन्नाम्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५. २] ॥

स्वस्त्ययनार्थं “त्यमू पु” “त्रातारम्” इत्याभ्यां प्रत्येकम् इन्द्रं यजेत् उपतिष्ठेत् वा । “त्यमू पु [७. ६०] त्रातारम् [७. ६१] आमन्द्रैः [७. १२२] इति स्वस्त्यनकामः” इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

तथा “त्यमू पु” “त्रातारम्” इत्यनयोः स्वस्त्ययनगणे पाठाद् उपाकर्मणि आज्यहोमे विनियोगः । “स्वस्त्ययननैराज्यं जुहुयात्” इति [कौ० १४. ३] सूत्रात् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थं “त्यमू पु” “त्रातारम्” इति जपेत् तथा इन्द्रमहारुयोत्सवे “त्रातारम् इन्द्रम्” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । “त्रातारम् इन्द्रम्” [७. ६१] इन्द्रः सुत्रामा [७. ६६] इत्याज्यं हुत्वा” इति हि [कौ० १४. ४] सूत्रम् ॥

स्वस्त्ययनकामः “यो अग्नी” इति ऋचा रुद्रान् यजेत् उपतिष्ठेत् वा । “यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः” इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थम् एताम् ऋचं जपेत् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः “यो अग्नी” इत्यनया आग्नीध्रः संमार्गम् अग्नीं निक्षिपेत् । उक्तं वैताने । “अग्नीध्रः संमार्गं प्रहरति यो अग्नाविति” [वै० १. ४] ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि त्रैयम्बककर्मणि अस्या विनियोगः । उक्तं वैताने । “अयोदञ्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति” इति [वै० २. ५] ॥

तथा अग्निष्टोमे शालादहनानन्तरं “यो अग्नी” इत्यनेन अग्नये

नमस्कारं कुर्यात् । “यो अग्नाधिति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १४] ॥

सर्पविषभैषज्यार्थम् “अपेहि” इत्यनया तृणानि प्रञ्चान्य सर्पाभिमुखं प्रक्षिपेत् । दष्टस्थाने निक्षिपेद् वा । सूत्रितं हि । “अपेहीति तृणानि प्रघृत्य अहिय् अभि निरस्यति । यतो दष्टः” इति [कौ० ४. ५] ॥

परिमोक्षविधौ “अपो दिव्याः” इति चतसृभिः शान्त्युदकम् अभिमन्त्रयेत् ॥

तथा वेदव्रतादिषु “अपो दिव्याः” इति व्यूचेन “एधोसि” इत्यनया च तिस्रः समिध आदध्यात् ॥

सूत्रितं हि । “अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युदकम् अभिमन्त्रयेत् । अस्तमिते समित्पाण्डिरेत्य तृतीयावर्जं समिध आदधाति” इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा आचार्यमरणे तत्संस्कारानन्तरम् “अपो दिव्याः” इति चतसृभिः ब्रह्मचारी स्नायात् । तद् उक्तं कौशिकेन । “त्रिरात्रम् अपर्यावर्तमानः शयीत् । नोपशयीतेति कौशिकः । स्नानीयाभिः स्नायात्” इति [कौ० ५. १०] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः इडाभागप्राशनानन्तरम् “अपो दिव्याः” इति तिसृभिः प्रस्तरे मार्जनं कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । “अपो दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवति मार्जयते” इति [वै० १. ३] ॥

तथा अग्निष्टोमे अन्नभृथस्नानानन्तरम् “अपो दिव्याः” इति आहवनीयाग्निम् उपतिष्ठेत् । “अपो दिव्याः” इत्याहवनीयम् उपतिष्ठते” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १४] ॥

अग्निकार्ये ब्रह्मचारी “इदम् आपः” इति हस्तौ प्रक्षालयेत् । “इदम् आपः प्र वहत इति पाणी प्रक्षालयते” इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. ८] ॥

वथा चातुर्मास्येषु वरुणप्रघासपर्वणि “इदम् आपः” इति मार्जनं कुर्यात् । “आपाढ्यां वरुणप्रघासः” इति प्रक्रम्य “इदम् आपः प्र वहतेति मार्जयते” इति वैताने सूत्रितम् [वै० २. ४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः दक्षिणामतिग्रहानन्तरम् “एधोसि” इति मन्त्रेण अग्नीध्रः समिधम् आदध्यात् । तद् उक्तं वैताने । “संप्रेषित आग्नीध्र एधोसीति समुद्भृत्य समिधम् आधाय” इति [वै १. ४] ॥

तथा स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः संस्त्रावहोमानन्तरम् “एधोसि” इति मन्त्रेण द्वितीयां “समिदसि” इति मन्त्रेण तृतीयां समिधम् आदध्यात् । “तेजोसि” इति मन्त्रेण मुखं विमृज्यात् । सूत्रितं हि “अग्नये स्वाहेति समिधम् आदधाति । एधोसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोसीति मुखं विमार्ष्टि” इति [काँ० १. ६] ॥

तथा अग्निकार्ये ब्रह्मचारी “एधोसि” इति हस्तम् अग्नौ प्रताप्य उष्माणं भक्षयेत् । “एधोसीत्युष्मभक्षं भक्षयति” इति हि [काँ० ७. ८] सूत्रम् ॥

जारोचाटनार्थं “अपि वृथ” इति वृत्तेन जारं दृष्ट्वा वदेत् ॥

तथा अनेन पापाणाम् अभिमन्त्र्य जारसंगमस्थाने प्रक्षिपेत् ॥

सूत्रितं हि । “अपि वृथेति जायायै जारम् अन्वाह । क्लीवपदे वाधकं धनुर्विष्यति । आशयेरमानं प्रहरति” इति [काँ० ४. १२] ॥

‘अनाधृष्यो जातवेदाः’ इस पहिली ऋचाका अग्निदेवके उपस्थानमें लिंगके अनुसार विनियोग किया जाता है ।

इन्द्रमह नामक उत्सवमें ‘इन्द्र क्षत्रम्’ ऋचासे हविकी आहुति देवे । इस विषयमें काँशिरुसूत्र १४ । ४ का प्रमाण है, कि-‘इन्द्र क्षत्रं इति हविषो हुत्वा’ ॥

अग्निचयनमें पुरीपाच्छन्ना चित्तिका ब्रह्मा ‘मृगो न भीमः’ से अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । २ का प्रमाण भी है, कि-‘मृगो न भीमः (७ । ८६ । ३) वैश्वानरो न ऊतये (६ । ३५) इति चितिं पुरीपाच्छन्नाम्’ ॥

स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमूषु' और 'त्रातारम्' इन दोनों मेंसे प्रत्येकसे इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—'त्यमूषु (७ । ६०) त्रातारम् (७ । ६१) आ मन्द्रैः (७ । १२२) इति स्वस्त्ययनकामः' ॥

तथा 'त्यमूषु' और 'त्रातारम्' इन दोनों सूक्तोंका स्वस्त्ययन-गणमें पाठ होनेसे उपाकर्मके घृतहोममें विनियोग होता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ३ का प्रमाण है, कि—'स्वस्त्ययनै-राज्यं जुहुयात्' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमूषु' और 'त्रातारम्' का जप करे ।

तथा इन्द्रमह नामक उत्सवमें 'त्रातारम् इन्द्रम्' ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । ४ का प्रमाण भी है, कि—'त्रातारम् इन्द्रम् (७ । ६१) इन्द्रः सुत्रामा (७ । ६६) इत्याज्यं हुत्वा' ॥

स्वस्त्ययन चाहने वाला 'यो अग्नौ' ऋचासे रुद्रोंका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—'यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये इस ऋचाका जप करे ।

तथा दर्श और पूर्णमासमें आग्नीध्र 'यो अग्नौ' ऋचासे संमार्ग को अग्निमें डाल देय । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । ४ का प्रमाण भी है, कि—'आग्नीध्रः सम्मार्गं प्रहरति यो अग्नाविति' ।

तथा चातुर्मास्योंमें साकमेधपर्वके त्रैयम्बक कर्ममें इसका विनियोग होता है । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ५ का प्रमाण भी है, कि—'अधोदध्वश्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति' ॥

तथा अग्निष्टोममें शालादहनके अनन्तर 'यो अग्नौ' से अग्निके लिये नमस्कार करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि—'यो अग्नाविति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति' ॥

- सर्पविपकी चिकित्सा करनेके लिये 'अपेहि' ऋचासे तृणोंको प्रज्वलित करके सर्पके अभिमुख फेंक देवे । सूत्रमें भी कहा है, कि- 'अपेहीति तृणानि प्रघृत्य अहिं अभि निरस्यति । यतो दष्टः' (कौशिकसूत्र ४ । ५) ॥

परिमोक्षविधिमें 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे शान्ति-जलका अभिमन्त्रण करे ।

तथा वेदव्रत आदिमें 'अपो दिव्याः' इस द्वयृचसे और 'एधोऽसि' इस तृचसे भी तीन समिधाओंको रखे ।

इनमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि- 'अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युदकं अभिमन्त्रयते । अस्तमिते समित्पाणिरेत्य तृतीयावर्जं समिध आदधाति ।' (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥

तथा आचार्यमरणमें उनके संस्कारके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे ब्रह्मचारी स्नान करे । इसी बातको कौशिकने कहा है, कि- 'त्रिरात्रं अपर्यावर्तमानः शयीत नोपशयीतेति कौशिकः । स्नानीयाभिः स्नायात्' (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

तथा दर्श और पूर्णमासयागमें इडाभागमाशनके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन तीन ऋचाओंसे प्रस्नरमें मार्जन करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि- 'अपो दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवति मार्जयते' (वैतानसूत्र १ । ३) ॥

तथा अग्निष्टोममें अवभृथ स्नानके अनन्तर 'अपो दिव्याः' से आहवनीयका उपस्थान करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि- 'अपो दिव्या इत्याहवनीयं उपतिष्ठते'

अधिकार्यमें ब्रह्मचारी 'इदं आपः' से हाथोंको प्रज्वलित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि- 'इदं आपः प्रवहत इति पाणी प्रज्वलयते' ॥

तथा चातुर्मास्योंके वरुणप्रधासपर्वमें "इदं आपः" से मार्जन

करे । “आषाढ्यां वरुणप्रधासः—आषाढीमें वरुणप्रधास होता है” इस बातका आरम्भ करके कहा है, कि—“इदं आप प्रवहतेति मार्जयते” (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

दर्श और पूर्णमासमें दक्षिणाका प्रतिग्रह करनेके अनन्तर अग्नीध्र ‘एधोऽसि’ मन्त्रसे समिधाको रक्खे । इसी बातको वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि—“सम्प्रेषित आग्नीध्र एधोऽसीतिसमुद्घृत्य समिधं आधाय” ॥

तथा स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें संस्नावहोमके अनन्तर “एधोऽसि” मन्त्रसे दूसरीको, ‘समिदसि’ मन्त्रसे तीसरी समिधाको रक्खे और ‘तेजोऽसि’ मन्त्रसे मुखकी शुद्धि करे । इस विषयमें सूत्र का प्रमाण भी है, कि—‘अग्नये स्वाहेति समिधं आदधाति । एधोऽसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोऽसीति मुखं विमार्ष्टि ।’ (कौशिकसूत्र १ । ६) ॥

तथा अग्निकार्यमें ब्रह्मचारी ‘एधोऽसि’ से हाथको अग्निसे ताप कर ऊष्मका भक्षण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि—‘एधोऽसीत्युष्मभक्षं भक्षयति’ ॥

जारोच्छाटनके लिये ‘अपि वृश्च’ तृचसे जारको देखकर बोले । तथा इससे पाषाणको अभिमन्त्रित करके जारसंगम स्थानमें डाल देय ।

तत्र प्रथमा ॥

अनाधृष्यो जावेवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्
दीदिहीह ।

विश्वा अभीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परिं
पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अनाधृष्यः । जातवेदाः । अमर्त्यः । विराट् । अग्ने । क्षत्रधृत् ।
दीदिहि । इह ।

विरवाः । अमीवाः । प्रमुञ्चन् । मानुषीभिः । शिवाभिः ।

अद्य । परि । पाहि । नः । गयम् ॥ १ ॥

हे अग्ने अनाधृष्यः ईपदपि धर्पयितुम् अशक्यः । ❀ विधृषा
मागल्भ्ये । “श्रद्धुपधाच्चाव्लृपि चृतेः” इति वयप् । “कृत्योके-
प्लुक्” इत्यादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । जातवेदाः
जातानां वेदिता जातधनो वा अमर्त्यः अमरणधर्मा विराट् विविधं
राजमानः क्षत्रधृत् क्षत्रस्य बलस्य भर्ता धारयिता ईदृशः सन् इह
अस्मिन् कर्मणि स्थाने वा दीदिहि दीप्यस्व । ❀ दीदेतिदीप्ति-
कर्मा इति यास्कः । दीव्यतेर्वा “बहुलं छन्दसि” इति शंभुः
श्लुः ❀ । तथा दीप्तरश्च त्वं विरवाः सर्वा अमीवाः रोगान् प्रमु-
ञ्चन् प्रकर्षेण मोचयन् विनाशयन् मानुषीभिः मानुषहिताभिः ।
❀ “मनोर्जातावज्यर्ता” इति अञ्प्रत्ययान्तो मानुषशब्दः ।
तस्मात् “तस्यैदम्” इत्यर्थे अण् । “टिड्ढाणञ्” इत्यादिना
लीप् ❀ । शिवाभिः कन्याणकारिणीभिः ऊतिभिः अद्य इदानीनः
अस्माकं गयम् गृहं परि पाहि सर्वतो रक्ष ॥

हे अग्ने ! आप अनाधृष्य हैं, उत्पन्न हुए प्रत्येक माणीको
जाननेवाले हैं, अमर्त्य (देवता) हैं, अनेक प्रकारसे दमकते रहते
हैं, बलके धारक हैं, ऐसे आप इस कर्ममें दीप्त हूजिये । और
प्रदीप्त होकर सकल रोगोंको नष्ट करते हुए मनुष्यका कन्याण
करने वाली रक्षाओंके साथ हमारे घरकी भली प्रकृति रक्षा करिये
द्वितीया ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।

अपा॑नुदो॒ जन॑मभि॒त्राय॑न्त॒मु॒रुं दे॒वेभ्यो॑ अ॒कृ॒णो॒रु
लो॒कम् ॥ २ ॥

इन्द्र॑ । क्षत्र॑म् । अ॒भि । वाम॑म् । ओजः॑ । अजा॑यथाः । वृ॒षभ॑ ।
च॒र्षणी॑नाम् ।

अप॑ । अ॒नु॒दः । जन॑म् । अ॒भि॒त्राय॑न्त॒म् । उ॒रुम् । दे॒वेभ्यः॑ ।
अ॒कृ॒णोः । ऊ॒ इति॑ । लो॒कम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र क्षत्रम् क्षतात् त्रायकं वामम् वननीयम् ओजः बलम्
अभिलक्ष्य अजायथाः उत्पन्नोसि । हे वृषभ कामानां वर्षितः
चर्षणीनाम् मनुष्याणाम् अस्माकम् । ❀ “नाम् अन्यतरस्याम्”
इति नाम उदात्तत्वम् ❀ । उत्पत्त्यनन्तरम् अभित्रयन्तम् अमित्रः
शत्रुः स इवाचरन्तं जनम् अपानुदः अपागमयः । अपगमय्य च
देवेभ्यः उरुम् विस्तीर्णं लोकम् स्वर्गाख्यम् अकृणोः अकार्षीः
सुखनिवासाय । ❀ उशब्दः समुच्चये ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप क्षतसे रक्षा करनेवाले सेवनीय बलको लक्ष्य
करके उत्पन्न हुए हैं, हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले अग्नि-
देव ! उत्पत्तिके अनन्तर आप शत्रुकी समान आचरण करतेहुए
जनसंघको दूर करिये । और देवताओंके लिये विशाल स्वर्गलोक
को सुखनिवासके लिये दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मृ॒गो न भी॑मः कु॒चरो गि॑रि॒ष्ठाः प॑रा॒वत॑ आ जंग॒म्यात्
प॑र॒स्याः ।

सृकं संशायं पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताहि वि
मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । पराऽवतः । आ ।
जगम्यात् । परस्याः ।

सृकम् । सम्शाय । पविम् । इन्द्र । तिग्मम् । वि । शत्रून् ।
ताहि । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

कुचरः कुत्सितचरणः गिरिष्ठाः पर्वतनिवासी । ॐ तिष्ठतेर्विच
मत्ययः ॐ । मृगो न सिंह इव भीमः भयंकरो भवति इन्द्रः । स
च परस्याः परावतः अतिशयेन दूराद् द्युलोकाद् आ जगम्यात्
आगच्छतु । ॐ गमेर्विधिलिङि व्यत्ययेन शपः रलुः ॐ ॥ अथ
मत्यक्तकृत उत्तरोर्ध्वः । आगत्य च हे इन्द्र सृकम् सरणशीलं
तिग्मम् तीक्ष्णं पविम् वज्रं संशाय सम्यक् तीक्ष्णीकृत्य । ॐ शो
तनूकरणे । व्यपि रूपम् ॐ । शत्रून् अस्मदीयान् वैरिणः वि
तान्हि तेन वज्रेण विशेषेण विविधं वा ताडय । विनाशयेत्यर्थः ।
ॐ तड आघाते । अस्मात्पण्यन्तात् लोटि “द्वन्द्वस्युभयथा” इति
हेः आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ॐ । तथा मृधः संग्रामोद्युक्तान्
युयुत्सून् अन्यानपि शत्रून् वि नुदस्व विशेषेण प्रेरय । तिरस्कु-
र्वित्यर्थः ॥

कुत्सित चरणवाले, पर्वतनिवासी सिंहकी समान भयंकर इन्द्र
परम दूर द्युलोकसे आजावें और आकर हे इन्द्रदेव ! आप सरण-
शील तीक्ष्ण वज्रको भली प्रकार तीक्ष्ण करके हमारे वैरियोंको
उस वज्रसे नष्ट करिये और संग्राम करनेके लिये उद्यत अन्य
शत्रुओंका भी तिरस्कार करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्यम् षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।

अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम १

त्यम् । ऊं इति । सु । वाजिनम् । देवऽजूतम् । सहऽवानम् । तरु-

तारम् । रथानाम् ।

अरिष्टनेमिम् । पृतनाऽजिम् । आशुम् । स्वस्तये । तार्क्ष्यम् ।

इह । आ । हुवेम ॥ १ ॥

त्यमु तं प्रसिद्धमेव तार्क्ष्यम् वृत्तपुत्रं सुपर्णम् । ❀ वृत्तशब्दो
गर्गादिषु पठ्यते ❀ । इह अस्मिन् कर्मणि स्वस्तये क्षेमाय सु
सुष्ठु आ हुवेम आह्वयेम । ❀ “बहुलं छन्दसि” इति द्वयतेः
संप्रसारणम् । “लिङ्ग्याशिष्यङ्” । यद्वा प्रार्थनायां लिङ्गि । व्य-
त्ययेन शः ❀ । कीदृशम् । वाजिनम् अन्नवन्तं बलवन्तं वा देव-
जूतम् देवैः सोमाहरणाय प्रेरितम् । ❀ जु इति गत्यर्थः सौत्रो
धातुः । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । “वृतीया कर्मणि” इति पूर्वपद-
प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यद्वा देवैः प्रीयमाणं तर्प्यमाणम् । ❀ यद्
आह यास्कः । जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवमीतं वेति
[नि० १०, २८] ❀ । सहोवानम् सहस्वन्तं बलवन्तम् अभि-
भवनशक्तिमन्तं वा । ❀ “छन्दसीवनिषौ” इति वनिष् ❀ ।
अत एव रथानाम् अन्यदीयानां तरुतारम् संग्रामे तरीतारम् ।
यद्वा रंहणशीला इमे लोका रथाः । तेषां सोमाहरणसमये शीघ्रं
तरीतारम् । श्रूयते हि । ‘एष हीमाँल्लोकान्तसद्यस्तरति’ इति [ऐ०
ब्रा० ४, २०] । ❀ तरतेऽसुबि “ग्रसितस्कभित०” इत्यादि-
सूत्रे उडागमो निपात्यते ❀ । अरिष्टनेमिम् । नेमिशब्देन तद्वान्

रथो लक्ष्यते । अहिंसितरथम् । यद्वा नेमिः नमनशीलम् आयु-
धम् अतिरस्कृतायुधम् । अथ वा उपचाराज्जनके जन्यशब्दः ।
अरिष्टनेमेर्मम ऋपेर्जनकम् । पृतनाजम् पृतनानां शत्रुसेनानां
प्राजितारं प्रगमयितारं जेतारं वा । ॐ अज गतिक्षेपणयोः ।
अस्मात् त्रिवृत् । “ वलादावार्धधातुके विकल्प इप्यते” इति वच-
नाद् वीभावाभावः । जयतेर्वाडप्रत्ययः ॐ । आशुं शीघ्रगामिनम् ॥

हम उन प्रसिद्ध वृक्षपुत्र सुपर्णको ही इस कर्ममें स्वस्तिके लिये
आह्वान करते हैं, यह सुपर्ण बलवान् है, देवताओंने सोमका
आहरण करनेके लिये इनको प्रेरित किया था, इनमें अभिभवन
(तिरस्कार) करनेकी शक्ति है । यह रंद्णशील इन लोकरूप
रथोंको सोमहरणके समय शीघ्र ही तर गए थे † और यह सुभक्त
अरिष्टनेमिके पिता हैं, और यह शत्रुओंकी सेनाओंको जीतनेवाले
हैं तथा शीघ्रगामी हैं (ऐसे सुपर्णका मैं आह्वान करता हूँ) ?
पञ्चमी ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्
कृणोतु ॥ १ ॥

त्रातारम् । इन्द्रम् । अवि॒तारम् । इन्द्रम् । हवे॑ऽहवे । सु॒हवम् ।
शूरम् । इन्द्रम् ।
हु॒वे । नु । श॒क्रम् । पु॒रु॒हू॒तम् । इन्द्रम् । स्व॒स्ति । नः । इन्द्रः ।
म॒घ॒ज्वान् । कृ॒णो॒तु ॥ १ ॥

† ऐतरेय ब्राह्मण ४ । २० में कहा है, कि—“एष हीमान् लोकान् संघस्तरति” ॥

जातारम् रक्तकम् इन्द्रं हुवे हयामि । अवितारम् इन्द्रम्
इति पुनरुक्तिः पातुतमत्वख्यापनार्था । यद्वा ज्ञाणं नाम उपस्थि-
तेभ्यो भयहेतुभ्यो रक्षणम् । अवनं तु उदेष्यतां निरोध इति
विशेषः । अथ वा पारमैरवर्थलक्षणम् अवनम् । हवेहवे सर्वेषु हानेषु
सुहवस् हानं सुशकं शूरम् समर्थम् इन्द्रं हयामि । तथा शक्रम्
शक्तं सर्वत्र पुरुहूतम् इन्द्रं तु क्षिप्रं हुवे हयामि । स च मघवान्
धनवान् इन्द्रः स्वस्ति क्षेमम् अविनाशं न अस्माकं कृणोतु करोतु ।

❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । “धिन्वि कृण्वोर च” इति उपत्ययः ❀

मैं रक्तक इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, मैं उपस्थित भयोंसे
रक्षा करने वाले इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, सकल संग्रामोंमें
सरलतासे आह्वान करने योग्य इन्द्रदेवका मैं आह्वान करता हूँ
तथा मैं शक्र पुरुहूत इन्द्रका आह्वान करता हूँ वह धनी इन्द्र हमारा
क्षेम करें ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

यो अग्नी रुद्रो यो अप्स्वं १ न्तर्य ओपधीर्वीरुधं आविवेशं
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लूपे तस्मै रुद्राय नमो
अस्तु ॥ १ ॥

यः । अग्नी । रुद्रः । यः । अप्सु । अन्तः । यः । ओपधीः ।

वीरुधः । आविवेशः ।

यः । इमा । विश्वा । भुवनानि । चाक्लूपे । तस्मै । रुद्राय । नमः ।

अस्तु । अग्नये ॥ १ ॥

यो रुद्रः रोदयति शत्रून् इति रुद्रः । ❀ “रोदेणिलुकु च”

[उ० २. २२] इति रक् प्रत्ययः । गेलुक् ॐ । एतन्नामा देवः
 अग्नी अन्तः मध्यम् आविवेश यष्टव्यत्वेन अग्निमध्यं प्रविष्टः ।
 यश्च अष्टु अन्तः आविवेश वरुणात्मना प्रविष्टः । ॐ “ऊडि-
 दम्” इत्यादिना अष्टुशब्दाद् उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम् ॐ ।
 यश्च वीरुधः विशेषेण विविधं वा रोहन्तीः ओपधीः ओपः फल-
 पाको धीयते निधीयते आस्त्रिति ताः फलपाकान्ता लताः आवि-
 वेश सोमात्मना आविष्टः । ॐ वीरुध इति । विपूर्वाद् रोहतेः
 विवपि “नद्विष्टिति०” इत्यादिना उपसर्गस्य दीर्घः । हकारस्य धका-
 रोपजनश्चान्दसः ॐ । किं बहुना यो रुद्रः इमा इमानि नामरू-
 पात्मना परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि
 भवन्ति भूतानि । स्रष्टुम् इति शेषः । चाकूलूपे समर्थो भवति ।
 ॐ कृपू सामर्थ्ये । लिटि “कृपो रो लः” इति लत्वम् । अभ्या-
 सस्य छान्दसः साहितिको दीर्घः ॐ । तस्मै सर्वजगत्स्रष्ट्रे सर्व
 जगद् अनुप्रविष्टाय रुद्राय रुद्रात्मने अग्नये नमः नमस्कारोस्तु ।
 यद्वा अग्नये अङ्गनादिगुणविशिष्टाय रुद्राय नमोस्तु ॥

शत्रुओंको रुलाने वाले जो रुद्र नामक देव यष्टव्यरूपसे अग्नि
 के मध्यमें प्रविष्ट हैं और जो वरुणरूपसे जलमें प्रविष्ट होगए हैं
 और जो लताओंमें सोमात्मारूपसे प्रविष्ट होगए हैं, अधिक क्या ?
 जो रुद्र इन समस्त भूतोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वजगत्
 के स्रष्टा सब जगत्में अनुप्रविष्ट रुद्रात्मक अग्निदेवके लिये नम-
 स्कार है अथवा अङ्गनादि गुणविशिष्ट रुद्रदेवके लिये नमस्कार है ?
 सप्तर्षा ॥

अपेह्यसिंस्वरिवा असि ।

विपे विपमपृक्था विपमिद् वा अपृक्थाः ।

अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

अप । इहि । अरिः । असि । अरिः । वै । असि ।

विपे । विपम् । अपृक्थाः । विपम् । इत् । वै । अपृक्थाः ।

अहिम् । एव । अभिऽअपेहि । तम् । जहि ॥ १ ॥ •

अत्र सर्पविपं संबोध्यते । हे विप अपेहि अपगच्छ अस्माद्द
दष्टात् पुरुषात् । यतस्त्वम् अरिः शत्रुः असि भवसि । न केवलम्
अस्यैव अरिरसि वै सर्वस्य शत्रुर्भवसि खलु । अतो विपे विप-
वति सर्पे । ❀ अर्शादित्वाद् अच् प्रत्ययः ❀ । विपम् अपृक्थाः
संपर्चयः संयोजय । एतदेव पुनराह । विपमित् विपमेव अपृक्थाः
संयोजय । वैशब्दः अवधारणे । विपवति सर्प एव पुनर्विपमेव
संयोजयेत्यर्थः । ❀ पृची संपर्के । आन्दसे लुङि “एकाचः” इति
इणिनपेधः । “भूलो भूलि” इति सिचो लोपः ❀ । उक्तार्थमेव
विशदयति । हे विप त्वं यस्य विपं भवसि तम् अहिम् आहन्तारं
सर्पमेव अभ्युपेहि अभिलक्ष्य समीपं गच्छ । गत्वा च तम् अहिं
जहि विनाशय ॥

(इस मन्त्रमें सर्पविपको सम्बोधित किया गया है, कि—)
हे विप ! तू इस डसे हुए पुरुषमेंसे निकल जा, क्योंकि—तू शत्रु
है, तू केवल इसका ही शत्रु नहीं है, किन्तु सबका शत्रु है, अत
एव तू विप वाले सर्पमें संयुक्त होजा ! तू विपको अर्थात् अपने
को सपसे संयुक्त कर, हे विप ! तू जिसका विप है उस काटने
वाले सर्पको ही प्राप्त हो और प्राप्त होकर उस सर्पका विनाश करडाल

अष्टमी ॥

अपो दिव्या अचायिपं रसेन समपृद्धमहि ।

पयस्वानन्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिपम् । रसेन । सम् । अपृक्षमहि ।

पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा १

दिव्याः दिवि भवा अपः उदकानि । ❀ “ऊद्विदम्” इति शस उदात्तत्वम् ❀ । अचायिपम् पूजयामि । स्नानार्थम् अभिष्टौमीत्यर्थः । ❀ चायू पूजानिशामनोः । लुकि रूपम् ❀ । तासाम् अपां रसेन समपृक्षमहि संगताः स्मः । रसेन संसिक्ता भवाम इत्यर्थः । वचनव्यत्ययो वा । समपृक्षि संगतोस्मि । ❀ पृची संपर्के । “लिङ्गसिचावात्मनेपदेषु” इति सिचः कित्त्वम् ❀ ॥ हे अग्ने अहं त्वां पयस्वान् अन्नवान् हविर्भिस्तद्गान् आगमम् आगतोस्मि । हविषा यष्टुं तव समीपम् आगतोऽस्मीत्यर्थः । गमेलुङि लृदित्वाद् अह् ❀ । तं तादृशं त्वत्समीपं प्राप्तं मामां वर्चसा । ❀ वर्चो वृणक्तेः ❀ । तेजोविशेषेण सं सृज संयोजय । “अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्याम्” इति हि निगमः [ऋ० ३. २२. २] ॥

धामें होने वाले जलोंका (मैं स्नान करनेके लिये) पूजन करता हूँ, उनके रससे मैं संयुक्त होऊँ । हे अग्ने ! मैं आपके पास पय अर्थात् हविरूप अन्न लेकर आगया हूँ अर्थात् हवि लेकर आपका यजन करनेके लिये आगया हूँ, ऐसे मुझको आप तेज से † संयुक्त करिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।

विदुर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः । २ ।

† ऋग्वेदसंहिता ३ । २२ । २ में कहा है, कि-‘अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्याम् ।-हे अग्निदेव ! आपका जो धामें-और पृथिवीमें वर्च (तेज) है’ ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्रजया । सम् । आयुषा ।

विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषिभिः २

हे अग्ने मा मां वर्चसा तेजसा बलेन वा सं सृज संयोजय । प्रजया पुत्रादिकया सं सृज । आयुषा जीवनेन च सं सृज । किं च अस्य एनम् ॥ अन्वादेशे इदमः अशादेशोऽनुदात्तः । विभक्तिः सुप्त्वाद् अनुदात्ता । अतः सर्वानुदात्तं पदम् ॥ एनं मे माम् । कर्मार्थे षष्ठ्यौ ॥ देवा विद्युः असौ पूत इति जानीयुः । तथा ऋषिभिः अतीन्द्रियदर्शिभिर्मुनिभिः सह इन्द्रश्च विद्यात् मां पूतं जानीयात् । यद्वा अस्य एतादृशस्य मे अभिमतफलं साधयितुम् इन्द्रादयो विद्युरिति ॥

हे अग्ने ! आपः मुझको बलसे सम्पन्न करिये, पुत्र पौत्र आदि प्रजा और जीवनसे सम्पन्न करिये, इस मुझको देवता और ऋषियों सहित इन्द्रदेव 'यह पवित्र है' यह समझें ॥ २ ॥

दशमी ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।

यच्च अभिदुद्रोहानृतं यच्च शेषे अभीरणम् ॥ ३ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् ।

यत् । च । अभिदुद्रोह । अनृतम् । च । यत् । शेषे । अभीरणम् ३

हे आपः इदं पापं प्र वहत अपनयत । यद् अवद्यम् गर्हणं निन्दारूपं यच्च मलम् दुरितं, च मयि वर्तते यच्च अनृतम् असत्यम् अभिदुद्रोह पित्रादिभ्यः अयथार्थनिर्वन्धेन द्रोहम् अकार्पम् यच्च अभीरणम् । उत्तमर्णाय देयं वस्तु रणम् इत्युच्यते । तद्

ऋणम् अभिप्राप्य शेषे अपलापाय शपथं कृतवान् अस्मि । तत् पापम् अपनयतेति संबन्धः । ॐ अभिदुद्रोहेति । द्रुह जिघांसा-
याम् । लिटि उत्तमणलि रूपम् । “यद्द्रवृत्तान्नित्यम्” इति निघात-
निषेधः । “तिष्ठि चोदात्तवति” इति गतेर्निघातः । शेषे इति । शप
आक्रोशे । अस्मान्लिटि उत्तमैकवचने इटि “शप उपालम्भनं”
इति आत्मनेपदम् । वाचा शरीरस्पर्शनम् उपालम्भः । यद्द्रवृत्त-
योगाद् अनिघातः ॐ ॥

हे जलों ! मेरे इस पापसंघको दूर करो, जो निन्दारूप मल और
पाप मुझमें वर्तमान है, और जो असत्य है तथा पिता आदिका
यथार्थसम्मान न करना रूप जिस तथा द्रोहको मैं कर चुका हूँ
और ऋणको लेकर उसका अपलाप करनेके लिये जो मैंने
शपथ खाई है (इन समस्त कार्योंके करनेसे उत्पन्न हुए पापको
आप दूर करिये) ॥ ३ ॥

एकादशी ॥

एधोस्येधिपीय समिदांसि समंधिपीय ।

तेजोसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥

एधः । असि । एधिपीय । समृद्धत् । असि । सम् । एधिपीय ।

तेजः । असि । तेजः । मयि । धेहि ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वम् एधः इद्धः दीप्तः असि भवसि । ॐ विन्धी
दीप्ता । यच्चि “अवोर्दधौमथ्रथहिमथ्रयाः” इति उपधानकारलोपो
निपात्यते ॐ । यतस्त्वं समिदाधानेन दीप्तो भवसि अतः । यद्वा ।
ॐ एध वृद्धी इत्यस्माद् उत्पन्न एधशब्दः ॐ । हविषा प्रवृद्धो
भवसि । अतोऽहम् एधिपीय फलेन समृद्धो भूयासम् । ॐ विन्धी
दीप्ता । आशीर्लिङि व्यत्ययेन नकारलोपे गुणे च रूपम् । यद्वा

एष वृद्धौ इत्यस्मात् आशीर्लिङि रूपम् । उभयत्र लिङः सीयुट् ।
 वलादिलक्षण इट् । “इटोत्” इति अदादेशः ॐ । तथा हे अग्ने
 समित् समिद्धः समित्संबन्धनी वा संदीपनी शक्तिरसि । ॐ इन्धेः
 कर्मणि करणे वा क्विपि उपधानकारलोपः ॐ । यतः अग्ने त्वं
 समिदसि अतोहं समेधिषीय फलैः समिद्धः संपूर्णो भूयासम् ।
 ॐ अत्र इन्धेः आशीर्लिङि छान्दसं रूपं प्रदर्शितं भवति ॐ ।
 हे अग्ने त्वं तेजोसि दीप्तिः तेजःसाधनः वा भवसि । अतस्त्वं तेज-
 स्तादृशं मयि धेहि स्यापय ॥

हे अग्ने ! आप प्रदीप्त होजाते हैं, (आप समिदाधानसे समृद्ध
 होते हैं इस कारण) मैं भी फलसे समृद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप
 समित्सम्बन्धिनी संदीपिनी शक्ति हैं अत एव मैं भी फलोंसे
 समिद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप तेजःस्वरूप हैं अत एव मुझमें तेज
 को स्थापित करिये ॥ ४ ॥

द्वादशी ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।

ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृश्च । पुराणवत् । व्रततेःऽइव । गुष्पितम् ।

ओजः । दासस्य । दम्भय ॥ १ ॥

हे अग्ने त्वं पुराणवत् । ॐ व्यत्ययेन द्वितीयार्थे वृत्तिः ॐ ।
 पुराणान् पुरातनान् शत्रूनिव इदानीतनमपि जारूपं शत्रुं वृश्च
 छिन्धि । ॐ “पुराणश्लोकेषु ब्राह्मणकल्पेषु” इति निपातनात्
 तुडभावः । ओत्रश्चु छेदने । तुदादित्वात् शः । “ग्रहिव्या०”
 इत्यादिना संप्रसारणम् ॐ । यद्वा । ॐ पुराणवेदिति “तत्र
 तस्येव” इति षष्ठ्यर्थे वृत्तिः ॐ । पुराणानां पुरातनानां शत्रूणा-

मित्र नूतनस्यापि जाररूपशत्रोर्बलं वृश्च इति चलशब्दाध्याहारेण
 योजना । छेदने दृष्टान्तः व्रततेरिव गुण्यितम् इति । ॐ गुण्यतिगु-
 ण्यतिपर्यायो द्रष्टव्यः ॐ । यथा व्रततेर्लताया गुण्फं कुञ्जं शाखा-
 समूहं वृश्चन्ति तद्विदिति । तदेवाह तृतीयपादेन । दासस्य उप-
 क्षपयितुः शत्रोर्जारस्य श्रोजः बलं प्रजननसमर्थं वीर्यं वा दम्भय
 विनाशाय । ॐ दम्भयतिर्वधकर्मा इति यास्कः ॐ ॥

हे अग्ने ! आप पुरातन शत्रुओंकी समान इस जाररूप शत्रु का
 भी छेदन करिये, अथवा इस पुरातन शत्रुओंकी समान इस जार
 रूप शत्रुके बलको इस प्रकार काट डालिये, जिस प्रकार लताओं
 के कुञ्ज (शाखासमूह) को काटते हैं । और दासके अर्थात् उप-
 क्षय करने वाले शत्रु जारके वीर्यको नष्ट करिये ॥ १ ॥

त्रयोदशी ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहे ।

म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥

वयम् । तत् । अस्य । सम्भृतम् । वसु । इन्द्रेण । वि । भजामहे ।

म्लापयामि । भ्रजः । शिभ्रम् । वरुणस्य । व्रतेन । ते ॥ २ ॥

अस्य पुरोवर्तिनो जारस्य शत्रोः संभृतम् एकत्र संपादितं तद्
 वसु धनम् इन्द्रेण सहायभूतेन वयं वि भजामहे विभक्तम् अपगतं
 करवामहे । यद्वा तस्य धनं वयं विशेषेण भजामहे । तस्य धनस्य
 घयं भागिनो भवाम इत्यर्थः ॥ उत्तरार्धे जारः संशोध्यते । हे जार
 ते तत्र शुभ्रम् श्वेतवर्णं भ्रजः दीप्तम् अपत्यप्रजननसमर्थं रेतः वरु-
 णस्य वारकस्य देवस्य व्रतेन कर्मणा म्लापयामि क्षीणं करोमि ।
 ॐ ग्लौ ग्लौ हर्षतये । एयन्तात् पुगागमः । भ्रजतेर्दीप्पर्याद् अमुनि
 रूपं भ्रज इति ॐ ॥

इस जार-शत्रुके एकत्रित किये हुए धनको हम इन्द्रकी सहायतासे निकालते हैं । हे जार ! तेरा जो सन्तानको उत्पन्न करनेमें समर्थ शुभ्र वर्ण वाला दमकता हुआ वीर्य है उसको मैं त्रिवारक वरुणदेवके कर्मसे क्षीण करता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्दशी ॥

यथा शेषो अपायते स्त्रीषु चासदनावयाः ।

अवस्थस्य क्रदिवतः शाङ्करस्य नितोदिनः ।

यदाततमव तत् तनु यदुत्तं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शेषः । अपायते । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ।

अवस्थस्य । क्रदिवतः । शाङ्करस्य । नितोदिनः ।

यत् । आस्ततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उत्स्ततम् । नि ।

तत् । तनु ॥ ३ ॥

शेषः पुंस्प्रजननस्य नाम । ❀ वृद्धशीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [उ० पा० ४, २००] इति असुन् । पुडागमः ❀ । यथा येन प्रकारेण शेषः जारस्य व्यञ्जनम् अपायते अपगच्छेत् । भोग्यायाः पतिवत्न्या नार्याः सकाशाद् अपगतं भवेत् । ❀ अयं पयं गतौ । लेटि “लेटोटाटौ” इति आडागमः । “वैतोन्यत्र” इति एकारस्य ऐकारादेशः ❀ । च यथा च स्त्रीषु भोग्यासु अनावयाः । ❀ वेतेर्गत्यर्थाद् असुन् । लिङ्गव्यत्ययः ❀ । अनागच्छद् असत् भवेत् । यथा जारस्य व्यञ्जनं स्त्रीषु संसक्तं न भवेदित्यर्थः । ❀ असत् इति । अस्तेर्लेटि रूपम् ❀ । यद्वा । आवयतिः अतिकर्मा । ❀ आङ्पूर्वाद् वेतेर्भक्षणार्थाद् असुन् ❀ । अत्र भक्षणं भोगमात्रोपलक्षणम् । यथा च जारः स्त्रीषु परकीयासु अनावयाः अभोक्ता संभोग-

रहितः असत् भवेत् । अयम् अर्थः । यथा जारस्य शेषो भोग्यायाः
स्त्रियाः सकाशाद् अपगच्छेत् भोक्तुं न क्षमेत यथा च स्त्रीव्यञ्जने
संसक्तं जारो वा संभोक्ता न भवेत् तथा कुर्विति देवः प्रार्थ्यते ।
कस्य शेषः इति तम् आह उत्तरेणार्थेन । अवस्थस्य स्त्रीसमीपे
अवतिष्ठमानस्य । ❀ अवपूर्वात् तिष्ठतेः “स्थः क च” इति क-
प्रत्ययः ❀ । अथ वा अवः अवस्तात् स्त्रिया अधःप्रदेशे संभो-
गाय तिष्ठतः । ❀ “पूर्वापराधराणाम् असिपुरधवश्चैषाम्”
इति अधरशब्दस्य असिप्रत्यये अन् आदेशः । अवोपसृष्टात्
तिष्ठतेः असिप्रत्ययान्ताधरशब्दपूर्वाद् वा तिष्ठते रूपम् इति
व्युत्पत्त्यनवधारणाद् अनवग्रहः ❀ । स्त्रीसमीपे संभोगाय
तिष्ठतः क्रदिवतः । ❀ क्रदेः आहानार्थाद् औणादिको भावे
इप्रत्ययः । रेफस्य नकारोपजनशब्दान्दसः ❀ । संभोगार्थम् आहान-
वतः शाङ्कुरस्य शङ्कुरिव शङ्कुः पुंव्यञ्जनं तद्वान् शङ्कुरः । ❀ रो
मत्वर्थायः ❀ । शङ्कुर एव शाङ्कुरः । ❀ मज्ञादित्वाद् अण् ❀ ।
पुंव्यञ्जनवतः नितोदिनः नितरां संभोगेन नारीं व्यथयतः । ❀ तुद
व्यथने इत्यस्माद् “बहुलम् आभीक्ष्ण्ये” इति णिनिः ❀ । एता-
दृशस्य जारस्य आततम् आयामवत् यत् शेषोऽस्ति तत् शेषः अव
तनु अवततं दैर्घ्यरहितं कुरुः । तथा उक्तम् ऊर्ध्वं विस्तृतम् उन्नतं
यत् शेषः तत् नि तनु नितनं नीचीनं कुरु ॥

अष्टमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरमहाराजराज्यधुरंधर-
सायणाचार्यविरचिते माधर्वाय अथर्वसंहिताभाष्ये
वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे अष्टमोनुवाकः ॥

जिस प्रकार जारका पुंव्यञ्जन नारीके पाससे दूर होजावे
और स्त्रियोंमें संसक्त न होवे, (इस प्रकारकी हम देवताओंसे
प्रार्थना करते हैं) स्त्रीके अधः प्रदेशमें संभोगके लिये स्थित,

संभोगके लिये आह्वान वाले शंकु (खूँटे) की समान पुंव्यञ्जन वाले, संभोगसे नारीको अतिपीड़ित करने वाले जारके आतत पुंव्यञ्जनको दीर्घतारहित करिये और उक्तको नीचा करिये ३

अष्टम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४१०) ॥

अथर्ववेदसंहिताके अष्टम काण्डमें अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

नवमेनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र “इन्द्रः सुत्रामा” इत्याद्ये सूक्ते आद्येन तृचेन ग्रामकामः इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि उदुम्बरपलाशकर्कन्धूनां समिदाधान-सभोपस्तरणहोमादीनि कर्माणि अनेन कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “इन्द्रः सुत्रामेति ग्रामकामो ग्रामसांपदानामप्ययः” इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा इन्द्रमहारूपे उत्सवे “इन्द्रः सुत्रामा” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । “अर्वाञ्चम् इन्द्रम् [५. ३. ११] त्रातारम् इन्द्रम् [७. ६१] इन्द्र सुत्रामा [७. ६६] इत्याज्यं हुत्वा” इति [कौ० १४. ४] ॥

अग्निष्टोमे [“ध्रुवं ध्रुवेण” इति ऋचा] आसन्दीं नीयमानं सोमराजम् अनुमन्त्रयेत् । उक्तं वैताने । “ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद् आसन्द्यां नीयमानम् अनुमन्त्रयते” इति [वै० ३. ३]

तथा अग्निष्टोमे आग्निमारुतशस्त्रावसाने अवनीयमानं ध्रुवपात्रस्थसोमम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “ध्रुवं ध्रुवेणेति ध्रुवम् अवनीयमानम् अनुमन्त्रयते” इति हि [वै० ३. १३] सूत्रम् ॥

आभिचारिके कर्मणि “उदस्य श्यावौ” इति तृचेन आज्यं जुहुयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि सूत्रोक्तरीत्या अनेन तृचेन मण्डूक-मूत्रम् अपनुदेत् ॥

अभिचारकर्मणि “असदन् गावः” इति ऋचा रक्तशालि-तण्डुलैः क्षीरौदनं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य द्वेष्याय दद्यात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः “यद् अद्य त्वा प्रयति” इत्यष्टर्चेन संस्थित-
होमान् जुहुयात् । “यद् अद्य त्वा प्रयति [७. १०२] इत्यष्टर्चेन
संस्थितहोमाः । मनसस्पते [७. १०२. ८] इत्युत्तमं चतुर्गृहीतेन”
इति [कौ० १. ६] सूत्रात् ॥

उपनयनकर्मणि ब्रह्मचारिणं “समिन्द्र एः” इत्यनया अष्टर्चे-
नाभिमन्त्रितम् उदपात्रम् अवेक्षयेत् । “उपनयनं” मक्रम्य सूत्रि-
तम् । “उदपात्रं समवेक्षयेत् समिन्द्र एः” इति [कौ० ७. ६] ॥

नवम सूक्तमें दो अनुवाक हैं । उनमेंसे ‘इन्द्रः सुत्रामा’ इस
पहिले सूक्तके पहिले ऋचसे ग्रामकी चाहना वाला इन्द्रदेवका
यजन वा उपस्थान करे ।

तथा उसी कर्ममें गूलड़ पलाश और बेरकी समिधाओंका
आधान, सभामें पिरालसा बिल्वाना और होम आदि कर्मोंको करे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘इन्द्रः सुत्रामेति ग्राम-
कामो ग्रामसाम्पदानामप्ययः ।’ (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

तथा इन्द्रमह नाम वाले उत्सवमें “इन्द्रः सुत्रामा” से घृतकी
आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“अर्वाञ्च
इन्द्रम् (५ । ३ । ११) वातारम् इन्द्रम् (७ । ६१) इन्द्रसुत्रामा
(७ । ६६) इत्याज्यं हुत्वा” (कौशिकसूत्र १४ । ४) ॥

अग्निष्टोममें “ध्रुवं ध्रुवेण ऋचासे पालकी पर ले जाते हुए
सोमराजका अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है,
कि—‘ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद् आसन्त्यां नीयमानं अनु-
मन्त्रयेत्’ (वैतानसूत्र ३ । ३) ॥

तथा अग्निष्टोममें अग्निमारुतशस्त्रावसानमें अवनीयमान ध्रुव-
पात्रमें स्थित सोमका इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।—इस
विषयमें वैतानसूत्र ३ । १३ का प्रमाण है, कि—‘ध्रुवं ध्रुवेणेति
ध्रुवं अवनीयमानं अनुमन्त्रयेत्’ ॥

आधिचारिक कर्ममें 'उदस्यश्वावौ' वृचसे घृतकी आहुति देवे ।
तथा इसी कर्ममें सूत्रोक्तरीतिसे इस वृचसे मण्डूकके मुखका
अपनुदन करे ।

अभिचारकर्ममें 'असदन् गावः' ऋचासे रक्तशाली तण्डुलों
से क्षीर भ्रात बना कर सम्पातित और अभिमंत्रित द्वेष्यके लिये
देदेय ।

दर्श और पूर्णमासमें 'यद् अद्य त्वा प्रयति' इस अपृचसे संस्थित
होमोंको करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ६ का प्रमाण है,
कि—'यद् अद्य त्वा प्रयति (७ । १०२) इत्यपृचेन संस्थित-
होमाः । सनसस्पते (७ । १०२ । ८) इत्युचमं चतुर्गृहीतेन' ॥

उपनयनकर्ममें ब्रह्मचारीको 'समिन्द्र णः' इस ऋचासे अपृचसे
अभिमंत्रित जलपूर्ण पात्रको दिखावे । उपनयनका आरंभ करके
कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि—'उदपात्रं समवेक्षयेत् समिन्द्र णः' ॥
तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवाँभिः सुमृडीको भवतु विश्व-
वेदाः ।

बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम १
इन्द्रः । सुत्रामा । स्ववान् । अदःऽभिः । सुमृडीकः । भवतु ।

विश्ववेदाः ।

बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सुवीर्यस्य । पतयः ।
स्याम् ॥ १ ॥

सुत्रामा सुष्ठु वाता । ❀ "आतो मनिन्ववनिष्वनिपथ" इति
यनिन् । कृदुत्तरपदमकृतिस्वरत्वम् ❀ । स्ववान् धनवान् हितात्मा

वा इन्द्रः श्रवोभिः रक्षणैः सुमृलीकः सुसुखः सुष्टु सुखयिता
भवतु । कीदृशः । विश्ववेदाः बहुधनः विश्वं विद्वान् वा । द्वेषः ।
द्विप अमीर्ता । असुन् । शेरुक् ॐ । द्वेषांसि द्वेष्टन् वाधताम्हिन-
स्तु । अभयं च नः अस्माकं कृणोतु करोतु । वयं सुवीर्यस्य शोभन-
वीर्योपेतस्य धनादिकस्य पतयः स्वामिनः स्याम भूयास्म । ॐ सु-
वीर्यस्येति । “वीरवीर्यो च” इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॐ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इंद्र रक्षाओंके द्वारा हमको
सुन्दर सुख देने वाले हों और यह बड़े भारी धनसे सम्पन्न
इन्द्र हमारे शत्रुओंका संहार करें । और हमको अभय भी दें ।
और हम शोभन वीर्य वाले धनके स्वामी हों ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतयुयोतु
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम १
सः । सुत्रामा । स्ववान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चिद् । द्वेषः ।
सनुतः । युयोतु ।

तस्य । वयम् । सुमतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम १

सुत्रामा सुष्टु वाता स्ववान् धनवान् स प्रसिद्ध इन्द्रः अस्मत्
अस्मत्तः आराच्चिद् दूरादेव द्वेषः द्वेष्टन् । ॐ द्विपतेर्व्यत्ययेन
विष् प्रत्यये गुणः । द्वितीयावहुवचनं शस् ॐ । सनुतः । अन्तर्हित-
नामैतत् । तिरोहितान् गूढान् युयोतु पृथक् करोतु । ॐ यु मिश्र-
णामिश्रणयोः । “बहुलं दन्दसि” इति शपः श्लुः ॐ । यज्ञियस्य
यज्ञार्हस्य तस्य इन्द्रस्य सुमता शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ वर्तमाना
वयं तस्यैव भद्रे कन्याणे सौमनसे सुमनसो भावे अपि स्याम विषय-
भूता भवेम । ॐ सौमनस इति । सुमनःशब्दाद् भावे अण् प्रत्ययः ॐ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इन्द्र हमसे दूर ही हमारे शत्रुओंको तिरोहित कर डालें अलग २ कर डालें, हम यज्ञके पात्र उन इन्द्रदेवकी अनुग्रहरूपा बुद्धिमें रहते हुए उनके कन्याण-यय भावको पाते रहें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रेण म॒न्युना॑ व॒यम॒भि ष्या॑म॒ पृत॒न्यतः॑ ।

घ्नन्तो॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ॥ १ ॥

इन्द्रेण॑ । म॒न्युना॑ । व॒यम् । अ॒भि । ष्या॑म । पृत॒न्यतः॑ ।

घ्नन्तः॑ । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्रति ॥ १ ॥

इन्द्रेण सहायेन मन्युना तदीयेन कोपेन । यद्वा मन्यतिर्दीप्ति-
कर्मा । मन्युमता इन्द्रेण सहायेन वयं पृतन्यतः पृतनां संग्रामम्
इच्छतः युयुत्सून् शत्रून् अभि ष्याम अभिभवेम । ❀ “कप्यध्वर-
पृतनस्यर्विलोपः” इति वयचि पृतनाशब्दस्य अन्त्यलोपः । अभि
ष्यामेति । “उपसर्गप्रादुर्भ्याम् अस्तिर्यचपरः” इति षत्वम् ❀ ।
किं कुर्वन्तः वयम् । वृत्राणि आवारकाणि पापानि । शत्रून् इत्यर्थः ।
अप्रति अप्रतिपक्षं घ्नन्तः यथा प्रतिपक्षशेषो न भवति तथा घ्नन्तः ।
निःशेषं हिंसन्त इत्यर्थः ॥

प्रदीप्त इन्द्रदेवकी सहायतासे हम संग्राम करना चाहने वाले
शत्रुओंको दवा डालें, उन शत्रुओंका कुछ भी भाग शेष न रखते
हुए उनको समाप्त कर डालें ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

ध्रु॒वं ध्रु॒वेण॑ ह॒विपा॒व सोमं॑ नयामसि ।

यथा॑ न॒ इन्द्रः॑ के॒वली॒र्विशः॑ संम॒नस॒स्कर॑त् ॥ १ ॥

ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । अत्र । सोमम् । नयामसि ।

यथा । नः । इन्द्रः । केवलीः । विशः । समुष्मनसः । करत् १

ध्रुवेण स्थिरेण सुप्रतिष्ठितेन हविषा पुरोडाशादिना युक्तं ध्रुवम् ध्रुवग्रहस्थं सोमम् अत्र नयामसि अत्राद्मुखं निनयामः । यद्वा ध्रुवम् स्थिरं सोमं राजवहनाद् अनसः सकाशाद् आसन्दीं प्रति अवतारयामः । यथा येन प्रकारेण इन्द्रो नः अस्माकं विशः प्रजाः केवलीः असाधारणाः संमनसः संगतमनस्काः समानमनस्काश्च करत् करोतु । तथा अत्र नयामसीति संबन्धः । ❀ “केवलमामक-भागधेय०” इति केवलशब्दाद् डीप् । करत् इति । करोतेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

सुप्रतिष्ठित स्थिर पुरोडाश आदि हविसे युक्त ध्रुवग्रहस्थ सोम को हम अत्राद्मुख लाने हैं अथवा स्थिर सोमको गाड़ीसे राजा की सवारी पालकीमें लाते हैं (ऐसा करनेसे) इन्द्र देवता हमारी प्रजाओंको असाधारणरूपसे समान मन वाली करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः ।

उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । श्यावौ । विथुरौ । गृध्रौ । द्याम्इव । पेततुः ।

उच्छोचनप्रशोचनी । अस्य । उत्शोचनी । हृदः ॥ १ ॥

अस्य मण्डूकात्मना भावितस्य शत्रोः संबन्धिनौ विथुरौ । ❀ व्यथ भयचलनयोः इत्यस्माद् श्रोणादिकः कुरच् प्रत्ययः । द्यान्दसं संसारणम् ❀ । संततं चलनशीलौ श्यावौ श्याववर्णौ ओष्ठौ उत्पेततुः उत्पतताम् उद्गच्छताम् । मण्डूकमुखापनोदनेन

शत्रोरोष्ठौ विदारितौ भवताम् इत्यर्थः । यद्वा । ॐ श्यैङ् गतौ
इत्यस्माद् उत्पन्नः श्यावशब्दः ॐ । श्यावौ परस्परसंसक्तौ शत्रु-
रूपेण भावितस्य मण्डूकस्य प्राणापानौ विधुरौ व्यथनशीलौ भय-
चन्तौ सन्तौ उत्पतताम् इति । श्याववर्णौ वा प्राणापानौ । तौ हि
वायोर्द्विभेदौ । वायोर्हि धूम्रवर्णत्वं मन्त्रशास्त्रप्रसिद्धम् । उद्गमने
दृष्टान्तः । गृध्रौ घामिवेति । यथा गृध्रौ ताक्ष्यौ घाम् दिवम् उत्प-
ततः । ॐ “अौतोमृशसोः” इति द्योशब्दस्य अमि परत आका-
रादेशः । पेततुरिति । छान्दसो लिट् ॐ । किं च उच्छोचनप्रशो-
चनौ । उच्छोचयति ऊर्ध्वम् उत्कृष्य उत्कृष्टं वा शोकं करोतीति
उच्छोचनः । प्रकर्षेण शोचयतीति प्रशोचनः । एतत्संज्ञकौ मृत्यु-
दूतौ अस्य पुरोवर्तिमण्डूकरूपेण भावितस्य शत्रोः हृदः हृदयस्य
उच्छोचनौ उत्कर्षेण शोचयितारौ । भवत इति शेषः । ॐ शोच-
यतेर्नन्वादिच्वात् व्युः ॐ ॥

इस मण्डूकात्मारूपसे भावित शत्रुके सदा चलते रहने वाले
श्याव वर्ण वाले (ओठ) चिर जावें अर्थात् मण्डूकका मुख
चीरनेसे शत्रुके ओष्ठ विदीर्ण होजावें । अथवा—शत्रुरूपसे भावित
मण्डूकके परस्परसंसक्त प्राण और अपान भयभीत होकर (इस
प्रकार) उड़ जावें जिस प्रकार गीध आकाशमेंको उड़ते हैं ।
ऊपरको उत्कृष्टरूपसे खेंच कर शोक देने वाले उच्छोचन और
प्रकृष्टरूपसे शोक देने वाले प्रशोचन नाम वाले दोनों मृत्युदूत
इस सामने वर्तमान मण्डूकरूपमें भावित शत्रुके हृदयको बड़ा ही
शोक देने वाले होवें ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

अहमेनावुदंतिष्ठिं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

अहम् । एनौ । उत् । अतिष्ठिपम् । गावौ । श्रान्तसर्दाऽइव ।

कुर्कुरीऽइव । कृजन्तौ । उत्ऽअवन्तौ । वृकौऽइव ॥ २ ॥

एनौ पूर्वमन्त्रोक्तां श्यावौ श्रोष्ठौ प्राणापानी वा शत्रुसंबन्धिनौ ।
 ❀ इदंशब्दस्य अन्वादेशे “द्वितीयाटीस्त्वेनः” इति एनादेशः अनु-
 दात्तः ❀ । अहं प्रयोक्ता उदतिष्ठिपम् उत्थापयामि उद्गमयामि ।
 बलान्निःसारयामीत्यर्थः । ❀ तिष्ठतेर्त्यन्तात् लुङि चङि “तिष्ठ-
 तेरित्” इति इच्वम् ❀ । बलात्कारेण उत्थापने दृष्टान्तत्रयं गावा-
 वित्यादि । यथा श्रान्तसर्दा श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ गोष्ठे श्रमेण
 निपीदन्तौ गावौ बालदण्डमूलनितोदनादिना बलाद् उत्थापयन्ति ।
 यथा च कृजन्तौ ध्वनिं कुर्वन्तौ कुर्कुरी रवानौ पाषाणप्रहरणादिना
 बलाद् अपसारयन्ति । यथा च वृकौ । अरण्यश्वा वृक इत्युच्यते ।
 उदवन्तौ गोग्रथमध्ये बत्सान् उद्गृह्य गच्छन्तौ धावन्तौ वृकौ यथा
 गोपालाः बलाद् यूथाद् अपसारयन्ति तद्वत् । श्रोष्ठयोः प्राणा-
 पानयोर्वा द्वित्वाद् द्वित्वसंख्यावन्तौ गावौ रवानौ वृकौ दृष्टान्त-
 त्वेन उपन्यस्तौ । ❀ अयनेर्धातो रक्षणाद्यनेकार्थस्मरणाद् अत्र
 गत्यर्थः अवतिः ❀ ॥

जैसे थक कर बैठे हुए बैलोंको (पूँछ आदि खेंच कर)
 उठाते हैं और भाँरते हुए कुत्तोंको (पाषाण आदि फेंक कर)
 भगा देते हैं और बज्रड़ोंको पकड़ कर लेजाने वाले भेड़ियोंको
 गोपाल बलपूर्वक भगा देते हैं । इसी प्रकार मैं पूर्वमन्त्रमें कहे
 हुए शत्रुके श्रोठ वा प्राणोंको बलपूर्वक अलग करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।

अपि नह्याम्यस्य भेदं य इतः स्त्री पुमान् जभारं ३

आ॒ऽतो॒दि॒नौ । नि॒ऽतो॒दि॒नौ । अथो॒ इति॑ । स॒म्ऽतो॒दि॒नौ । उ॒त ।

अपि॑ । न॒ह्यामि॑ । अ॒स्य॑ । मे॒ढूम् । यः । इ॒तः । स्त्री॑ । पु॒मान् ।

ज॒भार॑ ॥ ३ ॥

अत्र शत्रोरोष्ठौ प्राणापानौ वा उत्क्रमणवेलायाम् एतदेतद-
वस्थापन्नौ करोतीति पूर्वार्धेन उच्यते । आतोदिनौ सर्वतो व्यथन-
शीलौ शत्रोः सर्वावयवसंज्ञेशकारिणौ । उत्थापयामीति पूर्वमन्त्रोक्त-
क्रियानुपङ्गः । तथा नितोदिनौ नितरां निकृष्टं वा व्यथयन्तौ अति-
कृष्टं वाधाकारिणौ । अथो अनन्तरम् उत अपि च संतोदिनौ
संभूय व्यथाकारिणौ । उद्धमयामीति संबन्धः । किं च यः स्त्री
पुमान् वा द्वेष्यः इतः अस्मदीयात् स्थानात् जभार जहार ।
आस्माकीनं धनम् इति शेषः । यद्वा इतः अस्मिन् प्रदेशे जहार
प्रहृतवान् अस्मान् वाधितवान् । अस्य शत्रोः मेढूम् । मर्मस्थानोप-
लक्षणम् एतत् । अपि नह्यामि वध्नामि । यथा मर्मस्थानवन्धनेन
मरिष्यति तथा करोमीत्यर्थः ॥

मैं शत्रुके प्राणोंको उत्क्रमणके समय सब अवयवोंको ज्ञेश
देने वाले, अति कष्ट देने वाले और एकत्रित होकर व्यथित
करने वाले करके उखाड़ता हूँ । जिस स्त्री वा पुरुषने हमारे
धनको हर लिया है वा हम पर प्रहार किया है उसके मेढू आदि
मर्मस्थानोंको मैं बाँधता हूँ, (कि-वह मर्मस्थानोंके बन्धनसे मर
जावे) ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

अस॑द॒न् गा॒वः स॒द॒नेप॑स॒द् वस॑तिं व॒यः ।

आ॒स्थाने॑ पर्व॒ता अ॒स्थुः स्था॒ग्निं वृ॒क्षाव॑तिष्ठि॒पम् ?

असदन् । गावः । सदने । अपप्तत् । वसतिम् । वयः ।

आस्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थान्नि । वृकौ । अतिष्ठिपम् ?

सदने । सीदन्ति अत्रेति सदनम् । ❀ अधिकरणे व्युट् ❀ ।
यथा गावः गोष्ठे असदन् सीदन्ति निपीदन्ति । ❀ सदेरञ्चान्दसे
लुङि लृदिच्चात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ । यथा च वयः पक्षी
वसतिम् स्वकीयं नीडम् अपप्तत् पतति गच्छति । प्रविशतीत्यर्थः ।
❀ पतेलुङि पूर्ववत् अङ् । “पतः पुम्” इति पुम् आगमः ❀ ।
यथा च पर्वताः गिरयः स्थाने स्वकीये आस्थुः आतिष्ठन्ति ।
❀ तिष्ठतेलुङि “गातिस्था०” इति सिचो लुक् । “आतः” इति
भेजुस् ❀ । यथा गवादिकाः स्वेस्वे सदने सुखेन निवसन्ति तथा
स्थान्नि । तिष्ठन्ति अत्रेति स्थाम गृहम् । ❀ तिष्ठतेः अधिकरणे
मनिन्प्रत्ययः ❀ । शत्रोर्गृहे वृकौ वृकश्च वृकी च एतां । ❀ “पुमान्
स्त्रिया” इति पुंस एकशेषः ❀ । दम्पतिभूतौ वृकौ अतिष्ठिपम्
स्थापयामि निदधामि । शत्रुगृहं वृकावासस्थानं करोमि। आगन्तुक-
वृकप्रवेशशङ्कानिरासाय वृकाविति स्त्रीपुंसौ निर्दिष्टौ यथा वृकः
स्त्रीपुत्रादिभिः शत्रोर्गृहे वर्तते तथा करोमीति । अनेन शत्रुं नि-
शेषं हत्वा तद्गृहम् अरण्यं करोमीत्यर्थं उक्तो भवति ॥

जैसे गौ गोठमें सुखपूर्वक बैठती हैं और जैसे पक्षी घोंसलेकी
ओर दौड़ते हैं और जैसे पर्वत अपने स्थानमें स्थित हैं, इसी
प्रकार मैं शत्रुके घरमें वृक और वृकीको स्थापित करता हूँ अर्थात्
इस प्रकार शत्रुको निःशेष करके उसके घरको जंगलसा बनाना
चाहता हूँ ॥ १ ॥

नवमी ॥

यद्य त्वां प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्नवृणी-
महीह ।

ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम्

यत् । अद्य । त्वा । प्रऽपति । यज्ञे । अस्मिन् । होतः । चिकित्वन् ।

अट्टणीमहि । इह ।

ध्रुवम् । अयः । ध्रुवम् । उत । शविष्ठ । प्रऽविद्वान् । यज्ञम् । उप ।

याहि सोमम् ॥ १ ॥

हे होतः देवानाम् आहातः यष्टर्वा । ❀ ह्यतेर्जु होतेर्वा रूपम् एतत् ❀ । हे चिकित्वन् हानवन् । ❀ कित ज्ञाने । अस्माद् यङ्लुगन्तात् मनुप् । अभ्यासस्य गुणाभावरद्धान्दसः । “नामन्त्रिते समानाधिकरणे०” इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिर्पेधेन पदात् परत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एवंगुणक हे अग्रे त्वा त्वाम् अद्य इदानीं प्रयति प्रवर्तमाने । विच्छेदेन विना क्रियमाण इत्यर्थः । अस्मिन् यज्ञे इह अस्मिन् प्रयोजने यत् यस्माद् अट्टणीमहि होतृत्वेन वयं दृतवन्तः । ❀ वृङ् संभक्तौ । क्रयादित्वात् श्वा प्रत्ययः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । प्रयतीति । प्रपूर्वाद् एतेः शतरि यणादेशः । “शहुरनुषो नचजादी” इति सप्तम्या उदात्तत्वम् ❀ । यस्माद् वयं होतृत्वेन त्वां दृतवन्तः तस्माद् ध्रुवम् सर्वथा अयः अयाक्तीः यज । यष्टव्यान् देवान् इति शेषः । “ऋधग् अयाद् ऋधग् उताशमिष्टाः” इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं० १. ४. ४४. २] । ❀ यजतेः “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” इति लङ्छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । उत अपि च ध्रुवम् अशमिष्टाः शमय । कर्मणो वैगुण्यम् इति शेषः । किं च प्रविद्वान् प्रकर्षेण जानन् सोमम् सोमवन्तं यज्ञम् उप याहि समीपम् आगच्छ । यद्वा यज्ञं प्रविद्वान् अस्मदभिमतफलोपायत्वेन प्रजानन् सोमम् अस्माभिर्दीय-

मानं हविः उप याहि उपगच्छेति ॥ अथ वा यत् यस्मात् त्वां वृत्-
वन्तः तस्माद् यज्ञम् उप याहि । आगत्य च ध्रुवम् अयात्तीः यष्ट-
व्यान् देवान् ध्रुवम् अशमिष्ठाः यज्ञं संस्थापितवान् असीति ॥
ॐ भूतार्थे एव लुब् मत्ययः ॐ ॥

हे देवताओंका आह्वान करने वाले ज्ञानवान् अग्ने ! हम आप
का अविच्छिन्नरूपसे होने हुए इस यज्ञमें होतारूपसे वरण करते
हैं हमने आपका होतारूपसे वरण किया है, इस कारण आप
देवताओंका पूजन करिये और कर्मकी विगुणताको शान्त कर
दीजिये । और हमारे अभीष्टफलके उपायको समझते हुए हमारी
दी हुई हविके समीप आइये ॥ १ ॥

दशमी ॥

समिन्द्र नो मनसा नेप गोभिः सं सूरिभिर्हरिष्वन्तसं
स्वस्त्या ।

सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमती यज्ञि-
यानाम् ॥ २ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेप । गोभिः । सम् । सूरिभिः ।
हरिष्वन् । सम् । स्वस्त्या ।

सम् । ब्रह्मणा । देवहितम् । यत् । अस्ति । सम् । देवानाम् ।
सुमती । यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र नः अस्मान् मनसा गोभिः शब्दैः स्तुतिलक्षणैश्च सं
नेप संनय संयोजय । मनस्विनो वाग्मिनश्च कुरु । त्वां स्तोतुम्
इत्यर्थः । यद्वा गोभिः पशुभिः संनय । ॐ नयतेर्लोटि शप् ।

“सिन्धुलम्” इति सिप् । “अतो हेः” इति हेर्लोपः ॐ । किं च हे हरिवः । हरिसंज्ञकौ अश्वौ । ॐ हरी इन्द्रस्येति यास्कवचनात् [निघ० १. १५] ॐ । तद्वन् हे इन्द्र सूरिभिः विद्वद्भिः । संनयेति क्रियानुषङ्गः । स्वस्त्या अविनाशेन संनय । किं च ब्रह्मणा वेदेन वेदार्थज्ञानेन तदर्थानुष्ठानेन वा संनय । यच्च देवहितम् देवेभ्यो हितम् अस्ति अग्निहोत्रादि कर्म तेनापि संनय । ॐ “क्ते च” इति चतुर्थ्यन्तपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॐ । तथा यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां देवानाम् अग्न्यादीनां सुमतौ शोभनायां बुद्धौ अनुग्रहात्मिकायां संनय अस्मान् । ॐ सुमतौ इति । “मन्त्रे वृषेप०” इति क्तिन् उदात्तत्वम् । “मन्क्तिन्व्याख्यान०” इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॐ ॥

[इति] नवमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमको मनसे और स्तुतिरूपा वाणियोंसे संयुक्त करिये अर्थात् अपनी स्तुति करनेके लिये आप हमको मनस्वी और वाग्मी करिये । अथवा पशुओंसे संयुक्त करिये । और हे हरिनामक घोड़ों वाले इन्द्र ! आप विद्वानोंके साथ स्वास्तिके साथ हमको संयुक्त करिये और वेदार्थज्ञानके साथ वा वेदानुष्ठान के साथ हमको संयुक्त करिये और देवताओंका हित करने वाला जो अग्निहोत्र आदि है उससे भी हमको संयुक्त करिये । और यज्ञमें पूजनीय देवताओंकी अनुग्रहरूपा बुद्धिसे भी हमको संयुक्त करिये ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४१६) ॥

दर्शपूर्णमासयोः संस्थितहोमेषु “यान् आवहः” इत्यादीनां पणाम् ऋचाम् “यदद्य त्वा प्रयति” इत्यत्र विनियोगः उक्तः ॥

तथा श्रौतदर्शपूर्णमासयोः “यान् आवहः” इति षड्ऋचेन संस्थितहोमान् जुहुयात् । उक्तं वैताने । “यान् आवह” इति षड्भिः

संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासाम् उत्तमा” इति [वै० १. ४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः ग्रहियमाणप्रस्तरानुमन्त्रणं “सं वह्निरक्तम्” इत्यनया ब्रह्मा कुर्यात् । “सं वह्निरक्तम् इति प्रस्तरं ग्रहियमाणम्” इति [वै० १. ४] ॥

स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः “सं वह्निरक्तम्” इत्यनया वह्निःप्रहरणं कुर्यात् । “वह्निराज्यशेषेणानक्ति” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “सं वह्निरक्तम् इत्यनुप्रहरति” इति [काँ० १. ६] ॥

श्रौतदर्शपूर्णमासयोः वेदिं परिस्वृणन्तम् अध्वर्युम् “परि स्तृणीहि” इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “परि स्तृणीहीति वेदिं परिस्वृणन्तम्” इति वैतानसूत्रात् [वै० १. २] ॥

दुःस्वप्नदर्शननिमित्तदोषपरिहारार्थम् “पर्यावर्ते” इति ऋचं जपन् पर्यावर्तेत् ॥

स्वप्ने अन्नभक्षणनिमित्तदोषपरिहारार्थं “यत् स्वप्ने” इति ऋचं जपेत् ॥

सूत्रितं हि । “पर्यावर्ते [७. १०५] इति पर्यावर्तते । यत् स्वप्ने [७. १०६] इत्यश्नात्यवेक्षते” इति [काँ० ५. १०] ॥

स्वस्त्ययनार्थं “नमस्कृत्य” इत्यनया मान्वावलिंकीभ्यो देवताभ्यो नमस्कारम् उपस्थानं वा कुर्यात् । “नमस्कृत्येति मन्त्रोक्तम्” इति हि सूत्रम् [काँ० ७. ३] ॥

दर्श और पूर्णमासके संस्थित होमोंमें “यान् आवहः” इत्यादि छः ऋचाओंका “यद्य त्वा प्रयति” में विनियोग कह दिया है ।

तथा श्रौत दर्शपूर्णमासयागमें “यान् आवहः” इस षडृचसे संस्थित होमोंकी आहुति देय । इसी बातको वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि-“यान् आवह इति षड्भिः संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासां उत्तमा” ॥

ब्रह्मा 'सं बर्हिरक्तम्' ऋचासे दर्श और पूर्णमासमें महिय-
माण प्रस्तरका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १।४ का
प्रमाण है, कि—“सं बर्हिरक्तं इति प्रस्तरं ग्रहियमाणम्” ॥

स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें 'सं बर्हिरक्तम्' से बर्हिप्रहरण करे ।
कौशिकसूत्र १ । ६ में इस विषयका प्रमाण भी है, कि—
“बर्हिराज्यशोषेणानक्ति” का आरम्भ करके सूत्रमें कहा है, कि—
'सं बर्हिरक्तं इत्यनुप्रहरति'

श्रौतदर्शपूर्णमासमें वेदीका परिस्तरण करते हुए अध्वर्युको
“परि स्तृणीहि” ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें
वैतानसूत्र १ । २ का प्रमाण भी है, कि—“परि स्तृणीहीति वेदिं
परिस्तृणन्तम्” ॥

दुःस्वप्न देखनेसे होसकने वाले दोषको दूर करनेके लिये 'पर्या-
वर्ते' ऋचाका जप करता हुआ पर्यावर्तन करे ।

स्वप्नमें किये हुए अन्नभक्षणसे होसकने वाले दोषका परि-
हार करनेके लिये 'यत् स्वप्ने' ऋचाको जपे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“पर्यावर्ते (७ । १०५)
इति पर्यावर्तते । यत् स्वप्ने (७ । १०६) इत्यश्नात्यवेक्षते”
(कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

स्वस्त्ययनके लिये “नमस्कृत्य” ऋचासे मात्रवर्णिक (मन्त्र
में वर्णित) देवताओंके लिये नमस्कार वा उपस्थान करे । इस
विषयमें कौशिकसूत्र ७।३ का प्रमाण है, कि—‘नमस्कृत्येति मंत्रोक्तम्’

तत्र प्रथमा ॥

यान्नावह उशतो देव देवास्तान् प्रेरय स्वे अंशे सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ३

यान् । आऽअवहः । उशतः । देव । देवान् । तान् । म । ईरय ।
स्वे । अग्ने । सधस्थे ।

जत्तिऽवांसः । पपिऽवांसः । मधूनि । अस्मै । धत्त । वसवः ।
वमूनि ॥ ३ ॥

हे देव दीप्यमान हे अग्ने त्वम् उशतः हवींषि कामयमानान् यान् देवान् आवहः आवाहितवान् आहूतवान् असि । ॐ वहे-
र्लङि यद्भृत्तयोगाद् अनिघातः । उशत इति । वशेः शतरि अदा-
दित्वात् शपो लुक् । “ग्रहिज्या०” इत्यादिना संपसारणम् ।
“शतुरनुपः०” इति द्वितीयाया उदात्तत्वम् ॐ । तान् आहूतान्
देवान् स्ये स्वकीये सधस्थे सहस्थाने यत्र ते सह तिष्ठन्ति तत्र
मेरय प्रस्थापय । ॐ “सुपि स्यः” इति तिष्ठतेः अधिकरणार्थेपि
को द्रष्टव्यः । “सध मादस्थयोः०” इति सहस्य सधादेशः ॐ ॥
ते देवाः संबोध्यन्ते । जत्तिवांसः पुरोडाशादीन् भक्षितवन्तः मधूनि
मधुररसोपेतानि आज्यादीनि पपिवांसः पीतवन्तः हे वसवः लोकानां
वासयितारः पूयं वमूनि धनानि अस्मै यजमानाय धत्त । मयच्छ-
तेत्यर्थः । ॐ जत्तिवांस इति । लिङादेशे क्वसौ “लिङ्यन्यतर-
स्याम्” इति अदेर्यस्तादेशः । “गमहन०” इति उपधालोपः ।
पपिवांस इत्यत्रापि लिटः क्वसुः । उभयत्र “वस्वेकाजादसाम्”
इति इडागमः । वसव इति । “आमन्त्रितस्य च” इति आष्टमिकं
सर्वानुदात्तत्वम् ॐ ॥

हे दमरुते हुए अग्निदेव ! आपने दृविकी कामना करने वाले
जिन देवताओंको बुला लिया है । उन बुलाये हुए देवताओंको
जहाँ वे एकत्रित होकर स्थित होते हैं उस सधस्थमें प्रेरित करिये ।
पुरोडाश आदिका भक्षण करने वाले, मधुररससम्पन्न घृत

आदिका पान करने वाले वसुओ ! आप इस यजमानको धन दीजिये ॥ ३ ॥

द्वितीया ॥

सुगा वों देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा
जुपाणाः ।

वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं धर्म दिवमा
रोहतानु ॥ ४ ॥

सुगा । वः । देवाः । सदना । अकर्म । ये । आजग्म । सवने ।
मा । जुपाणाः ।

वहमानाः । भरमाणाः । स्वाः । वसूनि । वसुम् । धर्मम् । दिवम् ।
आ । रोहत । अनु ॥ ४ ॥

हे देवाः वः युष्माकं सदना सदनानि स्थानानि सुगा सुगानि
सुगमनानि सुखेन गन्तव्यानि अकर्म अकार्पम् । ॐ सुपूर्वाद्दि गमेः
“गमश्च” इति डः । अत्र सदनेत्यत्रापि “शेश्चन्दसि०” इति
शैलोपः । अकर्मैति । करोतेः “मन्त्रे घस०” इति च्लेलुक् ।
“चन्दस्युभयथा” इति तिङ् आर्धधातुकत्वेन ङित्वाभावाद्गुणः ॐ ।
देवा विशेप्यन्ते । जुपाणाः हवींषि सेवमानाः तैः प्रीयमाणा वा
ये यूयम् इमा इमानि सवना सवनानि आजग्म आगताः स्य ।
ॐ गमेलिटि मध्यगवहुवचने “गमहन०” इति उपधालोपः ॐ ।
यतः युष्मदर्थं सदनानि अकार्पम् अतः गूर्यं स्वा स्वानि स्वकी-
यानि वसूनि धनानि वहमानाः प्रापयन्तः अस्मान् । तथा भर-
माणाः पोषयन्तः अस्मदर्थं धनानि हस्तैर्वारयन्तो वा वसुम् सर्वस्य

लोकस्य वासयितारं धर्मम् आदित्यम् आ रोहत आतिष्ठत । अनु
अनन्तरं दिवम् द्युलोकम् आ रोहत आतिष्ठत । ॐ रुह वीजजन्मनि
प्रादुर्भावे ॐ । अस्मभ्यं धनानि दत्त्वा स्वीयं स्थानं गच्छतेत्यर्थः ॥

हे हविसे मसन्न हुए देवताओं ! आप यहाँ आये थे अब
आपके लिये हमने आपके स्थानोंको सुखसे मस्थान करनेयोग्य
कर दिया है । क्योंकि-हमने आपके लिये भवन ठीक कर दिये
हैं अतः आप हमारे लिये धनोंको प्राप्त कराते हुए और हमारे
लिये पुष्टि देते हुए आदित्य पर आरोहण करिये फिर द्युलोक
पर आरोहण करिये । अर्थात् हमको धन देकर अपने स्थानोंको
पधारिये ॥ ४ ॥

तृतीया ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ
स्वाहा ॥ ५ ॥

यज्ञं । यज्ञम् । गच्छ । यज्ञपतिम् । गच्छ ॥ स्वाम् । योनिम् ।
गच्छ । स्वाहा ॥ ५ ॥

हे यज्ञ त्वं यज्ञम् यष्टव्यं परमात्मानं विष्णुं गच्छ येन त्वं
प्रतिष्ठितो भवेः । अनन्तरं यज्ञपतिम् यज्ञस्य पालयितारं यज्ञ-
मानं गच्छ फलप्रदानेन प्राप्नुहि । ॐ “पत्यावैश्वर्ये” इति पूर्व-
पदप्रकृतिस्वरत्त्वम् ॐ । अनन्तरं स्वाम् आत्मीयां योनिं गच्छ ।
योनिः कारणम् सर्वजगत्कारणभूता पारमेश्वरी शक्तिः । तां
प्राप्नुहि । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्यं तवास्त्विति ॥ ५ ॥

हे यज्ञ ! आप पूजनीय परमात्मा विष्णुके पास जाइये कि-
जिनसे आप प्रतिष्ठित हुए हैं । फिर यज्ञके पालक यज्ञपति यज्ञ-
मानको फलप्रदानसे प्राप्त हूजिये । फिर सब जगत्की कारण-

भूत पारमेश्वरी शक्ति अपनी योनिको प्राप्त हूजिये । यह भली प्रकार आहुत घृत आपका हो ॥ ५ ॥

चतुर्थी ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ६

एषः । ते । यज्ञः । यज्ञपते । सहसूक्तवाकः ॥ सुवीर्यः ।

स्वाहा ॥ ६ ॥

हे यज्ञपते यजमान एष यज्ञः सहसूक्तवाकः । सूक्तं वक्तीति सूक्तवाकः यथाक्रमं यष्टव्यदेवतानामकीर्तनपरः प्रैषः । तत्सहित एष यज्ञः । अथ वा सूक्तवचनसहितः त्रिविधस्तोत्रकः सुवीर्यः सुव्रतः शोभनपुत्रपौत्रादिकर्मयुक्तो वा ते तव । श्रेयसे कल्पताम् इत्यर्थः । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्यम् अग्रयेस्तु ॥

हे यज्ञपते ! यह पूजनीय देवताके नामका कीर्तन करने वाले प्रैषरूप सूक्तके साथ वर्तमान शोभन कर्मयुक्त यज्ञ आपके कल्याण के लिये समर्थ होवे, भली प्रकार आहुत यह घृत अग्निके लिये हो ६

पञ्चमी ॥

वषट् हुतेभ्यो वषट् हुतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं

वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

वषट् । हुतेभ्यः । वषट् । अहुतेभ्यः ॥ देवाः । गातुविदः ।

गातुम् । वित्त्वा । गातुम् । इत् ॥ ७ ॥

हुतेभ्यः इष्टेभ्यो देवेभ्यः वषट् । प्रदानवाची वषट् शब्दः । इदम् आज्यं हुतम् अस्तु । अहुतेभ्यः पूर्वम् अनिष्टेभ्यो देवेभ्यो वषट् इदम् आज्यं वषट् हुतम् अस्तु । अस्य संस्थितहोमत्वात् पूर्व

हविःप्रदानेन प्रीणिता अपि देवा ह्यन्ते किल किम् उत पूर्वम्
 अहुता देवा इत्युभयत्र वपट्कारप्रयोगः । ❀ “नमःस्वस्तिस्वाहा-
 स्वधालं वपडयोगाच्च” इति हुताहुतशब्दाभ्यां चतुर्थी ❀ । हे
 गातुचिदः गातुर्मार्गस्तं जानाना हे देवाः यूयम् । ❀ “विभाषितं
 विशेषवचने बहुवचनम्” इति पूर्वस्यामन्त्रितस्य अविद्यमानत्वनिपे-
 षाद् द्वितीयस्य निघातः ❀ । गातुम् मार्गं विच्वा लब्ध्वा अस्म-
 दीयं यज्ञं प्रति आगमनकाले येन मार्गेण आगतास्तमेव मार्गं
 लब्ध्वा गातुम् इत समाप्ते कर्मणि पुनः स्वकीयगृहगामनाय तमेव
 मार्गं तेनैव मार्गेण प्रतिनिवर्तध्वम् । ❀ विच्वेति । विदेर्लाभा-
 र्थात् क्त्वाप्रत्यये “एकाचः०” इति इट्प्रतिषेधः । ज्ञानार्यात् तुं
 निषेधाभावाद् इड्भवत्येव । तस्मादेव वा “अनित्यम् आगम-
 शासनम्” इति इडभावः । गातुं विच्वा विदित्वा ज्ञात्वेतितत्रार्यः ।
 इतेति । इण् गती । लोटि मध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

जिन देवताओंका यजन कर चुके हैं उनके लिये यह घृत हुत
 होवे और पहिले जिनकी पूजा नहीं की गई है उन देवताओंके लिये
 यह घृत आहुत हो । हे मार्गको जानने वाले देवताओं ! यज्ञमें
 आगमनके समय जिस मार्गसे आप आए थे उसी मार्गको जान
 कर कर्मके समाप्त होने पर फिर उसी मार्गसे अपने घरको जाने
 के लिये लौट जाओ ॥ ७ ॥

पथी ॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।

स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा

वातेधां स्वाहा ॥ ८ ॥

मनसः । पते । इमम् । नः । दिवि । देवेषु । यज्ञम् ।

स्वाहा । दिवि । स्वाहा । पृथिव्याम् । स्वाहा । अन्तरिक्षे ।
स्वाहा । वाते । धाम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

हे मनसस्पते सर्वभूतानाम् अन्तरात्मतया मनसोपि पते हे देव । ❀ “सुवामन्त्रिणे पराङ्गवत् स्वरे” इति मनस इति शब्दस्य आमन्त्रितानुप्रवेशाद् मनसस्पत इति पष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य “आमन्त्रितस्य च” इति पाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं दिवि द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु अग्न्यादिषु धाम् । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । धाः धेहि स्थापय । इति स्वाहा सरस्वती । अब्रवीद् इत्यर्थः । मन्त्रमध्यवर्तिनां स्वाहाशब्दानां प्रदानार्थत्वाभावात् । वस्तुतश्च स्वाहाशब्दस्य वाक्कर्तृकवचनरूपेण निरुक्तत्वात् । स्वा स्वकीया प्रजापतिसंबन्धिनी वाग् आह अब्रवीत् इति स्वाहाशब्दस्य अर्थ उक्तः । तथा च तैत्तिरीयके वाक्प्रजापत्योरुक्तिप्रत्युक्तिरूपं वाक्यम् एवं श्रूयते । “तं वाग् अभ्यवदज्जुहुधीति । कस्त्वम् इत्यब्रवीत् । स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत् । सोऽब्रवीत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म” इति [तै० ब्रा० २. १. २. ३] । एवम् उत्तरे त्रयः स्वाहाशब्दा व्याख्यायाः । अनन्तरं द्युपृथिव्यन्तरिक्षलोकेषु अस्मदीयं यज्ञं धाः स्थापयेति सरस्वत्याहेति । ततः इमम् अस्मदीयं यज्ञं वाते सर्वकर्माधारे धाः स्थापय । यस्माद् अयं यज्ञः प्रयुक्तः तत्रैव वाते स्थापय । “वाताद् अभ्ययुर्यज्ञं प्रयुङ्क्ते” इति श्रुतेः [तै० ब्रा० ३. ३. ६. १२] । “मनसस्पतिना देवेन वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्” इति च [तै० ब्रा० ३. ७. ४. १] । स्वाहा इदम् आज्यं स्वाहुतम् अस्तु इति अन्तिमस्वाहाशब्दस्य प्रदानार्थता । ❀ दिवीति । “ऊढिदम्” इति सप्तम्या उदात्तत्वम् । पृथिव्याम् इति । “उदात्तयणो हन्पूर्वात्” इति विभक्तोरुदात्तत्वम् । धाम् इति । दधातेर्लेटि

“बहुलं छन्दसि” इति शपो लुक् । “तिङ्गं तिङो भवन्ति” इति सिपो मिवादेशः । “इत्थ लोपः परस्मैपदेषु” इति इकारलोपः ॥

हे सब भूतोंके अन्तरात्मा होनेसे मनके पते देन ! हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये । इस वातको प्रजापतिसंबन्धिनी वाणी सरस्वती कहती है † । फिर पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोकमें हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये । इस वातको प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी सरस्वती कहती है । फिर हमारे इस यज्ञको सर्वकर्माधार वातमें स्थापित करिये ÷ यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

† जो स्वाहा शब्द मन्त्रके अन्तमें आते हैं उनका ही ‘यह आहुति स्वाहुत हो’ यह अर्थ होता है, मन्त्रके मध्यमें आये स्वाहा शब्दका अर्थ आहुति स्वाहुत हो यह नहीं होता है, किन्तु वाक्-कर्तृक वचनरूपमें निरुक्तसे उक्त होनेके कारण सरस्वती होता है । अर्थात् अपनी प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी कहती है यह मध्यगत स्वाहाशब्दका अर्थ होता है । इसी लिये तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । १ । २ । ३ में वाणी और प्रजापतिका उक्तिप्रत्युक्तिरूपवाक्य इस प्रकार लिखा है, कि—“तं वाग्भ्यवद्ज्जुहुधीति । कस्त्वं इत्यब्रवीत् । स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत् । सोऽजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म ।—वाणीने उससे कहा कि—आहुति दो । उसने कहा, कि—तू कौन है । उत्तर दिया, कि—स्वाहा यही स्वाहाकारका जन्म है ॥

÷ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ३ । ६ । १२ में कहा है, कि—‘वाताइ अध्वयुर्यज्ञं प्रयुंक्ते ।—वातसे अध्वयु यज्ञका प्रयोग करता है’ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ४ । १ में भी कहा है, कि—“मनसस्पतिना देवेन वाताइ यज्ञः प्रयुज्यताम् ।—मनसस्पति देवके द्वारा वातसे यज्ञको प्रयुक्त करो” ॥

सप्तमी ॥

सं वहि॑रक्तं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॑ समि॒न्द्रेण॑ वसु॒ना सं म॒रुद्भिः॑ ।

सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॒वेभि॑र॒क्तमि॒न्द्रं ग॒च्छतु॑ ह॒विः स्वा॑हा १

सम् । वहिः । अक्तम् । हविषा । घृतेन । सम् । इन्द्रेण । वसुना ।

सम् । मरुत्भिः ।

सम् । देवैः । विश्वदेवेभिः । अक्तम् । इन्द्रम् । गच्छतु । हविः ।

स्वाहा ॥ १ ॥

वहिः स्रगाद्यासादनस्थानभूतं हविषा पुरोडाशादिना घृतेन आज्येन च समक्तम् सम्यग् अभ्यक्तम् अभूत् । ❀ अञ्जु व्यक्तिम्लक्षणादिषु । कर्मणि निष्ठा ❀ । तथा वसुना वासक्रेन वस्वाख्यदेवसहितेन वा इन्द्रेण समक्तम् इत्यनुपङ्गः । मरुद्भिश्च समक्तम् । तथा विश्वदेवेभिः विश्वदेवैः एतत्संज्ञकैः देवैः गण-देवैः समक्तम् अभूत् । तादृशं सर्वदेवाधिष्ठितं हविरासादनाधार-भूतं वहिः इन्द्रम् सर्वदेवमुखं गच्छतु प्राप्नोतु । स्वाहा इदं वहिः स्वाहुतम् अस्तु ॥

स्रवा आदि रखनेका स्थानरूप वहिं पुरोडाश घृत आदिसे समक्त होगया है और वसुनामक देवता और इन्द्रसे भी समक्त होगया है । मरुत् देवता और विश्वदेवताओंसे भी समक्त हो गया है, ऐसा सब देवताओंसे अधिष्ठित हविके आसादनका आधारभूत वहिं सर्वदेवमुख इन्द्रदेवको प्राप्त हो, यह वहिः स्वाहुत हो ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

परि॑ स्तृणी॒हि परि॑ धेहि॒ वेदिं॑ मा जा॒मिं मो॑पीरमुया
शयानाम् ।

होतृपदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके

परि । स्तृणीहि । परि । धेहि । वेदिम् । मा । जामिम् । मोषीः ।

अमुया । शयानाम् ।

होतृसदनम् । हरितम् । हिरण्ययम् । निष्काः । एते । यजमा-
नस्य । लोके ॥ १ ॥

अत्र आस्तीर्यमाणो दर्भस्तम्बः संबोध्यते । हे दर्भस्तम्ब परि
स्तृणीहि वेदिं परित आस्तीर्णो भव आच्छादय वा । ❀ स्तृन्
द्वादने । ऋधादिः ❀ । एतदेवाह । वेदिं परि धेहि वेदिम् आच्छा-
दय । अमुया अनया वेद्या सह शयानाम् तिष्ठन्तीम् । वेद्या यज-
मानसंभितत्वात् तत्समानाकृतित्वं यजमानस्यास्तीति शयानाम्
इत्युक्तम् । ❀ शीः शानच् । लसार्यधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀ ।
अथ वा । ❀ सप्तम्या याजादेशः ❀ । अमुप्यां वेद्याम् । ❀ विपय-
सप्तमी ❀ । वेदिविपये शयानाम् । परिचरन्तीम् इत्यर्थः । यद्वा ।
❀ द्वितीयाया याजादेशः ❀ । अमुं वेदिं शयानाम् । उपवसन्तीम्
इत्यर्थः । जामिम् जायत इति जामिः प्रजा तां चन्वुभृतां यजमानं
मा मोषीः । मा हिंसीरित्यर्थः । ❀ मुपस्तेये । “माहि लुङ्” ❀ ।
कीदृशो दर्भः संबोधितः तं दर्शयति । होतृपदनम् । ❀ होता
सीदति अत्रेति अधिकरणे च्युट् ❀ । दर्भरूपवस्त्वपेक्षया नपुंस-
कत्वम् । दर्भकदम्बकापेक्षया वा । हरितम् हरिद्वर्णं हिरण्ययम्
हिरण्यमयं शोभनवर्णं हितरमणीयं वा एतादृशम् हे दर्भरूप वस्तु ।
त्वं परि स्तृणीहीति पूर्वत्र संबन्धः ॥ अथ परोक्तकृतश्रमः पादः ।
एते आस्तीर्यमाणा दर्भाः यजमानस्य लोके पुण्यभोगस्याने निष्काः
सुवर्णमया अलंकारा भवन्तु ॥

(इस ऋचासे फैलाये जाते हुए दर्भस्तम्बको सम्बोधित किया गया है) हे दर्भस्तम्ब ! वेदी पर चारों ओर फैल जाइये । वेदी को चारों ओरसे ढक दीजिये और इस विराजमान वेदीकी संतान-रूप यजमानको नष्ट न करिये । यह दर्भ होताओंके बैठनेका स्थान है, हरित वर्ण वाला है, शोभन वर्ण वाला है, ऐसे हे दर्भ ! आप वेदी पर फैल जाइये । यह विद्याये हुए दर्भ यजमानके पुण्यभोगस्थलमें सुवर्णमय अलंकार होंवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

पर्यावर्ते दुष्वप्यात् पापात् स्वप्यादभूत्याः ।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परिऽआवर्ते । दुःऽस्वप्यात् । पापात् । स्वप्यात् । अभूत्याः ।
ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । परा । स्वप्नमुखाः । शुचः १

दुष्वप्यात् दुष्टस्वप्नप्रभवात् पापात् पर्यावर्ते प्रतिनिवृत्तो भवामि ।
अपसरामीत्यर्थः । ॐ वृत्तु वर्तने । लटि उत्तमे रूपम् ॐ । तथा
स्वप्नात् । पापाद् इति अनुपज्यते । दुष्टात् स्वप्नात् जनिताया
इति शेषः । अभूत्याः असंपदः अश्रेयसः । पर्यावर्त इति संबन्धः ।
किं च अहं ब्रह्म मन्त्रम् अन्तरम् दुःस्वप्ननिवारकं व्यवधायकं कृण्वे
कुर्वे । यथा दुःस्वप्नजनितं दुरितं मां न प्राप्नोति तथा तन्नि-
र्हरणसमर्थं मन्त्रसंघं कवचं करोमीत्यर्थः । तेन व्यवधिकरणेन
स्वप्नमुखाः । मुखशब्द उपाये वर्तते । स्वप्नद्वारिकाः दुःस्वप्न-
निवन्धनाः शुचः शोकाः परा । भवन्तु इति क्रियाध्याहारः ॥

मैं दुष्ट स्वप्नसे होने वाले पापसे पर्यावृत्त होता हूँ—लौटता हूँ ।
स्वप्नके पापसे मुक्त होता हूँ और असम्पत्तिसे मुक्त होता हूँ, मैंने
दुःस्वप्ननिवारक मन्त्रको व्यवधायक (रोकने वाला) कर लिया

है अर्थात् दुःस्वप्नजनित दुरितमुक्तको प्राप्त न हो इस लिये मैं उस को दूर करनेमें सगर्भ मन्त्रपुंजको कवचकी समान धारण कर रहा हूँ । इस कारण दुःस्वप्ननिवन्धन शोकपलायन कर जावें ?

दशमी ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्रामि न प्रातरधिगम्यते ।

सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

यत् । स्वप्ने । अन्नम् । अश्रामि । न । प्रातः । अधिगम्यते ।

सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । नहि । तद् । दृश्यते । दिवा ।

यद् अन्नं स्वप्ने अश्रामि भक्षयामि । ❀ अन्न भोजने । क्रयादिः ❀ । तद् अन्नं प्रातर्नाधिगम्यतेन दृश्यते । हि यस्मात् तद् अन्नं दिवा अहनि न दृश्यते अतः तत् स्वप्ने अन्नभोजनं सर्वम् अन्नभोजनसदृशम् अखाद्यभक्षणदिकं मे मम शिवम् मद्गलकारि अस्तु भवतु । स्वप्ने अन्नभोजनेन यद् अरिष्टं भवति तद् अनेन मन्त्रजपेन शाम्यतु प्रत्युत कल्याणकारि भवत्वित्यर्थः ॥

मैं जिस अन्नको स्वप्नमें खाता हूँ, वह अन्न प्रातःकाल नहीं दीखता है, क्योंकि—वह अन्न दिनमें नहीं दीखता है, अतः वह स्वप्नका अन्न भोजन और अखाद्यभक्षण आदि सब अन्न मेरे लिये मद्गलकारी हो (अर्थात् स्वप्नमें अन्नभोजनसे जो अरिष्ट होता है वह इस मन्त्रजपसे शान्त होजावे और कल्याण करने वाला हो ॥ १ ॥

एकादशी ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय सृत्येव ।

भूर्भुवःस्थितेषु मा मां हिंसिपुत्रीश्वराः ॥ १ ॥

नमःऽकृत्य । द्यावापृथिवीभ्याम् । अन्तरिक्षाय । मृत्यवे ।

मेक्षामि । ऊर्ध्वः । तिष्ठन् । मा । मा । हिंसिषुः । ईश्वराः ॥१॥

द्यावापृथिव्यादिभ्यो नमस्कृत्य नमस्कारं कृत्वा तिष्ठन् आसी-
नोहम् ऊर्ध्वः ऊर्ध्ववत् ऊर्ध्वमुखो मैष्यामि । ऊर्ध्वलोकं मा
गमिष्यामीत्यर्थः । यद्वा नमस्कारेण ऊर्ध्वो मा गमिष्यामि । किं
तु तिष्ठन् इह लोके चिरकालावस्थायी । भवामीति शेषः ।
ॐ मैष्यामीति । “अमानोवाः प्रतिषेधे” इति प्रतिषेधवाचिनो मा
इति निपातस्य ग्रहणं न तु ङितो माशब्दस्य । यदि माङ्स्तर्हि
“माङि लुङ्” स्यात् । तस्य सर्वलकाराणाम् अपवादत्वात् । एते-
र्लृट् । “श्यतासी०” इति स्यः ॐ । ईश्वराः स्वामिनः द्युपृथि-
व्यन्तरिक्षदेवता अग्निवायुसूर्या मृत्युश्च मा मां मा हिंसिषुः मा
वधिषुः । चिरकालम् इह लोके माम् अवस्थापयन्तु इत्यर्थः ॥

नवमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति माधवीये अथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे
सप्तमकाण्डे नवमोऽनुवाकः ॥

द्यावापृथिवीके लिये, अन्तरिक्षके लिये और मृत्युदेवताके लिये
नमस्कार करके बैठा हुआ मैं ऊपरके लोकमें न जाऊँ, किन्तु इसी
लोकमें चिरकाल तक बैठा रहूँ, द्युलोक पृथिवीलोक और अन्त-
रिक्षलोकके ईश्वर अग्नि वायु और सूर्यदेव तथा मृत्युमेरा बधन
करें अर्थात् मुझे चिरकाल तक इसी लोकमें स्थापित रखें ॥१॥

नवम अनुवाकम् द्वितीय सूक्तं समाप्तम् (४२२) ॥

सप्तमकाण्डम् नवम अनुवाकं समाप्तम् ॥

दशमेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र “को अस्या नः” इति आद्ये
सूक्ते आद्याभ्याम् ऋग्भ्यां सर्वफलकामः प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत

वा । “को अस्या न इति प्रजापतिम्” इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

“कः पृश्निम्” इत्येषा उर्वराख्ये सवयज्ञे विनेयुक्ता । “कः पृश्निम् इत्युर्वराम्” इति [कौ० ८. ७] सूत्रात् ॥

उपनयने आदित्यवीक्षणानन्तरम् “अपक्रामन्” इत्यनया माणवकं प्राङ्मुखम् उपवेशयेत् । सूत्रितं हि । “अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणान इत्येनं बाहुगृहीतं प्राञ्चम् अवस्थाप्य” इति [कौ० ७. ६] ॥

ग्रामगृहादिषु अन्योक्तसंदेशाकथने तत्प्रायश्चित्तार्थं “यद् अस्मृति” इत्यनया अग्निम् उपतिष्ठेत् । “यद् अस्मृतीति संदेशम् अपर्याप्य” इति हि [कौ० ५. १०] सूत्रम् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः “यद् अस्मृति” इत्यनया कर्मविस्मरणप्रायश्चित्तार्थं जुहुयात् “यन्मे स्फुन्नम् यद् अस्मृति [१११] इति च स्फुन्नास्मृतिहोमौ” [कौ० १. ६] सूत्रितम् ॥

अग्निष्टोमे दीक्षानियमलोपप्रायश्चित्तार्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत् । “व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निम् उपतिष्ठेत्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. २] ॥

कासरलेष्मभैषज्यार्थम् “अत्र दिवस्तारयन्ति” इति अत्र अन्नं सक्तुमन्यं वा अभिमन्त्र्य भक्षयेद् उदकं वा अभिमन्त्र्य आचामयेत् सूर्योपस्थानं वा कुर्यात् । “यथा मनः [६. १०५] अत्र दिवः [७. ११२] इत्यरिष्टेन” इति [कौ० ४. ७] सूत्रात् ॥

अभिचारकर्मणि “यो नस्तायत्” इति मृचेन अशनिहतवृत्तसमिध आदध्यात् ॥

यू तन्नयकर्मणि “इदम् उग्राय” इति सप्तर्षेण दधिमधुनोत्थिरात्रं वासितान् अक्षान् अभिमन्त्र्य यू तन्नीडां कुर्यात् । “इदम् उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति” इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ०-५. ५] ॥

अग्न्याधाने “इदम् उग्राय” इति घृतेन अभ्यक्तान् अक्षान् अध्वर्यवे दद्यात् । तद् उक्तं वैताने । “इदम् उग्रायेत्यन्वक्तान् अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे प्रयच्छति” इति [वै० २. २] ॥

दशम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमेंसे “को अस्या नः” इस प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे सकल फलोंको चाहने वाला प्रजापति देवताका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिक सूत्र ७।१० का प्रमाण है, कि—‘को अस्या न इति प्रजापतिम्’ ॥

“कः पृश्निम्” इस ऋचाका उर्वर नामक सवयज्ञमें विनियोग होता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८।७ का प्रमाण है, कि—“कः पृश्निम् इत्युर्वराम्” ॥

उपनयनमें सूर्यको देखनेके अनन्तर “अपक्रामन्” ऋचासे बालकको पूर्वकी ओर मुख करके बैठावे । कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि—“अपक्रामन् पौरुषेयाद् दृष्टान इत्येनं बाहुगृहीतं प्राञ्चं अवस्थाप्य” ॥

ग्राम घर आदिमें दूसरेके कहे हुए सन्देशको न कहनेका प्रायश्चित्त करनेके लिये “यद् अस्मृति” ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । कौशिकसूत्र ५।१० में कहा है, कि—“यद् अस्मृतीति संदेशं अपर्याप्य” ॥

तथा दर्श और पूर्णमासमें “यद् अस्मृति” ऋचासे कर्मविस्मरण का प्रायश्चित्त करनेके लिये आहुति देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १।६ का प्रमाण भी है, कि—“यन्मे स्कन्नं यद् अस्मृति” (१११) इति च स्कन्नास्मृतिहोमौ’ ॥

अग्निष्टोममें दीक्षानियमलोपका प्रायश्चित्त करनेके लिये इस ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । वैतानसूत्र ३।२ में कहा है, कि—“व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निं उपतिष्ठते” ॥

खाँसी और कफरोधकी चिकित्साके लिये “अवदिवस्तार-

यन्ति” ऋचासे अन्नको वा संक्तु मन्थको अभिमन्त्रित करके भक्षण करावे वा अभिमन्त्रित करके आचमन करादेय वासूयो-पस्थान करे । कौशिकमूत्र ४ । ७ में कहा है, नि ‘यथा मनः (६ । १०५) अथ दिवः (७ । ११२) इत्यरिष्टेन’ ॥

अभिचारकर्ममें “यो नस्तायत्” आदि दो ऋचाओंसे विजली से ताड़ित वृत्तकी समिधाओंको रखे ।

घृतजपकर्ममें “इदं उग्राय” इस सप्तर्चसे दही और शहदमें तीन रात डाले हुए फाँसोंको अभिमन्त्रित करके घृतक्रीड़ा करे कौशिकमूत्र ५ । ५ में कहा है, कि—“इदं उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति” ॥

अन्यांधानमें ‘इदं उग्राय’ से घृतमत्त फाँसोंको अन्वयुको देवे । इसी बातको वैतानमूत्र २ । २ में कहा है, कि—‘इदं उग्रायेत्यन्-क्षान् अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे प्रयच्छति’ ॥

तत्र मयमा ॥

को अस्य नोद्रुहोवद्यवत्या उन्नेण्यति क्षत्रियोवस्य
इच्छन् ।

को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः

कः । अस्याः । नः । द्रुहः । अद्यवत्याः । उत् । नेण्यति ।

क्षत्रियः । वस्यः । इच्छन् ।

कः । यज्ञकामः । कः । ऊं इति । पूर्तिकामः । कः । देवेषु ।

वनुते । दीर्घम् । आयुः ॥ १ ॥

अस्मिन् व्युत्ते मश्रवाविना किंशब्देन मजापतिरुच्यते । अनि-

रुक्तत्वात् तस्य । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “कोहं स्याम् इत्यब्रवीत् एतत् प्रदायेति । एतत् स्या इत्यब्रवीद् यद् एतद् ब्रवीपीति” इति [तै० ब्रा० २. २. १०. २] । को ह वै नाम प्रजापतिरिति प्रश्नवाचिन एव किंशब्दस्य प्रजापतिवाचकत्वं युक्तम् । अन्यथा “कस्मै देवाय हविषा विधेम” [ऋ० १०. १२१. १] इत्यत्र स्मै इति आदेशो न स्यात् । अयम् अस्या ऋचोर्थः । वस्यः वसीयः प्रशस्तं फलम् । ❀ वसुशब्दाद् ईयसुनि ईकारलोपरब्धान्दसः ❀ । इच्छन् अस्मभ्यं प्रदातुं कामयमानः कः क्षत्रियः क्षत्रियजात्यभि-मानी को राजा । ❀ “क्षत्राद् घः” इति घः ❀ । अस्याः इदानीं वाधिकाया अवद्यवत्याः । गर्हम् अवद्यम् । ❀ “अवद्यपण्यवर्षां” इति गर्हार्थे अवद्यशब्दो यत्प्रत्ययान्तत्वेन निपातितः ❀ । निघ-रूपादियुक्ताया द्रुहः द्रोघ्रचाः । ❀ द्रुह जिघांसायाम् क्विप् ❀ । अहितकारिण्याः पिशाच्या दुर्गतेः सकाशात् नः अस्मान् उन्ने-ष्यति उद्धरिष्यति । को वा यज्ञकामः अस्माभिरनुष्ठीयमानं यज्ञं कामयमानो भवति । उशब्दः दार्थे । पूर्तिकामः अस्माकं धनादि-पूर्तिम् अभिवाञ्छन् भवति । को वा देवेषु मध्ये दीर्घम् चिरकाल-भावि आयुः जीवनं वनते संभजते । ❀ वन पण् संभक्तौ । व्य-त्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । यद्वा । ❀ वनतिर्दानार्थवाची । धातू-नाम् अनेकार्थत्वात् ❀ । देवेषु मध्ये को वा दीर्घम् आयुः प्रयच्छति । अत्रोक्तानां प्रश्नवाक्यानां कः प्रजापतिरेव अस्मान् दुर्गताद् उद्द-रिष्यति अस्मदीयं यज्ञं पूर्तिं च कामयते आयुश्च प्रयच्छति इत्युत्तरं भवति । किंशब्देन प्रजापतिरुच्यते इत्युक्तत्वात् ॥

प्रशस्त फलको देना चाहने वाला कौन राजा इस वाधिका निन्दनीया द्रोहिणी पिशाची दुर्गतिसे आज हमारा उद्धार करेगा । और हमारे अनुष्ठित इस यज्ञको कौन चाहता है । और कौन हमारी धन आदिकी पूर्तिको करेगा । और देवताओंमें कौन

दीर्घायुका सेवन करता है अथवा कौन दीर्घायुका मदान करता है (उत्तर क अर्थात् मजापति) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्
बृहस्पतिना सख्यं जुपाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति

कः । पृश्निम् । धेनुम् । वरुणेन । दत्ताम् । अथर्वणे । सुदुघाम् ।
नित्यवत्साम् ।

बृहस्पतिना । सख्यम् । जुपाणः । यथावशम् । तन्वः । कल्पयाति १
पृश्निम् माष्टवर्णाम् । ॐ पृश्निः प्राश्रुत एनं वर्ण इति नैरुक्ता
इति हि यास्कः [नि० २. १४] ॐ । लोहितादिवर्णोपेतां सुदु-
घाम् सुष्ठु दोग्धीम् । ॐ “दुहः कव्यश्च” इति कप् प्रत्ययः ।
घकारश्च अन्तादेशः ॐ । दोग्धुं सुशकां वा । ॐ “ईपद्दुःसुपु०”
इति खल् । वर्णोपजनशब्दान्दसः । “लिति” इति प्रत्ययात् पूर्वस्य
उदात्तत्वम् ॐ । नित्यवत्साम् सर्वदा वत्सोपेताम् । अनेन सर्वदा
नवप्रभूतत्वम् उक्तं भवति । अथर्वणे वरुणेन दत्तां धेनुम् । वरुणे-
नाथर्वणे गार्दत्तेति पञ्चमकाण्डे स्पष्टम् आम्नातम् । “कथं महे
असुरायात्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेपनृम्णः । पृश्नि वरुण दत्तिणां
ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः” इति [५. ११] । एतादृशीं
धेनुं बृहस्पतिना बृहतां महतां देवानां पालकेन देवेन सख्यम्
सौहार्दं जुपाणः सेवमानः को देवः यथावशम् यथाकामम् । ॐ पदा-
र्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावः ॐ । तन्वः तनूः कल्पयाति कल्पयेत्
संमर्थानि कुर्यात् । ॐ कल्पयतेल्लेटि आडागमः ॐ । कः कल्पयेत्
इति मशस्य मजापतिरेव कल्पयतीत्युत्तरं भवति ॥

लोहित आदि वर्णोंसे युक्त, अच्छी तरहसे दुहाने वाली, सदा बजड़ेसे युक्त रहने वाली, अथवाके द्वारा वरुणको भी दी हुई धेनुको बृहस्पतिके साथ मित्रता रखने वाले प्रजापतिदेव कामना के अनुसार शरीरकी शक्तियोंको प्रदान करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।

प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अपक्रामन् । पौरुषेयात् । वृणानः । दैव्यम् । वचः ।

प्रणीतीः । अभिऽआवर्तस्व । विश्वेभिः । सखिऽभिः । सह १

हे माणवक त्वं पौरुषेयात् पुरुषेभ्यो हितं तत्र वर्तमानं काम-
वादभक्षणदिकं लौकिकं कर्म तस्मात् । ❀ “सर्वपुरुषाभ्यां
ण्डञौ” इति ढञ् प्रत्ययः । ढस्य एय् आदेशः ❀ । तस्मात्
लौकिकात् कर्मणः अपक्रामन् अपगच्छन् दैव्यम् देवसंबन्धि ।
❀ “देवाद् यञञौ” इति यञ् प्रत्ययः ❀ । तद् वचः वाक्यं वेद-
लक्षणं वृणानः संभजमानः । ❀ वृङ् संभक्तौ । क्रयादिः । हेतौ
शानच् प्रत्ययः ❀ । स्वाध्यायसंभजनाद् हेतोः प्रणीतीः प्रकृष्ट-
नयनादिवेदब्रह्मचर्यनियतीः अभ्यावर्तस्व अभिगच्छ । विश्वेभिः
सर्वैः सखिभिः समानख्यानैः सब्रह्मचारिभिः सह । अभ्यावर्तस्वेति ॥

हे माणवक ! तू पुरुषोंके लिये हितकर कामवाद भक्षण आदि
लौकिककर्मसे दूर हटता हुआ देवसंबन्धी वेदलक्षण वाक्यको
भजता हुआ स्वाध्यायका सेवन करनेके लिये ब्रह्मचर्य वेद-
ध्ययन आदि वेदको शीघ्र ही सिखाने वाली प्रणीतियोंका अपने
सकल सहपाठियोंके साथ आश्रय ले ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यदस्मृति चकृम किंचिदन्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्व-
मस्तु नः ॥ १ ॥

यत् । अस्मृति । चकृम । किम् । चित् । अग्रे । उपऽआरिम । चरणे ।
जातऽवेदः ।

ततः । पाहि । त्वम् । नः । प्रऽचेतः । शुभे । सखिऽभ्यः ।
अमृतऽत्वम् । अस्तु । नः ॥ १ ॥

हे अग्रे वयम् अस्मृति स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्मानुसंधानरहितं
यत् किंचित् कर्म चकृम अकार्पम् । सांतत्येन क्रियमाणे कर्मणि
मध्ये यत् किंचित् कर्म अनुष्ठेयं विस्मृतवन्तः अन्योक्तं वा संदे-
शादिकं तदीयाय जनाय न कथितवन्तो वा । तथा हे जातवेदः
जातानां वेदितः जातैः भूतेर्ज्ञायमान वा चरणे अनुष्ठाने उपारिम
यत् कर्म उपार्ते लुप्तम् अकार्पम् । यत्कर्मानुष्ठाने मूढा अभूमेत्यर्थः ।
❀ चकृमेति । करोतेर्लिटि क्रादिनियमात् इणिनपेधः । उपारि-
मेति । उपपूर्वाद् अर्तेः “इडत्थतिव्ययतीनाम्” इति इडागमः ।
यद्भ्रुचयोगाद् अनिघाते “तिङि चोदात्तवति” इति गतेर्निघातः ❶ ।
हे प्रचेतः प्रकृष्टज्ञान अग्रे त्वं ततः तस्माद् विस्मरणनिवन्धनात्
पापात् नः अस्मान् पाहि पालय । ततः सखिभ्यः समान-
ख्यानेभ्यः प्रियभूतेभ्यो नः अस्मभ्यं त्वदनुग्रहात् शुभे शोभने
सांगे कर्मणि । संपन्ने इति शेषः । अमृतत्वम् अविनाशित्वम् अस्तु ॥

हे अग्रे ! हमने पूर्वोत्तरकर्मके अनुसंधानसे रहित जो कुछ
स्मरणरहित कर्म कर लिया है, अर्थात् चलते हुए कर्म में मध्यमें

करने योग्य कर्मको भूल कर अगला कर्म कर लिया है वा दूसरे से कहने योग्य संदेशको भूल गए हैं । हे जातवेदः ! अनुष्ठानके समय जो कर्म हमसे लुप्त होगया है तात्पर्य यह है, कि-जिस कर्मके अनुष्ठानमें हम मूढ़ होगए थे, हे प्रकृष्ट ज्ञान वाले अग्ने ! आप उस विस्मरणसे होसकने वाले पापसे हमारी रक्षा करिये । फिर हम समान प्रसिद्धि वालोंका आपके अनुग्रहसे सांग कर्म पूर्ण होने पर अविनाशित्व होवे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अवं दिवस्तास्यन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।

आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥१॥

अत्र । दिवः । तारयन्ति । सप्त । सूर्यस्य । रश्मयः ।

आपः । समुद्रियाः । धाराः । ताः । ते । शल्यम् । असिस्रसन् ?

एकस्य हि सूर्यस्य अंशभूताः सप्त सूर्या विद्यन्ते । तत्र प्रधान-भूतः कश्यपसंज्ञकः सर्वदा महामेरौ वर्तते । इतरे तदंशभूता आरोगादिनामानो विश्वस्य प्रकाशकाः प्रवर्षकाश्च भवन्ति । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । “आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषी-मान् विभासः । ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति” इति । “कश्य-पोष्टमः । स महामेरुं न जहाति” इति । “यस्मिन् सूर्या अपिताः सप्त साकम्” इति च [तै० आ० १. ७. १] ॥ तथा चास्या ऋचः अयम् अर्थः । सूर्यस्य कश्यपनाम्नः संबन्धिनः सप्त सप्तसंख्याका रश्मयः व्यापकाः किरणा आरोगादयः सूर्याः समुद्रियाः । समु-द्रम् अन्तरिक्षम् । ❀ समुद्रवन्त्यस्माद् आप इति हि यास्कः [नि० २. १०] । तत्र भवाः । “समुद्राभ्राद् घः” इति घः ❀ । अन्त-रिक्षभवा धारारूपा आपः । ❀ द्वितीयार्थे प्रथमा ❀ । अपः दिवः

द्युलोकाद् अथ तारयन्ति अवपातयन्ति । प्रवर्षन्तीत्यर्थः । ताः सूर्यरश्मिभिरवतारिता आपा हे रुग्ण ते तव शन्यवत् शन्यम् पीडाकारिणं कासरुलेप्मादिरोगम् असिस्रसन् संसयन्तु विनाशयन्तु । ❀ संसृ गतौ । एयन्तात् लुङि चङि “अनिदिताम्०” इति उपधानकारलोपः । “सन्वद्भ्युनि०” इति सन्वद्भावात् “संन्यतः” इति अभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ ॥

(एक ही सूर्यके अंशभूत सात सूर्य हैं । उनमें प्रधानभूत करयप नामक सूर्य सदा महामेरुमें रहते हैं । दूसरे उनके अंशभूत आरोग आदि नाम वाले विश्वको प्रकाशित करते रहते हैं और वर्षा भी करते हैं । तैत्तिरीय आरण्यक १ । ७ । १ में कहा है, कि— “आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः । ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति ।—आरोग भ्राज पटर पतंग स्वर्णर ज्योतिषीमान् और विभास नामक सात सूर्य इसके लिये घूमते तपते रहते हैं” । “करयपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति ।—करयप आठवें हैं वे महामेरुको नहीं छोड़ते हैं” ॥ तथा ‘यस्मिन् सूर्याः अर्पिताः सप्त साकम् ।—जिसमें एक साथ ही सात सूर्य अर्पित हैं” ॥ अथ इस ऋचाका अर्थ यह है, कि—) करयप नामक सूर्य से सम्यन्ध रखने वाली सात किरणें अर्थात् आरोग आदि सात सूर्य अन्तरिक्षमें होने वाली जलरूप धाराओंको द्युलोकसे नीचे उतारती हैं, वे सूर्यकी किरणोंसे नीचेको उतारे हुए वर्षारूप जल है रोगिन् ! तरे शन्यकी समान पीडा देने वाले खौंसी रुलेप्मा आदि रोगको नष्ट कर डालें ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

यो नंस्तायद् दिप्सति यो नं आविःस्वो विद्वानरणो
वा नो अग्ने ।

प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैशामग्ने वास्तु भून्मो
अपत्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्सति । यः । नः । आविः । स्वः । विद्वान् ।
अरणः । वा । नः । अग्ने ।

प्रतीचीः । एतु । अरणी । दत्वती । तान् । मा । एषाम् । अग्ने ।
वास्तु । भूत् । मो । इति । अपत्यम् ॥ १ ॥

हे अग्ने यः शत्रुः नः अस्मान् तायत् । अन्तर्हितनामैतत् ।
अन्तर्हितम् अपकाशं दिप्सति दम्भितुं हिंसितुम् इच्छति ।
❀ “दन्भ इच्च” इति सन्प्रत्यये इकारादेशः । “अत्र लोपोभ्या-
सस्य” इति अभ्यासलोपः ❀ । यश्च शत्रुः नः अस्मान् आविः
प्रकाशं दिप्सति । तथा विद्वान् परवाधनोपायं जानन् स्वः स्वीयः
बन्धुर्वा नः अस्मान् दिप्सति । अरणः । ❀ अर्तेः अरणः ❀ ।
अरातिर्वा नः अस्मान् हन्तुम् इच्छति । तान् अपकाशहननोद्युक्ता-
दीन् शत्रून् दत्वती दन्तोपेता । ❀ “द्वन्दसि च” इति दन्त-
शब्दस्य दत् आदेशः ❀ । अरणी आर्तिकारणी राक्षसी प्रतीची
प्रत्यगञ्चना एतु प्राप्नोतु । दन्ताभ्यां तान् भक्षयितुम् अभिगच्छ-
त्वित्यर्थः । निःशेषहननाय दत्वतीति विशेषणम् । किं च हे अग्ने
एषां पूर्वोक्तानाम् अन्तर्हितघातकादीनां वास्तु गृहं मा भूत् । अ-
पत्यम् पुत्रादिकं मो मैव भूत् ॥

हे अग्ने ! जो शत्रु हमको अन्तर्हित करना चाहता है, जो हम
को मारना चाहता है, जो हमारे प्रकाशको बन्द करना चाहता
है, दूसरोंको पीड़ा देनेकी युक्तिको जानने वाला जो अपना बंधु
हमको मारना चाहता है, जो शत्रु हमको मारना चाहता है ।

उनको यह दाँतोंकी रस्सी वाली पीड़ा देने वाली राक्षसी अभि-
मुख होकर प्राप्त हों और इन शत्रुओंका घर न रहे और इनके
पुत्र आदि भी न रहें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो
जातवेदः ।

वैश्वानरेण सयुजा सजोपास्तान् प्रतीचो निर्दह जात-
वेदः ॥ २ ॥

यः । नः । सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभिदासात् । तिष्ठतः ।

वा । चरतः । जातवेदः ।

वैश्वानरेण । सयुजा । सजोपाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह ।

जातवेदः ॥ २ ॥

यः शत्रुः सुप्तान् निद्राणान् नः अस्मान् अभिदासात् अभि-
दासयेत् अभितः उपक्षपयेत् अभिमुख वा हिंस्यात् । ॐ दसु उप-
क्षये । एयन्तात् लेटि आडागमः । “हृन्दस्युभयथा” इति निप
आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ॐ । यः शत्रुः जाग्रतः प्रबुध्यमानान्
नः अस्मान् अभिदासयेत् । ॐ जागृ निद्राक्षये । शतरि अदादि-
त्वात् शपो लुक् । “नक्तित्यादयः षट्” इति अभ्यस्तसंज्ञायाम्
“अभ्यस्तानाम् आदिः” इति आद्युदात्तत्वम् ॐ । तथा हे जात-
वेदः जातमज्ञ हे अग्ने तिष्ठतः सुखेन एकत्रासीनान् अस्मान् यो
हिंस्यात् चरतः कार्येषु व्याप्तियमाणान् वा अस्मान् यः शत्रुः उप-
क्षपयेत् । ॐ तिष्ठतश्चरत इत्युभयत्र लसार्धधातुकानुदात्तत्वे धातु-
स्वरः ॐ । हे जातवेदः जातानां वेदितरग्रे त्वं वैश्वानरेण विश्व-

नरसंबन्धिना एतत्संज्ञकेन जाठराग्निना । ❀ “नरे संज्ञायाम्” इति विश्वशब्दस्य दीर्घः ❀ । तेन अग्निना सद्युजा सहयोक्ता सहायेन सजोपाः समानप्रीतिः सन् प्रतीचः स्वप्नजागरणाद्यवस्थापन्नान् अस्मान् उपक्षपयितुं प्रतिमुख्यम् आगच्छतस्तान् शत्रून् निर्दह निःशेषेण भस्मसात् कुरु । जाठराग्निः अन्तर्दहतु त्वं तु वहिर्दहेत्यर्थः ॥

जो शत्रु हम सोतो हुओंको क्षीण करना चाहता है, जो हम जागते हुओंको मारे, और हे जातवेदा अग्ने ! जो हम बैठे हुओंको वा घूमने वालोंको मारे सन्मुख्य आते हुए उन सब शत्रुओंको आप वैश्वानर (जाठर) अग्निके साथ मित्रता कर मार डालिये । तात्पर्य यह है, कि—जाठर अग्नि भीतरसे भस्म करे और आप बाहरसे भस्म करिये ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

इद्गुणाय वभ्रवे नमो यो अक्षेपु तनूवशी ।

घृतेन कलिं शिञ्चामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

इद्गुम् । उग्राय । वभ्रवे । नमः । यः । अक्षेपु । तनूवशी ।

घृतेन । कलिम् । शिञ्चामि । सः । नः । मृडाति । ईदृशे ॥ १ ॥

उग्राय उद्गूर्णवलाय वभ्रवे वभ्रुवर्णाय एतत्संज्ञकाय घृतजयकारिणे देशाय इदं नमः नमस्कारणम् । भवतु इति शेषः । ❀ “नमः स्वस्ति०” इति नमःशब्दयोगे वभ्रव इति चतुर्थी ❀ । यो वभ्रुः अक्षेपु देवनसाधनेषु तनूवशी यथाकामी । स्वेच्छाधीनजय इत्यर्थः । घृतेन आज्येन मन्त्राभिमन्त्रितेन कलिम् । पराजयहेतुः पञ्चसंख्यायुक्तोक्षविषयोऽयः कलिरित्युच्यते । तं शिञ्चामि ताडयामि । हन्मीत्यर्थः । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र पञ्चानां

कलिरिति संज्ञा । तथा च तैत्तिरीयकम् । “ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः” इति [तै० ब्रा० १. ५. ११. १] । तत्र कलिशब्दवाच्यस्य अयस्य आगमने पराजयो भवति । तम् अनेन आज्येन विनाशयामि । अहम् अन्यैर्न पराजीये किं तु अन्यान् अहमेव जयामीत्यर्थः । ❀ शिञ्जतिर्विद्योपादानवाची । तच्च विद्याग्रहणम् अध्यापककर्तृककशाताडनं विना न भवतीति अत्र लक्षणया ताडनमात्रं विवक्ष्यते । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । यद्वा । ❀ शकेः सनि मत्यये “सनि मीमा०” इति इस् आदेशः । “अत्र लोपः०” इति अभ्यामलोपः ❀ । कलिं शिञ्जामि शक्तं समर्थं कर्तुम् इच्छामि । यथा कलिः स्वयं पराजयसमर्थः पराजयवान् भवति तथा करोमीत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे देवतानुग्रहम् आशास्ते । स नमस्कृतः अक्षयूतदेवता बभ्रुः ईदृशो देवननिबन्धने कलिपराभावनरूपे जयलक्षणे च फले नः अस्मान् मृत्वाति मृडयतु सुखयतु । ❀ मृड सुखने । लेटि आडागमः ❀ ॥

मचण्ट बल वाले बभ्रु नामक घृतमें विजय देनेवाले देवताके लिये यह नमस्कार हो, यह बभ्रु अक्षी (फाँसी) में अपनी कामनाके अनुसार विजय दिलाने वाले हैं । और मन्त्राभिमन्त्रित घृतसे मैं (पञ्चसंख्यायुक्त पराजयके हेतु) कलि नामक फाँसेको ताड़ित करता हूँ † यह बभ्रु देवता इस खेलनेसे होने वाले जयपराजयमें हमको सुख देवें ॥ १ ॥

† एकसे पाँच तकके फाँसे अय कहलाते हैं । उनमें पाँचोंकी कलि संज्ञा है । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ११ । १ में कहा है, कि—“ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः ।— जो चारका फाँसा होता है वह कृत कहलाता है और पाँचका कलि कहलाता है” ॥

नवमी ॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसून्क्षेत्रेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदाति जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि
हव्या ॥ २ ॥

घृतम् । अप्सराभ्यः । वह । त्वम् । अग्ने । पांसून् । क्षेत्रेभ्यः ।

सिकताः । अपः । च ।

यथाऽभागम् । हव्यऽदातिम् । जुषाणाः । मदन्ति । देवाः ।

उभयानि । हव्या ॥ २ ॥

हे अग्ने त्वम् अप्सराभ्यः । अप्सु सरन्त्यश्चरन्त्यः अन्तरिक्ष-
चारिण्यो वा । ताभ्यः तदर्थं घृतम् अक्षाभ्यञ्जनसाधनम् आज्यं
वह प्रापय । अस्माकं जयार्थम् इति शेषः । तथा क्षेत्रेभ्यः । अक्ष-
शब्देन तैर्दीव्यन्तः प्रतिक्रितवा उच्यन्ते । अक्षहस्तेभ्यः प्रतिक्रित-
वेभ्यः पांसून् सूक्ष्मान् भूरजःकणान् सिकताः शर्कराः अपः उद-
कानि च प्रापय । यथा तेषां पराजयो भवति तथा तन्मुखेषु पां-
स्वादीन् प्रक्षिपेत्यर्थः ॥ किं च यथाभागम् भागम् अनतिक्रम्य
स्वीयस्वीयभागानुसारेण हव्यदातिम् हविषः प्रदानं जुषाणाः
सेवमाना देवाः इन्द्राद्या उभयानि द्विप्रकाराणि औपधपाशुक-
भेदेन सोमाज्यभेदेन श्रौतस्मार्तकर्मभेदेन वा द्विविधानि हव्या
हव्यानि हवींषि । आस्वाद्येति शेषः । मदन्ति । माद्यन्ति तृप्ता
भवन्ति । ते देवा अपि अस्माकं च तजयं कुर्वन्तु इति प्रार्थना ॥

हे अग्ने ! आप अन्तरिक्षमें विचरण करने वाली अप्सराओंके
लिये (फाँसोंको स्वच्छ करने वाले) घृतको पहुँचाइये । और

फाँसोंसे खेलने वाले हमारे प्रतिद्वन्द्वी जुआरियोंके निमित्त जल और रेत धूल दीजिये (अर्थात् उनका पराजय करनेके लिये उनके मुखमें धूल आदि भोंक दीजिये) और अपने २ भागके अनुसार हव्यदानका सेवन करते हुए इन्द्र आदि देवता औपध पाशुक, सोम और घृत, तथा श्रौत और स्मार्त इन दो प्रकारकी हवियोंका आस्वादन कर तृप्त होवें (वे भी हमको घृतमें विजय दें, यही मार्यना है) ॥ २ ॥

दशमी ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं
रन्धयन्तु ॥ ३ ॥ ॥

अप्सरसः । सधऽमादम् । मदन्ति । हविःऽधानम् । अन्तरा ।
सूर्यम् । च ।

ताः । मे । हस्तौ । सम् । सृजन्तु । घृतेन । सपत्नम् । मे ।
कितवम् । रन्धयन्तु ॥ ३ ॥

अप्सरसः घृतक्रियादेवताः सधमादम् सह संभूय मादः
मादनं यस्मिन् मदनकर्मणि तत् । ॐ माद्यतेर्ध्वव्यत्ययेन । “सध
मादस्ययोरद्वन्दसि” इति सहस्य सधादेशः ॐ । सहमदनं यथा
भवति तथा मदन्ति माद्यन्ति । कुत्रेति तद् उच्यते । हविर्धानम्
हविर्धायते अत्रेति हविर्धानो भूलोकः । ॐ अधिकरणे व्युट् ॐ ।
तं सूर्यम् सूर्याधिष्ठितं द्युलोकं तं च अन्तरा । ॐ “अन्तरान्तरेण
युक्ते” इति द्वितीया ॐ । घात्रापृथिव्योर्मध्ये अन्तरिक्षलोके
माद्यन्ति । ताः अप्सरसः मे मम हस्तौ देवनसाधनौ पाणी घृतेन

घृतवत् सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन सं सृजन्तु संयोजयन्तु ।
तथा सपत्न्यं प्रतिदीव्यन्तं कितवं मे मम रन्धयन्तु । ❀ रन्धयति-
र्वशगमने इति यास्कः [नि० १०. ४०] ❀ । वशयन्तु स्वाधीनं
कुर्वन्तु । ❀ रध हिंसासंराध्योः । णिचि “रधिजभोरचि” इति
तुम् आगमः ❀ ॥

[इति] दशमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

घृतक्रियाकी देवता अप्सरायें (जिसमें एकत्रित होकर मद
होता है उस) हविःधान अर्थात् भूलोकमें, सूर्याधिष्ठित धुलोकमें
और इन दोनोंके बीचके लोक अन्तरिक्षलोकमें मदमें भरी रहती
हैं, वे अप्सरायें मेरे खेलनेके हाथोंको घृतकी समान सारमय जय-
रूप फलसे संयुक्त करें और खेलते हुए प्रतिपत्नी जुआरीको मेरे
वशमें करें ॥ ३ ॥

दशम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

“आदिनवं प्रतिदीव्ने” इति चतुर्दशस्य घृतजयकर्मणि
“इदम् उग्राय” इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

परसेनाजयार्थम् “अग्न इन्द्रश्च” इति द्वाभ्यां नवरथं संपात्य
अभिमन्त्र्य ससारथिं राजानम् आरोहयेत् । तद् उक्तं कौशिकेन ।
“अग्न इन्द्रः [७. ११५] दिशश्चतस्रः [८. ८. २२] इति नवं
रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति” इति [कौ० २. ६] ॥

तथा सर्वफलकामः “अग्न इन्द्रश्च” इति तिसृभिः अग्नीन्द्रौ
यजेत उपतिष्ठेत वा । “अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वकामः”
इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

आग्रयणेष्टौ “अग्न इन्द्रश्च” इति आग्नेन्द्रपुरोडाशयागम् अनु-
मन्त्रयते । “अग्न इन्द्र इत्यग्नेन्द्रम्” इति हि वैतानं सूत्रम्
[वै० २. ४] ॥

वृषोत्सर्गे “इन्द्रस्य कुक्षिः” इत्यनया वृषभं संपात्य अभिमन्त्र्य

विसृजेत् । “इन्द्रस्य कुक्षिः [७. ११६] साहसः [६. ४] इत्पृषभं संपातवन्तम् अतिसृजति” इति कांशिकसूत्रात् [कौ० ३. ७] ॥

अग्निष्टोमे प्रातःसवने सोमसहितं पूतभृत्पात्रम् “इन्द्रस्य कुक्षिः” इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । “इन्द्रस्य कुक्षिरित्यासिक्ते सोमे पूतभृतम्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ७] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं “शुम्भनी” इति ब्रूयेन उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य मौञ्जैः पाशैः संधिषु बद्धं व्याधितं दर्भपिंजूलीभिः आसावयेद् अवसिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । “शुम्भनी इति मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिंजूलीभिरासावयत्यवसिञ्चति” इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा “शुम्भनी” इत्यस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् “ओपधिवनस्पतीनाम् अनूक्तान्यमतिपिड्डानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः” इत्यादौ [कौ० ४. ८] विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

त्रिवाहे “शुम्भनी” इत्यनया ध्याज्यं हुत्वा परवध्वोर्मूर्ध्नोः संपातान् आनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनयर्चा वरवध्वोरञ्जन्योः उदपात्रोदकं निनयेत् ॥

सूत्रितं हि । “तुभ्यम् अग्रे [१४. २] शुम्भनी [७. ११७] अग्निर्जनवित् इति मूर्ध्नोः संपातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुम्भन्याञ्जन्योर्निनयति” इति [कौ० १०. ४] ॥

‘आदिनवं प्रतिदीवने’ इस चतुष्टयचक्रा धृतजयकर्ममें ‘इदं उग्राय’ के साथ विनियोग कह दिया है ।

शत्रुको सेनाको जीतनेके लिये ‘अम इन्द्रश्च’ इन दो ऋचाओं से नवीन रथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सारथि-सहित राजाको उस पर चढ़ावे । इसी बातको कांशिकसूत्र २।६

में कहा है, कि—‘अग्न इन्द्रः (७ । ११५) दिशश्चतस्रः (८ । ८ । २२) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति’ ॥

तथा सर्वफलकाम “अग्न इन्द्रश्च” इन तीन ऋचाओंसे अग्नि और इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण है, कि—“अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वफलकामः” ॥

आश्रयलोष्ट्रिमें “अग्न इन्द्रश्च” से आग्नेन्द्रपुरोडाशयागका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण है, कि—‘अग्न इन्द्र इत्याग्नेयम्’ ॥

वृषोत्सर्गमें ‘इन्द्रस्य कुत्तिः’ ऋचासे वृषभको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके छोड़ देय इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण है, कि—‘इन्द्रस्य कुत्तिः (७ । ११६ , साहस्रः (६ । ४) इत्यृषभं सम्पातवन्तं अतिसृजति’ ॥

अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें सोमसहित पूतधृतपात्रका ‘इन्द्रस्य कुत्तिः’ से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ७ का प्रमाण है, कि—‘इन्द्रस्य कुत्तिरित्वासक्ते सोमे पूतधृतम्’ ॥

सर्वव्याधिचिकित्साके लिये “शुम्भनी” ऋचसे जलपूर्ण घट को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके रोगीको सूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँधे फिर दर्भकी खुट्टीसे आलावित वा अवसिञ्चित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ८ का प्रमाण भी है, कि—‘शुम्भनी इति यौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जुलीभिरालावयत्यवसिञ्चति’ ॥

तथा “शुम्भनी” ऋचाका अहोर्लिङ्गगणमें पाठ होनेसे ‘औपधि-वनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अहोर्लिङ्गाभिः’ इत्यादिमें विनियोग करना चाहिये ।

विवाहमें “शुम्भनी” ऋचासे घृतकी आहुति देकर वर और वधूके मस्तक पर सम्पातोंको लावे ।

तथा तर्हा ही कर्ममें इस ऋचासे वर और वधुके हाथमें जल-पूर्णपात्रके जलको डाले ।

इस विषयमें कौशिकगूत्र १० । ४ का प्रमाण भी है, कि—
‘तुभ्यं अग्ने १४ । २ शुम्भनी ७ । १६७ अग्निर्जनवित् इति मूर्ध्नोः
सम्पातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुंभन्याञ्जन्योर्निनयति’
तत्र प्रथमा ॥

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।

वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ४

आदिनवम् । प्रतिऽदीव्ने । घृतेन । अस्मान् । अभि । क्षर ।

वृक्षम्ऽइव । अशन्या । जहि । यः । अस्मान् । प्रतिऽदीव्यति ४

प्रतिदीव्ने प्रतिहूलम् दीव्यते प्रतिक्रित्वाप । ❀ “क्रियार्थोप-
पदस्य०” इति चतुर्थी ❀ । प्रतिदिवानं जेतुम् आदिनवम् आदी-
व्यामि अक्षतः आदीवनं करोमि । ❀ आङ्पूर्वाद् दीव्यतेश्चान्दसे
लङ्ङि व्यत्ययेन श्रः । “लोपो व्योर्वलि” इति वकारलोपः । “तस्थ-
स्थमिपाम्०” इति थम् आदेशो गुणश्च । यद्वा । लङ्ङि व्यत्ययेन
श्रम् । प्रतिपूर्वाद् दीव्यतेः कनिन् युट्पितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः
इति [उ० १. १५४] कनिन् प्रत्ययः । चतुर्थ्येकवचने अञ्लोपे
कृते “हलि च” इति दीर्घः ❀ । अस्मान् आशीव्यतः घृतेन घृत-
वत्सारभूतेन जयलक्षणेन पत्नेन अभि क्षर संयोजय । देवनक्रिया-
मिमानी देवः संबोध्यते । यः कितवः अस्मान् प्रतिदीव्यति जेतुं
प्रतिहूलं द्यूतं करोति तम् अशान्या विद्युना वृक्षम् शुष्कं तरुमिव
जहि तिरस्कुरु । ❀ “हन्तेर्जः” इति जादेशः ॥

(हे देवनक्रियाके अभिमानी देव ! मैं प्रतिपक्षी जुआरीको
जीतनेके लिये खेलता हूँ, मुझको आप घृतकी समान सारभूत

जयरूप फलसे संयुक्त करिये । जो जुआरी हमसे खेलना चाहता है उसको आप बिजलीसे मारे हुए वृत्तकी समान तिरस्कृत कर डालिये ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

यो नो॑ द्यु॒वे धन॑मिदं च॒कार॑ यो अ॒क्षाणां॑ ग्ल॒हनं॑
शेष॑णं च ।

स नो॑ दे॒वो ह॒विरि॑दं जु॒पा॒णो ग॒न्धर्वे॑भिः स॒ध॒मादं॑ मदे॒म
यः । नः । द्यु॒वे । धन॑म् । इ॒दम् । च॒कार॑ । यः । अ॒क्षाणा॑म् ।
ग्ल॒हन॑म् । शेष॑णम् । च ।

सः । नः । दे॒वः । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒पा॒णः । ग॒न्धर्वे॑भिः । स॒ध॒मा॒द॒म
मा॒द॒म् । म॒दे॒म ॥ ५ ॥

यो देवः नः अस्माकं द्युवे द्यूताय तदर्थम् । यद्वा द्युवे दीव्यते नः । ॐ वचनव्यत्ययः ॐ । मह्यम् । अथ वा नः अस्मदीयाय द्युवे दीव्यते पुरुषाय इदं प्रतिक्रितवसंबन्धि धनं चकार जयेन संपादितवान् । ॐ द्युव इति । दीव्यतेः कर्तरि भावे वा क्विप् । “च्छोः शूडनुनासिके च” इति वकारस्य ऊट् । यण् आदेशः ॐ । यश्च देवः अक्षाणां परकीयानां ग्लहनम् ग्रहणं स्वकीयैरक्षैर्जित्वा स्वीकरणं शेषणम् स्वीयानाम् अक्षाणां जयाङ्स्थाने अवशेषणं च कृतवान् । ॐ ग्लहनम् इति । ग्लहु ग्लहे इति धात्वन्तरम् अन्यैर्भूवादौ पठ्यते । तस्मात् ल्युट् । गृह्णातेर्वा । रेफस्य लत्वं छान्दसम् ॐ । स देवः द्यूताभिमानो नः अस्मदीयम् इदं हविः जुपाणः सेवमानो भवतु । वयं च गन्धर्वेभिः गन्धर्वैः अक्षाधिष्ठायकैः सधमादम् सहमदनं यथा तथा मदेम हृष्यास्म । ॐ माद्यतेः “लिङ्ग्याशिष्यङ्” इति अङ् प्रत्ययः ॐ ॥

जिन देवताने हमारे जुएके लिये इस प्रतिपत्नीके धनको जय से सम्पादित किया है और जिन देवताने शत्रुओंके अत्तोंको जितवा कर दिलाया है और शत्रुओंके फाँसोंको निःशेष कर दिया है, यह धृताभिमानी देवता हमारी हविका सेवन करें और हम अत्तोंके अधिष्ठायक गन्धर्वोंके साथ आनन्द पावें ॥ ५ ॥

तृतीया ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यं च्छाः ।
तेभ्यो व इन्द्रवो हविषां विधेम वयं स्याम पतयो रथीणाम्
समुश्वसवः । इति । वः । नामधेयम् । उग्रम्पश्याः । राष्ट्रभृतः ।
हि । अत्ताः ।

तेभ्यः । वः । इन्द्रवः । हविषां । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः ।
रथीणाम् ॥ ६ ॥

हे गन्धर्वाः अत्ता वा गूर्यं संवसव इति संप्राप्तधनाः संप्रापित-
धना यतो भवथ अतो वः युष्माकं संवसव इति नामधेयं भवति ।
हि यस्माद् उग्रंपश्या । ॐ पश्या लुक् ॐ । उग्रंपश्यायाः राष्ट्र-
भृतः । इदं द्वयम् अप्सरोविशेषनामधेयम् । तयोः संवन्धिनो भवन्ति
अत्ताः । अत्ताणाम् एतत्संवन्धित्वं तैत्तिरीये श्रूयते । “उग्रंपश्ये
राष्ट्रभृत्त्राचराणि यद् अत्तवृत्तम् अनुवृत्तम् एतत्” इति [तै०
आ० २. ४. १] । तेभ्यः गन्धर्वाप्सरोभ्यः तदधिष्ठितेभ्यः ऋक्षेभ्यो
वा वः युष्मभ्यं युष्मदर्थम् इन्द्रवः । ॐ लुप्तमत्वर्थीयः ॐ । इन्दु-
मन्तः सोमवन्तः सोमोपलक्षितद्वियुक्ता वयं हविषा उचिन्नेन
विधेम परिचरेम । ॐ विध विधाने तौदाटिकः ॐ । अनन्तरं वयं
दीव्यन्तः रथीणाम् धनानां पतयः स्वामिनः स्याम, भवेम । द्यूते
प्रतिक्रितवजयेन धनवन्तः स्यामेत्यर्थः ॥

हे गन्धर्वों ! वा अक्षों ! धनको प्राप्त कराने वाले होनेसे आपका संवसव नाम है, यह अक्ष उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् नामक अप्सराओं के सम्बन्धी हैं ‡ उन गन्धर्व अप्सराओंकी वा उनसे अधिष्ठित अक्षोंकी सोम वाली हविको लिये हुए हम सेवा करते हैं, तदनन्तर खेलते हुए हम धनके स्वामी होंगे ॥ ६ ॥

चतुर्थी ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूपिम ।

अक्षान् यद् वभ्रूनालभे ते नो मृडन्तु ईदृशे ॥ ७ ॥

देवान् । यत् । नाथितः । हुवे । ब्रह्मचर्यम् । यत् । ऊपिम ।

अक्षान् । यत् । वभ्रून् । आलभे । ते । नः । मृडन्तु । ईदृशे ७

नाथितः उपतप्तः । ❀ नाथु नाथु याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु । अस्मात् निष्ठा ❀ । देवान् अग्न्यादीन् हुवे आह्वयामि धनलाभार्थम् इति यत् । ❀ ह्यतेर्व्यत्ययेन शपः शः ❀ । ब्रह्मचर्यम् वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचारिनियमम् ऊपिम ऊपितवन्त इति यत् । ❀ वसेर्निवासरार्थात् लिति उत्तमवहुवचने धातोरभ्यासस्य च संभसारणे “शासिबसिघर्त्सीनां च” इति षत्वे रूपम् ❀ । वभ्रून् वभ्रुवर्णान् वभ्रुणा अक्षाभिमानिना देवेन अधिष्ठितान् वा अक्षान् देवनसाधनभूतान् आलभे देवितुं स्पृशामीति यत् । ❀ आङ्पूर्वो लभिः स्पर्शार्थः । तस्माद् वर्तमाने लटि उत्तमे रूपम् ❀ । तेन कारणेन ते देवादयः ईदृशे जयलक्षणे फले नः अस्मान् मृडन्तु मुखयन्तु ॥

‡ तैत्तिरीय आरण्यक २ । ४ । १ में अक्षोंका अप्सराओंसे सम्बन्ध जुना जाता है, कि-‘उग्रंपश्ये राष्ट्रभृच्चराणि यद् अक्षवृत्तं अनुवृत्तं एतत्’ ॥

उपतप्त हुआ मैं धनके लाभके लिये अग्नि आदि देवताओंका आवाहन करता हूँ । हमने जो ब्रह्मचर्य किया है और हम बभ्रु-देवतासे अधिष्ठित पाशोंको छू रहे हैं इस कारण वे देवता आदि ऐसे जयलक्षणरूपफलमें हमको सुख देवें ॥ ७ ॥

पञ्चमी ॥

अग्ने इन्द्रश्च दाशुपे हतो वृत्राण्यप्रति । उभा हि वृत्र-
हन्तमा ॥ १ ॥

अग्ने । इन्द्रः । च । दाशुपे । हतः । वृत्राणि । अप्रति ॥ उभा ।
हि । वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥

हे अग्ने इन्द्रश्च युवां दाशुपे हविर्दत्तवते यजमानाय तदर्थं वृत्राणि आवरकाणि शत्रुरूपाणि दुरितानि अप्रति अप्रतिपत्तम् । निःशेषम् इत्यर्थः । हयः हिंस्यः । ॐ हन्तेर्वर्तमाने लटि मध्यम-द्विवचने रूपम् ॐ । हि यस्माद् उभा उभौ अग्नीन्द्रौ वृत्रहन्तमा वृत्रहन्तमौ अतिशयेन वृत्रं हतवन्तौ । ॐ “ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु०” इति विवप् । तदन्ताद् आतिशायनिकस्तमप् । “नाद् घस्य” इति जुडागमः ॐ ॥

हे अग्ने ! और हे इन्द्रदेव ! आप हवि देने वाले यजमानके आवरक शत्रुरूप पाशोंको निःशेषरूपसे नष्ट करिये, क्योंकि—आप दोनों वृत्रको मारने वाले ही हैं ॥ १ ॥

पष्ठी ॥

याभ्यामजयन्त्स्व १ रग्रं एव यावात्स्थतुर्भुवनानि विश्वां
प्रचर्षणी वृषेणा वज्रंवाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणां हुवेहम्

याभ्याम् । अजयन् । स्वः । अग्ने । एव । यौ । आस्तस्थतुः ।

भुवनानि । विश्वा ।

प्रचर्षणी इति प्रचर्षणी । वृषणा । वज्रवाहू इति वज्रवाहू । अग्निम् ।

इन्द्रम् । वृत्रहना । हुवे । अहम् ॥ २ ॥

अग्ने पूर्वं याभ्याम् अग्नीन्द्राभ्यामेव स्वः स्वर्गम् अजयन् स्वाधीनीकृतवन्तो देवाः । यौ च अग्नीन्द्रौ विश्वा विश्वानि भुवनानि भवन्ति भूतजातानि आस्तस्थतुः स्वमहिम्ना आक्रान्तवन्तौ । व्याप्तवन्तौ यौ च प्रचर्षणी प्रकर्षेण द्रष्टारौ । स्वोपासकसंबन्धिकर्मफलस्येति शेषः । यद्वा चर्षणाय इति मनुष्यनाम । प्रकृष्टार्चर्षणयो मनुष्या ययोर्यष्टत्वेन सन्तीति तौ । वृषणा वृषणौ वर्षितारौ अभिमतफलस्य । वज्रवाहू । वज्रो वाहोर्ययोरिति व्यधिकरणवहुव्रीहिः । वज्रः वर्जकम् आयुधम् । आयुधपाणी अत एव वृत्रहणा वृत्रहणौ वृत्रं हतवन्तौ । तादृशम् अग्निम् इन्द्रं च अहं जयकामः हुवे आह्वयामि ॥

पहिले जिन दोनों अग्नि और इन्द्रके द्वारा ही देवताओंने स्वर्गको अपने वशमें किया था और जो इन्द्र और अग्निदेवता सकल भूतोंमें अपनी महिमासे व्याप्त होगए हैं और जो उपासकके कर्मफलको भली प्रकार देखने वाले हैं—वा अनेक पुरुष जिनका पूजन करते हैं ऐसे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हाथमें वज्र धारण करने वाले वृत्रके नाशक इन्द्र और अग्निका विजयाभिलाषी मैं आह्वान करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः ।

इन्द्रं गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

उप । त्वा । देवः । अग्रभीत् । चमसेन । वृहस्पतिः ।

इन्द्र । गीःऽभिः । नः । आ । विश । यजमानाय । मुन्वते ॥३॥

हे इन्द्र त्वा त्वां वृहस्पतिः वृहतां महतां देवानां पतिः हिता-
चरणेन पालयिता एतन्नामा देवः चमसेन । चमन्ति अदन्ति अत्र
सोमम् इति चमसः सोमपात्रम् । तेन उपाग्रभीत् उपगृहीतवान् ।
अन्यत्र यथा न गच्छसि तथा स्वाधीनं कृतवान् इत्यर्थः । ॐ ग्रहे-
र्बुङ् । “ह्यहोर्भः०” ॐ । अतो वृहस्पतिपरिग्रहात् हे इन्द्र मुन्वते
सोमम् अभिपुण्वते यजमानाय । ॐ “क्रियार्थोपपदस्य०” इति
चतुर्थी ॐ । यजमानं धनादिनापोपयितुं नः प्रयोक्तव्याम् अस्माकं
गीर्भिः स्तुतिभिः आ विश । स्तूयमान आगच्छेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आपको बड़े २ देवताओंका हिताचरण कर
उनका पालन करने वाले वृहस्पति नामक देवने सोमपात्रके द्वारा-
ग्रहण कर लिया है अर्थात् आप अन्यत्र न जा सकें इस
प्रकार आपको स्वाधीन कर लिया है । अतः वृहस्पतिके पकड़ने
से हे इन्द्र ! आप सोमका अभिपव करने वाले यजमानको धन
आदिसे पुष्ट करनेके लिये हमारी स्तुतियोंसे प्रवेश करिये अर्थात्
स्तुति पाते हुए आइये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रस्य कुत्तिरसि सोमधानं आत्मा देवानामुत्तमानु-
पाणाम् ।

इह प्रजा जनय यास्तं आसु या अन्यत्रेह तास्तं रमन्ताम्

इन्द्रस्य । कुत्तिः । असि । सोमऽधानः । आत्मा । देवानाम् ।

उत्त । मानुपाणाम् ।

इह । प्रजाः । जनय । वाः । ते । आसु । याः । अन्यत्र । इह ।
ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

अत्र अतिसृज्यमानो वृषभः पूतभृत्पात्रं वा संबोध्यते । हे वृषभ
पूतभृत्कलश वा त्वं सोमधानः । सोमो धीयते निधीयतेत्रेति सोम-
धानः । ❀ अधिकरणे व्युट् ❀ । सोमाधारभूतः इन्द्रस्य कुन्तिः
जठरम् असि । तथा । उतशब्दः चार्थे । देवानां मानुषाणां च
आत्मा शरीरम् असि । किं च इह लोके प्रजाः पुत्रादिका जनय
उत्पादय । आसु पुरोवर्तिनीषु गोषु यजमानादिरूपासु वा निष्णु ते
त्वदर्थं या विद्यन्ते अन्यत्र अन्यस्मिन् देशे या गावो यजमानादि-
रूपा वा प्रजा विद्यन्ते ताः प्रजा इह अस्मिन् लोके ते त्वदर्थं रम-
न्ताम् सुखेन विहरन्तु । यद्वा इह आसु गोषु प्रजासु वा प्रजाः
जनय यास्त्वदर्थम् आसु वभूवुः । तथा अन्यत्र च या भवन्ति ता
इह अस्मिन् प्रदेशे त्वदर्थं रमन्ताम् । ❀ आसु । “ऊडिदम्०” इति
विभक्तोरुदात्तत्वम् । यद्वा । अस्तेर्लोदि प्रथमपुरुषवहुवचने असि
अन्त्यलोपञ्छान्दसः । भूभावो व्यत्ययेन न प्रवर्तते । यद्वा च-
योगाद् अनिवाते प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । अस गतिदीप्त्या
दानेषु । अस्माद् वा लिट् । सुवन्तपक्षे तिङन्तपक्षे च स्वरः
समानः ❀ ॥

(यहाँ उत्सृज्यमान वृषभ वा पूतभृत् पात्रको संबोधित किया गया
है, किं—) हे वृषभ ! वा पूतभृत्कलश ! आप सोमको धारण करने
वाले हैं, मनुष्योंके और देवताओंके आत्मा हैं, इस लोकमें
आप प्रजाओंको उत्पन्न करिये, जो इन सामने खड़ी हुई गाँओंमें
वा यजमानादिरूप प्रजाओंमें प्रजाएँ हैं वा अन्यत्र हैं वे आपके
लिये सुखसे विहार करें ॥ १ ॥

नवमी ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।

आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥ १ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्तिसुम्ने ।

महिव्रते इति महिऽव्रते ।

आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहंसः १

शुम्भनी शुम्भन्या । ॐ शुभ शुम्भ शोभार्थे । अस्मात् व्युट् ॐ । सर्वस्य शोभाकारिण्यौ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्वस्यावस्थानात् । अन्तःस्वप्ने । स्वपन्तीति स्वप्नाः अज्ञानावृता जनाः । ॐ “स्वपो नन्” इति नन् प्रत्ययः कर्तरि व्यत्ययेन भवति ॐ । स्वप्नाः अचेतनाश्चेतनाश्च ययोरन्तः मध्ये वर्तन्ते तादृश्या महिव्रते महद् व्रतं कर्म ययोस्ते द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ । वर्तते इति शेषः । तथा सप्त सर्पणस्वभावाः सप्तसंख्याका वा देवीः देव्यः द्योतमाना आपः सुस्रुवुः स्रवन्ति । ॐ स्र गती ॐ । ताः द्यावापृथिव्यौ आपश्च अंहंसः पापाद् नः अस्मान् मुञ्चन्तु मोचयन्तु पृथक् कुर्वन्तु ॥

द्यावापृथिवी परमशोभायुक्त हैं, उनके मध्यमें चेतन और अचेतन अज्ञानवृत्त व्यक्ति रहते हैं, इनका कर्म विशाल है, और दमकते हुए सात जल भी सरकते रहते हैं । ये द्यावापृथिवी और जल हमको पापसे मुक्त करें ॥ १ ॥

दशमी ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्याश्दथो वरुण्यद्भुत ।

अथो यमस्य पद्भ्यांशाद् विश्वंस्माद् देवकिल्बिपात् २

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ।

अथो इति यमस्य । पद्वीशात् । विश्वस्मात् । देवऽकिञ्चिन्विपात् २
 “मुञ्चन्तु मा शपथ्यात्” इत्येषा पूर्वमेव व्याख्याता [६. ६६. २]
 [इति] दशमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जल मुक्तको शपथजनित ब्राह्मणके आक्रोशरूप पापसे अलग रक्खें, और भूठ बोलनेसे भोगने पढ़ने वाले वरुणके अधिकार के पापसे भी मुक्तको अलग करें और यमराजके अधिकारके पादबन्धनसे भी मुक्तको मुक्त रक्खें और क्या सब हीं देवसंबन्धी पापोंसे मुक्तको मुक्त रक्खें ॥

दशम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४३२) ॥

स्त्रीपुरुषयोः परस्परविद्वेषणार्थं वाणापर्याख्यापधिचूर्णं लोहि-
 तायाजायाः क्षीरद्रप्सेन संमिश्र्य “वृष्टिके” इति ऋचेन अभिमन्त्र्य
 शठ्यायां परिकिरेत् ॥

तथा दौर्भाग्यकरणार्थम् “आ ते ददे” इत्यनया मन्त्रोक्तान्
 अवयवान् स्पृशन् अभिमन्त्रयेत् विद्वेषिणं दृष्ट्वा जपेद् वा ॥

मूत्रितं हि । “वृष्टिके [७. ११८] इति वाणापर्णाम् । आ
 ते ददे [७. ११६] इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह”
 इति [कौ० ४. १२] ॥

रक्षोग्रहादिभैषज्यार्थं “प्रेतो यन्तु” इत्यनया आज्यसमित्पुरो-
 डाशादिशङ्कुल्यन्तद्रव्याणां त्रयोदशानाम् अन्यतमं जुहुयात् ।
 “प्राग्नये [६. ३४] प्रेतः [७. ११६. २] इत्युपदधीत” इति
 हि [कौ० ४. ७] सूत्रम् ॥

नैऋतकर्मसु चतुर्थे कर्मणि काकस्य जङ्घायां सपुरोडाशं लोह-
 कण्टकं बद्ध्वा “प्र पतेतः” इत्यनया तं काकं विसृजेत् ॥

पञ्चमे नैऋतकर्मणि मूत्रोक्तलक्षणैर्वस्त्रैः परिधानाच्छादनशिरो-

वेष्टनानि कर्ता कृत्वा “या मा लक्ष्मीः” इत्यनया लोहितखण्ड-
सहितम् उष्णीपम् उदके प्रक्षिपेत् ॥

“एकशतं लक्ष्म्यः” इत्यनया आच्छादनवस्त्रं लोहखण्डेन सह
अप्सु प्रक्षिपेत् ॥

“एता एनाः” इत्यृचा परिधानीयं लोहेन सह अप्सु प्रक्षिपेत् ॥
तद् उक्तं संहिताविधौ । “कृष्णचैलपरिहितः । निश्चर्त्ति-
कर्माणि मयुङ्क्ते” इति मक्रम्य “कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायाम् अङ्गु-
अनुग्रथ्य अङ्गे पुरोडाशं म पतेत इत्यनावृतं प्रपातयति । नीलं
संधाय लोहितम् आच्छाद्य शुक्रं परिणह्य द्वितीययोष्णीपम् अङ्गे-
नोपसाद्य सव्येन सहाङ्गेन अवाङ् अप्सु प्रविध्यति । तृतीययाच्छन्नं
चतुर्थ्या संवीतम्” इति [कौ० ३. १] ॥

काम्यकर्मसु विघ्नरूपदुःस्वप्नदर्शनदोषपरिहारार्थं “म पतेतः
पापि लक्ष्मि” इति चतसृभिर्दुःस्वप्नदर्शनम् अभिषिञ्चेत् । “चत्वारः
खलु विनायका भवन्ति” इति [शा० क० ४] मक्रम्य शान्ति-
कल्पेऽभिहितम् । “ताभिष्टाम् अभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तु त्वा ।
म पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः” इति [शा० क० ६. १६] ॥

सर्वज्वरभैषज्यार्थं सूत्रोक्तप्रकारेण मण्डूकं घट्ट्वा खट्वाया
अधः संस्थाप्य तस्या उपरि स्थितं व्याधितं “नमो रुराय” इति
मृचाभिमन्त्रितोदकेन अवसिञ्चेत् । सूत्रितं हि । “नमो रुरायेति
शयने निवेश्य इषीकाचितं मण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्या
सकृत् चट्ट्वा” इति [कौ० ४. ८] ॥

स्वस्त्ययनकामः “आ मन्द्रैः” इति मृचेन इन्द्रस्य यागम् उप-
स्थानं वा कुर्यात् । “त्युम् पु [७. ६०] आतारम् [७. ६१]
आ मन्द्रैः [७. १२२] इति स्वस्त्ययनकामः” इति हि [कौ०
७. १०] सूत्रम् ॥

शुभसंस्कारानन्तरं कर्ता प्रतिदिनं स्वस्त्ययनार्थम् “आ मन्द्रैः” इति जपेत् ॥

तथा अग्निष्टोमे हारियोजनग्रहहोमानुमन्त्रणम् “आ मन्द्रैः” इति कुर्यात् । “हारियोजनहोमम् आ मन्द्रैः” इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. १३] ॥

परसेनात्रासनार्थं “मर्माणि ते” इत्यनया कवचम् अभिमन्त्र्य धारणार्थं राज्ञे दद्यात् । “मर्माणि त इति क्षत्रियं संनाहयति” इति हि [कौ० २. ७] सूत्रम् ॥

महाव्रते दुन्दुभ्याहननानन्तरं “मर्माणि ते” इति राजानं संनाहयेत् । उक्तं वैताने । “तीर्थदेशे राजानम् अन्यं वा मर्माणि त इति संनद्धम्” इति [वै० ६. ४] ॥

स्त्री पुरुषमें परस्पर विद्वेष करानेके लिये वाणापर्णी नामक औषधके चूर्णको लाल बकरीके पतले दहीमें मिलाकर “वृष्टिके” द्रुचसे अभिमन्त्रित करके शय्यामें रखेर देय ।

तथा दौर्भाग्यकरणके लिये “आ ते ददे” ऋचासे मन्त्रमें कहे हुए अवयवोंका स्पर्श करके अभिमन्त्रण करे वा विद्वेषीको देख कर जप करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“वृष्टिके (७।११८) इति वाणापर्णाम् । आ ते ददे (७।११६) इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह” (कौशिकसूत्र ४।१२) ॥

राक्षस ग्रह आदिकी चिकित्साके लिये ‘प्रेतो यन्तु’ ऋचासे घृत समिधा पुरोडाश आदि तेरह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्यकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ४।७ का प्रमाण भी है, कि—“प्राग्नये (६।३४] प्रेतः (७।११६।२) इत्युपदधीत” ॥

नैऋतकर्मके चतुर्थ कर्ममें काककी जङ्घामें पुरोडाशसहित लोह-बण्टकको बाँध कर “म पतेतः” ऋचासे काँको छोड़ देय ।

पञ्चम नैऋतिकर्ममें सूत्रमें कहे हुए वस्त्रोंसे कर्ता परिधान (विद्यौना) आच्छादन (ओढ़ना , शिरोवेष्टन (पगड़ी) करके 'या मा लक्ष्मीः' ऋचासे लोहखण्डसहित पगड़ीको जलमें फेंकदेय ।

“एकशतं लक्ष्म्यः” ऋचासे आच्छादनवस्त्रको लोहखण्डके साथ जलमें फेंक देय ।

“एता एनाः” ऋचासे परिधानीयवस्त्रको लोहेके साथ जलमें फेंक देय ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—“कृष्णचैलापरिहितः । निऋतिकर्माणिप्रयुक्ते” इति प्रक्रम्य ‘कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायां अङ्गुम् अनुग्रथ्य अंके पुरोडाशं प्र पतेत इत्यनावृतं प्रपातयति । नीलं सन्धाय लोहितं आच्छाद्य शुक्रं परिणह्य द्वितीययोष्णीपं अंकेनोपसाद्य सव्येन सहांकेन अवाङ् अप्मु प्रविध्यति । तृतीययाच्छन्नम् चतुर्थ्या सम्धीतम्” (कौशिकसूत्र ३ । १) ॥

काम्यकर्मोंमें विघ्नरूप दुःस्वप्नके दर्शनकी दोषकी शान्तिके लिये ‘प्र पतेतः पापि लक्ष्मि’ इन चार ऋचाओंसे दुःस्वप्नदर्शन का अभिषेक करे । शान्तिकल्प ४ में ‘चत्वारः खलु विनायका भवन्ति ।—चार विनायक हैं’ का आरम्भ करके शान्तिकल्प ६ । १६ में कहा है, कि—‘ताभिर्द्वा अभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तु त्वा । प्र पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः’ ॥

सर्वज्वरकी चिकित्साके लिये सूत्रमें कही हुई रीतिसे मंडक को बाँध कर खट्वाके नीचे स्थापित करे फिर उस खट्वाके ऊपर स्थित रोगीको ‘नमो रूराय’ इस ऋचसे अभिमन्त्रित जल से अवसिञ्चित करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘नमो रूरायेति शयने निवेश्य इपीकाचितं मण्डकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकलं बद्ध्वा नमो रूरायसे खाटमें बैठा कर सीकों से घिरे हुए मण्डकको नीले और लाल डोरोंसे बगलमें बाँध कर” (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

स्वस्त्ययनको चाहने वाला 'आ मन्द्रैः' बृच से इन्द्रका याग वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण है, कि—'त्वमृषु (७ । ६०) वातारम् (७ । ६१) आ मन्द्रैः (७ । १२२) इति स्वस्त्ययनकामः' ॥

शवसंस्कारके अनन्तर कर्ता प्रतिदिन स्वस्त्ययनके लिये 'आ मन्द्रैः' को अपे ।

तथा अग्निष्टोममें 'आ मन्द्रैः' से हारियोजनग्रहहोमका अनु-मन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १३ का प्रमाण है, कि—'हारियोजनहोमं आ मन्द्रैः' ॥

शत्रुकी सेनाको डरानेके लिये 'मर्माणि ते' ऋचासे कवचको अभिमन्त्रित करके धारण करनेके लिये राजाको देवे । इस विषय में कौशिकसूत्र २ । ७ का प्रमाण भी है, कि—'मर्माणि त इति क्षत्रियं संनाहयति' ॥

महाव्रतमें दुन्दुभिको ताडित करनेके अनन्तर 'मर्माणि ते' से राजाको कवच पहिरावे ।

इसी बातको वैतानसूत्र ६ । ४ में कहा है, कि—“तीर्थदेशे राजानं अन्यं वा मर्माणि त इति सन्नद्धम्” ॥
तत्र प्रथमा ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमं चिन्धि तृष्टिके ।

यथा कृतद्विष्टासोमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

तृष्टिके । तृष्टवन्दने । उद । अमृम् । चिन्धि । तृष्टिके ।

यथा । कृतद्विष्टा । असः । अमुष्मै । शेप्यावते ॥ १ ॥

हे तृष्टिके । कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका । ❀ “कुत्सिते” इति क-प्रत्ययः । अतृष पिपासायाम् इत्यस्मात् तृष्टशब्दः ❀ । अति-

पिपासया अन्तः शरीरे दाहो जन्यते । अत्र जन्ये जनकशब्दः ।
 अतः तृष्टशब्दस्य दाहजनकत्वमात्रमेव अत्रार्थो विवक्षितः । हे
 कुत्सिने दाहजनिके हे वाणापर्ण्याख्यापधे हे तृष्टवन्दने । वन्दना
 नाम लतानां वृक्षाणां चोपरि मरुढास्तदीयशाखाम् आवेष्टमाना
 विभिन्नपर्णलताविशेषाः । तृष्टाः दाहजनिका वन्दना लता-
 विशेषा यस्याः सा ओपधिः स्वयमपि दाहजनिका दाहकलतोपेता
 च । एतादृशि अतिरुक्ते ओपधे त्वम् अमूं स्त्रियम् उच्छिन्धि उद्गृह्य
 विभिन्नां कुरु । भोक्तुः पुरुषाद् बलात्कारेण पृथक्कुर्वित्यर्थः ।
 उच्छेदनप्रकारमेवाह । हे तृष्टिके कोपजनिके हे ओपधे शेष्यावते ।
 शेष इति पुंस्मजननस्य नाम । तत्र भवं शेष्यं वीर्यं तद्वते प्रजनन-
 सामर्थ्यावते संभोगक्षमाय अमुष्मै पुरुषाय यथा कृतद्विष्टा कृतं
 संपादितं द्विष्टं द्वेषणं क्रोधो यथा द्वेषकारिणी यथा येन प्रकारेण
 असः भवेः । ❀ अस्तेल्लेष्टि अडागमः ❀ । योपिदोपधयोः अभे-
 दविवक्षया भवेरिति मध्यमपुरुषप्रयोगः । यद्वा । ❀ अस इति ।
 तिपः स्थाने व्यत्ययेन सिप् ❀ । यथा असौ योपित् पुरुषाय द्विष्टा
 भवेत् तथा अमूं उच्छिन्धीति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली हे तृष्टाको उत्पन्न करनेकी
 लता वाली ! तू इस स्त्रीको भोक्ता पुरुषके पाससे बलात्कार-
 पूर्वक पृथक् कर । हे कोपजनिके ओपधे ! इस प्रजननसामर्थ्य
 वाले संभोगक्षमपुरुषके लिये यह जिस प्रकार द्वेष उत्पन्न करने
 वालीहो तिस प्रकार कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तृष्टासि तृष्टिका विपा विपातक्युसि ।

परिवृक्ता यथासंस्थपभस्यं वशेवं ॥ २ ॥

तृष्टा । असि । तृष्टिका । विपा । विपातकी । असि ।

परिवृक्ता । यथा । अससि । ऋषभस्य । वशाऽइव ॥ २ ॥

हे औषधे तृष्टिका कुत्सिता दाहजनिका त्वं तृष्टा दाहजनक-
स्वभावा असि भवसि । तृतीयपादगतो यथाशब्दः अत्रापि अनु-
पज्यते । यथा तृष्टासि । यथा च विषा विषस्वरूपा त्वं विषातकी ।
❀ तकि कृच्छ्रजीवने ❀ । विषम् आतङ्कयति संयोजयतीति विषा-
तकी । विषस्य संयोजयित्री असि । यथा च परिवृक्ता सर्वैः परि-
वर्जिता अससि भवसि । स्पण्डुम् अयोग्यासि । चरमः पादो
दृष्टान्तः । ऋषभस्य पुंगवस्य वशेव यथा वशा वन्ध्या गौः पुंग-
वस्य परिवर्जनीया भवति एवम् इयं योषिदपि भोगयोग्या च न
भवेत् ॥ यद्वा एकं विशेषणम् औषधिपरतया द्वितीयं योषित्परतया
न्याख्येयम् । यथा औषधे त्वं तृष्टासि एवम् इयं योषित् तृष्टिकां
पुरुषस्य क्रोधरूपदाहजनिका भवेत् । यथा च औषधे त्वं विषात-
वसि एवम् इयं योषित् विषा पुरुषस्य विषरूपिणी स्यात् । यथा
विषम् अभोज्यम् एवम् इयम् इति विषेत्सुक्तम् । यथा च औषधे
त्वं परिवृक्ता सर्वैः प्राणिभिः परिवर्जिता अससि भवसि एवम्
इयं योषित् स्वपुरुषस्य परिवृक्ता संभोगेन त्यक्ता भवेत् । तत्र
दृष्टान्तः । ऋषभस्य वशेवेति । यथा पुंगवस्य वन्ध्या गौर्भोग्या
न भवति एवम् इयं पुरुषस्य भोग्या न स्याद् इति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली तृष्टिका औषधे ! तू
दाहजनक स्वभाव वाली है विषस्वरूप है, इस कारण तू वन्ध्या
गौं जिस प्रकार ऋषभसे परित्यक्त रहती है, तिस प्रकार तू सबसे
परित्यक्त रहती है । (दूसरा अर्थ) हे औषधे ! जैसे तू तृष्टिका
(दाहजनिका) है इसी प्रकार यह स्त्री पुरुषके क्रोधरूप दाहको
उत्पन्न करने वाली हो हे औषधे ! जैसे तू विषातकी है इसी
प्रकार यह पुरुषके लिये विषकी समान लगे अर्थात् जिस प्रकार
विष अभोज्य होता है ऐसे ही यह अभोग्या होजाय । हे औषधे

जैसे सब प्राणी तुम्हको छोड़ देने हैं, तिसी प्रकार पुरुष इस स्त्री को त्याग देय । उसमें दृष्टान्त यह है, कि-जैसे सॉडके लिये बंध्या गाँ भोग्या नहीं होती है, इसी प्रकार यह पुरुषके भोगके योग्य न होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आ ते ददे वृत्तणाभ्य आ तेहं हृदयाद् ददे ।

आ ते मुखस्य संकाशात् सर्वं ते वर्च आ ददे ॥ १ ॥

आ । ते । ददे । वृत्तणाभ्यः । आ । ते । अहम् । हृदयात् । ददे ।

आ । ते । मुखस्य । सम्काशात् । सर्वम् । ते । वर्चः । आ । ददे १

हे नारि ते तव वृत्तणाभ्यः । ऊरुसंधिर्वृत्तण इत्युच्यते । तेन स्त्रीप्रजननं लक्ष्यते । स्त्रीलिङ्गत्वं यानि शब्दापेक्षया बहुवचनं तु अवयवबहुत्यापेक्षया । यद्वा । ॐ वृत्त रोधे इति धातुः । रुध्यते पुरुषो यैरिति । वृत्तणाः । व्यत्ययेन टाप् ॐ । कटिविकटघूरुपादेभ्य इत्यर्थः । तेभ्योऽङ्गेभ्यः वर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे स्त्रीरुमि । अपहरामीत्यर्थः । तथा हे नारि ते तव हृदयात् समीचीनपदार्थव्यायिनो धीरान्मनसः संकाशाद् वर्चः साधुपुरुषध्यानरूपं तेजः अहम् आ ददे । नारीविषयदर्भाभ्यामोहम् अपहगामीत्यर्थः । तथा ते तव मुखस्य विश्वाहादकस्य वदनस्य संकाशाद् वर्चः विश्वसंमोहनरूपं तेजः । आ इति उपसर्गश्रुतेर्ददे इत्यपहः । किं बहुना ते तव सर्वम् सर्वावयववर्तिवर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे अपहरामि । ॐ “आडो दोनास्यविहरणे” इति आत्मनेपदम् ॐ ॥ अयं मन्त्रः प्रकरणात् स्त्रीविषयदर्भाभ्यामकरणे विनियुज्यते ॥

हे नारि ! जिनसे पुरुष रुंधता है मोहको उत्पन्न होता है उन

तेरे ऊरु कटि विकटि पैर आदि अङ्गोले मैं सोभाग्यरूप तेजको ग्रहण करता हूँ । और हे नारि ! तेरे समीचीनपदार्थका ध्यान करने वाले धीर मनसे साधु पुरुषका ध्यान करने योग्य तेजको नारीविषयकदौर्भाग्यको चाहने वाला मैं अपहरण करता हूँ । और तेरे मुख से सबको आल्हादित करने वाले तेजका मैं अपहरण करता हूँ, अधिक क्या मैं तेरे सब अवयवोंमें विद्यमान सौभाग्यरूप तेजको दूर करता हूँ (इस मन्त्रका प्रकरणवशा स्त्रीविषयकदौर्भाग्यकरण में विनियोग होता है) ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।

अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इतः । यन्तु । विऽआध्यः । प्र । अनुऽध्याः । प्रो इति । अशस्तयः ।

अग्निः । रक्षस्विनीः । हन्तु । सोमः । हन्तु । दुरस्यतीः ॥ २ ॥

व्याध्यः आधयो मानस्यः पीडाः । विविधा मनोनिष्ठाः पीडा व्याधयः रोगा वा । इतः अस्माद् रक्षोग्रहादिशृङ्खलात् पुरुषात् प्र यन्तु प्रगच्छन्तु । ❀ व्याङ्पूर्वाद् दधाते किः । “संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः” इति “जसि च” इति विहितस्य गुणस्याभावे यण् आदेशः ❀ । यद्वा विविधानि आध्यानानि दुश्चिन्तनानि प्रगच्छन्तु । ❀ व्याङ्पूर्वाद् ध्यायतेः “अन्येभ्योपि दृश्यते” इति क्विपि संप्रसारणे च यण् आदेशः ❀ । तथा अनुध्याः अनुध्यानानि रक्षोग्रहादिविषयाणि अनुगतानि संततानि स्मरणानि प्र । यन्तु इति अनुपङ्गः । तथा अशस्तयः अमृततयः परकृता निन्दाः हिंसा वा प्रो प्रैव यन्तु । किं च अग्निर्देवः रक्षस्विनीः रक्षो राक्षसः तद्वतीः तत्सहिताः पिशाचीः हन्तु विनाशयतु । सोमश्च दुरस्यतीः दुष्टं परेषाम् इच्छन्तीः

हन्तु । ❀ “दुरस्युर्द्रविणस्युर्दृषण्यति रिपण्यति” इति दुष्टशब्दस्य
 क्यचि दुरस्भावो निपात्यते । तदन्तात् शतृप्रत्ययः । “उगितश्च”
 इति ङीप् ❀ ॥

तुम्हारी विविध प्रकारकी मानसी पीड़ायें वा व्याधियें दूर
 होजावें । और राक्षस आदिके सब समय सदा रहनेवाले स्मरण
 दूर होजावें । और परकृतनिन्दायें दूर होजावें । अग्निदेवता
 राक्षसियों सहित पिशाचियोंको नष्ट कर डालें । और सोमदेव
 भी दूसरोंका बुरा चाहने वाली पिशाचियोंको नष्ट कर डालें २
 पञ्चमी ॥

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।

अयस्मयेनाङ्केन द्विपते त्वा संजामसि ॥ १ ॥

प्र । पत । इतः । पापि । लक्ष्मि । नश्य । इतः । प्र । अमुतः । पत ।

अयस्मयेन । अङ्केन । द्विपते । त्वा । आ । संजामसि ॥ १ ॥

हे पापि पापरूपिणि लक्ष्मि । अलक्ष्मीत्यर्थः । ❀ “केवल-
 मामकं” इत्यादिना पापशब्दात् ङीप् । पापि लक्ष्मि इत्युभयत्र
 “अभ्यर्थनयोर्ह्रस्वः” इति ह्रस्वत्वम् ❀ । इतः अस्मात् प्रदेशात्
 प्र पत प्रगच्छ । तथा इतः अस्मिन् प्रदेशे । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ ।
 नश्य अदृष्टा विनष्टा भव । ❀ एष अदर्शने । देवादिकः ❀ ।
 किं च अमुतः । अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची । अतिदूरात् देशादपि
 प्र पत प्रगच्छ । अपि च हे अलक्ष्मि अतिदूराद् देशादपि प्र-
 गच्छन्ती त्वा त्वाम् अयस्मयेन अयोमयेन अङ्केन वरुणकेन सह
 द्विपते शत्रवे सचाममि संबन्धीमः । ❀ पच समवाये अयस्मये
 नेति । “अयस्मयादीनि च्छन्दसि” इति निपातनाद् भसंज्ञायां
 पदसंज्ञानिवन्धनरत्वाभावः ❀ ॥

हे पापरूपिणि लक्ष्मि अर्थात् अलक्ष्मि ! इस प्रदेशसे जा तथा इस प्रदेशमें नष्ट हो जा और दूरसे भी दूर देशमें चली जा । हे अलक्ष्मि ! अति दूर देशको भी जाती हुई तुझको हम लोहे के काँटेके साथ शत्रुसे संयुक्त करते हैं ॥ १ ॥

पृष्ठी ॥

या मां लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो
रराणः ॥ २ ॥

या । मा । लक्ष्मीः । पतयालूः । अजुष्टा । अभिचस्कन्द ।
वन्दनाऽइव । वृक्षम् ।

अन्यत्र । अस्मत् । सवितः । ताम् । इतः । धाः । हिरण्यहस्तः ।
वसु । नः । रराणः ॥ २ ॥

पतयालूः पातयित्री दौर्गत्यकारिणी । ❀ पत गत्याम् इति चुरादौ अदन्तः पठ्यते । तस्माद् आलुच् प्रत्ययः ❀ । अजुष्टा अप्रिया निन्द्या या लक्ष्मीः मा माम् अभिचस्कन्द अभितो व्याप्ता वर्तते । तत्र वृष्टान्तः वन्दनेव वृक्षम् इति । वन्दना लताविशेष इति “वृष्टिके वृष्टवन्दने” इत्यत्र [११८] उक्तम् । सा यथा वृक्षम् अभित आवेष्ट्य वर्तते । ❀ स्कन्दिर्गतिशोषणयोः ❀ । अलक्ष्मीः मा मां शोषयामास वा । यथा वृक्षं वन्दना शोषयति । प्ररुढवन्दनस्तरुः शुष्यतीति प्रसिद्धम् । हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव ताम् अलक्ष्मीम् अस्मत् अस्मत्तः इतः अस्माद् अन्यत्र प्रदेशे धाः धेहि स्थापय । ❀ दधातेर्लेटि “इतश्च लोपः०” इति सिप इकार-

(४२०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

लोपः ॐ । किं कुर्वन् । हिरण्यहस्तः सुवर्णयुक्तपाणिः हिरण्यम-
पाणिर्वा नः अस्माकं वसु धनं रराणः प्रयच्छन् । ॐ रा दाने ।
लिटः कानच् ॐ । “हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप ह्वये”
[ऋ० १. २२. ५] इत्यादौ सवितुर्हिरण्यहस्तस्त्वम् आम्नायते ॥

दुर्गति देने वाली अप्रिय जो लक्ष्मी मेरे चारों ओर वृक्षको
सुखाने वाली वन्दनाकी समान व्याप्त है, अर्थात् सुभक्तो सुखा
रही है, (यह प्रसिद्ध ही है, कि-जिसके ऊपर वन्दना चढ़
जाती है वह वृक्ष सूख जाता है) हे सूर्यदेव ! आप सूर्यको
हाथमें ले ऽ हमको सुवर्ण देते हुए उस अलक्ष्मीको इस हमारे
स्थानसे दूसरे स्थानमें भेज दीजिये ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

एकशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुपोधि जाताः
तासां पापिष्ठा निरितिः प्र हिरण्यम शिवा अस्मभ्यं
जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एकशतम् । लक्ष्म्यः । मर्त्यस्य । साकम् । तन्वा । जनुपः ।
अधि । जाताः ।

तासाम् । पापिष्ठाः । निः । इतिः । प्र । हिरण्यमः । शिवाः ।

अस्मभ्यम् । जातवेदः । नि । यच्छ ॥ ३ ॥

एकशतम् एकाधि रुशतसंख्याका लक्ष्म्यः मर्त्यस्य मरणाधर्मणः

‡ ऋग्वेदसंहिता १ । २२ । ५ में कहा है, कि-“हिरण्यपाणिम्
ऊतये सवितारम् उपह्वये ।-मैं सुवर्णपाणि सूर्यदेवका रक्षाके लिये
आह्वान करता हूँ ॥ २-॥

मनुष्यस्य तन्वा शरीरेण साकम् सह जनुषः । ❀ अधिः पञ्च-
 म्यर्थानुवादी ❀ । जन्मनः उत्पत्तिप्रभृति जाताः उत्पन्नाः । मनु-
 ष्यस्य शरीरोत्पत्तिसमकाल एव एकशतं लक्ष्म्य उत्पन्नाः । तासां
 लक्ष्मीणां मध्ये पापिष्ठाः अतिशयेन पापीः अलक्ष्मीः इतः अस्मात्
 प्रदेशाद् निः निःशेषं प्र हिएमः प्रेषयामः अपसारयामः । ❀ हि
 गतौ वृद्धौ च । स्वादित्वात् षुः । “द्विनु मीना” इति एत्त्वम् ।
 “लोपश्चास्यान्यतरस्यां भ्वोः” इति उकारलोपः ❀ । हे जातवेदः
 जातानां वेदितः अग्ने तासां मध्ये याः शिवाः मङ्गलकारिण्यो
 लक्ष्म्यः ताः अस्मभ्यं नि यच्छ नियमय । स्थापयेत्यर्थः । ❀ यमेः
 “इषुगमियमां छः” इति द्वा देशः ❀ । यद्वा नि यच्छ नितरां
 प्रयच्छ । ❀ दाण् दाने । “पाघ्रा०” इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥

एकसौ एक लक्ष्मियें मनुष्यके जन्मके साथ उत्पन्न हुई हैं, उन
 मेंसे परम पापभरी (अलक्ष्मियों) को हम यहाँसे पूर्णरूपसे विदा
 करते हैं । हे जातवेदा अग्ने ! इनमें जो कल्याणारिणी लक्ष्मियें हैं
 उनमें, हमको नियमपूर्वक स्थापित करिये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

ए॒ता ए॒ना व्या॒करं॑ खि॒ले गा वि॒ष्ठिता॑ इव ।

र॒मन्तां॑ पु॒ण्यां ल॒क्ष्मी॒र्याः पा॒पीस्ता॑ अ॒नीन॑शम् ।४।

ए॒ताः । ए॒नाः । वि॒ष्का॑करम् । खि॒ले । गाः । वि॒स्थिताः॑ऽइव ।

र॒मन्ता॑म् । पु॒ण्याः । ल॒क्ष्मीः । याः । पा॒पीः । ताः । अ॒नीन॑शम् ४

एताः निर्दिष्टा एनाः एकशतं लक्ष्म्य इत्यन्वादिष्टा लक्ष्मीः व्या-
 करम् विविच्य आकरोमि द्विधा करोमि । ❀ करोतेर्लुङि “ऊ-
 मृदुरुहिभ्यः०” इति च्लेः अङ् । “ऋदृशोङि गुणः” इति गुणः ❀ ।

तत्र दृष्टान्तः । यथा खिले व्रजे विष्टिताः विशेषेण संभूय स्थिता
एकत्र प्रदेशे स्थिता गा यथा विविञ्चन्ति गोपालास्तत्तत्कार्य-
करणाय ॥ तत्र पुण्याः कन्याण्यो लक्ष्मी लक्ष्म्यः रमन्ताम् मयि
सुखेन निवसन्तु । याः पापीः पापकारिण्यो दुर्लक्ष्म्यः ताः सर्वा
अनीनशन् । नश्यन्तु इत्यर्थः । ❀ स्वार्थिको णिच् ❀ । नाश-
यन्तु वा देवाः ॥

मैं इन एक सौ एक लक्ष्मियोंको विचार कर दो भागोंमें इस
प्रकार विभक्त करता हूँ, (जिस प्रकार) गोठमें वर्तमान गोपाल
गौश्रीको विभक्त कर लेते हैं । इन लक्ष्मियोंमेंसे कन्याणमयी
लक्ष्मियें मुझमें रमण करें और पापकारिणी सब लक्ष्मियें-
दुर्लक्ष्मियें नष्ट होजावें ॥ ४ ॥

नवमी ॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे ।

नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

नमः । रूराय । च्यवनाय । नोदनाय । धृष्णवे ।

नमः । शीताय । पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥

च्यवनाय । ❀ च्युह् प्लुह् गर्तो । “अनुदात्तेतश्च इत्यादेः”
इति युच् ❀ । च्यावयित्रे शारीरस्वेदपातयित्रे नोदनाय । ❀ नुद
प्रेरणे ❀ । इतस्ततः प्रेरकाय विक्षेपयित्रे धृष्णवे । ❀ धृष प्रस-
हने इति चुरादौ पठ्यते । “आधृपाद् वा” इति विकल्पितो णिच् ।
“त्रसिष्टविष्टपिप्तिपेः क्तुः” इति क्तुः ❀ । प्रसहनकारिणे
रूराय लष्णज्वराय ज्वराभिमानिने देवाय नमः नमस्कारोस्तु ।
तथा पूर्वकामकृत्वने पूर्वेषाम् अभिलाषाणां कर्तित्रे क्षेत्रे शीताय
ज्वराय शीतज्वराभिमानिने नमः नमस्कारोस्तु । शीतज्वरो हि इदं

करोमि इदं करोमीति पूर्वं काम्यमानम् अभिलाषं निकृन्तति
चिरकालं बाधाकारित्वात् । ❀ कृती छेदने । “अन्येभ्योपि
दृश्यन्ते” इति कनिष् । “नेद्वशि कृति” इति इणिनपेधः ❀ ॥

शरीरमेंसे पसीना बहाने वाले, शरीरको इधर उधर फिक-
वाने वाले, धर्षक उष्णज्वर (के अभिमानी) रूरके लिये नम-
स्कार हो, तथा पहिली अभिलाषाओंको छिन्न भिन्न करनेवाले
शीतज्वरके अभिमानी शीतके लिये नमस्कार हो अर्थात् शीत-
ज्वर ही यह करूँगा वह करूँगा आदि अभिलाषाओंको चिर-
काल तक रहनेके कारण नष्ट कर डालता है ॥ १ ॥

दशमी ॥

यो अन्येद्युरुभयेद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्येत्स्वव्रतः ॥२॥

यः । अन्येद्युः । उभयेद्युः । अभिऽएति । इमम् । मण्डूकम् ।
अभि । एतु । अव्रतः ॥ २ ॥

यो ज्वरः अन्येद्युः अन्यस्मिन् दिवसे इमं पुरुषम् अभ्येति अभि-
गच्छति । यश्च उभयेद्युः उभयोर्दिवसयोः । अतीतयोरिति शेषः ।
अभ्येति । चातुर्थिकज्वर इत्यर्थः । इदम् अनियतकालागामिनो
ज्वरस्य उपलक्षणम् । ❀ “सद्यः परतु परायैपमः०” इति सूत्रे
अन्येद्युरुभयेद्युरिति शब्दौ निपातितौ ❀ । अव्रतः । व्रतशब्दौ
नियमवाची । अनियतकालः स ज्वरः मण्डूकम् भेकम् अभ्येतु
अभिगच्छतु ॥

जो ज्वर तीसरे दिन इस पुरुषको आजाता है अथवा चौथे
दिन आजाता है, ऐसा अनियमित ज्वर मण्डूक पर उतर जावे २

एकादशी ॥

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूरशोमभिः ।

मा त्वा के चिद् वियमन् विं न पाशिनोति धन्वेव
ताँ इहि ॥ १ ॥

आ । मन्त्रैः । इन्द्र । हरिऽभिः । याहि । मयूररोमऽभिः ।

मा । त्वा । के । चित् । वि । यमन् । विम् । न । पाशिनः ।

अति । धन्वेऽइव । तान् । इहि ॥ १ ॥

हे इन्द्र मन्त्रैः मदशीलैः स्तुत्यैर्वा मयूररोमभिः मयूररोमसदृश-
रोमयुक्तैः श्यामवर्णैः हरिभिः अश्वैः आ याहि आगच्छ । हे इन्द्र
त्वा त्वां के चित् स्तोतारः मा वि यमन् स्तुतिभिर्मा विशेषेण
नियच्छन्तु । मा निरौत्सुरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः विं न पाशिन
इति । नशब्द उपमार्थे । यथा विम् पक्षिणं पाशिनः पाशवन्तो
व्याधा पाशैर्वध्नन्ति तद्वत् । तान् अन्यान् स्तोतृन् अति । ❀ अति
क्रमणे अतिः कर्मप्रवचनीयः ❀ । अतीत्य इहि गच्छ अस्मान् ।
तत्र दृष्टान्तः धन्वेवेति । यथा धन्व निर्जलं मरुप्रदेशं पिपासिताः
पान्थाः शीघ्रम् अतियन्ति तद्वत् । मन्त्रनिरिक्तान् अन्यान् स्तोतृन्
अतीत्य अस्मान् एव शीघ्रम् आगच्छेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आप मदमाने और मयूरोंके रोमकी समान रोम वाले
घोड़ोंके द्वारा यहाँ आइये । जैसे जल वाले बहेलिये पत्तीको बाँध
लेते हैं, इम प्रकार आपको कोई और स्तोता रोक न सकें जैसे
प्यासा मनुष्य मरुदेशको शीघ्र ही लॉव जाता है तिसी प्रकार
आप उन अन्य स्तोताओंको लॉव कर शीघ्र हमारे पास ही आइये ?
दादशी ॥

मर्माणि ते वर्मणा ह्लादयामि सोमंस्त्वा राजामृतेनानु
वस्ताम् ।

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु १

मर्माणि । ते । वर्मणा । द्वादयामि । सोमः । त्वा । राजा । अमृ-
तेन । अनु । वस्ताम् ।

उरोः । वरीयः । वरुणः । ते । कृणोतु । जयन्तम् । त्वा । अनु ।
देवाः । मदन्तु ॥ १ ॥

हे जयकाम राजन् ते त्वदीयानि मर्माणि मर्मस्थानानि वर्मणा कवचेन द्वादयामि प्रयोक्ता अहं संटणोमि ।- सोमो राजा त्वा त्वाम् अमृतेन अविनाशिना तेजसा वा अनु वस्ताम् मर्मच्छादना-
नन्तरम् आच्छादयतु । ❀ वस आच्छादने । आदादिकः । अनु-
दात्तेत् । लोटि “आम् एतः” इति आम् आदेशः ❀ ॥ तथा उरोः
वहोरपि वरीयः उरुतरं सुखं वरुणः शत्रुनिवारकः एतन्नामा देवः
ते तुभ्यं कृणोतु करोतु । ❀ वरीय-इति । उरुशब्दाद् ईयसुन् ।
“प्रियस्थिर०” इत्यादिना वृ आदेशः ❀ ॥ तथा देवाः इन्द्राद्याः
सर्वे जयन्तम् परसेनां त्रासयन्तं [त्वा] त्वाम् अनु मदन्तु अनु-
हृष्यन्तु । जहि भिन्धि इत्येवंत्रिभैर्वाक्यैः प्रोत्साहयन्तु इत्यर्थः ॥

तृतीयं सूक्तम् ।

सप्तमकाण्डे दशमोनुवाकः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेरवरः ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेस्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये

सप्तमकाण्डः समाप्तः ॥

(४२६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे जयाभिलाषिन् राजन् ! मयोग करने वाला मैं आपके मर्म-स्थानोंको कवचसे ढकता हूँ, मर्माच्छादनके अनन्तर राजा सोम आपको अविनाशी तेजसे सम्पन्न करें। और वरुण देवता आपको बड़ेसे बड़ा सुख देवें। और शत्रुसेनाको जीतते हुए आपका इन्द्र आदि देवता अनुमोदन करें अर्थात् मार डालिये, काट डालिये आदि वाक्योंसे आपको उत्साहित करें ॥ १ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (४३८) ॥

दशम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका सप्तम काण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ सप्तमः काण्डः समाप्तः ॥



❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

अष्टमं काण्डम्



स्वायम्भुव्याः और भ्रातृनुवाकसंहिता

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ॥

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥

वागीश आदि देवता सब कार्योंका आरम्भ करते समय जिनको प्रणाम करके कृतकृत्य होते हैं उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यस्य निश्वासितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ॥

निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सम्पूर्ण वेदोंकी सृष्टि की है उन विद्यातीर्थ महेश्वर-शंकर-को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

अष्टमकाण्डे पञ्चानुवाकाः । तत्र आद्येनुवाके पञ्च सूक्तानि । तेषु “अन्तकाय मृत्यवे” इत्यादिसूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम् इत्युच्यते । अनेन उपनयनकर्मणि माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । “उपनयनम्” प्रक्रम्य सूत्रितम् । “दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आरभस्व” [८. २] इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा आयुष्कामस्य “अन्तकाय” इति सूक्तद्वयेन शरीरम् अभिमन्त्रयेत् ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अभिमन्त्रयेत् ॥

सूत्रितं हि । “उप मियम् [७. ३३] अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व” [८. २] इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा अस्य अर्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् “विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्” [कौ० १४. ३] इत्यादिषु विनियोगोनुसंधेयः ॥

तथा त्रिंशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां महाशान्तौ “अन्तकाय” इत्यनेन जपं कुर्यात् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । “पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति” इति [न०क०२३] ॥

आठवें काण्डमें पाँच अनुवाक हैं । पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इसमें “अन्तकाय मृत्यवे” ये दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं । इस अर्थसूक्तसे उपनयनकर्ममें बालककी नाभिका स्पर्श कर आचार्य जप करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि—“उपनयनम्” का आरम्भ करके फिर कहा है, कि—“दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८।२) इति” ॥

तथा “अन्तकाय” इन दोनों सूक्तोंसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे ।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।६ का प्रमाण है, कि—“उप मियम् (७।३३) अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८।२)” ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे “विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात् ।—विश्वकर्मगणके आयुष्यगणके और स्वस्त्ययनगणके मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय ।” इनका कौशिकसूत्र ७।६ आदिमें विनियोग करना चाहिये ।

तथा तीस महाशान्तिर्योकी प्रधानरूप महाशान्तिमें 'अन्तकाय' से जप करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“पुनस्त-
देव जप्यं तु शन्तातीयं अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति”
(नक्षत्रकल्प २३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य
लोके ॥ १ ॥

अन्तकाय । मृत्यवे । नमः । प्राणाः । अपानाः । इह । ते ।
रमन्ताम् ।

इह । अयम् । अस्तु । पुरुषः । सह । असुना । सूर्यस्य । भागे ।
अमृतस्य । लोके ॥ १ ॥

आयुष्कामस्य आयुर्वृद्धिः मृत्योरधीनेति तन्नमस्कार आदौ
क्रियते । अन्तकाय अन्तं करोतीत्यन्तकस्तस्मै सर्वप्राणिनाशकर्त्रे
मृत्यवे प्राणिवियोजकाय एतन्नामकाय देवाय नमः नमस्कारः ।
अस्त्विति शेषः । हे आयुष्काम माणवकादे ते तव प्राणाः ।
प्राणन्तीति प्राणाः वहिर्मुखसंचारिणो वायवः । अपानाः । अप
अनन्तीत्यपानाः अवाङ्मुखसंचारिणः । ते च अन्तकानुग्रहाद्
इह अस्मिन् शरीरे रमन्ताम् क्रीडन्तु । प्राणापहर्तुर्मृत्योर्नमस्कारेण
प्रीतत्वात् तद्विषयभीतिम् अपहाय सुखेन संचरन्तु इत्यर्थः । प्राणा-
पानयोर्वापारद्वेषेर्बहुत्वाद् बहुवचनप्रयोगः । एवं प्राणापानयो-
रनपगम् आशास्य इदानीं तत्सहितस्य पुरुषस्य अनपगतिम्

आशास्ते । अयं प्राणप्रच्युतिं शङ्कमानः पुरुषः अमृता प्राणेन ।
 वृत्तिवहुत्वानपेक्ष्यात् सामान्याभिमायेण एकवचनम् । तेन सह
 सर्वदा अविनाभूतः सन् इह भूलोक एवास्तु भवतु । इह अस्त्विति
 यद् उक्तं तद् विशिनष्टि । सूर्यस्य आदित्यस्य भागे प्रदेशविशेषे
 भूलोके । सूर्यव्याप्तेर्विषयभूतास्त्रयो भागाः घूर्न्तरिक्तं भूश्च ।
 तत्र अपेक्षितत्वाद् इह भागशब्देन भूलोकः परिगृह्यते । तम् एव
 विशिनष्टि । अमृतस्य लोके । अमृतशब्देनात्र पात्रादिरूपेणाव-
 स्थानम् अभिधीयते मनुष्यैराशास्यमानत्वात् । श्रूयते हि । “प्रजाम्
 अनु प्रजायसे तद् तु ते मर्त्यामृतम्” इति [तै० ब्रा० १. ५. ५. ६] ।
 तथाविधस्य अमृतस्य लोके । लोच्यत इति लोकः स्थानं भूलोक
 इत्युक्तं भवति ॥

(आयुष्कामकी आयुर्वृद्धि मृत्युके अधीन है अत एव पहिले
 उसको ही नमस्कार करते हैं, कि-) अन्त करने वाले अन्तक,
 सरल प्राणियोंका नाश करने वाले मृत्यु नामक देवताके लिये
 नमस्कार है । बहिर्मुखसञ्चारी प्राणन करने वाले प्राण, और
 अवाद्मुखसञ्चारी अपान अंतकके अनुग्रहसे इस शरीरमें क्रीड़ा
 करें । तात्पर्य यह है, कि-प्राणका हरण करनेवाले मृत्युके नमस्कार
 के द्वारा प्रसन्न होने पर उसकी भीतिको छोड़ कर (अनेक
 प्रकारकी व्यापारवृत्ति वाले) प्राण और अपान सुखपूर्वक विच-
 रण करें । (इस प्रकार प्राण और अपानके अनपगमनकी मार्थना
 कर अब उनके साथ वर्तमान पुरुषके अनपगमनकी आशा करते
 हैं, कि-) यह प्राणोंके छूटनेकी शङ्का करता हुआ पुरुष प्राणसे
 रहता हुआ प्रजा आदिसे अमृतलोक इस सूर्यके भागरूप
 भू लोकमें रहे + ॥ १ ॥

† सूर्यव्याप्तिके घूर् अन्तरिक्त और भू ये तीन लोक हैं यहाँ
 अपेक्षित होनेसे भाग शब्दसे भूलोकका ही ग्रहण किया है और

द्वितीया ॥

उदे॒नं॒ भ॒गो अ॒ग्र॒भी॒दुदे॒नं॒ सो॒मो अंशु॒मान् ।

उदे॒नं॒ म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥ २ ॥

उत् । ए॒नम् । भ॒गः । अ॒ग्र॒भी॒त् । उत् । ए॒नम् । सो॒मः । अंशु॒मान् ।

उत् । ए॒नम् । म॒रुतः॑ । दे॒वाः । उत् । इन्द्रा॒ग्नी इति॑ । स्व॒स्तये॑ । २ ।

भगो नाम आदित्यमूर्तिविशेषः । “अंशश्च भगश्च” [तै०
 आ० १. १३. ३] इति अदितिपुत्राणां मध्ये श्रवणात् । सर्व-
 प्राणिभिर्भजनीयो भगो देवः एनं मूर्च्छालक्षणे अन्धे तमसि प्रवि-
 शन्तं पुरुषम् उद् अग्रभीत् उद्घृतवान् । ❀ “हृग्रहोर्भश्चन्दसि”
 इति भत्वम् ❀ ॥ तथा अंशुमान् अमृतमयैरंशुभिस्तद्वान् सोमो
 देवः । एनम् उत् । अग्रभीत् इत्यनुपज्यते । एवं मरुतः एकोन-
 पञ्चाशत्संख्याका देवा एनम् उत् । अग्रभीपुरिति वचनविपरि-
 णामेन अनुबद्धः कर्तव्यः । एवम् इन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च उभा-
 वपि मुख्यौ देवौ उदग्रहीष्टाम् । अत्र द्विवचनविपरिणामः किम-
 र्थम् उदग्रहणम् इति तत्राह । स्वस्तये । सु अस्तीति स्वस्तिः ।
 क्षेमायेत्यर्थः ॥

भग (सूर्य) नामक सत्र प्राणियोंके भजने योग्य देवताने
 इस मूर्च्छारूप अन्धकारमें प्रवेश करते हुए पुरुषका उद्धार कर

पुत्र पौत्र आदिरूपमें वर्तमान रहनारूप अमृतत्वकी मनुष्य प्रार्थना
 करते हैं, अत एव मर्त्यलोकको अमृतका लोक कहा है । तैत्ति-
 रीयब्राह्मण १ । ५ । ५ । ६ में कहा है, कि—प्रजाम् अनु प्रजायसे
 तदु ते मर्त्यामृतम् ।—जो तू प्रजारूपमें उत्पन्न होता है, हे मर्त्य !
 यही तेरा अमृतत्व है” ॥

(४३२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित ।

लिया है तथा (अमृतमय) किरणों वाले चन्द्रदेवने भी इसका उद्धार कर लिया है, उद्भ्रंशस मरुद्गणोंने भी इसका उद्धार कर लिया है तथा इन्द्र और अग्निदेवताने भी इसका उद्धार करनेके लिये इसको ग्रहण कर लिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इह तेसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।

उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि

इह । ते । अमुः । इह । प्राणः । इह । आयुः । इह । ते । मनः ।

उत् । त्वा । निःऋत्याः । पाशेभ्यः । दैव्या । वाचा । भरामसि ३

हे आयुरर्थयमान पुरुष ते अमुः मुख्यः प्राणश्चक्षुरादिः इह शरीरे अस्तु । तथा ते प्राणः पञ्चवृत्त्यात्मको वायुरपि इह अस्तु । एवं ते आयुरपि इह अस्तु । तथा ते मनोपि इह अस्तु । एते सर्वेपि त्वां विहाय अन्यत्र मापसरन्तु । हे गतासो पुरुष त्वा त्वां निर्ऋत्याः एतन्नामिकायाः पापदेवतायाः पाशेभ्यः बन्धनरज्जु-भ्यः सकाशाद् दैव्या देवसंबन्धिन्या वाचा मन्त्ररूपया उद्धारामसि ऊर्ध्वं भरामः हरामः नयामः ॥

हे आयुक्ती प्रार्थना करने वाले पुरुष ! तेरा मुख्य प्राण चक्षु आदि इस शरीरमें रहे, तथा पञ्चवृत्त्यात्मक प्राण भी इस शरीर में रहे, तेरी आयु भी इसी शरीरमें रहे और तेरा मन भी यहाँ ही रहे । अर्थात् ये सब तुम्हको छोड़ कर अन्यत्र न जावें । हे गतासो पुरुष ! तुम्ह निर्ऋति नामक पापदेवताके पाशोंसे देवसंबन्धी मन्त्ररूपा वाणीसे उद्धार करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत् क्रामातः पुरुष मावं पत्था मृत्योः पद्वीशमव-
मुञ्चमानः ।

मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ।४।

उत् । क्राम । अतः । पुरुष । मा । अव । पत्थाः । मृत्योः ।

षड्वीशम् । अवमुञ्चमानः ।

मा । च्छित्थाः । अस्मात् । लोकात् । अग्नेः । सूर्यस्य । सम्दृशः

हे पुरुष त्वम् अतः अस्माद् मृत्युपाशनिचयाद् उत्क्राम उत्क्रमणं कुरु । माव पत्थाः अवपतनं मा कार्षीः । ❀ पद गतौ इत्यस्मात् लुङि “एकाच उपदेशेनुदात्तात्” इति इट्प्रतिषेधः । “भूलो भूलि” इति सिचो लोपः ❀ । वद्धस्य कथम् उत्क्रमणं घटत इत्यत आह । मृत्योः हिंसकस्य देवस्य षड्वीशम् पादबन्धनपाशम् अवमुञ्चमानः विच्छिन्दन् अस्माद् भूलोकाद् मा च्छित्थाः छिन्नो मा भूः । ❀ छिदेलुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः ❀ । किमर्थम् इति चेद् उच्यते । अग्नेः सूर्यस्य च संदृशः संदर्शनाद्धेतोः अग्नि-सूर्ययोरिचरकालसंदर्शनाय । चिरजीवनायेत्यर्थः । “ज्योक् च सूर्यं दृशे” इति हि श्रुतिः [ऋ० १०. ६. ७] । ❀ संपूर्वाद् दृशेः संपदादित्वाद् भावे क्विप् ❀ ॥

हे पुरुष ! तू इस मृत्युके पाशजालसे उत्क्रमण कर, इसमें ही नीचेको मत गिर । तू हिंसक मृत्युदेवके पाशबन्धनको काट दे और इस भूलोकसे अग्नि और सूर्यदेवका दर्शन करनेके लिये † छिन्न न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तुभ्यं वातेः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः ।

† ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । ७ में कहा है, कि—“ज्योक् च सूर्यं दृशे” ॥

सूर्यस्ते तन्वे शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्रमेष्टाः ५

तुभ्यम् । वातः । पवताम् । मातरिश्वा । तुभ्यम् । वर्षन्तु । अमृ-
तानि । आपः ।

सूर्यः । ते । तन्वे । शम् । तपाति । त्वाम् । मृत्युः । दयताम् ।
मा । प्र । मेष्टाः ॥ ५ ॥

पुनः मरणाभावं सोपपत्तिकम् आशास्ते । हे मृमूर्पो पुरुष
तुभ्यं त्वदर्थं मातरिश्वा । माता अन्तरिक्षम् निर्मायन्तेस्मिन् भूता-
नीति व्युत्पत्तेः । तस्मिन् श्वसितीति मातरिश्वा । तादृशो वातः
वायुस्तव सुखाय पवताम् । ❀ पवतिर्गतिर्कर्म ❀ । संचरतु ।
तथा आपश्च तुभ्यं त्वदर्थम् अमृतानि वर्षन्तु सिञ्चन्तु । तथा सूर्यो
देवस्ते तव तन्वे शरीराय शम् सुखं यथा भवति तथा तपाति
तपतु । ❀ तप संतापे । अस्मात् लेट् । “लेटोढाटौ” इति
आढागमः ❀ । एतत् सर्वं मृत्योरनुग्रहम् अन्तरेण न घटत इति
तदनुग्रहम् आशास्ते । हे पुरुष त्वां मृत्युर्देवो दयताम् रक्षां करोतु ।
अतस्त्वं मा प्र मेष्टाः मृतिं मा गाः । ❀ मीड् हिंसायाम् । लुडि
पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः ❀ ॥

हे मृमूर्पु पुरुष ! जिसमें भूतोंका निर्माण होता है उस माता-
रूप अन्तरिक्षमें श्वास लेने वाले मातरिश्वा वायु तेरे लिये सुख-
पूर्वक चले, और जल भी तेरे लिये अमृतकी वर्षा करे, सूर्य-
नारायण तेरे शरीरको जिस प्रकार सुख पहुँचे तिस प्रकार तपे,
(यह सब मृत्युके अनुग्रहके बिना नहीं होसकता अतः मृत्युसे
आशा करते हैं, कि—) मृत्युदेवता तेरे ऊपर दया करे, इस लिये
तू मृत्युको प्राप्त न हो ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि
उत्स्यानम् । ते । पुरुष । न । अवस्यानम् । जीवातुम् । ते । दक्ष-
तातिम् । कृणोमि ।

आ । हि । रोह । इमम् । अमृतम् । सुखम् । रथम् । अथ ।
जिर्विः । विदथम् । आ । वदासि ॥ ६ ॥

हे पुरुष ते तव उद्यानम् उद्गमनमेव । मृत्युपाशाद् इति शेषः ।
अवयानम् अवाग्गमनं नैवास्ति । तत् कथम् एतत् संपत्स्यत इति
तत्राह । ते तव जीवातुम् जीवनौषधं कृणोमि करोमि । केवलं
जीवनमेव न किं तु दक्षतातिम् । ❀ स्वार्थिकस्तातिः ❀ । दक्षं
बलं च कृणोमि । त्वं च आ रोह अधितिष्ठ इमम् अमृतम् अमरण-
धर्मकं सुखम् इन्द्रियेभ्योऽनुकूलं रथम् यानम् । देहो वा रथत्वेन
उपचर्यते । अतो जीवात्मनो देहेवस्थानं प्रार्थ्यते । आरुह्य च अजिर्विः
अजीर्णः सन् । ❀ जष्वयोहानौ । औणादिको विन् प्रत्ययः ।
“ऋत इद्धातोः” इति ईत्त्वम् ❀ । विदथम् वेदनम् आ वदासि
आवद । लब्धसंज्ञोस्मीति आचक्ष्वेत्यर्थः ॥

हे पुरुष ! मृत्युके पाशासे तेरा उद्गमन ही होवे उस पर नीचे
को गिरना न हो (ऐसा होनेका उपाय यह है, कि—) तेरे, जीनेके
लिये औषधको करता हूँ । तेरे लिये बलको करता हूँ । तू इस
अमरणधर्मके इन्द्रियसुखके निमित्त रसरूप शरीर पर आरोहण
कर और आरुढ़ होकर अजीर्ण रहता हुआ वेदनको कह अर्थात्
सुभक्तको होश होगया है—यह कह ॥ ६ ॥

।सप्तमी ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्रमदो
मानु गाः पितृन् ।

विश्वे देवा अभि रचन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

मा । ते । मनः । तत्र । गात् । मा । तिरः । भूत् । मा । जीवेभ्यः ।
प्र । मदः । मा । अनु । गाः । पितृन् ।

विश्वे । देवाः । अभि । रचन्तु । त्वा । इह ॥ ७ ॥

तत्र तस्मिन् यमविषये ते मनो मा गात् गतं मा भूत् । तथा
मा तिरो भूत् अन्तर्हितं विलीनमपि मा भूत् । किं च त्वं जीवेभ्यः
बन्धुभ्यस्तेषाम् अर्थाय मा प्र मदः अनवधानं माप्नुहि ।
⊗ मदी ह्ये । पुषादित्वाद् अद् । मदिः प्रोपसृष्टः अनवधाने
वर्तते ⊗ । पितृन् मृतान् पूर्वपुरुषान् मानु गाः अनुगतिं मा कार्षीः ।
विश्वे देवाः इन्द्राद्या इन्द्रियाणि वा त्वा त्वाम् अभि रचन्तु सर्वतः
पालयन्तु । कुत्रेति चेद् उच्यते । इह अस्मिन्नेव शरीरे इह भूतले वा ॥

यमके विषयमें तेरा मन न जावे, तथा विलीन भी न होवे
और तू बन्धुरूप जीवोंसे प्रमाद न कर, पितरोंके पास मत जा ।
इन्द्र आदि संपूर्ण देवता वा इन्द्रियें इस शरीरमें ही चारों ओर
तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

मा । गतानाम् । आ । दीधीथाः । ये । नयन्ति । पराश्वतम् ।
 आ । रोह । तमसः । ज्योतिः । आ । इहि । आ । ते । हस्तौ ।
 रभामहे ॥ ८ ॥

गतानाम् पितृलोकं प्राप्तानाम् । मार्गम् इति शेषः । मा दीधीथाः
 तं प्रति देवनं मा कार्पीः । ❀ दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः । लुङ् ।
 ब्रान्दसः सिचो लुक् ❀ । अथ वा गतमार्गं मा ध्याय । ❀ ध्ये
 चिन्तायाम् । ब्रान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । अथ वा । ❀ गतानाम्
 इति कर्मणि षष्ठी ❀ । मृतान् मा चिन्तयेत्यर्थः । ते विशेष्यन्ते ।
 ये गतास्त्वामपि पराश्वतम् दूरदेशं नयन्ति । यथा त्वं पुनर्नायासि
 तथा प्रापयन्तीत्यर्थः । अतस्त्वं तमसः । अत्रियमाणस्य पुरुषस्य
 समस्तस्यापि ज्ञानस्य नाशात् तमःप्रवेश इव भवति अतस्तमसः
 सकाशात् ज्योतिः । ज्योतिः प्रकाशः । प्रकाशं ज्ञानम् आ
 रोह अधिष्ठित । आश्रयेत्यर्थः । अन्धकारप्रविष्टस्य कथम् आरोह-
 णम् इति तत्राह । ते तव हस्तौ आ रभामहे गृह्णीमः । आरोह-
 णानुकूलप्रयत्नं कुर्म इत्यर्थः ॥

पितृलोकको प्राप्त हुए पितरोंके मार्गका चिन्तवन न कर-
 उन मरे हुआका ध्यान न कर-वे गए हुए भी तुम्हको दूर देश
 को लेजासकते हैं, जिस प्रकार तू फिर न आवे तिस प्रकार ले
 जा सकते हैं (मरनेके निकट पड़े हुए पुरुषका समस्त ज्ञान नष्ट
 होजानेसे उसका वह अंधकार प्रवेश सा होता है अतः उस)
 अंधकारसे ज्योति प्रकाश-ज्ञान पर आरूढ़ हो (अंधकारमें घुसे
 हुएका आरोहण किस प्रकार हो सकता है, इस शंकाके उत्तर
 में कहते हैं, कि-) तेरे हाथोंको हम ग्रहण करते हैं अर्थात् आरो-
 हणके अनुकूल प्रयत्नको करते हैं ॥ ८ ॥

नवमी ॥

श्यामश्च त्वा मा श्वलंश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी
श्वानौ ।

अर्वाङ्गेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ६

श्यामः । च । त्वा । मा । श्वलः । च । प्रेषितौ । यमस्य ।

यौ । पथिरक्षी इति पथिरक्षी । श्वानौ ।

अर्वाङ् । आ । इहि । मा । वि । दीध्यः । मा । अत्र । तिष्ठः ।

पराङ्मनाः ॥ ६ ॥

हे मुमूर्षो पुरुष त्वा त्वां श्यामथ एतन्नामा श्वा । वर्णमयु-
क्त्येयं संज्ञा । मा । वाधताम् इति शेषः । एवं श्वलश्च श्वा मा
वाधताम् । चित्रवर्णत्वात् श्वल इति संज्ञा । तौ विशेष्येते । यमस्य
सर्वमाणिमाणाषद्वर्तुदेवस्य पथिरक्षी मार्गरक्षकी यौ श्वानौ स्तः ।
तत्र श्यामथ श्वलश्चेति संबन्धः । श्वभ्याम् असंदष्टः सन् अर्वाङ्-
अस्मदभिमुखः एहि आगच्छ । मा वि दीक्षतः ध्यानं मा कार्षीः ।
किम् इत्याशङ्कायां मृतानां मार्गम् इत्यवतिष्ठते । तदेव भङ्ग्यन्तरे-
णाह । अत्र अस्मिन् भूलोके वर्तमानः सपदि पराङ्मनाः अप्रति-
निवृत्तिचित्तविषयध्यानोपेतः सन् मा तिष्ठः मा वर्तस्व ॥

हे मुमूर्षु पुरुष ! सब प्राणियोंके प्राणोंको हरने वाले . यम-
राजके जो श्याम और श्वल नामके मार्गरक्षक दो कुत्ते हैं वे
तुम्हको बाधा न दें, कुत्तोंसे न कटवा कर हमारी ओरमुख कर
के आ, ध्यान मत करे, विषयोंसे पराङ्मुख होकर यहाँ न रह
(सांसारिक सभी कामोंको कर) ॥ ६ ॥

दशमी ॥

सैतं पन्थामनुं गा भीम एष येन पूर्वनेयथ तं ब्रवीमि ।

तम एतत् पुरुष मा प्र पन्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥

मा । एतत् । पन्थात् । अनु । गाः । भीमः । एषः । येन । पूर्वम् ।

न । इयथ । तम् । ब्रवीमि ।

तदः । एतत् । पुरुष । मा । प्र । पन्थाः । भयम् । परस्तात् । अभ-

यम् । ते । अर्वाक् ॥ १० ॥

हे गतासो पुरुष त्वम् एतं पूर्वोक्तं पन्थाम् पन्थानं मृता येन गच्छन्ति तं मानु गाः अनुसृत्य मा याहि । अनुगमननिषेधस्य कारणम् आह । एष मार्गो भीमो भयहेतुः । एतच्छब्दार्थम् आह । येन मार्गेण पूर्वम् मृतेः प्राक्काले नेयथ न गच्छसि । ॐ वचन-
व्यत्ययः ॐ । [तं] मार्गं ब्रवीमि । मानु गा इति निषेधप्रतियोगि-
तया वचनीत्यर्थः । एतत् मरणालक्षणं तमः अन्धकारम् अज्ञानं
या प्र पन्थाः प्रयत्नं मा कार्षीः । पुरस्तात् पूर्वदेशे यमपुरप्रदेशे
भयम् । भवतीति शेषः । अर्वाक् अस्मदभिमुखानुगमनमार्गे ते
तव अभयम् भयाभावः । क्षेमं भवतीत्यर्थः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुदाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे गतासु पुरुष ! जिससे मरे हुए पुरुष जाते हैं उस मार्गका अनुसरण करके तू न जा, क्योंकि—यह मार्ग भयंकर है, इस मार्ग से मरनेसे पहिले नहीं जाना चाहिये । हे पुरुष ! तू इस मरणालम्बक अन्धकारको प्राप्त न हो, यमदेशमें भय होता है और हमारी ओर मुख करके आनेके मार्गमें भयाभाव अर्थात् क्षेम होगा ॥ १० ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

“रक्षन्तु त्वा” इत्यस्य सूक्तस्य उपनयनकर्मादिषु पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा हिरण्यगर्भख्ये महादाने “रक्षन्तु त्वा” इत्यनेन कर्तृ रक्षां कुर्यात् । “हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः” इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । “यदावधन् [१. ३५] इति हिरण्यस्रजम् आग्रध्य रक्षन्तु त्वा [८. २. ११-२१] इति रक्षां कृत्वा” इति [प० १३. १] ॥

तथा अश्वरथारूपमहादाने अनेन यजमानम् अभिमन्त्रयेत् । “अथाश्वरथदानविधिः” इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । “पुनन्तु मा [६. १६] इत्यात्मानम् आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्रयः [८. २] इति यजमानम् अभिमन्त्र्य” इति [प० १४. १] ॥

“रक्षन्तु त्वा” इस सूक्तका उपनयन कर्म आदिमें पहिले सूक्त के साथ विनियोग कह दिया है ।

तथा हिरण्यगर्भ नामक महादानमें “रक्षन्तु त्वा” से कर्ताकी रक्षा करे । परिशिष्टमें “हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः” का आरंभ करके कहा है, कि-“यदावधन् (१ । ३५) इति हिरण्यस्रजं आग्रध्य रक्षन्तु त्वा (८ । २) इति यजमानं अभिमन्त्र्य” (परिशिष्ट १३ । १)

तथा अश्वरथ नामक महादानमें इससे यजमानका अभिमन्त्रण करे । “अथाश्वरथदानविधिः” का आरंभ करके परिशिष्टमें कहा है, कि-“पुनन्तु मा (६ । १६) इत्यात्मानं आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्रयः (८ । २) इति अभिमन्त्र्य” (परिशिष्ट १४ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

रक्षन्तु त्वाग्रयो ये अस्व॑न्ता रक्षन्तु त्वा मनुष्या॑श्च
यमिन्धते ।

वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाक्
विद्युतां सह ॥ ११ ॥

रक्षन्तु । त्वा । अग्रयः । ये । अप्सु । अन्तः । रक्षतु । त्वा ।
मनुष्याः । यम् । इन्धते ।

वैश्वानरः । रक्षतु । जातवेदाः । दिव्यः । त्वा । मा । प्र ।
धाक् । विद्युता । सह ॥ ११ ॥

अप्सु अन्तः उदकेषु मध्ये ये अग्रयो वाडवादिरूपेण वर्तन्ते
तेऽनयः त्वा त्वाम् हे रक्षाकाम राजादे रक्षन्तु पालयन्तु । उद-
केष्वग्निसद्भावम् आह मन्त्रः । “अप्स्वग्ने सधिष्टव” [ऋ० ८.
४३. ६] अग्निं च विश्वशंभुवम्” [ऋ० १०. ६. ६] इत्या-
दिकः । “सोपः प्रोविशत् [तै० सं० २. ६. ६. १] इति च ।
अवधिष्ठानबहुत्वम् अपेक्ष्य अग्नीनां बहुत्वाभिधानम् । यद्वा अग्नी-
पोमयोरखिलजगत्कारणत्वेन विकारेषु सर्वेष्वपि अग्निसंभवाद्
बहुत्वाभिधानम् । तथा यम् अग्निं मनुष्या आहवनीयादिरूपेण
वर्तमानं वा पाकाद्यर्थम् अवस्थापितं वा इन्धते दीप्तं कुर्वन्ति सोपि
त्वां रक्षतु । ❀ अन्ता रक्षत्वित्यत्र “दूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः”
इति दीर्घः ❀ । एवं वैश्वानरः विश्वेषां नराणां संवन्धी जाठ-
रोग्निः स च जातवेदाः जातप्रज्ञो जातधनो वा त्वां रक्षतु । तथा
दिव्यः दिवि भवो वैद्युतो विद्युता स्वशरीरेण सह सहितः सन्
त्वां मा प्र धाक् प्रकर्षेण मा दहतु । ❀ दह भस्मीकरणे । “मन्त्रे
घस०” इति च्लेलुक् ❀ ।

जो अग्निये बड़वा आदि रूपसे जलोंमें रहती है + वे हे रक्षा-

+ जलमें अग्निका होना इन मन्त्रोंमें स्पष्टतया कहा है, कि-

काम ! तेरी रक्षा करें । तथा जिन आहवनीयादिरूपमें वा पाक आदिके लिये स्थापित अग्निको मनुष्य प्रदीप्त करते हैं वे अग्नियें भी हे रक्षाकाम ! तेरी रक्षा करें । इसी प्रकार वैश्वानर जाठ-राग्नि जातवेदा तेरी रक्षा करें । और घौमें होने वाला दिव्य वैद्युत अग्नि अपने शरीर विजलीके द्वारा तुझे भस्मन करें ॥११॥

द्वितीया ॥

मा त्वां क्रव्याद्भि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।

रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमांश्च
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

मा । त्वा । क्रव्यऽअत् । अभि । मंस्त । आरात् । सम्कसुकात् । चर ।
रक्षतु । त्वा । द्यौः । रक्षतु । पृथिवी । सूर्यः । च । त्वा । रक्षताम् ।
चन्द्रमाः । च ।

अन्तरिक्षम् । रक्षतु । देवहेत्याः ॥ १२ ॥

क्रव्यात् मांसाशनोपिः । ❀ “क्रव्ये च” इति अदेर्विट् ❀ ।
स च त्वा त्वां माभि मंस्त मम त्वम् आहार इत्यभिमानं मा करोतु ।
“नास्य रुद्रः पशून् अभिमन्यते” [तै० सं० १. ६. ७. ४]
इत्यादौ तथा दर्शनात् । ❀ मन ज्ञाने । लुङि सिचि “एकाच
उपदेशेनुदात्तात्” इति इट्पतिषेधः ❀ । त्वं च संकुसुकात् शव-
“अप्स्वप्ने सधिष्टव” (ऋग्वेदसंहिता ८ । ४३ । ६) तथा “अग्निं
च विरवशंभुवम्” (ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । ६) और तैत्ति-
रीयसंहिता २ । ६ । ६ । १ में भी कहा है, कि-“सोऽपः प्रावि-
शत्-वह जलमें प्रवेश कर गया” ॥

भक्षकाद् एतन्नामकाद् अग्नेः आरात् दूरदेश एव चर । तथा
 शौः पृथिवी सूर्यश्चन्द्रमाश्च प्रत्येकं स्वस्वसंबन्धिनो भयात् त्वा त्वां
 रक्षतु । अन्तरिक्षमपि त्वां देवहेत्याः देवप्रेरिताद् आयुधाद् रक्षतु ॥

मांसका भक्षण करने वाला क्रव्याद् अग्नि मेरा यह आहार
 है—इस प्रकार तुझको न माने । और तू भी शवभक्षक संकुसुक
 नामक अग्निसे दूरस्थानमें ही विचरण कर । तथा सूर्य चन्द्रमा
 शौ और पृथिवी अपने २ भयसम्बन्धसे तेरी रक्षा करें । अन्त-
 रिक्ष भी देवप्रेरित आयुधसे तेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च
 रक्षताम् ।

गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥

बोधः । च । त्वा । प्रतिबोधः । च । रक्षताम् । अस्वप्नः । च ।
 त्वा । अनवद्राणः । च । रक्षताम् ।

गोपायन् । च । त्वा । जागृविः । च । रक्षताम् ॥ १३ ॥

[बोधप्रतीबोधौ नाम ऋषी] । “ऋषी बोधप्रतीबोधौ” इति
 प्रागुक्तत्वात् [५. ३०. १०] । तत्सहप्रपाठाद् अत्रोक्ताः पडपि
 ऋषयः । बोधः सर्वदा प्रतिबुध्यमानः । प्रतीबोधः प्रतिवस्तु प्रति-
 क्षणं वा बुध्यमानः । अस्वप्नः स्वप्नरहितः । अनवद्राणः निद्रा-
 रहितः । गोपायन् सर्वदा देहस्य गोपायिता । जागृविः जागरण-
 शीलः । एते सर्वे देहाश्रयाः प्राणापानमनोबुद्धिचक्षुर्दृश्यरूपा इन्द्रि-
 याभिमानिदेवा यथोचितं बोद्धव्याः । ते युग्मशस्त्वां रक्षन्वित्यर्थः ॥

सदा बुध्यमान बोध, प्रतिवस्तुको जानने वाले प्रतिबोध, स्वप्न-
 रहित अस्वप्न, निद्रारहित अनवद्राण, सदा देहकी रक्षा करने

बाले गोपायन् और जागरणशील जागृवि ऋषि तेरी रक्षा करें।
तात्पर्य यह है, कि-ये सब देहाश्रय प्राण अपान, मन बुद्धि और
नेत्रद्वयरूप इन्द्रियाभिमानि देवता युग्म २ होकर तेरी रक्षा करें १३
चतुर्थी ॥

ते त्वां रक्षन्तु ते त्वां गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः
स्वाहा ॥ १४ ॥

ते । त्वा । रक्षन्तु । ते । त्वा । गोपायन्तु । तेभ्यः । नमः । तेभ्यः ।
स्वाहा ॥ १४ ॥

ते बोधाद्याः त्वा त्वां रक्षन्तु, पालयन्तु । ते त एव त्वा गोपा-
यन्तु । गोपायनं सर्वतो रक्षणम् । तेभ्यः बोधादिभ्यो देवेभ्यो
नमः नमस्कारोस्तु । तेभ्यः स्वाहा । इदं द्रव्यं स्वाहुतम् अस्तु ॥

वे बोध आदि तेरा पालन करें, वे ही तेरी, चारों ओरसे रक्षा
करें, इन बोध आदि देवताओंके लिये नमस्कार हो, यह द्रव्य
उनके लिये आहुत हो ॥ १४ ॥

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता
त्रायमाणः ।

मा त्वां प्राणो बलं हासीदसुं तेनुं ह्वयामसि ॥ १५ ॥

जीवेभ्यः । त्वा । समुदे । वायुः । इन्द्रः । धाता । दधातु ।
सविता । त्रायमाणः ।

मा । त्वा । प्राणः । बलम् । हासीत् । असुम् । ते । अनु । ह्वया-
मसि ॥ १५ ॥

मा त्वां जम्भः संहनुर्मा तसो विदन्मा जिह्वा वहिः
प्रमयुः कथा स्याः ।

उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

मा । त्वा । जम्भः । सम्ऽहनुः । मा । तमः । विदत् । मा ।
जिह्वा । आ । वहिः । प्रमयुः । कथा । स्याः ।

उत् । त्वा । आदित्याः । वसवः । भरन्तु । उत् । इन्द्राग्नी इति ।
स्वस्तये ॥ १६ ॥

उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत् ।

उत् त्वां मृत्योरोपधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

उत् । त्वा । द्यौः । उत् । पृथिवी । उत् । प्रजाऽपतिः । अग्रभीत् ।

उत् । त्वा । मृत्योः । ओपधयः । सोमराज्ञीः । अपीपरन् १७

पञ्चमी । जीवेभ्यः । अत्र जीवोपयुक्तानि इन्द्रियाणि जीव-
शब्दव्यपदेशं भजन्ते । तेषाम् अर्थाय । अथ वा जीवाः पोष-
णीयाः पुत्रभार्यादासादयः । तेषाम् अर्थाय । तादर्थ्यं विशि-
नष्टि । समुद्रे तेषां संमोदाय त्वां वाय्वादयः प्रत्येकं समुदायो वा
दधातु स्थापयतु मृत्योराकृष्य प्रयच्छतु । त्रायमाण इति सचितु-
र्विशेषणम् । त्वां पालयमानः ॥ किं च त्वा त्वां प्राणः शरीर-
बलं च मा हासीत् मा त्याक्षीत् । ते असुम् अनुद्वयामसि आनु-
कूल्येन आह्वयाम ॥ किं च त्वा त्वां संहनुः सहतदन्तो जम्भः
असुरः । अथ वा संहनुः सहतदन्तुर्जम्भः अस्थूलदन्तो मा विदत्

मा विन्दतु । भक्षयितुम् इति [शेषः । “तं वो जम्भे दधामि”
[तै० सं० ४. ५. ११. २] इत्यादिमन्त्रदर्शनात् । तथा तमः
अज्ञानमपि मा विदत् । एवं वहिः वहिरिक् आयामविस्तारोपेता
उद्धमाना जिह्वा रक्तःप्रभृतेः संवन्धिनी मा विदत् । किमर्थम् एवं
प्रार्थयत इति चेत् तत्राह । कथा केन प्रकारेण त्वं प्रमयुः प्रगत-
हिंसः प्रगतहिंसको वा स्याः भवंः । एवमर्थं जम्भादि मा विद-
दित्यर्थः ॥

पृथी ॥ आदित्याः अदितेः पुत्रा देवा धात्रादयः त्वा त्वाम्
उद्धरन्तु ऊर्ध्वं हरन्तु मृत्योर्मुखात् । तथा वसवः अपृष्टसंख्याका
धरादयः उद्धरन्तु । इन्द्राग्नी । इन्द्रश्च अग्निश्च देवी उद्धरताम् ।
किमर्थम् । स्वस्तये क्षेमाय । तथा द्यौः द्युदेवता त्वाम् उद्धरतु
पृथिवी च उद्धरतु । किं बहुना । प्रजापतिः सर्वेषां देवानां पिता
उदग्रभीत् उदग्रहणम् अकार्पात् उद्गृह्णातु । सोमराज्ञीः सोमस्य
पत्न्यः श्रोपधयो देव्यो मृत्योः सकाशात् त्वाम् उदपीपरन्
अपालपन् ॥

वायु इन्द्र धाना और रक्षा करते हुए सूर्यदेव तुम्हको मृत्युसे
खेंच कर जीवकी उपयोगी इन्द्रियोंके लिये वांषोपणीय पुत्र भार्या
दास आदिके लिये, उनको प्रसन्न करनेके लिये देवें । प्राण
और बल तुम्हको न छोड़े, हमतेरे प्राणको अनुकूलरूपमें बुलाते हैं ॥

मिले हुए श्रोतोंवाला जंभ नामक असुर भक्षण करनेके लिये
तुम्हको खानेके लिये न पासके । अज्ञान भी तुम्हको प्राप्त न
होवे और कुशाकी समान विस्तार आदिवाली राक्तस आदिकी
जिह्वा भी तुम्हको प्राप्त न होवे । क्योंकि-तू प्रगतहिंसक होगया है ॥

अदितिके पुत्र धाता आदि मृत्युके मुखसे तेरा उद्धार करें ।
धर आदि आठवसु भी तेरा मृत्युमुखसे उद्धार करें । इन्द्र और
अग्निदेवता भी क्षेमके लिये तेरा उद्धार करें ॥ द्युदेवता और

पृथिवी भी तेरा उद्धार करे । अधिक क्या सब देवताओंके पिता
प्रजापति भी तेरा उद्धार करें, सोमकी पत्नियें औषधियें भी
मृत्युसे तेरा पालन करें ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

सप्तमी ॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।

इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

अयम् । देवाः । इह । एव । अस्तु । अयम् । मा । अमुत्र । गात् । इतः ।

इमम् । सहस्रवीर्येण । मृत्योः । उत् । पारयामसि ॥ १८ ॥

हे देवाः आदित्याद्या अयं पुरुषः इहैव भूलोके अस्तु भवतु ।
एतदेव व्यतिरेकमुखेनाह । अयम् इतः अस्माद् भूलोकाद् अमुत्र
स्वर्गे मा गात् । वयं रक्षाकर्तारः इमं पुरुषं सहस्रवीर्येण अपरि-
मितसामर्थ्येन रक्षाविधानेन मृत्योः सकाशाद् उत्पारयामसि
उत्पारयामः ॥

हे देवताओं ! यह पुरुष इस भूलोकमें ही रहे । यह इस लोक
से स्वर्गलोकमें न जावे । रक्षा करने वाले हम अपरिमित शक्ति
वाले रक्षाविधानसे मृत्युके फन्देसे इसको बाहर कर रहे हैं ॥ १८ ॥

अष्टमी ॥

उत् त्वां मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।

मा त्वां व्यस्तकेश्योऽ मा त्वां घृदो रुदन् ॥ १९ ॥

उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् । सम् । धमन्तु । वयोधसः ।

मा । त्वा । व्यस्तकेश्यः । मा । त्वा । अघृदः । रुदन् ॥ १९ ॥

हे आयुष्काम पुरुष त्वा त्वां मृत्योरुदपीपरन् पालयन्तु वयो-

धसः अन्नस्य आयुष्यस्य वा धातारो देवाः सं धमन्तु संधानं
 कुर्वन्तु च । ॐ धमतिर्गतिरुर्मा ॐ । त्वा त्वां प्रति व्यस्त-
 केश्यः कीर्णकेशा वन्धुयोपितो मा रुदन् अश्रुविमोकं मा कोर्षुः ।
 तथा अघरुदः अघे व्यसने दुःखे वान्धवेन रोदनकर्तारो मा रुदन् ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! अन्न वा आयुको पुष्ट करने वाले देवता
 तेरा संधान करें । तेरे लिये बांधवोंकी स्त्रियें बाल बखेर कर न
 रोवें, और दुःखमें रोने वाले बांधव भी तेरे निमित्त रोने वाले
 न हों ॥ १६ ॥

नवमी ॥

आर्हापिमविदं त्वा पुनरागा पुनर्णवः ।

सर्वाङ्ग सर्व ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ २० ॥

आ । अर्हापिम् । अविदम् । त्वा । पुनः । आ । अगाः । पुनःऽनवः ।

सर्वेऽङ्ग । सर्वम् । ते । चक्षुः । सर्वम् । आयुः । च । ते । अविदम् ।

हे मृत्युग्रस्त पुरुष त्वात्वाम् आर्हापिम् मृत्युमुखाद् आहृतवान्
 अस्मि । आहृत्य च त्वा त्वाम् अविदम् लब्धवानस्मि । हे पुन-
 र्णव पुनरुत्पन्न त्वं पुनरागाः पुनरागतोसि । पुनर्जावलाभात्
 पुनर्नवत्वव्यपदेशः । हे सर्वाङ्ग केनचिदपि चक्षुराद्यङ्गेन अविकल
 संपूर्णाङ्ग । मृत्युभावेपि प्रायेण अंगवैकल्यं दृढरोगग्रस्तस्य भव-
 तीत्यभिप्रायेण ण्वम् आह । ते तव सर्वं चक्षुः । चक्षुर्विषयम्
 इत्यर्थः । सर्वमपि इन्द्रियजातं स्वविषयप्रकाशकम् । भवत्विति
 शेषः । ते तव सर्वम् शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः अविदम् लब्ध-
 वान् अस्मि ॥

हे मृत्युग्रस्त पुरुष ! मैंने तुम्हको मृत्युके मुखसे खेंच लिया है
 और खेंचकर तुम्हको पालिया है, हे दूसरी बार उत्पन्न हुए

पुरुष ! तू फिर आया है, इसलिये फिर नवीन होगया है । हे चक्षु आदि प्रत्येक अङ्गसे अविकलरूपमें सम्पन्न ! तेरी चक्षु आदि सकल इन्द्रियें अपने २ विषयोंको प्रकाशित करने वाली होवें । तेरे निमित्त सौ वर्षकी आयुको मैंने प्राप्त कर लिया है २० दशमी ॥

व्यवात् ते ज्योतिरभूद्य त्वत् तमो अक्रमीत् ।

अप त्वन्मृत्युं निःश्रुतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥२१॥

वि । अवात् । ते । ज्योतिः । अभूत् । अप । त्वत् । तमः । अक्रमीत् ।

अप । त्वत् । मृत्युम् । निःश्रुतिम् । अप । यक्ष्मम् । नि । दध्मसि ।

हे विसंज्ञ पुरुष ते व्यवात् व्यौच्छत् तमोविवासनम् अभूत् । अत एव ज्योतिः संज्ञानम् अभूत् । तथा त्वत् त्वत्तः सकाशात् तमः कृत्स्नम् अपाक्रमीत् अपक्रान्तम् अभूत् । कुतो हेतोरिति तत्राह । त्वत् त्वत्तः मृत्युम् प्राणापहर्त्री देवतां निःश्रुतिम् पापदेवताम् अप । नि दध्मसीति उत्तरक्रियानुपङ्गः । तथा यक्ष्मम् बाह्यम् आभ्यन्तरं च रोगम् अप नि दध्मसि अपनिदध्मः त्वत्तः प्रच्यावयामः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे संज्ञाहीन पुरुष ! तेरा तम दूर होगया है, अत एव संज्ञान होगया है । तथा तेरे पाससे सारा अन्धकार दूर होगया है, क्योंकि—तेरे पाससे हम प्राणोंका अपहरण करने वाली मृत्यु-देवताको और पापदेवता निःश्रुतिकों अलग कर चुके हैं और तेरे भीतरी बाहरी रोगको भी दूर कर चुके हैं ॥ २१ ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४२९) ॥

“आ रभस्व” इति सूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । तेन उपनयन-
कर्मणि माणवरुस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । “उप-
नयनं” प्रक्रम्य सूत्रितम् । “दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य
जपति अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व” [८. ३] इति
[कौ० ७. ६] ॥

तथा आयुष्कामः “आ रभस्व” इति सूक्तत्रयेण शरीरम् अभि-
मन्त्रयेत् ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अनेनाभिमन्त्रयेत् ॥

सूत्रितं हि । “आ रभस्व [८. १] प्राणाय नमः [११.४]
विपासहिम् [१७. १] इत्यभिमन्त्रयते” इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा अस्यार्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् “विश्वकर्मभिरायुष्यैः
स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्” [कौ० १४. ३] इत्यादिषु विनियोगो
द्रष्टव्यः ॥

तथा नामकरणाख्ये कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन कुमारस्य हस्ते
अविच्छिन्नाम् उदकधारां निनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन देवदारुमणिं संपाप्य
अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । तस्यैव मणिं निघृष्य पायनं च कुर्यात् ।
तद् उक्तं कौशिकेन । “अथ नामकरणम् आ रभस्वेमाम् इत्य-
विच्छिन्नाम् उदकधाराम् आबन्धयति । पूतिदारुं बध्नाति ।
पापयति” इति [कौ० ७. ६] ॥

अन्त्येष्टौ “आ रभस्व” इति त्रिभिः प्रेताग्निम् आदीपयेत् ॥

त्रिंशन्महाशान्तिन्तत्रभूतायां महाशान्तौ “आ रभस्व” इत्ये-
तज्जपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे ॥

पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अथावतः ।

अन्नकाया रभस्वेति [न० क० २३] ॥

तथा “वैश्वदेवीं गतायुषाम्” इति [न० क० १७] विहि-

तायां महाशान्तौ देवदारुमणिवन्धनम् अनेन कुर्यात् । तद् उक्तं
नक्षत्रकल्पे । “आ रभस्वेति पूतिदारं वैश्वदेव्याम्” इति
[न० क० १६] ॥

‘आरभस्व’ आदि तीन सूक्तोंका समूह अर्थसूक्त कहलाता
है । इससे उपनयनकर्ममें माणवककी नाभिका स्पर्श करके आचार्य
जप करे । उपनयनका आरंभ करके सूत्रमें कहा है, कि—‘दक्षि-
णेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१)
आ रभस्व (८।३)’ ॥

तथा आयुको चाहने वाला ‘आरभस्व’ आदि तीन सूक्तोंसे
शरीरका अभिमन्त्रण करे ।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका इससे अभिमन्त्रण करे ।
इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—‘आरभस्व (८।१)
प्राणाय नमः (११।४) विपासहिस् (१७।१) इत्यभिमन्त्रयते’
(कौशिकसूत्र ७।६) ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे ‘विश्वकर्म-
भिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्’ कौशिकसूत्र ७।६ आदि
में विनियोग करना चाहिये ।

तथा नामकरण नामक कर्ममें इस अर्थसूक्तसे कुमारके हाथमें
अविच्छिन्न (अटूट) जलधाराको डाले ।

तथा इसी कर्ममें इस अर्थसूक्तसे देवदारुकी मणिको सम्पातित
और अभिमन्त्रित करके बाँधे । और उसीकी मणिको घिस कर
भी पिलावे । इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—‘अथ नाम-
करणं आ रभस्वेमां इत्यविच्छिन्नां उदकधारां आलम्बयति । पूति-
दारं वध्नाति । पाययति’ ॥

अन्त्येष्टिमें ‘आरभस्व’ आदि तीनसे प्रेताग्निको मचण्ड करे ।
तीस महाशान्तियोंकी प्रधान महाशांतिमें ‘आरभस्व’ का जप

करे । इसी वातको नक्षत्ररूपमें कहा है, कि—‘पुनस्तदेव जप्यं तु
गान्तातीयं अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति’ (नक्षत्ररूप २३) ॥

तथा ‘वैश्वदेवीम् गतायुषाम्-गतायुओंके लिये वैश्वदेवी
शान्तिको करे’ इस नक्षत्ररूप १७ से विहित वैश्वदेवी महा-
शान्तिमें इससे देवदारुमणिबंधनको करे । इसी वातको नक्षत्र-
रूप १८ में कहा है, कि—‘आ रभस्वेति पूतिदारुं वैश्वदेव्याम्’ ॥

तत्र आ रभस्वेति प्रथमसूक्ते प्रथमा ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमानां जरदष्टि-
रस्तु ते ।

असुं त आयु पुनरा भरामि रजस्तमो मोषं गा मा
प्र मेष्टाः ॥ १ ॥

आ । रभस्व । इमाम् । अमृतस्य । श्नुष्टिम् । अच्छिद्यमाना ।
जरत्श्नुष्टिः । अस्तु । ते ।

असुम् । ते । आयुः । पुनः । आ । भरामि । रजः । तमः । मा ।
उप । गाः । मा । प्र । मेष्टाः ॥ १ ॥

हे आयुष्काम पुरुष इमाम् अस्माभिः क्रियमाणाम् अमृतस्य
अमरणत्वस्य श्नुष्टिम् प्रसूतिम् आ रभस्व उपक्रमस्व । अनुभवि
त्सु इति शेषः । यद्वा कुमारस्य हस्ते अविच्छिन्नाम् उदरुधारां
निनयेदिति विनियोगाद् अमृतशब्देन उदरम् उच्यते । तस्य
श्नुष्टिम् । उदरुधाराम् इत्यर्थः । अच्छिद्यमाना परैर्विच्छेत्सुम् अनर्हा
जरदष्टिः जरावस्थापर्यन्तम् अष्टिः अशनं जरदष्टिः । सा ते अस्तु
भवतेस्तु । तदर्थं ते तव असुम् प्राणं मृत्युना अपहृतम् आयुश्च

पुनः आ भ्रामि आहरामि । त्वं च रजः रागम् अस्माकं सत्त्व-
गुणप्रतिबन्धकं मोष गाः मा प्राप्नुहि । ❀ इण् गतौ । “इणो गा
लुङि” इति गादेशः ❀ । एवं तमः आवरकं हिताहितविवेकप्रति-
रोधकं तम आख्यगुणं मोष गाः । न केवलं रजस्तमसोरप्राप्ति-
रेव प्रार्थ्यते किं तु मृतिनिवारणमपि मा प्र मेष्टा इति । हिंसां च मा
प्राप्नुहि । ❀ मीङ् हिंसायाम् । लुङि रूपम् ❀ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! इस हमारी कीहुई अमरणत्वकी प्रस्तुति
का उपक्रम कर (अथवा—इस हमारी दी हुई जलधाराका अनु-
भव कर) यह तेरे निमित्त दूसरोंसे न टूटने योग्य, जरावस्था
तक रहनेवाली हो । मैं तेरे निमित्त, मृत्युसे हरे हुए प्राण और
आयुको फिर लाता हूँ । तू हममें सत्त्वगुणके प्रतिबंधक रज-राग-को
प्राप्त न होना । इसप्रकार हिताहित विवेकके प्रतिबन्धक आवरक
तमोगुणको प्राप्त न हो और हिंसाको प्राप्त न हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते
दधामि ॥ २ ॥

जीवताम् । ज्योतिः । अभिऽएहि । अर्वाङ् । आ । त्वा । हरामि ।

शतऽशारदाय ।

अवऽमुञ्चन् । मृत्युऽपाशान् । अशस्तिम् । द्राघीयः । आयुः ।

प्रऽतरम् । ते । दधामि ॥ २ ॥

हे पुरुष त्वं जीवताम् मनुष्याणां ज्योतिः दीप्तिं ज्ञानम् अर्वाङ्
अस्मदभिमुखः अभ्येहि अभ्यागच्छ । अहं तु त्वा त्वाम् आ

हरामि । मृत्युमकाशाद् इति शेषः । किमर्थम् । शतशारदाय । शतसंख्याकशरद्वधिकम् आयुः शतशारदम् । शतागुणे । चिरकालजीवनायेत्यर्थः । मृत्युपाशवद्धस्य कथम् आगमनम् इति तत्राह । मृत्युपाशान् मृत्योः ज्वरशिरोरोगादिनानाविधान् पाशान् अवमुञ्चन् उत्सृजन् । तथा अशस्तिम् निन्दाम् अवमुञ्चन् । सा हि कोश इव आच्छादयति । एतत् सर्वं सत्यायुषि संभवतीत्याशङ्क्याह । द्राघीयः अतिदीर्घं शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः । ॐ “मि-यास्थर०” इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः ॐ । ते त्वदर्थं प्रतरम् प्रकृष्टतरं दधामि स्थापयामि ॥

हे पुरुष ! तू जीवित पुरुषोंके ज्ञानको चिरकाल तक जीवित रहनेके लिये हमारे अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो तू ज्वर शिरो-रोग आदि मृत्युके अनेक प्रकारके पाशोंको त्यागता हुआ तथा निन्दाको त्यागता हुआ प्राप्त हो, मैं तेरी अतिदीर्घ प्रकृष्टतर आयु को स्थापित करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।

यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वदं
जिह्यालपन् ॥ ३ ॥

वातात् । ते । प्राणम् । अविदम् । सूर्यात् । चक्षुः । अहम् । तव ।

यत् । ते । मनः । त्वयि । तत् । धारयामि । सम् । वित्स्व ।

अङ्गैः । वदं । जिह्या । अलपन् ॥ ३ ॥

हे गतासो पुरुष ते तव प्राणं वातात् स्वाश्रयभूताद् बाह्य-चायोः सकाशाद् अविदम् लब्धवान् अस्मि । प्राणशयोर्भरणा-

वस्थायां वायुप्राप्तेः उत्पत्त्यवस्थायां तत एवोत्पत्तेश्च एवम् उच्यते । तथा च श्रूयते । “वातं प्राणम् अन्ववसृजतात्” इति [ऐ० ब्रा० २. ६] “वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्” [ऐ० आ० २. ४. २] इति च । अहं तव चक्षुश्च सूर्याद् अविदम् । पूर्व-वन्मृतिसमये चक्षुषः सूर्यप्राप्तेः उत्पत्तिसमयेपि सूर्यादेवोत्पत्तेश्च एवम् उच्यते । “सूर्यं चक्षुर्गमयतात्” इति [ऐ० ब्रा० २. ६] “आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्” [ऐ० आ० २. ४. २] इति च । किं च यत् ते मनः उत्क्रमणसमये निर्गतं तत् त्वद्येव धारयामि स्थापयामि । त्वंतु यत् एवम् अतो विश्वाङ्गैः कृत्स्नैरङ्गैरुपेतः सन् जिह्वया आलपन् व्यक्तम् उच्चरन् वद वाचम् उदीरय । जीवनस्य अभिवदनं स्पष्टं लिङ्गम् इति तत् प्रार्थ्यते ॥

हे गतास्तु पुरुष ! मैंने तेरे प्राणको स्वाश्रयभूत वाह्य वायुसे प्राप्त कर लिया है । प्राणवायु मरणावस्थामें वायुको प्राप्त हो जाता है और उत्पत्तिदशामें भी उससे ही उत्पन्न होजाता है अत एव यह कहा है । ऐतरेयब्राह्मण २ । ६ में कहा है, कि—‘वातं प्राणं अन्ववसृजतात् ।-वात प्राणको रचता हुआ’ तथा ऐतरेय ब्राह्मण २ । ४ । २ में भी कहा है, कि—‘वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।-वायु प्राण वन कर नासिकामें प्रवेश कर गया’) और मैंने तेरे चक्षुको सूर्यसे प्राप्त कर लिया है (ऐतरेय ब्राह्मण २ । ६ में कहा है, कि—‘सूर्यं चक्षुर्गमयतात् ।-चक्षु सूर्यको प्राप्त होगया’ ऐतरेय ब्राह्मण २ । ६ तथा ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में कहा है, कि—‘आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् ।-आदित्यने चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया’) और तेरा जो मन उत्क्रमणके समय निकल गया था उसको तुझमें ही स्थापित करता हूँ अत एव तू सम्पूर्ण अंगोंसे सम्पन्न होकर जिह्वासे स्पष्ट वाणीका उच्चारण कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं
धमामि ।

नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेकरम् ॥ ४ ॥

प्राणेन । त्वा । द्विष्पदाम् । चतुःष्पदाम् । अग्निम्ऽइव । जातम् ।
अभि । सम् । धमामि ।

नमः । ते । मृत्यो इति । चक्षुषे । नमः । प्राणाय । ते । अकरम् ४

हे निर्यत्प्राण त्वा त्वां द्विपदाम् पुरुषादीनां चतुष्पदाम् गवा-
श्वादीनां च प्राणेन । सर्वप्राणिनां प्राणेनेत्यर्थः । तेन जातम् मथ-
नाद् उत्पन्नम् अग्निमिव तं यथा अणीयांसं सन्तं नान्यादिसाध-
नेन मुखवायुना अभिसंधमति तद्द् अल्पप्राणं सन्तं सर्वप्राणि-
प्राणेन अभि सं धमामि संयोजयामि प्रभूतप्राणं करोमि । हे मृत्यो
ते तव चक्षुषे क्रूराय नमः अकरम् । तथा ते प्राणाय प्रकृष्टाय
बलायापि नमः अकरम् करोमि । ॐ करोतेर्लुटि "कृष्टृदृसहि-
भ्यश्दन्दसि" इति अद् ॐ ॥

हे क्षीणप्राण ! तुझको द्विपद पुरुष आदिके तथा चतुष्पद गौ
आदिके अर्थात् सरुल प्राणियोंके प्राणोंसे तुझको इस प्रकार
प्रभूत प्राण वाला करता हूँ जिस प्रकार मथनसे उत्पन्न हुए
अल्प अग्निको मुखकी वायुसे बढ़ाते हैं, हे मृत्यो ! तेरी क्रूर
चक्षुके लिये मैं नमस्कार करता हूँ, तथा तेरे प्राणबलके लिये भी
मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि ।

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥

अयम् । जीवतु । मा । मृत । इमम् । सम् । ईरयामसि ।

कृणोमि । अस्मै । भेषजम् । मृत्यो इति । मा । पुरुषम् । वधीः ५

अयं गतासुः पुरुषो जीवतु । मा मृत मरणं मा प्राप्नुयात् ।
 ❀ मृड् प्राणत्यागे । “लुड्” । “उश्च” इति सिचः कित्त्वम् ।
 “ह्रस्वाद् अङ्गात्” इति सिचो लोपः ❀ । इमं पुरुषं समीरयामसि सम्यक् प्रेरयामः । यथा चेष्टते तथा प्रयत्नामहे । तद् एव एकवद् आह । अस्मै मुमूर्षवे पुरुषाय भेषजम् चिकित्सां कृणोमि करोमि । हे मृत्यो त्वं तु पुरुषम् अमुं मा वधीः मा जहि ॥

यह गतासु पुरुष जीवित रहे मरणको प्राप्त न हो, इस पुरुष को हम भली प्रकार प्रेरित करते हैं अर्थात् यह जिस प्रकार चेष्टा कर सके तैसा प्रयत्न करते हैं, मैं इस मुमूर्षु पुरुषके लिये चेष्टा करता हूँ । हे मृत्यो ! तू इस पुरुषका वध न कर ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

जीवलां नघरिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्ट-
 तांतये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघरिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।

त्रायमाणाम् । सहमानाम् । सहस्वतीम् । इह । हुवे । अस्मै ।

अरिष्टस्तांतये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । ❀ मत्वर्थीयो लः ❀ । जीवन्तीम् । जीवप्रदाम् इत्यर्थः । नघरुषाम् । न हन्तीति नघा । नघा रूषा रोषोऽस्यां

सा नघरुपा । यस्याः कोपोपि न घातकस्तादृशीम् इत्यर्थः । अथ वा घर्परहिताम् अघकारिरोपरहितां वा । स्वयं जीवन्तीम् । कदाचिदपि अशुष्काम् इत्यर्थः । अथ वा सजीवाम् । त्रायमाणाम् रक्तन्तीं स्वसेविनां रोगपरिहारेण रक्षाकर्त्रीम् । सहमानाम् रोगस्याभिभवित्रीम् । सहस्वतीम् सहो बलं तद्वतीम् । एवंमहिमोपेताम् श्रोपथीम् पाठाख्याम् अहं व्याधिनाशकामः इह अस्मिन् शान्तिकर्मणि हुवे आह्वयामि । कस्मै प्रयोजनाय । उच्यते । अस्मै संनिहिताय पुरुषाय । रिष्टं हिंसा तदभावाय अरिष्टतातये अरिष्टकरणाय । उत्तरमन्त्रे अस्मै मृत्यो अग्निं ब्रूहीति मृत्युशब्दश्रवणाद् अत्रापि मृत्युः संबोध्यः । ॐ “शिवशमरिष्टस्य करे” इति करोत्यर्थे तातिल् ॐ । अथ वा जीवलादयः प्रत्येकम् श्रोपधिविशेषाः । श्रोपथीम् इत्येवम् प्रत्येकं संबध्यते । इह हुवे इति सर्वत्रान्वयः ॥

जीवन प्रदान करने वाली, क्रोध करने पर भी न मारने वाली, स्वयं जीवित रहने वाली—कभी शुष्क न होने वाली, अपना सेवन करने वालोंके रोगका अपहरण करके रक्षा करने वाली, रोगको दवाने वाली ऐसी पाठा नामक श्रोपधिको मैं व्याधिको नष्ट करने वाला इस शान्तिकर्ममें आह्वान करता हूँ । इस संनिहित पुरुषकी अहिंसाकरणके लिये आह्वान करता हूँ ६

सप्तमी ॥

अग्निं ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्तसर्वहाया इहास्तु
भवांशर्वो मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्यं दुरितं धत्तमायुः

अग्निं । ब्रूहि । मा । आ । रभथाः । सृज । इमम् । तव । एव ।

सन् । सर्वःहायाः । इह । अस्तु ।

भवाशर्वो । मृडतम् । शर्म । यच्छतम् । अयसिध्य । दुःइतम् ।
धत्तम् । आयुः ॥ ७ ॥

हे मृत्यो त्वम् अधि ब्रूहि । पक्षपातेन वचनम् अधिवचनम् । मदीयोयम् इति वद । मा आ रभथाः आरम्भं मा कार्षीः । हन्तुम् इति शेषः । हननोद्योगो निषिध्यते । तवैव अयं जनस्तवैव । स्वम् इति शेषः । अतः इमं सं सृज । प्राणैरिति शेषः । अयम् इह अस्मिन् भूलोके सर्वहायाः सर्वगतिरस्तु । ❀ वहिहायाञ्च्य-रञ्चन्दसि [उ० ४. २२०] इति असुनि णिङ्गवाद् युगा-गमः ❀ । किं च हे भवाशर्वो युवाम् भवश्च शर्वश्च भवाशर्वो ईश्वर-मूर्तिभेदौ । ❀ “आनङ् ऋतो द्वन्द्वे” इति आनङ् ❀ । मृड-तम् सुखयतम् अखुण्मै शर्म सुखं यच्छतम् दत्तम् । ❀ “पाश्चा०” इत्यादिना यच्छादेशः ❀ । शर्म यच्छतम् इत्युक्तम् अर्थे विष्ट-णोति । दुरितम् उपस्थितं व्याध्यादिलक्षणं पापम् अपसिध्य निराकृत्य आयुः धत्तम् स्थापयतं प्रयच्छतम् ॥

हे मृत्यो ! आप आग्रहपूर्वक कहिये, यह मेरा है । और इत को मारनेका आरम्भ न करिये । यह आपका ही जग है अतः इसके प्राण छोड़ दीजिये । यह इस भूलोकमें सब प्रकारकी गति वाला होवे । हे भव और शर्व देवताओं ! आप इसके लिये सुख दीजिये । इसके व्याधि आदिरूप पापको दूर करके इसको आयु दीजिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अस्मै मृत्यो अधिं ब्रूहीमं दयस्वोदितोऽयमेतु ।

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुञ्जरसां शतहायन आत्मना भुज-
मश्नुताम् ॥ ८ ॥

अस्मै । मृत्यो इति । अधि । ब्रूहि । इमम् । दयस्व । उत् । इतः ।
अयम् । एतु ।

अरिष्टः । सर्वेऽश्वद्भः । सुश्रुत् । जरसा । शतहायनः । आत्मना ।
भुजम् । अश्रुताम् ॥ ८ ॥

हे मृत्यो त्वम् अस्मै त्वत्तो मृतिम् आशङ्कमानाय अधि ब्रूहि
अर्सा मदनुग्रहाह इति शब्दं कुरु । इमं प्रति दयस्व दयां कुरु इमं
रक्ष वा । अयम् इतः अस्माद् मृत्योः उदेतु उद्गच्छतु । उक्तम्
अर्थं स्पष्टम् आह । अरिष्टः अहिंसितः सर्वाङ्गः सर्वैरङ्गैश्चक्षुरा-
दिभिः सम्पन्नः सुश्रुत् सुष्ठु श्रोता जरसा चार्थकावस्थया शतहा-
यनः शतं हायना अस्य स तथोक्तः शतसंवत्सरं जीवन् आत्मना
अनन्यापेक्षः सन् भुजम् भोगम् अश्रुताम् मामोतु ॥

हे मृत्यु ! तुमसे मृत्युकी आशंका करते हुए इस पुरुषके विषय
में आप यह मेरे अनुग्रहका पात्र है—ऐसा शब्द करिये । इस पर
दया करो । यह इस मृत्युसे उदय होवे, (स्पष्ट करते हैं, कि—)
यह अहिंसित रहता हुआ, चक्षु अदि सकल अंगोंसे सम्पन्न
होकर भली प्रकार सुनता हुआ, बुढ़ापेसे सौ वर्षका होता हुआ
दूसरेकी अपेक्षा न रख स्वयं ही भोगोंको भोगे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

देवानां हेतिः परिं त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजंस
उत् त्वां मृत्योरपीपरम् ।

आरादाग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि

देवानाम् । हेतिः । परि । त्वा । वृणक्तु । पारयामि । त्वा । रजसः ।
उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् ।

आरात् । अग्निम् । क्रव्यऽअदम् । निःऽज्जहन् । जीवातवे । ते ।
परिऽधिम् । दधामि ॥ ६

देवानाम् रुद्रादीनां हेतिः आयुधं त्वा त्वां परि वृणक्तु परिवर्जयतु हिंसां मा कुर्यात् । त्वा त्वां रजसः मूर्धारलक्षणाद् आवरणात् पारयामि पालयामि वा । किं च त्वा त्वां मृत्योः सकाशाद् उदपीपरम् उद्धरामि । ❀ पृ० पालनपूरणयोः । एयन्तस्य लुङि रूपम् ❀ । आरात् दूरदेश एव क्रव्यादम् मांसाशनम् अग्निं निरौहम् निरूहामि निर्गमयामि च । ते तव जीवातवे जीवनाय परिधिम् प्राकारं दधामि स्थापयामि च । देवयजनम् अग्निम् इति शेषः । परिधिं दधामि ॥

देवताओंका आयुध तुभको त्याग देय-हिंसा न करे तेरा मूर्धाररूप रजसे उद्धार करता हूँ । और तेरा मृत्युसे उद्धार करता हूँ । और मांसभक्षक अग्निको दूर ही निकाले देता हूँ और तरे जीवनके लिये प्राकाररूपमें देवयजन अग्निको स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

दशमी ॥

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।

पथ इमं तस्माद् रत्नन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृणमसि १०

यत् । ते । निऽयानम् । रजसम् । मृत्यो इति । अनवऽधर्ष्यम् ।

पथः । इमम् । तस्मात् । रत्नन्तः । ब्रह्म । अस्मै । वर्म । कृणमसि

हे मृत्यो ते तव संबन्धि यत् नियानम् नियान्त्यत्रेति नियानं
मार्गः । कीदृक् । रजसम् रजोमयम् अनवधृष्यम् केनापि धर्षि-
तुम् अशक्यम् । तस्माद् उक्तलक्षणात् पथः मार्गाद् इमं सुमूर्षु
पुरुषं रक्षन्तो वयम् अस्मै सुमूर्षवे ब्रह्म परिवृढं शान्तिरूपं कर्म
उदीरितलक्षणं मन्त्रसमूहं वा वर्म तनुत्रं कृणमसि कृणमः कुर्मः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे मृत्यो ! तेरा मार्ग रजोमय है, कोई भी उसका धर्षण नहीं
कर सकता, ऐसे मार्गसे इस सुमूर्षु पुरुषकी रक्षा करते हुए
हम इस सुमूर्षु पुरुषके लिये मन्त्ररूप कवचको करते हैं ॥१०॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

“कृणोमि ते प्राणापानौ” इति सूक्तस्य “आ रभस्व” [८, २]
इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

कलहरूपनिर्ऋतिमृहीने कुले तच्छान्त्यर्थम् “आरादरातिम्”
इति बृचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं च । “अथ यत्रैतत् कुलं
कलहि भवति तन्निर्ऋतिमृहीतम् इत्याचक्षते । तत्र जुहुयाद्
आरादरातिम् इति द्वे” इति [कौ० १३. ५] ॥

नैर्ऋतकर्मणि अनेन बृचेन इङ्गिडाज्यादीनि शर्करामिश्राणि
कृत्वा जुहुयात् । “अथातो नैर्ऋतं कर्म” इति प्रक्रम्य नक्षत्र-
कल्पे सूत्रितम् । “आरादरातिम् इति द्वे । अपेत एतु निर्ऋति-
रित्येतैः सममांसम् इङ्गिडम् आज्यम्” इत्यादि [न० क० १५] ॥

गोदानादिषु संस्कारकर्मसु “शिवे ते स्ताम्” इति बृचेन व्रीहि-
यवशमीरभिमुख्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । सूत्रितं हि । “शिवे
ते स्ताम् [१४] इति द्यावापृथिवीभ्यां परिददाति” “शिवे ते
स्ताम् इति परिदानान्तानि” इति च [कौ० ७. ५] ॥

बालकस्य निष्क्रमणकर्मणि “शिवे ते स्ताम्” इति बृचेन बालकं
निष्क्रमयेत् । सूत्रितं हि । “शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं
निर्णयति” इति [कौ० ७. ६] ॥

अद्भुतमहाशान्तौ “शिवास्ते सन्त्वोपधयः” इत्युक्त्वा सूर्याचन्द्र-
मसौ यजेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “ ‘उरु विष्णो विक्रमस्व’
[७. २७. ३] इति विष्णोः ‘शिवास्ते सन्त्वोपधयः’ [८. २.
१५] इति सूर्याचन्द्रमसोः” इति [न० क० १४] ॥

तथा मिथ्याभिशापनिवृत्त्यर्थं “शिवास्ते” इत्यनया सक्तुमन्थम्
श्रोदनं वा अभिमन्थ्य अभ्याख्याताय दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि द्रुघणमणिं पत्ताशायोलोहहिरण्या-
नाम् अन्यतमं वा मणिम् अनया संपात्य अभिमन्थ्य निन्दिताय
दधनीयात् ॥

सूत्रितं हि । “उतामृतासुः [५. १. ७] शिवास्ते [८. २.
१५] इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । द्रुघणशिरो रज्ज्वा बध्नाति ।
प्रतिरूपं पत्ताशायोलोहहिरण्यानाम्” इति [कौ० ५. १०] ॥

नामकरणे “यत् ते वासः” इत्यनया बालकं वस्त्रेण आच्छाद-
येत् । “यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्” इति सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

गोदानाख्यसंस्कारकर्मणि चौले उपनयने च “यत् क्षुरेण”
इत्यनया क्षुरस्य अभ्युक्ष्णं मार्जनं च कुर्यात् । “यत् क्षुरेणेत्यु-
दक्षपत्रं क्षुरम् अभ्युक्ष्य त्रिः प्रमाष्टि” इति [कौ० ७. ४] “यत्
क्षुरेणेत्युक्तम्” इति च कौशिकसूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

अन्नप्राशनकर्मणि “शिवौ ते स्तां त्रीहियवौ” इति द्वाभ्याम्
ऋग्भ्यां त्रीहियवौ पिष्ट्वा अभिमन्थ्य बालकं प्राशयेत् । “शिवौ
ते स्ताम्” इति त्रीहियवौ प्राशयति” इति सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा आभ्याम् ऋग्भ्यां त्रीहियववाभिमन्थ्य गोदानादिपु कुमा-
रस्य मूर्ध्नि परिदद्यात् । “शिवौ ते स्ताम् इति त्रीहियवाभ्याम्” इति ॥

गोदानादिपु संस्कारकर्मसु “अहे च त्वा” इत्यनया त्रीहि-
यवाभिमन्थ्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । “अहे च त्वेत्यहो-
रात्राभ्यां परिददाति” इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

‘कृणोमि ते पाणापानाँ’ सूक्तका ‘आरभस्व’ इस ८ । २ के साथ विनियोग कह दिया है ।

कलहरूपा पापराक्षसीसे गृहीत कुलमें शान्ति करनेके लिये ‘आरादरातिम्’ इस बृचसे घृतकी आहुति देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-‘अथ यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते । तत्र जुहुयादारादरातिम् इति द्वौ जिस कुलमें कलह मचता रहता है उसको निर्ऋति (पापराक्षसी) से गृहीत रहते हैं । ऐसे अवसर पर ‘आरादरातिम्’ इन दो ऋचाओंसे आहुति देवे ।’ (काँशिक सूत्र १३ । ५) ॥

नैर्ऋतकर्ममें इस बृचसे शर्करामिश्रित इंगिड घृत आदिकी सम्पातित और अभिमन्त्रित करके आहुति देय । “अथातो नैर्ऋतकर्म” को कह कर नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-“आरादराति इति द्वे । अथेत एतु निर्ऋतिरित्येतैः सममांसम् इद्धिडं आज्यम्” ० (नक्षत्रकल्प १५) ॥

गोदान आदि संस्कारकर्मोंमें ‘शिवे ते स्ताम्’ इस बृचसे धान जाँ और जण्डको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रखे । इस विषयका सूत्रमें भी प्रमाण है, कि-‘शिवे ते स्ताम् (१४) इति घावापृथिवीभ्यां परिददानि’ इति ‘शिवे ते स्ताम् इति परिदानान्तानि’ इति च (काँशिकसूत्र ७ । ५) ॥

बालकके निष्क्रमण कर्ममें ‘शिवे ते स्ताम्’ इस बृचसे बालक का निष्क्रमण करे । इस विषयमें काँशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि-‘शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं निर्णयति’ ॥

अद्भुतमहाशान्तिमें “शिवास्ते सन्त्वोपधयः” ऋचासे सूर्य और चन्द्रमाका यजन करे । इसी घातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-“रु विष्णो विक्रमस्व (७ । २७ । ३) इति विष्णोः

शिवास्ते सन्वोपधयः (८ । ५ । १५) इति सूर्याचन्द्रमसोः
(नक्षत्रकल्प १४) ॥

तथा शूटे अभिशापकी निवृत्तिके लिये 'शिवास्ते' ऋचासे संक्तुमन्थको वा ओदनको अभिमन्त्रित करके अभ्याख्यातको देदेय तथा इसी कर्ममें द्रुघणमणिको (कुन्हाड़े की मणिको) वा ढाक लोहा सुवर्णमेंसे एक की मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके निन्दितके वाँध देय ।

नामकरणमें 'यत् ते वासः' ऋचासे बालकको वस्त्रसे आच्छादित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि—'यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्' ॥

गोदाननामक संस्कारकर्ममें अथवा चौल तथा उपनयनमें भी 'यत् क्षुरेण' ऋचासे क्षुरेका अभ्युक्षण और मार्जन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—'यत् क्षुरेणेत्युदकपत्रं चरं अभ्युच्य त्रिः प्रमाष्टि' इति (कौशिकसूत्र ७ । ४) 'यत् क्षुरेणेत्युक्तम्' इति (कौशिकसूत्र (७ । ६) ॥

अन्नप्राशनकर्ममें 'शिवौ ते स्तां व्रीहियवौ इन दो ऋचाओं से धान और जौंको पीस कर और अभिमन्त्रित करके बालक को चटा देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि—'शिवौ ते स्ताम् इति व्रीहियवौ प्राशयति' ॥

तथा इन दोनों ऋचाओंसे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके गोदान आदिमें कुमारके मस्तक पर लगावे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—'शिवौ ते स्तां इति व्रीहियवाभ्याम्' ॥

गोदान आदिसंस्कारकर्मोंमें "अह्ने च त्वा" ऋचासे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रखे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण है, कि—'अह्ने च त्वेत्यहोरात्राभ्यां परिददाति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
 वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान्
 कृणोमि । ते । प्राणापानौ । जराम् । मृत्युम् । दीर्घम् । आयुः ।
 स्वस्ति ।

वैवस्वतेन । प्रहितान् । यमदूतान् । चरतः । अप । सेधामि ।
 सर्वान् ॥ ११ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ते तव प्राणापानौ शरीरे ऊर्ध्वार्धःसंचारिणौ वायु कृणोमि । प्रतिपदं कृणोमि त इति यथोचितं तच्च द्वावयशेषोऽध्याहर्तव्यः । ते प्राणापानौ स्थिरौ कृणोमि । जरां मृत्युं च । त्वां यथा न स्पृशतस्तथा कृणोमि । दीर्घम् आयुश्च ते कृणोमि । तथा कृत्वा स्वस्ति । अविनाशिनामैतत् । अविनाशं कृणोमि । कथम् एतद् सर्वं घटते यमदूतेष्वसन्नेषु इति तत्राह । वैवस्वतेन यमेन प्रहितान् प्रेषितान् चरतः आनयनाय व्यापारयतः सर्वान् यमदूतान् अप सेधामि दूरे निराकरोमि । मन्त्रसामर्थ्याद् इत्यभिप्रायः ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! तेरे शरीरमें मैं ऊपर और नीचेको विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुओंको स्थिर करता हूँ । जरा और मृत्युको, भी स्पर्श न करनेवाली करता हूँ, तेरी आयुको दीर्घ करता हूँ । फिर तेरे लिये स्वस्ति करता हूँ (अब शङ्का होती है, कि-यमदूतोंके पास होने पर यह सब बातें कैसे संभव हैं, इस शंकाका उत्तर देनेके लिये कहते हैं, कि-) यमराजके भेजे हुए लोगानेके लिये चेष्टा करने हुए सकल यमदूतोंको मैं मन्त्रशक्तिसे दूर करता हूँ ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

आरादरातिं निःश्रुतिं पुरोग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवापहन्मसि ॥१२॥

आरात् । अरातिम् । निःऽश्रुतिम् । पुरः । ग्राहिम् । क्रव्यऽअदः ।
पिशाचान् ।

रक्षः । यत् । सर्वम् । दुःऽभूतम् । तत् । तमःऽइव । अप । हन्मसि

अरातिम् अदात्रीं शत्रुभूतां वा पुरोग्राहिम् पुरस्ताद् ग्रहणशी-
लाम् एवंविधां निःश्रुतिम् पापदेवतां कलहोत्पादिकाम् । “यत्रैतत्
कुलं कलहि भवति तन्निःश्रुतिगृहीतम् इत्याचक्षते” इति सूत्रकार-
वचनात् [कौ० १३, ५] । आरात् हन्मसीति संबन्धः । निकृष्टं
हन्मः । तथा क्रव्यादः मांसाशनान् पिशाचान् अप हन्मसि ।
एवं दुर्भूतम् दुष्टत्वम् आपन्नं यत् सर्वं रक्षोस्ति राक्षसजातिरस्ति ।
अथ वा दुष्टं च तद् भूतं च दुर्भूतं तादृग् रक्षः तत् तम एव तमो-
वद् आवरकमेव । तद् अप हन्मः ॥

हम शत्रुभूत पुरोग्रहण करने वाली पापदेवता कलहोत्पा-
दिका निःश्रुतिको निकृष्टरूपसे मारते हैं । मांसभक्षी पिशाचोंको
मारते हैं । और जो दुर्भावनारूप सब रक्षस्त्व है उसको पासमें
ही मारते हैं, इन अन्धकारकी समान आवरक सबको हम मारते हैं १२

तृतीया ॥

अश्रेष्ठे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथानशिष्यां अमृतं सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदुते
समृध्यताम् ॥ १३ ॥

अग्नेः । ते । प्राणम् । अमृतात् । आयुष्मतः । वन्वे । जातश्वेदसः ।

यथा । न । रिप्याः । अमृतः । सऽजुः । असः । तत् । ते ।

कृणोमि । तत् । । ऊँ इति । ते । सम् । अमृथ्यताम् ॥१३॥

अमृतात् अमरणाद् देवाद् आयुष्मतः चिरजीविनः । “अग्नि-
रायुष्मान्” इति हि श्रुतिः [तै० सं० २. ३. १०. ३] । तथा-
विधमाहात्म्यवतः अग्नेः सकाशात् हे निश्चर्त्यादिना अपहतमाण
पुरुष ते प्राणं वन्वे याचे । पुनः क्रीटशाद् अग्नेः । जातश्वेदसः
जातमज्ञात् जातधनाद् वा । हे पुरुष त्वं च यथा न रिप्याः हिंसितो
न भवेः । ॐ रूप रिप हिंसायाम् । अस्माद् देवादिकात् लेटि
आडागमः ॐ । अमृतः अमरणः सजुः सह प्रीयमाणश्च असः
भवेः । ॐ अस्नेर्लेटि अडागमः ॐ । तत् तादृक् शान्तिकर्म ते त्वदर्धं
कृणोमि करोमि । तदु तदेव ते तत्र समृथ्यताम् समृद्धं भवतु ॥

हे निश्चर्ति आदिके द्वारा अपहत प्राण वाले मनुष्य ! मैं
अमृत अर्थात् न मरने वाले अमर देवता आयुष्मान् जात-
श्वेदा अग्निसे तेरे प्राणकी याचना करता हूँ । हे पुरुष ! तू भी
जिस प्रकार हिंसित न हो, अमर और साथ ही साथ प्रसन्न होने
वाला हो तिस प्रकार तेरे लिये शान्तिकर्मको करना हूँ, वही तेरे
लिये समृद्ध होवे ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियो ।

शं ते सूर्य आ तपतु शं वातां वातु ते हृदे ।

शिवा अभि चरन्तु त्वापो दिव्याः पर्यस्वतीः ॥१४॥

शिवे इति । ते । स्ताम् । द्यावापृथिवी इति । असंतापे इत्यसम्स्तापे ।
अभिऽश्रियौ ।

शम् । ते । सूर्यः । आ । तपत् । शम् । वातः । वातु । ते । हृदे ।

शिवाः । अभि । क्षरन्तु । त्ना । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ॥

हे कुमार ते तव निष्क्रमणसमये । यद्वा गोदानादिभिः
कर्मभिः संस्क्रियमाण पुरुष । ते तव द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ
देव्यौ शिवे मङ्गले कल्याणकारिण्यौ स्ताम् भवताम् । तथा असं-
तापे संतापम् अकुर्वत्यौ स्ताम् । अभिश्रियौ प्राप्तश्रीके श्रीप्रदे
स्ताम् । तथा सूर्यश्च ते त्वदर्थं शम् सुखं यथा भवति तथा आ तपतु
प्रकाशयतु । एवं ते हृदे हृदयाय मनोनुकूलतायैः वातः वायुः शम्
सुखं यथा भवति तथा वातु संचरतु । तथा त्वा त्वां प्रति दिव्याः
दिवि भवाः पयस्वतीः बहुभिः पयोभिः स्वादंशैरुपेता आपः शिवाः
सत्यः अभि क्षरन्तु अभि क्षवन्तु ॥

हे कुमार ! तेरे निष्क्रमणके समयमें (अथवा हे गोदान आदि
से संस्क्रियमाण पुरुष !) तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणका-
रिणी होवें सन्तापको न देने वाली होवे, लक्ष्मी देने वाली होवें ।
और सूर्यदेव भी जिस प्रकार तुझको सुख मिले तिस प्रकार
तपें, और तेरे हृदयकी अनुकूलता दिखाते हुए वायु भी सुखप्रद
होकर वहें । और द्यौमें होने वाला स्वादु अंशोंसे सम्पन्न जल
कल्याणकारक होते हुआ वहे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

शिवास्ते सन्त्वोपधय उत् त्वांहार्षमधस्स्या उत्तरां
पृथिवीमभि ।

तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसांबुभा ॥ १५ ॥

शिवाः । ते । सन्तु । ओपधयः । उत् । त्वा । अहार्पम् ।

अधरस्याः । उत्तराम् । पृथिवीम् । अभि ।

तत्र । त्वा । आदित्यां । रक्षताम् । सूर्याचन्द्रमसां । उभा ॥ १५ ॥

हे कुमार ते [तत्र] ओपधयः आहारार्थम् उपयुज्यमाना व्रीह्यादयः शिवाः सुखकराः सन्तु भवन्तु । त्वा त्वाम् अधरस्याः पृथिव्याः सकाशाद् उत्तरां पृथिवीम् अभिलक्ष्य उदाहार्पम् उद्धरणम् अकार्पम् । पृथिव्या एकस्या अपि अधरोत्तरभावः अंशभेदेन त्रित्वाद् उपपद्यते । “तिस्रो भूमिर्धारयन् त्रीरुत द्यून्” [ऋ० २. २७. ८] “तिस्रो महीरुपराः” [ऋ० ७. ८७. ५] इत्यादिमन्त्रेषु त्रित्वस्याम्नानात् । अवममध्यमोत्तमभेदेन पृथिव्यास्त्रैविध्यम् आम्नायते मन्त्रान्तरे । “यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्याम् उत स्वः” [ऋ० १. १८८. ६] । अतः अवमस्याः सकाशात् परमाम् पृथिवीम् अभिलक्ष्य उद्धरणम् अत्र अभिधीयते । तत्र उत्तरस्यां पृथिव्याम् हे बालक त्वा त्वाम् आदित्यौ अदितेः पुत्रौ देवा रक्षताम् पालयताम् । कां तावादित्यौ इति तां दर्शयति । उभा उभौ सूर्याचन्द्रमसां । ❀ “देवताद्वन्द्वे च” इति आनङ् आदेशः ❀ ॥

हे कुमार ! आहारके लिये उपयोगमें आने वाली व्रीहि आपि ओपधियें तुम्हे सुख पहुँचाने वाली होवें, तुम्हको मैंने नीचेकी पृथिवीसे उत्तरकी पृथ्वीको लक्ष्य करके उद्धृत कर लिया है ‡ ।

‡ पृथिवी एक है तत्र भी अधरोत्तरभाव अंशभेदवश त्रित्व के कारण उत्पन्न होता है । ऋग्वेदसंहिता २ । २७ । ८ में कहा है, कि—“तिस्रो भूमिर्धारयन् त्रीरुत द्यून् ।—तीन भूमियोंको और

उस उत्तरकी भूमिमें हे बालक ! अदितिके पुत्र सूर्य चन्द्रमा नामक देवता तेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

पृथी ॥

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।

शिवं ते तन्वेऽ तत् कृणमः संस्पर्शेद्रूक्षामस्तु ते १६

यत् । ते । वासः । परिऽधानम् । याम् । नीविम् । कृणुषे । त्वम् ।

शिवम् । ते । तन्वेऽ । तत् । कृणमः । सम्ऽस्पर्शे । अद्रूक्षाम् ।

अस्तु । ते ॥ १६ ॥

हे बालक ते तव परिधानम् उपरि आच्छादनीयं यद्द वासोऽस्ति त्वं च यां नीविं कृणुषे । नाभिदेशे संवद्धं वस्त्रं नीविरित्युच्यते । मध्यदेशाच्छादनम् इत्यर्थः । नीव्यपेक्षया याम् इति स्त्रीलिङ्गव्यपदेशः । तत् द्विप्रकारकं वस्त्रं ते तन्वे तव शरीराय शिवम् सुखकरं कृणमः । तच्च वस्त्रं संस्पर्शे विषये अद्रूक्षाम् अरूक्षं यथा मार्दवम् अश्नुते व्याप्नोति गच्छति तथा कृणमः ॥

हे बालक ! तेरा जो ऊपरके अङ्गको ढकने वाला परिधान-वस्त्र है, और तू जिस वस्त्रको नीवी करता है (नाभि पर बँधा

तीन छको धारण किया" ॥ तथा ऋग्वेदसंहिता ७ । ८७ । ५ में भी कहा है कि—“तिस्रो महीरुपराः” ॥ इत्यादि मन्त्रोंसे पृथ्वी के त्रित्वका वर्णन है । अन्य मन्त्रोंमें भी उत्तम मध्यम निकृष्ट-भेदसे पृथिवीके तीन भेदोंका वर्णन है, यथा-ऋग्वेदसंहिता १ । १०८ । ६ में कहा है, कि—“यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यां उत स्थः ।—हे इन्द्र और अग्नि देवताओं ! तुम उत्तर मध्यम और अवम पृथिवीमें हो” ॥

हुआ वस्त्र नीची कहलाता है) उन दोनों प्रकारके बस्त्रोंको हम तेरे शरीरको सुख देने वाले करते हैं । और वे दोनों वस्त्र जिस प्रकार अद्रूक्षण (कोमल स्पर्श वाले) हों तैसा करते हैं ॥१६॥
सप्तमी ॥

यत् चुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।

शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोपीः ॥ १७ ॥

यत् । चुरेण । मर्चयता । सुतेजसा । वप्ता । वपसि । केशश्मश्रु ।

शुभम् । मुखम् । मा । नः । आयुः । प्र । मोपीः ॥ १७ ॥

यत् यदा हे देव सवितः संस्कारक पुरुष वा त्वं वप्ता केशानां ह्येचा नापितः सन् मर्चयता व्यापारयता सुतेजसा शोभनतेजो-युक्तेन चुरेण केशश्मश्रु शिरोरोमणि मुखरोमाणि च वपसि । यद्यपि वपतिधातुर्वीजसंतानार्थस्तथापि केशसमभिव्याहारात् ह्येदने वर्तते । तदा वपनं कुर्वन् मुखम् गोदानचौलोपनयनैः संस्क्रियमाणस्य बालस्य मुखं शुभम् दीप्तं तेजस्वि कुरु । वपने सति मुख-विकाराशभावाद् एवं प्रार्थ्यते । नः अस्माकं पुत्रस्य आयुर्मा प्र मोपीः ॥

हे संस्कारक सवितः ! जब आप मुण्डन करने वाले होकर शोभन तेज वाले व्यापारमें प्रवृत्त ह्युसे शिर और मुखके बालों को मूँड रहे हैं, उस समय गोदान उपनयन और चालसे संस्क्रियमाण बालके मुखको दमकता हुआ करिये और हमारे पुत्रकी आयुका अपहरण न करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

शिवो ते स्तां व्रीहियवावंबलासावंदोमधो ।

एतौ यद्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

शि॒वौ । ते । स्ता॒म् । व्री॒हि॒स्य॒वौ ! अ॒व॒ला॒सौ । अ॒दो॒म॒धौ ।

ए॒तौ । य॒क्ष॒मम् । वि । वा॒धे॒ते इति । ए॒तौ । मु॒ञ्च॒तः । अ॒ह॒सः १८

हे अन्नम् अश्नन् बालक ते तव व्रीहियवौ अन्नत्वेन कल्पितौ शिवौ स्ताम् मङ्गलौ सुखकरौ भवताम् । अवलासौ शारीरबलस्य अक्षेप्तारौ । बलकरावित्यर्थः । तथाविधौ स्ताम् । तथा अदोमधु उपयोगानन्तरं मधुरौ ॥ एवम् इष्टपाप्तिम् आशास्य अरिष्टपरिहारम् आशास्ते । एतौ व्रीहियवौ यक्षमम् शरीरगतं रोगं वि वाधेते विशेषेण पीडयतः । एतावेव व्रीहियवौ कुमारम् अहसः पापाद् मुञ्चतः मोचयतः ॥

हे अन्नका भक्षण करते हुए बालक ! तेरे अन्नरूपसे कल्पित धान और जौ मंगल देने वाले होवें, शारीरिक बलका क्षय न करने वाले होवें अर्थात् बलको देने वाले होवें और उपयोगके अनन्तर मधुर होवें । ये धान और जौ शरीरगत रोगको विशेषरूपसे वाधा देते हैं, ऐसे ये धान और जौ बालकको पापसे मुक्त करें ॥ १८ ॥

नवमी ॥

यद् अ॒श्ना॒सि॒ यत् पि॒वं॒सि॒ धान्यं॑ कृ॒ष्याः॒ पयः॑ ।

यदा॒द्यं॑ यद॒ना॒द्यं॑ सर्वं॑ ते॒ अन्नं॑ म॒वि॒षं॑ कृ॒णो॒मि १९

यत् । अ॒श्ना॒सि॒ । यत् । पि॒वं॒सि॒ । धान्यं॑म् । कृ॒ष्याः॒ । पयः॑ ।

यत् । आ॒द्यं॑म् । यत् । अ॒ना॒द्यं॑म् । सर्वं॑म् । ते॒ । अन्नं॑म् । अ॒वि॒ष॒पम् । कृ॒णो॒मि ॥ १९ ॥

हे कुमार त्वं यद् धान्यं कृच्छ्राद् अश्नासि अभ्यवहरसि । तथा यद् धान्यं कृच्छ्रात् पयः पयोवत्सारभूतं पिष्टमयम् अन्नं

पयोमिश्रितं वा धान्यम् व्रीह्यादिरूपं पिवसि । यद् आद्यम् अद-
नीयं सुखेन भक्षणीयम् यच्च अनाद्यम् अदनानर्हं कठिनद्रव्यम् ।
अत्यन्तकटुतिक्तत्वाद् वा अनाद्यम् । सर्वम् यद् अश्नासीत्यादिना
उक्तम् अन्नम् अन्नपम् निर्विषम् अमृतं कृणोमि करोमि ॥

हे कुमार ! तुम जिस धान्यको कठिनतासे खाते हो, और
दुग्धकी समान सारभूत पिये हुएको—वा दुग्धमिश्रित धान और
जाँको पीते हो, और सुखसे खाने योग्य जिस वस्तुको खाते हो
वा कटु तिक्त आदि होनेसे कठिन अतएव अनाद्य जिस अन्न
को खाते हो तुम्हारे लिये उन सब अन्नोंको मैं निर्विष (अमृत)
करता हूँ ॥ १६ ॥

दशमी ॥

अहं च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दध्मसि ।

अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

अहं । च । त्वा । रात्रये । च । उभाभ्याम् । परि । दध्मसि ।

अरायेभ्यः । जिघत्सुभ्यः । इमम् । मे । परि । रक्षत ॥ २० ॥

हे कुमार त्वा त्वाम् अहं अहर्देवतार्यं रात्रये रात्रिदेवतार्यं च
उभाभ्यां देवताभ्यां परि दध्मसि परिदध्मः । रक्षार्थं प्रयच्छामः ।
उक्तकालद्वयव्यतिरेकेण कालान्तराभावात् तदुभयाभिमानिदेवताके
रक्षणे सति सर्वदा बालस्य रक्षा भवतीत्यभिप्रायः । परिदान-
प्रकार उच्यते । अरायेभ्यः अधनेभ्यो धनापहर्तृभ्यो वा जिघत्सु-
भ्यः अदनेच्छावद्भ्यो भक्षकेभ्यः रक्षःपिशाचादिभ्यः सकाशाद्
इमं मे मदीयं बालं परि रक्षत परितः पालयत हे विश्वे देवाः
अह्नि संचरद्भ्यो रात्रौ संचरद्भ्यश्च । ॐ जिघत्सुभ्य इति । अदेः

“लुङ्सनोर्धस्लृ” इति घस्त्वादेशे “एकाच उपदेशेनुदात्तात्” इति इट्प्रतिषेधः । “सस्यार्धधातुके” इति तत्वम् ॐ ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे कुमार ! हम तुझको रात्रिके अभिमानी देवताके लिये और दिनके अभिमानी देवताके लिये इस प्रकार दोनों देवताओंको रक्षा करनेके लिये देते हैं । हे सकल देवताओं ! आप धनापहारकोंसे, खाजाना चाहने वालोंसे तथा दिन और रात्रियों घूमने वाले प्राणियोंसे भी इस बालककी रक्षा करो ॥ २० ॥

अष्टम काण्डक प्रथम अनुवाकमें चतुर्थं सूक्त समाप्त ॥

“शतं तेयुतम्” इत्यस्य सूक्तस्य “आरभस्व” [८. २] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

गोदानादिषु कर्मसु व्रीहियवौ “शरदे त्वा” इत्यभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । “शरदे त्वेत्यृतुभ्यः” इति हि सूत्रम् [७. ६] ॥

“शतं तेयुतम्” सूक्तका “आरभस्व” (८. २) के साथ विनियोग कह दिया है ।

गोदान आदि कर्मोंमें धान और जौको “शरदे त्वा” से अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रखे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण है, कि—‘शरदे त्वेत्यृतुभ्यः’ ।

तत्र प्रथमा ॥

शतं तेयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारिं कृणमः ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहणीयमानाः २१

शतम् । ते । अयुतम् । हायनान् । द्वे इति । युगे इति । त्रीणि ।

चत्वारि । कृणमः ।

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहणीयमानाः ॥ २१ ॥

हे बालक ते तव शतं हायनान् शतसंख्याकान् संवत्सरान् ।
 “शतायुः पुरुषः” [तै० ब्रा० १. ७. ६. २] इति श्रुतिविहितान्
 अयुतम् अयुतसंख्याकान् कृणमः कुर्मः । तथा ते द्वे युगे । जाया-
 पतिलक्षणम् एकं युगम् । स्त्र्यपत्यपुमपत्यलक्षणम् अपरं युगम् ।
 एवं द्वे युगले । त्रीणि युगानि चत्वारि युगानि च कुर्मः । उपलक्ष-
 णम् एतत् । पुत्रपौत्रादिद्वारा अनेकयुगलानि कुर्मः । यद्यपि एक-
 शतपर्यन्तं जीवनमपि मनुष्याणां न संभवति तथापि आकल्पं
 जीव कल्पायुष्यम् अस्तु इत्याद्याशीर्दर्शनाद् दीर्घायुषि तात्पर्यं न
 विरुध्यते । अथवा एवं योजना । हे बालक ते शतं हायनान्
 कृणमः । तानेव अयुतं च हायनान् कृणमः । तानेव द्वे युगे कृणमः ।
 त्रीणि च युगानि कृणमः । चत्वारि युगानि कृणम इति । अयम्
 अभिप्रायः । तव प्रथमं क्रियमाणेन संस्कारविशेषेण सर्वमनुष्य-
 साधारणान् शतसंवत्सरान् कुर्मः । तानेव अयुतसंख्याकान्
 कुर्मः । चतुर्णां युगानां संधिसंवत्सरान् विहाय युगचतुष्टयस्य
 मिलित्वा अयुतं संवत्सराः स्युः । तान् विभज्य द्वे कलिद्वाप-
 राख्ये । त्रीणि त्रेतासंहितानि । चत्वारि कृतयुगसंहितानि कुर्म
 इति आशास्यते । एवंरूपां प्रार्थनां ते प्रसिद्धा इन्द्राग्नी विश्वे च
 देवा अह्वणीयमानाः ईदृक्प्रार्थना कथं कर्तुं युज्यत इति हृणां लज्जा
 क्रोधं वा अकुर्वाणाः सन्तः अनु मन्यन्ताम् अनुमतिं कुर्वताम् ॥

हे बालक ! तेरे लिये हम (‘शतायुः’ पुरुषः ।—पुरुष सौ वर्ष
 की आयु वाला हो सकता है’ तैत्तिरीयब्राह्मण १. ७. ६. २
 की श्रुतिमें कहे हुए) सौ वर्षोंको करते हैं अयुत वर्षोंको करते
 हैं । तेरे लिये हम स्त्रीपुरुषरूप एक युग और पुत्रपुत्री सन्तारूप
 दो युग इस प्रकार दो युगोंको करते हैं और पुत्र पौत्र आदिके द्वारा
 दो तीन (आदि अनेक) युगोंको करते हैं इस प्रार्थना पर क्रोध
 वा लज्जा न करते हुए देवता अनुमति दें ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्वसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

शरदे । त्वा । हेमन्ताय । वसन्ताय । ग्रीष्माय । परि । दद्वसि ।
वर्षाणि । तुभ्यम् । स्योनानि । येषु । वर्धन्ते । ओषधीः ॥ २२ ॥

हे बालक त्वा त्वां शरदे ऋतवे परि दद्वसि परिदद्वः । परि-
दानं रक्षार्थं दानम् । हे शरदतो अमुं रक्षेति प्रयच्छाम इत्यर्थः ।
तावत्पर्यन्तं जीवन्तं हेमन्ताय परिदद्वः । ततो वसन्ताय । ततो
ग्रीष्माय च परिदद्वः । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेभ्योपि ऋतुभ्यः
प्रयच्छामीत्युक्तं भवति । सर्वेष्वपि ऋतुषु जीवनस्य अपेक्षितत्वात् ।
हे बालक तुभ्यं वर्षाणि जीवनकालमध्यपातीनि पृथुत्तरशतत्रय-
दिनसंख्याकानि प्रभवादिरूपाणि स्योनानि सुखकराणि । भव-
न्तिवति शेषः । येषु वर्षेषु ओषधीः ओषध्यः भोगसाधनभूतव्रीह्या-
दयो वर्धन्ते अभिवृद्धिं प्राप्नुवन्ति । तानि वर्षाणीति पूर्वत्र संबन्धः ।
वर्षाणि स्वीयाभिरभिवृद्धाभिरोषधीभिस्तव सुखकराणि सन्तु
इत्यर्थः ॥

हे बालक ! हम तुम्हको रक्षार्थं शरद ऋतुके अर्पण करते हैं,
हेमन्त वसन्त और ग्रीष्म ऋतुके भी अर्पण करते हैं । प्रभव आदि
नाम वाले तीनसौ पैसठ दिन रूप वर्ष तुम्हको सुखद होंवें, कि-
जिन वर्षोंमें औषधियें बढ़ती हैं । तात्पर्य यह है, कि—अपनेमें बढ़ी
हुई औषधियोंसे तेरे जीवनके मध्यमें आने वाले प्रभव आदि
सम्बत्सर तुम्हको सुख देवें ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।

तस्मात् त्वां मृत्युर्गोपतेरुद्धरामि स मा विभेः २३

मृत्युः । ईशे । द्विष्पदाम् । मृत्युः । ईशे । चतुःष्पदाम् ।

तस्मात् । त्वाम् । मृत्योः । गोऽपतेः । उत् । भ॒रामि । सः । मा ।

विभेः ॥ २३ ॥

द्विष्पदाम् पदद्वयभूतानां मनुष्यपक्ष्यादीनां मृत्युः सर्वमालि-
संहर्ता देवः ईशे ईष्टे स्वामी भवति । तथा चतुष्पदाम् गवाश्वा-
दीनां मृत्युरेव ईष्टे । न हि मृत्युम् अपलपन् कश्चिदपि प्राणन्
दृश्यते ऋते मुमुक्तोः । यस्मादेवं तस्मात् त्वां गोपतेः । गानः परा-
धीनत्वाद् यथा गोपालं नातियन्ति एवम् एतेपि मृत्योर्वशगा
इति मृत्युर्गोपतिरित्युच्यते । अथवा गोशब्देनात्र पशवोऽ-
भिधीयन्ते । पशवो द्विषादश्चतुष्पादश्च । तेषाम् उभयेषां पतिः ।
तादृशाद् मृत्योः सकाशाद् उद्धरामि उद्धरामि । मन्त्रवीर्याद्
इत्यभिप्रायः । स मृत्युधीतस्त्वं मा विभेः भीतिं मा कार्पीः ॥

मृत्यु मनुष्य पक्षी आदि दो पैर वालोंके स्वामी हैं तथा चार
पैर वाले गौ घोड़े आदिके भी स्वामी हैं, इस प्रकारद्विषात् चतुष्पात्
मुमुक्तुष्यक्तिरिक्त अज्ञानी जीवात्मक पशुरूप गौके ईश्वर मृत्युके
पाससे मन्त्रशक्तिके प्रभावसे मैं तेरा उद्धार करता हूँ, अतएव
मृत्युसे डरा हुआ तू डर मत ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

सोरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा विभेः ।

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

सः । अरिष्ट । न । मरिष्यसि । न । मरिष्यसि । मा । विभेः ।

न । वै । तत्र । म्रियन्ते । नो इति । यन्ति । अधमम् । तमः २४

हे अरिष्ट । न विद्यते रिष्टं दैवं यस्य सः अरिष्टः दैवविमुक्त इत्यर्थः । स संबोध्यते । अथवा रिष्टं रेपो हिंसा सा यस्य नास्ति सः अरिष्टः । निरस्तहिंस इत्यर्थः । मृत्युकर्तृकहिंसारहित इति यावत् । तादृश त्वं न मरिष्यसि मृतिं न प्राप्स्यसि । दाढर्याय पुनराह । न मरिष्यसि त्वम् अतो मा विभेः मरिष्यामीति भाति मा प्राप्स्यसि । भीत्यभावे कारणम् आह न वै तत्रेति । तत्र तस्मिन् शान्तिकर्मविषये तस्मिन् शान्तिकर्मयुक्ते देशे वा । उत्तरमन्त्रे “यत्रेदं ब्रह्म क्रियते” इति वक्ष्यमाणत्वात् । न म्रियन्ते वै न प्राणं त्यजन्ति खलु । वैशब्दः प्रसिद्धौ । सा च महाशान्तिकृत्सु पुरुषेषु सार्वजनीना । मा भून्मृतिः । अधमतमःप्राप्तिः किम् अस्ति सापि नेत्याह नो यन्त्यधमं तम इति । अधमं तमः मरणकालीना दुःसहा मूर्खा । तामपि नैव प्राप्नुवन्ति । यद्वा मृत्यनन्तरं दुष्कर्मभिः प्राप्तव्यं सवितृप्रकाशशून्यम् अधोलोकस्थं तमिस्रम् । तस्य प्राप्ति-नैवेत्यर्थः ॥

हे मृत्युकर्तृक हिंसारहित-अरिष्ट ! तू मरेगा नहीं, तू मरेगा नहीं, अतः मैं मर जाऊँगा-ऐसा भय न कर । इस शान्तिकर्म युक्त देशमें पुरुष मरते नहीं हैं और इस शांति करने वालोंको अधम तम अर्थात् मृत्युके समयकी मूर्खा नहीं होती है । अथवा-इस शान्तिकर्मको करने वाले मरणके अनन्तर दुष्कर्मोंसे प्राप्त होने वाले सूर्यके प्रकाशसे रहित नीचेके लोकमें स्थित तमिस्रको भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।

यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

सर्वः । वै । तत्र । जीवति । गौः । अश्वः । पुरुषः । पशुः ।

यत्र । इदम् । ब्रह्म । क्रियते । परिऽधिः । जीवनाय । कम् २५

पूर्वमन्त्रे सोरिष्ट न मरिष्यसि न वै तत्र म्रियन्त इति यद् उक्तं तदेव अस्मिन् मन्त्रे सोपपत्तिकं विस्पष्टीक्रियते । अर्थस्तु स्पष्ट एव । सर्वशब्दस्य विवरणं गौरश्व इत्यादि । ब्रह्म परिवृढं महाशान्त्यारख्यं कर्म । परिधिः रक्तः पिशाचादिनिवारकः प्राकारः । यथा यज्ञे अग्नेः परिधिः एवम् । तच्च परिधानं किमर्थम् इति तत्राह जीवनाय कम् इति । जीवनायेत्येतावतो नाधिकम् कम् इत्यस्य पूरणार्थत्वात् । ॐ तथा च यास्कः । “मिताक्षरेऽनर्थकाः कमीमिदु” इत्युक्त्वा उदाहरणम् । “शिशिरं जीवनाय कम् इति शिशिरं जीवनाय” इति [नि० १. १०] ॥

जहाँ यह महाशान्तिकर्म राक्षस पिशाच आदिको रोकनेवाले परकोटेरूपमें जीवनार्थ किया जाता है तहाँ गाँ अश्व पुरुष पशु आदि सब ही जीवित रहते हैं ॥ २५ ॥

पृष्ठी ॥

परिं त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सवन्धुभ्यः ।

अमग्निर्भवाऽमृतोऽतिजीवो मा ते हासिपुःसंवः शरीरम्

परि । त्वा । पातु । समानेभ्यः । अभिऽचारात् । सवन्धुऽभ्यः ।

अमग्निः । भव । अमृतः । अतिऽजीवः । मा । ते । हासिपुः । असंवः ।

शरीरम् ॥ २६ ॥

हे शान्त्यर्थिन् पुरुष त्वा त्वां मया कृतं शान्तिकर्म परि परितः पातु पालयताम् । कृतः सकाशात् । समानेभ्यः विद्यैश्वर्यपराक्रमैः सदृशेभ्योऽन्येभ्यः । तथा सवन्धुभ्यः समानवन्धुभ्यः । अभिचारात् तत्कृतात् हिंसाप्रयोगात् । त्वं च अमग्निः अमरणशीलो

भव । तथा अमृतः मृतिरहितः अतिजीवः अतिशयितजीव भव ।
ते तव शरीरम् असवः प्राणाः चक्षुरादीन्द्रियरूपा अमुख्यप्राणाः
प्रसिद्धा मुख्यप्राणाश्च मा हासिषुः मा जह्युः ॥

हे शान्तिको चाहने वाले पुरुष ! मेरा किया हुआ शान्तिकर्म
चारों ओरसे तेरी रक्षा करे । विद्या ऐश्वर्य आदिमें समान अन्य
पुरुषोंसे, समान बन्धुओंसे, उनके किये हुए अभिचारसे शान्ति-
कर्म तेरी रक्षा करे । तू अमरणशील अमृत और चिरकाल तक
जीवित रहने वाला हो, चक्षु आदि गौण प्राण और मुख्यप्राण
तेरे शरीरको न छोड़ें ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

ये । मृत्यवः । एकशतम् । याः । नाष्ट्राः । अतिस्तार्याः ।

मुञ्चन्तु । तस्मात् । त्वाम् । देवाः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ॥ २७ ॥

ये प्रसिद्धा मृत्यवः हिंसका यमस्य हेतयः ज्वरशिरोव्यथादयः
एकशतम् एकशतसंख्याका मुख्यभूताः सन्ति । याश्च नाष्ट्राः नाश-
कारिण्यः अतितार्याः अतितरीतव्या लङ्घनीया हिंसिकाः सन्ति ।
तस्मात् उक्ताद् द्विविधाद् मृत्युरूपाद् नाष्ट्रारूपाच्च त्वां देवाः
इन्द्रादयो मुञ्चन्तु मोचयन्तु । तथा वैश्वानराद् अग्नेरधि । ॐ अधिः
पञ्चम्यर्थानुवादी ॐ । अग्नेः सकाशात् त्वां मुञ्चन्तु ॥

जो (यमकी आयुधरूप-ज्वर, शिरकी पीड़ा आदिरूप) एक
सौ (मुख्य) मृत्युएँ (नाशिका शक्तियों) हैं और जिनको लाँघा
नहीं जासकता ऐसी नाशकारिणी नाष्ट्रा शक्तियों हैं । उन मृत्यु
और नाष्ट्रा दोनों प्रकारकी शक्तियोंसे इन्द्र और देवता तुम्हको
मुक्त करें । और वैश्वानर अग्निसे भी तुम्हको मुक्त रखें २७

अष्टमी ॥

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।

अथो अमीवचातनः पूतदुर्नाम भेषजम् ॥ २६ ॥

अग्नेः । शरीरम् । असि । पारयिष्णु । रक्षःऽहा । असि । सपत्नऽहा ।

अथो इति । अमीवचातनः । पूतदुः । नाम । भेषजम् ॥ २८ ॥

अग्नेन मन्त्रेण पूतदुर्नामकः सर्वारिष्टनिवर्तको रक्षामण्युपादान-
भूतो वृक्षविशेषः कथ्यते । हे पूतदो त्वम् अग्नेः पारयिष्णु पार-
मापकं शरीरम् असि । वृक्षस्यान्तः अग्नेरवस्थानात् शरीरत्व-
व्यपदेशः । विशेषतः अस्प वृक्षस्य शरीरत्वाभिधानम् । अथवा
पारयिष्णुरिति पृथग्विशेषणम् । स्वनिर्दिष्टव्यापारस्य पारमापकः
रक्षोहा रक्षसां हन्ता असि भवसि । सपत्नहा शत्रुहन्ता च असि ।
अथो अपि च अमीवचातनः रोगस्य प्रच्यावकः । एवंमहिमा त्वं
पूतदुर्नाम पूतदुसंज्ञकं भेषजम् औषधम् । तादृशस्त्वम् अभिमतं
साधयेति शेषः ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये अष्टमकारणे प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे (सर्वारिष्टनिवारक रक्षामणिके उपादान) पूतदु नामक
वृक्ष ! तू अग्निका पारमापक शरीर है (अर्थात् तेरे भीतर अग्नि
रहना है) और तू रक्षसोंका मारने वाला है और शत्रुओंका
संहार करने वाला है और रोगोंका दूर करने वाला है, और
पूतदु औषध है । ऐसा पूतदु हमारे अमीष्टको सिद्ध करे ॥२८॥

अथर्ववेदसंहितास्य अष्टम व. १८८ तमे प्रथम अनुवाकमे समाप्त ॥

द्वितीयेऽनुवाके षट् सूक्तानि । अस्यानुवाकस्य चातनगणे पाठात्
“चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्” [कौ० ४. १] इत्यु-
क्तेषु कर्मसु विनियोगः । तानि कर्माणि कथ्यन्ते । रक्षोग्रहपिशा-

चादिभैषज्यार्थम् अनेनानुवाकेन फलीकरणतुपट्टक्षकलानाम्
अन्यतमं जुहुयात् । एतैरेव धूपयेद् वा ॥

तथा अनेनानुवाकेन पिशाचादिग्रस्तं पुरुषम् अनुब्रूयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन त्रपुसमुसलखदिरसर्ष-
पाणाम् अन्यतमस्य समिध आदध्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि खादिरान् शंकून् लोहमयान् ताम्र-
मयान् वा विषमसंख्यानं निखननार्थं “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकेन
अभिमन्त्रयेत् । तप्तशर्करा अभिमन्त्र्य शयनादौ परिकिरेद् वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन सूत्रोक्तरीत्या यवसकून्
जुहुयात् ॥

तथा असाध्यग्रहवशीकरणार्थम् अनेनानुवाकेन वीरणतूलसहि-
तम् इङ्गिडाज्यं पलाशपर्णपृष्ठभागेन जुहुयात् ॥

तथा गृहादौ ग्रहपिशाचादिसद्भावासद्भावशङ्कायाम् अनेनानु-
वाकेन सर्षपेधमं शरमयं बर्हिश्च अभिमन्त्र्य गृहस्योपरि स्थापयेत् ।
प्रभाते इध्मावर्हिषोर्भिकारे ग्रहास्तित्वं जानीयात् ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि वैश्रवणमस्कारानन्तरम् अनेनानुवाकेन
उदकम् अभिमन्त्र्य ग्रहगृहीतम् आचामयेत् प्रोक्षयेद् वा रात्रौ
उल्मुकद्वयम् अभिमन्त्र्य संघर्षयेद् वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । “चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्या-
तम् । त्रपुसमुसलखदिरताष्टाधानाम् आदधाति । अयुग्मान् खादि-
रान् शंकून् अच्यौ नि विध्य [५. २६, ४] इति पश्चाद् अग्नेः
समं भूमिं निखनति । एवम् आयस लोहान् । तप्तशर्कराभिः
शयनं राशिपल्यानि परिकिरति । अमावास्यायां सकृद्गृहीतान्
यवान् अनपहतान् अपतीहारपिष्टान् आभिचारिकं परिस्तीर्य
तार्ष्टावेधम आगपति । य आगच्छेत द्रूयाच्छेषशुल्बेन जिह्वां निर्मु-
जानः शालायाः मस्कन्देति । तथाऽकुर्वन्नना । अघे हुवाने ।

वीरिणनूलमिश्रम् इद्विडं प्रपुटेन जुहोति । इध्मावर्हिः शालायाम्
 आसजति अपरेद्युर्विकृतौ पिशाचतो रुजति । उक्तो होमः । वैश्र-
 वणायाञ्जतिं कृत्वा जपन्नाचामयत्यभ्युत्तति । निश्युन्मुके संघ-
 र्पति” इति [काँ० ४. १] ॥

तथा शान्त्युदकाभिमन्त्रणे “चातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्” [शा०
 क्र० १६] इत्यादिषु च अस्थानुवाकस्य गणप्रयुक्तो विनियोगोनु-
 संघेयः ॥

तथा वशाशमनकर्मणि पशुसंज्ञपनानन्तरं “रत्नोहणम्” इत्यनु-
 वाकं जपेत् । सूत्रितं हि । “अथ प्राणान् आस्थापयति मजानन्तः
 [२. ३४. ५] इति दक्षिणतस्तिष्ठन् रत्नोहणम् [८.३] जपति”
 इति [काँ० ५. ८] ॥

तथा घृतकम्बलाखचे महाभिपेके अभिपेकानन्तरं “रत्नोहणम्”
 इत्यनुवाकं जपेत् । “बृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार घृतकम्बलम्” इति
 मक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे ।

ब्राह्मणाः स्वस्ति वाच्याथ भाङ्मुखः संविशेत् ततः ।

रत्नोहणम् अनुवाकं जपेत् कर्तव्यं ऋत्विजः । इति ॥

दूसरे अनुवाकमें छः सूक्त हैं । इस अनुवाकका चातनगणमें
 पाठ है, अत एव इसका “चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम् ।—
 चातनोंके कहनेसे व्याख्यात होगया” कौशिकमूत्र ४ । १ इत्यादि
 में कहे हुए कर्मोंमें विनियोग होता है । ये कर्म ये हैं । राक्षस
 ग्रह पिशाच आदिकी चिकित्साके लिये इस अनुवाकसे फली-
 करण तुप और वृक्षके डुरुड़ेमेंसे एककी आहुति देय । वा इन्ही
 से धूप देय ।

तथा इस अनुवाकसे पिशाच आदिसे ग्रस्त पुरुषसे उसके वातों
 करने पर पड़े ।

तथा उसी कर्ममें इस अनुवाकसे राँग मूसल खैर और सरसों
 इनमेंसे एककी समिधाओंको रखे ।

तथा इसी कर्ममें खैरके वा लोहेके अथवा ताँबेके विषमसंखचक्र (१ । ३ । ५ आदि) खूंटोंको खोदनेके अर्थ “रत्नोद्धारम्” अनुवाकसे अभिमन्त्रित करे । गरम रेतके अभिमन्त्रित करके खाट आदि पर बखेर देय ।

तथा इसी कर्ममें इस अनुवाकसे सूत्रमें कही हुई रीतिके अनुसार जाँके सत्तुओंकी आहुति देय ।

तथा आसाध्य ग्रहको वशमें करनेके लिये इस अनुवाकसे खस के रेशेसहित इङ्गिडघृतकी पलाशके पत्तेकी पीठके द्वारा आहुति देय ।

तथा घर आदिमें पिशाचके होने न होनेकी शंका होने पर इस अनुवाकसे सरसोंके ईंधनको तथा सेंदोंसहित कुशाको भी अभिमन्त्रित करके घरके ऊपर धर देय । प्रभातके समय ईंधन और कुशामें विकार हो जाय तो ग्रह आदि है—यह समझे ।

इसी कर्ममें कुवेरको नमस्कार करनेके अनन्तर इस अनुवाक से जलको अभिमन्त्रित करके ग्रहगृहीतको पिला देय वा प्रोक्षण करे अथवा—रात्रियें दो उल्लुकोंको अभिमन्त्रित करके संघर्षण करे

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—“चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम् । त्रपुसमुसलखदिरताष्टाघानां आदधाति । अयग्मान् खादिरान् शंकून् अक्षयौ निवध्य (५ । २६ । ४) इति पश्चाद् अग्नेः समं भूमिं निखनति । एवं आयसलोहान् । तप्तशर्कराभिः शयनं राशिपल्यानि परिकिरति । अमावास्यायां सकृद्गृहीतान् यवान् अनपहनान् अप्रतीहागपिष्टान् आभिचारिकं परिस्तीर्य तार्ष्टावेधम आचपति । य आगच्छेत्तं त्रूयाच्छणशुल्वेन जिहां निमृजानः शालायाः प्रस्कन्देति । तथाऽक्षुर्वन्नना । अथेह्वुवाने । वीरिणातूलमिश्रं इंगिडं प्रपुटेन जुहोति । इध्मावर्हिः शालायां आसजति । अपरेद्युर्विकृतौ पिशाचतो रुजति । उक्तो होमः । वैश्रवणायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामत्यभ्युक्षति । निरयुल्लुके संघर्षति” । (कौशिकसूत्र ४ । १) ॥

तथा शान्त्युदकके अभिमन्त्रणमें “चातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्”
(शान्तिकल्प १६) इत्यादिमें भी इस अनुवाकका गणमयुक्त
विनियोग करना चाहिये ।

तथा वशाशमनकर्ममें पशुसंज्ञपनके अनन्तर ‘रत्नोदणम्’
अनुवाकका जप करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—
“अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्तः (२ । ३४ । ५) इति ।
दक्षिणतस्तिष्ठन् रत्नोदणम् (८।३) जपति” । (कौशिक ३।८)

तथा घृतकम्बल नामक महाभिषेकमें भी अभिषेकके अनन्तर
“रत्नोदणम्” अनुवाकका जप करे । “बृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार
घृतकम्बलम् ।—बृहस्पतिजीने महेन्द्रके लिये घृतकम्बलको किया
था” कह कर अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—“ब्राह्मणाः स्वस्ति-
वाच्याथ प्राह्मुस्वः संविशेत्ततः । रत्नोदणं अनुवाकं जपेत् कर्ताथ
ऋत्विजः ॥—ब्राह्मण स्वस्तिवाचन कर पूर्वकी ओर मुख करके
बैठें फिर कर्ता रत्नोदण अनुवाकका जप करे ॥” ॥

तत्र प्रथमा ॥

रत्नोदणं वाजिनमा जिघर्षि मित्रं प्रथिष्ठमुपं यामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स
रिपः पातु नक्तम् ॥ १ ॥

रत्नःऽहनम् । वाजिनम् । आ । जिघर्षि । मित्रम् । प्रथिष्ठम् ।
उप । यामि । शर्म ।

शिशानः । अग्निः । क्रतुभिः । समुऽद्धः । सः । नः । दिवा ।
सः । रिपः । पातु । नक्तम् ॥ १ ॥

एतदनुवाकविनियोजकसूत्रोक्तफलकामोहं रत्नोदणम् रत्नसाम्

अपहन्तारं वाजिनम् वाजो बलं तत्साधनम् अन्नं वा तद्वन्तम्
 अग्निम् आ जिघर्मि घृतं सर्वतः चारयामि । जुहोमीत्यर्थः । यद्वा
 दीपयामि समिन्धे । आज्यादिनेति शेषः । तथा कृत्वा मित्रम्
 सखिभूतं प्रधिष्टम् पृथुतरं तम् अग्निं शर्म शरणम् उप यामि उप-
 गच्छामि । अथ वा शर्म सुखम् । लब्धुम् इति शेषः । सोऽग्निः
 शिशानः ज्वालास्तीक्ष्णीकुर्वन् । ❀ “बहुलं छन्दसि” इति शपः
 श्लौ अभ्यासस्य इत्थम् । आत्वम् । शानच् ❀ । क्रतुभिः क्रत्वङ्-
 भूतैराज्यादिभिः कर्मभिर्वा समिद्धः सम्यग्दीप्तः । भवत्विति
 शेषः । स तादृशो रक्तोहा अग्निः नः अस्मान् रिषः हिंसकाद्
 दिवा अहनि पातु रक्तु । स एव अग्निः नक्तम् रात्रौ रिषः
 सकाशात् पातु । सर्वेष्वहःसु सर्वासु च रात्रिषु पात्वित्यर्थः ॥

इस अनुवाकका विनियोग करने वाला सूत्रोक्त फलको चाहने
 वाला मैं राक्तसोंको मारने वाले बलवान् अग्निदेव पर चारों ओर
 से घृत टपकाता हूँ । अग्निको दीप्त करता हूँ ऐसा करनेके
 उपरान्त मित्ररूप विशाल अग्निकी सुख पानेके लिये शरण
 लेता हूँ । वह अग्नि ज्वालाओंको तीक्ष्ण करता हुआ क्रतुके अंग
 घृत आदिसे भली प्रकार प्रदीप्त होवे । ऐसे अग्निदेव दिनके
 समय हमें हिंसकोंसे बचावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषां यातुधानानुपं स्पृश जातवेदः
 समिद्धः ।

आ जिह्वया मूर्देवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन्

अयःऽदंष्ट्रः । अर्चिषा । यातुऽधानान् । उप । स्पृश । जातवेदः ।

समिद्धः ।

आ । जिहया । मूरुदेवान् । रभस्व । क्रव्यऽश्वदः । घृष्टा । अपि ।
धत्स्व । आसन् ॥ २ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्रे समिद्धः अस्मद्दत्तैराज्यादिभिः
सम्यग्दीप्तस्त्वम् अयोदंष्ट्रः अयोमयदन्तयुक्तः सन् अचिपा ज्वा-
लया क्रूरया यातुधानान् यातवो यातनास्ता एषु धीयन्ते यातु-
धानाः तान् उप स्पृश । संदहेत्यर्थः । तथा मूरुदेवान् मूलेन औप-
धिनेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीडन्तीति मूरुदेवाः तान् । अभि-
चरत इत्यर्थः । अथ वा “मूरा अमूर” इत्यत्र यास्केन “मूढा न्यं
स्मोऽमूढस्त्वम् असि” [नि० ६. ८] इत्युक्तत्वात् मूढाः कार्या-
कार्यविभागबुद्धिशून्याः सन्तो ये दीव्यन्ति ते मूरुदेवाः तान्
जिहया ज्वालया आ रभस्व स्पृश । दहेत्यर्थः । तथा क्रव्यादः
मांसभक्षकान् रक्तःपिशाचादीन् घृष्टा धर्षित्वा । ❀ इडभाव-
रद्धान्दसः ❀ । आसन् तव आस्पे । ❀ “पहन०” इत्यादिना
आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ । अपि धत्स्व अपिधानं कुरु
ओष्ठाभ्याम् आच्छादय । भक्षयेत्यर्थः ॥

हे जातवेदा अग्रे ! हमारे दिये हुए घृत आदिसे भली प्रकार
बड़े हुए आर लोहेके दाँत करके अपनी क्रूर ज्वालासे यातुधानों
का स्पर्श करिये और औपधिसे क्रीड़ा करने वाले अर्थान् अभि-
चारक पुरुषोंको अपनी ज्वालासे भस्म करिये और मांसभक्षक
राक्तस पिशाच आदिको दवा कर अपने मुखमें धर लीजिये ॥२॥

तृतीया ॥

उभोभयाविन्नुपं धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोवरं परं च ।
उतान्तरिंक्षे परिं याह्यग्नेजम्भेः संधेह्यभि यातुधानान्

उभा । उभयाविन् । उप । धेहि । दंष्ट्रौ । हिंस्रः । शिशानः ।
अवरम् । परम् । च ।

उत् । अन्तरिक्षे । परि । याहि । अग्ने । जम्भैः । सम् । धेहि ।
अभि । यातुऽधानान् ॥ ३ ॥

हे उभयाविन् उभयवन् अयं रक्षणीयः अयं हन्तव्यः इत्यु-
भयविधजनपरिज्ञानवन् । यद्वा अवरं परं चेति वक्ष्यमाणौ अवर-
परौ उभयशब्देन उच्येते । तदुभयवन् हिंस्रः हिंसनशीलः शिशानः
तीक्ष्णज्वालास्तीक्ष्णदन्तो वा अवरम् अस्मत्तो निकृष्टं द्वेष्यं परं च
अस्मत्तोधिकं द्वेष्यं च उभा दंष्ट्रौ उभे दंष्ट्रे उप धेहि उपहिते कुरु
दंष्ट्रान्तर्वर्तिनौ कुरु । खादेत्यर्थः ॥ उत् अपि च अन्तरिक्षे आकाशे
परि याहि संचर । हे अग्ने संचर्य च मम बाधनाय तत्र संचरतो
यातुधानान् रक्षाः प्रभृतीन् जम्भैः दन्तैः अभि सं धेहि अभिसंहितान्
संदष्टान् कुरु । यद्वा यातुधानान् अभि अन्तरिक्षे परि याहि ।
तान् एव जम्भैः सं धेहि ॥

हे यह मारने योग्य है और यह रक्षा करने योग्य है—इस
प्रकार दोनोंको जानने वाले हिंसनशील, तीक्ष्ण ज्वाला वाले
अग्ने ! आप अपनी ऊपरकी और नीचेकी दोनों ढाढ़ोंको हमसे
श्रेष्ठ और निकृष्ट शत्रुओंको मारनेके लिये वन्द करिये । और
आकाशमें विचरण करिये और तहाँ विचरण करके हे अग्ने !
मुझे पीड़ा देनेके लिये विचरते हुए यातुधानोंको अपने दाँतोंसे
काटिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंसाशनिर्हरसा
हन्त्वेनम् ।

प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि
चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥

अग्ने । त्वचम् । यातुधानस्य । भिन्धि । हिंसा । अशनिः । हरसा
हन्तु । एनम् ।

प्र । पर्वाणि । जातवेदः । शृणीहि । क्रव्यञ्जत् । क्रविष्णुः ।
वि । चिनोतु । एनम् ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वं यातुधानस्य रक्तआदेः त्वचम् बाह्यधातुं भिन्धि
छिन्धि भिन्नां कुरु । तव च हिंसा अशनिः हिंसको वज्रो हरसा
तापेन एनं यातुधानं हन्तु हिनस्तु । पूर्वं त्वचः कर्तनं माध्व्यं तावता
अपरितुष्टमना आह प्र पर्वाणीति । हे जातवेदः जातधन जात-
प्रद वा अग्ने यातुधानस्य पर्वाणि शरीरग्रन्थीन् प्र शृणीहि प्रक-
पेण भिन्नानि कुरु । तथा कृते क्रव्यात् मांसभक्षको वृकादिः
क्रविष्णुः क्रव्यम् इच्छन् एनं यातुधानं वि चिनोतु इतस्ततो भक्ष-
णाय आकृष्य विभकीर्णं करोतु ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानकी बाह्यधातु त्वचाको भेद दीजिये ।
आर आपका हिंसक वज्र इस यातुधानको अपने तेजसे नष्ट कर
ढाले हे जातवेदा अग्ने ! आप यातुधानोंके जोड़ोंको बखेर दीजिये ।
ऐसा होनेके उपरान्त मांसभक्षक भेड़िया आदि मांसको चाहता
हुआ इस यातुधानको इधर उधरको खचेड़े ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्
उतान्तरिंक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्तां विध्य शर्वा
शिशांनः ॥ ५ ॥

यत्र । इदानीम् । पश्यसि । जातवेदः । तिष्ठन्तम् । अग्ने । उत ।
वा । चरन्तम् ।

उत । अन्तरिक्षे । पतन्तम् । यातुऽधानम् । तम् । अस्ता । विध्य ।
शर्वा । शिशानः ॥ ५ ॥

हे जातवेदः अग्ने त्वं यत्र यस्मिन् देशे इदानीम् अस्मिन् काले अस्मदुपद्रवकाले पश्यसि यातुधानम् अस्मदुपद्रवकारिणं राक्षसादिकम् । कथंभूतम् इति तत्राह । तिष्ठन्तम् कस्मिंश्चिद् देशे स्थितिं कुर्वाणम् उत वा अपि वा चरन्तम् एकत्र अवस्थितिम् अकुर्वाणम् उत अपि च अन्तरिक्षे आकाशे पतन्तम् गच्छन्तं तं यातुधानम् अस्ता क्षेप्ता त्वं शिशानः तीक्ष्णः सन् शर्वा शरणा विध्य ताडय ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप इस उपद्रवके समय जिस देशमें हम पर उपद्रव करने वाले राक्षस आदिको कहीं बैठे हुए वा विचरते हुए वा अन्तरिक्षमें विचरते हुए देखें तो आप उसको फेंक दीजिये और तीक्ष्ण होकर अपनी हिंसक ज्वालासे वीध डालिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दि-
हानः ।

ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो वाहून् प्रति
भङ्गधेषाम् ॥ ६ ॥

यज्ञैः । इषूः । सम्नममानः । अग्ने । वाचा । शल्यान् । अश-
निऽभिः । दिहानः ।

ताभिः । विध्य । हृदये । यातुधानान् । प्रतीचः । वाहून् । प्रति ।
भङ्गि । एषाम् ॥ ६ ॥

हे अग्ने यज्ञैः अस्मदनुष्ठितैर्यागैः मयोगैः इषूः तव वाणान्
संनममानः ऋजूकुर्वन् वाचा स्तुत्यात्मकमन्त्ररूपया शक्यान् वाणा-
ग्राणि दिहानः दिग्धान् कुर्वन् तीक्ष्णीकुर्वन् वा । अशनिभिरि-
त्येतद् व्यवहितमपि सामर्थ्याद् यज्ञविशेषणम् । अशनिसदृशै
रक्षोघातुकैर्यज्ञैरित्यर्थः । अथ वा वाचा अशनिभिः वाङ्मयैर्दीप्तैः
शाणैः दिहानः तीक्ष्णीकुर्वन् ताभिरिषुभिर्वाणैः यातुधानान् हृदये
हृदयमदेशे विध्य ताडय । ततः एषां यातुधानानां वाहून्
भुजान् प्रतीचः प्रति भङ्गि अस्पाकं वधाय प्राचः सतः प्रतीचः
कृत्वा भङ्गि मर्दय भग्नान् कुरु ॥

हे अग्ने ! हमारे अनुष्ठित यागोंसे अपने वाणोंको सरल करते
हुए, स्तुतिमन्त्ररूपा वाणीसे वाणोंके अग्रभागको तीक्ष्ण करते हुए
आप शत्रुओंके हृदयोंको बाँध डालिये । फिर इन यातुधानोंकी
हमको ताड़ित करनेके लिये हमारी थोर चलती हुई भुजाओंको
तोड़ डालिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उतासंधान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातु-
धानान् ।

अग्ने पूर्वो नि जंहि शोशुचान आमादः द्विङ्कास्त-
मदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

उत । आऽरन्धान् । स्पृणुहि । जातवेदः । उत । आऽरेभाणान् ।

ऋष्टिभिः । यातुधानान् ।

अग्नेः । पूर्वः । नि । जहि । शोशुचानः । आमऽअदः । चिबद्धाः ।
तम् । अदन्तु । एनीः ॥ ७ ॥

उत अपि च हे जातवेदः अग्ने त्वम् आरब्धान् त्वां स्तोतुं
प्रक्रान्तान् अस्मान् स्पृणुहि पालय । उत अपि च आरेभा-
णान् शब्दं कृतवतो यातुधानान् ऋष्टिभिः आयुधैर्घातय । किं च
हे अग्ने त्वं पूर्वः शत्रुतः प्रथमभागः सन् शोशुचानः ज्वलन् तान्
यातुधानान् नि जहि मारय । अथ एकवद् अभिधानम् । तंहतम्
आमादः अपक्वर्मासाशना एनीः एतवर्णाः शुभ्रवर्णाः संध्यावर्णा
वा चरद्धाः पक्षिविशेषाः अदन्तु भक्षयन्तु ॥

हे अग्ने ! आपकी स्तुति करते हुए हमारा आप पालन करिये ।
और शब्द करते हुए यातुधानोंको आयुधोंसे मारिये । और आप
पहिले ही प्रदीप्त होकर उन यातुधानोंको मार डालिये । उन
मरे हुए यातुधानोंको अपक मांसका भक्षण करने वाले च्वंक
नामक शुभ्र वर्णके पक्षी मार कर खा जावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधां यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुपे रन्धयैनम्
इह । प्र । ब्रूहि । यतमः । सः । अग्ने । यातुऽधानः । यः । इदम् ।
कृणोति ।

तम् । आ । रभस्व । सम्ऽइधा । यविष्ठ । नृऽचक्षसः । चक्षुपे ।
रन्धय । एनम् ॥ ८ ॥

हे अग्ने इह अस्मिन् प्रकृते शान्तिविषये यो यातुधानः राक्षसः

इदं शरीरपीडनादिकं कृणोपि । कृणोतीत्यर्थः । अथवा यस्त्वम् इदं
 प्रहरणं कृणोपि करोपि सः प्रहारविषयः प्रहारकर्ता वा यातु-
 धानो यतम इति भ्रूहि आचक्ष्व । अथ वा किं तेन तत्स्वरूप-
 परिज्ञानेन । तं घातकं पापिनम् हे यविष्ठय युवतम । ॐ स्वार्थिको
 यत् ॐ । समिधा दाहिकया ज्वालयया आ रभस्व स्पृश । दहे-
 त्यर्थः । एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह । हे अग्ने एनं पापिनं नृचक्षसः
 नूनं पश्यतीति नृचक्षाः सृकृतिनां पापिनां प्राणिनां च साक्षि-
 तया द्रष्टुस्तव चक्षुषे चक्षुषः रन्धय वशं प्रापय । दहेत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! इस प्रकृत शान्तिविषयमें जो राक्षस इस शरीरपीड़न
 आदि कर्मको कर रहा है उसको बताइये । और उस घातकको
 हे यविष्ठ ! अपनी दाहिका ज्वालासे स्पर्श करिये । हे अग्ने !
 उस पापीको सृकृती और दुष्कृती मनुष्योंको साक्षीरूपसे देखने
 वाली अपनी दृष्टिके वशमें करिये—भस्म करिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय
 प्रचेतः ।

हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधानां
 नृचक्षः ॥ ६ ॥

तीक्ष्णेन । अग्ने । चक्षुषा । रक्ष । यज्ञम् । प्राञ्चम् । वसुभ्यः ।
 प्र । नय । प्रचेतः ।

हिंस्रम् । रक्षांसि । अभि । शोशुचानम् । मा । त्वा । दभन् ।
 यातुधानाः । नृचक्षः ॥ ६ ॥

हे अग्ने त्वं तीक्ष्णेन क्रूरेण चक्षुषा भयंकरेण दर्शनेन उक्त-
विधेन तेजसा वा यज्ञम् अस्मदीयं रक्ष पालय । हे प्रचेतः प्रकृष्ट-
मनः अस्मात् कृपाचित्त त्वम् अस्मदीयं तं यज्ञं वसुभ्यः वास-
केभ्यो देवेभ्यः प्राञ्चं प्रणय प्रगमय । हे नृचक्षः नृणां द्रष्टः अग्ने
यज्ञरक्षासमये हिंस्रम् हिंसाशीलं रक्षांसि राक्षसान् वा अभिशोशु-
चानम् अभितो भृशं दीपयन्तं दहन्तम् । ॐ शुचेर्यङ्गुगन्ताब्ध-
तरि रूपम् ॐ । तादृशं त्वा त्वां यातुधानाः राक्षसा मा दधन्
मा हिंसिषुः ॥

आप अपने भयङ्कर नेत्रसे यज्ञकी रक्षा करिये । हे कृपायुक्त
चित्त वाले अग्निदेव ! आप हमारे यज्ञको वासक देवताओंके लिये
शीघ्रतासे पहुँचाइये । हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ! यज्ञरक्षा
के समय चारों ओरसे प्रदीप्त होकर राक्षसोंको मारते हुए तुम
हिंसकको राक्षस न दवा सकें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

नृचक्ष्णा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति
शृणीह्यथा ।

तस्याग्ने पृष्ठीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च
नृचक्ष्णाः । रक्षः । परि । पश्य । विक्षु । तस्य । त्रीणि । प्रति ।

शृणीहि । अग्ना ।

तस्य । अग्ने । पृष्ठीः । हरसा । शृणीहि । त्रेधा । मूलम् ।

यातुऽधानस्य । वृश्च ॥ १० ॥

हे अग्ने नृचक्ष्णाः नृणाम् अनुग्राह्याणां निग्राह्याणां च द्रष्टा त्वं

विष्णु प्रजाम् मध्ये पीडयद् रक्षः रक्षसं परि परय परितः श्व-
लोक्य । तथा कृत्वा तस्य रक्षसः त्रीणि अग्रा अग्राणि उपरि-
भागान् प्रति मृणीहि । प्रत्येकं द्विन्धीत्यर्थः । तस्यैव पृष्ठीः पार्श्व-
स्थीनि हे अग्ने हरसा तेजसा मृणीहि द्विन्धि । तथा तस्य यातु-
धानस्य मूलम् पादप्रदेशं त्रेधा वृश् द्विन्धि । पादस्य त्रीणि पर्वा-
णीत्यर्थः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे दण्ड और अनुग्रहके पात्र मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ।
आप प्रजाओंको पीडित करने वाले रक्षसको चारों ओर देखिये
और देखकर रक्षसके ऊपरके तीन अंगोंको द्विन्न भिन्न करिये
हे अग्ने ! उसकी पसलियोंको तेजसे द्विन्न भिन्न कर डालिये ।
और उसके पैरके तीन अवयवोंको काट दीजिये ॥ १० ॥

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥

“त्रिर्यातुधानः” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनेन उक्तो
विनियोगः ॥ गवां लोहितदोहलक्षणाद्भुतशान्त्यर्थं “यः पौरुषे-
येण” [१५-१८] इति चतुर्ष्टुचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं
हि । “अथ यत्रैतद् धेनवो लोहितं दुहते यः पौरुषेयेणेत्येताभि-
श्वतसभिर्जुहुयात्” इति [का० १३. २०] ॥

“त्रिर्यातुधानः” सूक्तका “रक्षोहणम्” सूक्तके साथ विनि-
योग कह दिया है ।

गौओंके रक्त दुहनेकी अद्भुतशान्तिके लिये “यः पौरुषेयेण”
इन पन्द्रहसे अठारहवें तकके चार मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय ।
कौशिकमूत्र १३ । २० में कहा भी है, कि—“अथ यत्रैतद् धेनवो
लोहितं दुहते यः पौरुषेयेणेत्येताभिश्चतसभिर्जुहुयात्” ॥

तत्र प्रथमा ॥

त्रिर्यातुधानः प्रसिन्ति त एतृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।

तमर्चिषां स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि
युङ्ग्धि ॥ ११ ॥

त्रिः । यातुऽधानः । प्रऽसितिम् । ते । एतु । ऋतम् । यः । अग्ने ।
अनृतेन । हन्ति ।

तम् । अर्चिषा । स्फूर्जयन् । जातवेदः । सम्ऽअक्षम् । एनम् ।
गृणते । नि । युङ्ग्धि ॥ ११ ॥

हे अग्ने यातुधानः राक्षसः ते तव प्रसितिम् । ज्वालां त्रिः
त्रिवारम् एतु प्राप्नोतु । तावता निःशेषेण दग्धो भवतीत्यभिप्रायः ।
यातुधानं विशिनष्टि । यः ऋतम् मम सत्यवचनं यज्ञं वा अनृतेन
असत्यवचनेन छद्मना वा हन्ति त्रिनाशयति । हे जातवेदः
जातप्रज्ञ अग्ने तम् एनं यातुधानम् अर्चिषा स्वकीयया ज्वालाया
स्फूर्जयन् गृणते तव स्तोत्रं कुर्वते मह्यं गृणतो मम समक्षम् दृष्टि-
संमुख एव नि युङ्ग्धि निगृह्य वर्जय विनाशय ॥

हे अग्ने ! राक्षस तुम्हारी ज्वालाको तीन बार प्राप्त होवे ।
जो मेरे सत्यवचनको वा यज्ञको असत्यवचनसे वा छद्मसे नष्टकरता है
हे जातप्रज्ञ अग्ने स्तुति करने वाले मेरे सामने ही उस यातुधान
को पकड़ कर अपनी ज्वालासे नष्ट करिये ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त
रेभाः ।

मन्योर्मनसः शरव्याश् जायते या तथा विध्य हृदये
यातुधानान् ॥ १२ ॥

यत् । अग्ने । अथ । मिथुना । शपातः । यत् । वाचः । तृष्टम् ।
जनयन्त । रेभाः ।

मन्योः । मनसः । शरव्या । जायते । तथा । विध्य । हृदये ।
यातुऽधानान् ॥ १२ ॥

हे [अग्ने] अथ अस्मिन्नहनि यत् यस्मात् मिथुना स्त्री-
पुंसौ शपातः शपतः परस्परम् आक्रोशतः यच्च वाचस्तृष्टम् तृपा-
युक्तम् । कडुकम् इत्यर्थः । जनयन्त जनयन्ति उत्पादयन्ति । के ।
रेभाः स्तोतारः । यातुधानेभ्यो निमित्तेभ्य इत्यभिप्रायः । मन्योः
तव क्रोधयुक्ताद् दीप्ताद् वा मनसः सकाशाद् वा शरव्या इषुः ज्वा-
लारूपा जायते तथा इष्वा यातुधानान् हृदये हृदयदेशे विध्य ताडय ॥

हे अग्ने ! आज जिसके कारणसे स्त्री और पुरुष परस्पर
आक्रोश मचा रहे हैं और जिसके निमित्त स्तोता कडु बाणी का
उच्चारण कर रहे हैं उस यातुधानको आप अपने क्रोधयुक्त
मनसे जिससे, कि-ज्वालारूपा बाणावली निकल रही है उससे
हृदयमें ताड़ित करिये ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

परां शृणीहि तपसा यातुधानान् परां रत्नो हरसा
शृणीहि ।

परार्चिषा मूर्देवान्लृणीहि परांसुतृपः शोशुचतः
शृणीहि ॥ १३ ॥

परा । शृणीहि । तपसा । यातुऽधानान् । परा । अग्ने । रत्नः ।
हरसा । शृणीहि ।

परा । अर्चिषा । मूरुदेवान् । शृणीहि । परा । असुवृषः ।

शोशुचतः । शृणीहि ॥ १३ ॥

हे अग्ने यातुधानान् राक्षसान् तपसा तापकेन तेजसा परा शृणीहि पराङ्मुखं विनाशय । तथा रक्षः राक्षसं हरसा प्राणापहारकेण तेजसा परा शृणीहि । तथा मूरुदेवान् मारणेन कर्मणा दीव्यन्तीति मूरुदेवाः तान् अर्चिषा दीप्यमानया ज्वालयथा परा शृणीहि । असुवृषः असुभिः परप्राणैरात्मानं तर्पयन्तो ये तान् शोशुचतः भृशं दीप्तान् राक्षसान् परा शृणीहि । अथवा शोशुचतः भृशं दीप्यमानान् । तव ज्वालयेति शेषः ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानोंको तापक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये तथा राक्षसोंको प्राणापहारक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये और मारण कर्मसे क्रीड़ा करने वाले—मूरुदेव—अभिचारकोंको अपनी दमकती हुई ज्वालासे नष्ट कर डालिये दूसरेके प्राणोंसे अपनी वृत्ति करने वाले परम प्रदीप्त राक्षसोंको आप नष्ट करिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु
सृष्टाः ।

वात्रास्तेनं शखं ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं
यानुधानः ॥ १४ ॥

परा । अद्य । देवाः । वृजिनम् । शृणन्तु । प्रत्यक् । एनम् ।

शपथाः । यन्तु । सृष्टाः ।

वाचाऽस्तेनम् । शरवः । ऋच्छन्तु । मर्मन् । विश्वस्य । पतु ।

प्रसितिम् । यातुऽधानः ॥ १४ ॥

अथ अस्मिन्नदनि देवाः सर्वे चद्विपमुखा वृजिनम् प्राणानां वर्जकं राक्षसं पापं वा परां शृणन्तु यथा न प्रतिगच्छति तथा हिंसन्तु । एनं वृजिनं वृष्टाः कटुकाः शपथाः अस्मान् प्रति तेन प्रमुक्तानि शपनानि प्रत्यक् प्रतिमुखं यन्तु गच्छन्तु । किं च वाचास्तेनम् । शृणान्चनेन यः प्रहरति स वाचास्तेनः । तं शरवः देवशराः मर्मन् मर्मणि प्रदेशे ऋच्छन्तु गच्छन्तु । स यातुधानः विश्वस्य सर्वस्यापि देवस्य प्रसितिम् मर्कषेण अभिभवित्रीं हेतिम् एतु गच्छतु । अथवा विश्वस्य व्यासत्याग्नेः प्रसितिम् ज्वालाम् पतु । ❀ प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वेति यास्कः [नि० ६. १२] ❀ ॥

आन अग्नि आदि सकल देवता प्राणोंके वर्जक राक्षसको वा पापको जिस प्रकार वह फिर लौट कर आक्रमण न कर सके विस प्रकार मार डालें । और इस राक्षसके पास उसके भेजे शाप लौट कर उसको ही लगें । और उस मिथ्या वाणीसे मारने वालेके मर्माँमें देवताओंके बाण लगें, और वह यातुधान व्यापक अग्निदेवके ज्वालारूप आयुधको प्राप्त होवे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

यः पौरुषेयेण कृविषां समङ्क्ते यो अश्वेन पशुनां
यातुधानः ।

यो अचन्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसार्पि
वृश्च ॥ १५ ॥

यः । पौरुषेयेण । क्रविषा । सम्ऽअङ्क्ते । यः । अश्वेन । पशुना ।
यातुऽधानः ।

यः । अघ्न्यायाः । भरति । क्षीरम् । अग्ने । तेषाम् । शीर्षाणि ।
हरसा । अपि । वृश्च ॥ १५ ॥

जो यातुधानः पौरुषेयेण पुरुषसंबन्धिना क्रविषा मांसेन ।
❀ “सर्वपुरुषाभ्यां णट्ठौ” इति ढक् ❀ । समङ्गे सम्यग्
अभिव्यनक्ति पोषयति आत्मानम् । यश्च यातुधानः अश्वेन अश्व-
संबन्धिना अश्वरूपेण क्रविषा पशुना अजादिरूपेण च समङ्गे ।
हे अग्ने यश्च अघ्न्यायाः । गोनामैतत् । अहन्तव्याया गोः क्षीरं
भरति हरति । तेषाम् उक्तप्रकाराणां सर्वेषां यातुधानानां शीर्षाणि
शिरांसि हरसा तेजसा ज्वालाया अपि वृश्च छिन्धि ॥

जो यातुधान पुरुषके मांससे अपनी पुष्टि करता है, और जो
यातुधान अश्वके मांससे अपनी पुष्टि करता है और जो गौके
क्षीरका अपहरण करता है, हे अग्ने ! इन सब प्रकारके यातुधानों
के शिरको आप अपनी ज्वालासे छिन्न भिन्न करिये ॥ १५ ॥

पृष्ठी ॥

विषं गवां यातुधानां भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः ।
पैरणान् देवः सविताः ददातु परां भागमोषधीनां
जयन्ताम् ॥ १६ ॥

विषम् । गवाम् । यातुऽधानाः । भरन्ताम् । आ । वृश्चन्ताम् ।
अदितये । दुःऽएवाः ।

परा । एनान् । देवः । सविता । ददातु । परा । भागम् । ओषधी-
नाम् । जयन्ताम् ॥ १६ ॥

यातुधानाः राक्षसाः गवां क्षीरं कामयमानास्तासां विषं भरन्ताम्
संगृह्णन्तु ॥ तथा दुरेधाः दुष्टं गन्तारः अदितये सर्वानुग्राहिकार्यै
देव्यै । यद्वा “इयं वा अदितिः” इति [तैः सं० २. २. ६. १]
श्रुतेः सर्वाश्रयभूतार्यै भूम्यै तस्या अर्थार्य आ वृषन्ताम् छिन्ना
भवन्तु । भूमौ यानि लब्धव्यानि तैर्विरहिता भवन्तु इत्यर्थः ॥ किं
च एनान् यातुधानान् सविता सर्वानुज्ञाता देवः परा ददातु निर-
स्यतु घातकेभ्यः मयच्छतु । ओषधीनाम् व्रीह्यादीनां भागं परा
जयन्ताम् अभागिनो जयन्तु ॥

गौओंके क्षीरकी कामना करनेवाले यातुधान गौओंके विषको
ग्रहण करें, तथा दुर्गमन करने वाले राक्षस पृथिवीके लिये छिन्न
भिन्न होजावें अर्थात् भूमिसै जो पदार्थ मिल सकते हैं उनसे
हीन होजावें और सविता देवता इनको घातकोंके अर्पण करें और
यह व्रीहि आदिके भागको पाने वाले न होवें ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

संवत्सरीणं पयं उस्त्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो
नृचक्षुः ।

पीयूषेमग्ने यत्तमस्ति तृप्सात् तं प्रत्यङ्मर्चिषां विध्य
मर्माणि ॥ १७ ॥

सम्श्वत्सरीणम् । पयः । उस्त्रियायाः । तस्य । मा । आशीत् ।

यातुस्थानः । नृचक्षुः ।

पीयूषम् । अग्ने । यतमः । तितृप्सात् । तम् । प्रत्यञ्चम् । अर्चिषा ।
विध्य । मर्मणि ॥ १७ ॥

हे वृचक्षः वृणां द्रष्टरग्ने यातुधानः राक्षसः उस्त्रियायाः अस्म-
दीयाया गोः संबन्धि संबत्सरीणम् संबत्सरे भवम् । ❀ “संप-
रिपूर्वात् ख च” इति खः ❀ । गर्भाधानादि प्रसवपर्यन्तम् ऊध-
स्युपचितम् इत्यर्थः । अथवा प्रायेण प्रसवदिनप्रभृति संबत्सर-
पर्यन्तं गावो दुहन्ति तदभिप्रायेणेदम् अभिधानम् । तथाविधं पयः
क्षीरं यद् अस्ति तस्य तत् क्षीरम् मा आशीत् मा भक्षयतु पिवतु ।
तथा यतमः यातुधानः पीयूषम् हविल्लक्षणम् अमृतं गोरेव घृत-
लक्षणं पीयूषं [वा] तितृप्सात् तर्पयितुम् इच्छेद् आत्मानम् ।
❀ तृप्यतेः सनि “एकाच उपदेशेनुदात्तात्” इति इणिनपेधः ।
तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ । तं राक्षसम् अर्चिषा स्वकीयया
ज्वालयया प्रत्यञ्चम् प्रतिमुखं विध्य ताडय । कुत्र देश इति । मर्मणि
मर्मप्रदेशे । यस्मिन् देशे वेधनेन शीघ्रं म्रियते तत्रेत्यर्थः ॥

हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ! राक्षस हमारी गौके दूधको
वर्ष भर तक प्राप्त होने वाले दूधको पान न कर सके । जो राक्षस
गौके घृतरूप दूधसे अपनेको तृप्त करना चाहता है उस राक्षसको
आप अपनी ज्वालासे मर्मदेशमें ताड़ित करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

सनादग्ने सृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षामि पृत-
नासु जिग्युः ।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत देव्यायाः

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातुऽधानान् । न । त्वा । रक्षांसि ।

पृतनासु । जिग्युः ।

सहऽमूरान् । अनु । दह । क्रव्यऽअदः । मा । ते । हेत्याः । मुत्तत ।

दैव्यायाः ॥ १८ ॥

एषा प्राग् [५. २६. ११] व्याख्याता यद्यपि तथापि व्यवहितत्वात् पुनर्व्याख्यायते । हे अग्ने त्वं सनात् चिरकालप्रभृति यातु-धानान् राक्षसान् मृणसि हंसि । तथापि त्वा त्वां रक्षांसि केषि राक्षसाः पृतनासु संग्रामेषु न जिग्युः न जितवन्तः । अतस्त्वं क्रव्यादः मांसाशनान् राक्षसान् सहमूरान् मूलसहितान् अनु दह क्रमेण भस्मीकुरु । तेषि दैव्यायाः देवस्य तव संबन्धिन्या । ते तव हेत्याः आयुधाद् मा मुत्तत मुक्ता मा भूवन् तद्वशं प्रामुचन्तु ॥

हे अग्ने ! आप चिरकालसे राक्षसोंको मारते रहते हैं, तथापि कोई भी राक्षस संग्रामोंमें आपको जीत नहीं सके हैं । अतः आप मांसभक्षक राक्षसोंको-मूलसहित भस्म करिये । वे आप देवके आयुधसे न छूट सकें आपके वशमें होजावें ॥ १८ ॥

नवमी ॥

त्वं नो अग्ने अधरादुदुक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।

प्रति त्पे ते अजरासस्तपिष्ठा अधशंसं शाशुचतो

दहन्तु ॥ १९ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अधरात् । उदुक्तः । त्वम् । पश्चात् । उत ।

रक्ष । पुरस्तात् ।

प्रति । त्वे । ते । अजरासः । तपिष्ठाः । अघशंसम् । शोशुचतः ।
दहन्तु ॥ १६ ॥

हे अग्ने त्वं नः अस्मान् अधरात् अधोदिशः सकाशात् तत्रस्थे-
भ्यः पीडकेभ्यो राक्षसेभ्यः रक्ष पाहि । तथा उदक्तः उदग्दिशः
सकाशात् तत्रत्येभ्यो रक्ष । एतदक्षिणदिशोऽप्युपलक्षणम् ।
अथवा अधरादित्यनेन अवाची दक्षिणा दिग् विवचयते । किं च
त्वं पश्चात् प्रतीच्या दिशः सकाशाद् रक्ष । उत अपि च पुरस्तात्
पूर्वस्या दिशः सकाशाद् रक्ष । तेषु तत्तद्देशेष्ववस्थितेषु कथं रक्षा
भवतीत्याशङ्क्याह प्रति ते त इति । ते तव संबन्धिनस्ते प्रसिद्धा-
स्तत्रतत्र वर्तमानाः स्फुलिङ्गाः । ज्वालारूपा इति शेषः । अघशं-
सम् अघं हिंसां शंसन्तं राक्षसं प्रति दहन्तु विनाशं कुर्वन्तु ।
कीदृशाः । अजरासः अजरा अजीर्णाः । तपिष्ठाः अतिशयेन
तापकाः । शोशुचतः भृशं दीप्ताः ॥

हे अग्ने ! आप हमारी दक्षिण दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे
रक्षा करिये । उत्तर दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये,
पश्चिम दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये, पूर्वदिशामें रहने
वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये । आपके ज्वालारूप अजर तापक
ज्वालारूप स्फुलिग (चिनगारियें) हिंसारूप पापको कहने वाले
राक्षसका संहार करें ॥ १६ ॥

दशमी ॥

पश्चात् पुरस्तादधरादुत्तरात् कविः काव्येन परि
पाह्यश्रे ।

सखा सखायमजरो जरिष्णे अग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः

पश्चात् । पुरस्तात् । अधरात् । उत । उत्तरात् । कविः । काव्येन ।

परि । पाहि । अग्ने ।

सखा । सखायम् । अजरः । जरिम्णे । अग्ने । मर्त्यान् । अमर्त्यः ।

त्वम् । नः ॥ २० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्मान् पश्चादित्यादिना उक्ताभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः सकाशात् कविः क्रान्तप्रज्ञः । तत्र [तत्र] बाधमानान् राक्षसान् जानन्नित्यर्थः । काव्येन कवेः कर्म काव्यम् तेन कवेस्तव रक्षणव्यापारेण परि पाहि सर्वतो रक्ष । रक्षकं रक्षणीयं च उभावपि विशिनष्टि । सखा मम सखिभूतस्त्वं सखायम् तव सखिभूतं रक्ष । अजरः जरारहितः जरिम्णे अत्यन्तजीर्णाय मह्यम् । रक्षां कुर्विति शेषः । हे अग्ने अमर्त्यस्त्वं मर्त्यान् मरणधर्मणः नः अस्मान् । पाहीत्यन्वयः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप क्रान्तप्रज्ञ (जानने वाले) होनेसे पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाके राक्षसोंसे हमको अपने रक्षणव्यापारसे रक्षित करिये मेरे मित्र बने हुए आप मुझ मित्रकी रक्षा करिये । आप अजर हैं अतः मुझ अत्यन्त जीर्णकी रक्षा करिये । हे अग्ने ! आप अमर्त्य हैं अतः मुझ मरणधर्मकी रक्षा करिये ॥ २० ॥ (७)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥

“तदग्ने चक्षुः” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यत्रोक्ता विनियोगा अनुसंधेयाः ॥

अग्निरहितमदेशे अग्निदर्शनलक्षणो अद्भुते तच्छान्त्यर्थम् “अग्नी रक्षांसि” इत्यनया आज्यं जुहुयात् । “अथ यत्रैतद् अनग्नावाभासो

भवति तत्र जुहुयात्” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः” इति [कौ० १३. ३८] ॥

सशब्देऽग्नौ तच्छान्त्यर्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत । “अग्नी रक्षांसि सेधतीति सेधन्तम्” इति तत्र [कौ० ५. १०] सूत्रम् ॥

अग्न्याधाने पावकगुणकाशियागम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने । “अग्नी रक्षांसि [८. ३. २६] अदितिर्घाँः [७. ६. १]” इति [वै० २. २] ॥

‘तदग्ने चक्षुः’ इस सूक्तके विनियोग ‘रक्षोहणम्’ में देखने चाहिये। अग्निरहित स्थानमें अग्निदर्शनरूप अद्भुतकी शान्तिके लिये “अग्नी रक्षांसि” ऋचासे घृतकी आहुति देय । “अथ यत्रैतद् अनशावाभासो भवति तत्र जुहुयात्” को कह कर सूत्रमें कहा है, कि—‘अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः०’ (कौशिकसूत्र १३।३८)

शब्दसहित अग्निके होने पर उसकी शान्तिके लिये इस ऋचा से अग्निका उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । १० का प्रमाण भी है, कि—

अग्न्याधानमें पावकगुणकाशियागका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । २ का प्रमाण है, कि—“अग्नी रक्षांसि (८ । ३ । २६) अदितिर्घाँः (७ । ६ । १)” इति ॥

तत्र प्रथमा ॥

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि
यातुधानान् ।

अथर्ववज्ज्योतिपादैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष २ १

तद् । अग्ने । चक्षुः । प्रति । धेहि । रेभे । शफः आरुजः । येन ।

पश्यसि । यातुऽधानान् ।

अथर्वञ्चत् । ज्योतिषा । दैव्येन । सत्यम् । धूर्वन्तम् । अचितम् ।
नि । ओप ॥ २१ ॥

हे अग्ने त्वं रेभे शब्दं कुर्वते रक्षसे तत् चक्षुः प्रति घेहि स्या-
पय । दहेत्युक्तं भवति बद्धिदृष्टेर्दाहकत्वात् । शफारुजः शफवत्
शफाः । नखा इत्यर्थः । अथ वा पशुरूपधारिणां शफा अपि संभ-
वन्ति । तैरारुजन्तीति शफारुजः । तादृशान् यातुधानान् येन
पश्यसि तच्चक्षुरित्यर्थः । किं च अथर्वञ्चत् अथर्वाख्यो महर्षिरिव
स एव मजापतिरिति ग्रन्थादां च तस्य माहात्म्यं प्रतिपादितम् ।
स यथा तपोमन्त्रप्रभावाभ्यां कृत्स्नान् असुरान् निर्ददाह तद्वत्
त्वमपि दैव्येन देवसंबन्धिना ज्योतिषा तेजसा सत्यम् यथार्थं धूर्व-
न्तम् हिंसन्तम् अचितम् अचेत्तारं संग्रारहितं न्योप नितरां दह ।
ॐ उप दाहे । लोपमध्यमरूपम् ॥

हे अग्निदेव ! आप शब्द करते हुए राक्षस पर चक्षुः स्था-
पित करिये अर्थात् उसको भस्म करिये । (क्योंकि-बद्धिकी दृष्टि
दाहक होती है) तथा पशुका रूप धारण करके छुमोंसे पीड़ा
देने वाले राक्षसोंको आप जैसे नेत्रसे देखते हैं और अथर्वा
(मजापति) महर्षि तप और मन्त्रके प्रभावसे जिस प्रकार असुरों
को भस्म कर चुके हैं, इसी प्रकार आप दिव्य तेजसे यथार्थमें
हिंसा करने वाले संग्रारहित राक्षसको पूर्णरीतिसे भस्म करिये २१

द्वितीया ॥

परिं त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।

घृपद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुत्तवतः ॥ २२ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।

धृपत्स्वर्णम् । दिवेऽदिवे । हन्तारम् । भङ्गुरऽवतः ॥ २२ ॥

व्याख्यातेयं प्राक् [७. ७४] । हे अग्ने सहस्य सहसे हित । अभिभवनशीलेत्यर्थः । अथवा सहो बलम् तेन जात । मथनाद् उत्पन्नत्वात् । वयं त्वा त्वां परि परितो धीमहि ध्यायेमहि परिधिं कर्मो वा । कीदृशम् । पुरम् कामानां पूरकम् । विप्रम् मेधाविनं विविधं प्रीणयितारं वा । धृपद्वर्णम् धर्पकवर्णयुक्तम् । दिवेदिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावताम् भङ्गस्वभावोपेतबलयुक्तानां राक्षसानां हन्तारम् प्रविनाशयितारम् । अग्नेर्दर्शनेनैव असुराणां बलानि भङ्गुराणि भवन्तीत्यभिप्रायः । यद्वा सर्वप्राणिवलानां भङ्गुरीकरणसामर्थ्यवताम् इत्यर्थः ॥

हे बलपूर्वक मथन करनेसे उत्पन्न हुए अग्ने ! हम आपको परिधि बनाते हैं ! आप कामनाओंको पूर्ण करने वाले हैं, अनेक प्रकारसे तृप्त करने वाले हैं, धर्पकवर्णसे सम्पन्न हैं और प्रतिदिन भंगत्वके स्वभाव वाले राक्षसोंको मारने वाले हैं अर्थात् अग्नि के दर्शनमात्रसे ही असुरोंके बल भंग होजाते हैं ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

विषेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि ।

अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुःस्राभिरर्चिभिः ॥ २३ ॥

विषेण । भङ्गुरऽवतः । प्रति । स्म । रक्षसः । जहि ।

अग्ने । तिग्मेन । शोचिषा । तपुःऽस्राभिः । अर्चिऽभिः । २३ ।

हे अग्ने विषेण विषवद्दिनाशकेन व्याप्तेन वा । एतत् शोचिपेत्यस्य विशेषणम् । तिग्मेन तीक्ष्णेन शोचिषा तेजसा भङ्गुरावतः । उक्तो भङ्गुरावच्छब्दार्थः । उक्तरूपान् रक्षसः राक्षसान्

प्रति जहि । स्मेति पूरणः । तथा तपुरग्राभिः तापकाग्रोपेताभिः
अर्चिभिः ज्वालाभिरपि जहि ॥

हे अग्ने ! आप विपकी समान नाशक अपने तीक्ष्ण तेजसे
भंगशील राक्षसोंका संहार करिये और तापक अग्रभागसे युक्त
ज्वालाओंसे भी (शत्रुओंका) नाश करिये ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते
महित्वा ।

प्रदेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीति शृङ्गे रक्षोभ्यो
विनिच्चे ॥ २४ ॥

वि । ज्योतिषा । बृहता । भाति । अग्निः । आविः । विश्वानि ।
कृणुते । महित्वा ।

प्र । अदेवीः । मायाः । सहते । दुःस्ववाः । शिशीति । शृङ्गे इति ।
रक्षोभ्यः । विनिच्चे ॥ २४ ॥

अयम् अग्निः बृहता महता ज्योतिषा तेजसा वि भाति प्रका-
शते ॥ अय प्रत्यक्तकृतः । हे अग्ने महित्वा महत्त्वेन तेजसाम्
आधिपत्येन विश्वानि सर्वाण्यपि भूतजातानि आविष्कृणुपे स्पष्टानि
क्रमेण । विश्वानि प्रति आत्मानं वा आविष्कृरूपे प्रभूतेन तेजसा ।
अयम् अग्निः अदेवीः आसुरीः दुरेवाः दुःखेन गन्तव्या मायाः
प्र सहते प्ररूपेण अभिभवति । तथा रक्षोभ्यो विनिच्चे विना-
शाय । ❀ निक्ष चुम्बने । तुमर्थे केन् प्रत्ययः । वकारोपजन-
शब्दान्दसः ❀ । शृङ्गे विपाणे शिशीते तीक्ष्ण करोति ॥

यह अग्निदेव थड़े भारी तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं और अपने तेजकी अधिकतासे सब भूतोंको स्पष्ट करते रहते हैं और यह अग्निदेव अक्षुरोंकी दुःखपूर्वक सहने योग्य मायाओंको नष्ट कर डालते हैं और राजसोंका नाश करनेके लिये अपने विषाणों (ज्वालाओं) को तीक्ष्ण करते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा
जातवेदो वि निचव ॥ २५ ॥

ये इति । ते । शृङ्गे इति । अजरे इति । जातवेदः । तिग्महेती
इति तिग्महेती । ब्रह्मसंशिते इति ब्रह्मसंशिते ।

ताभ्याम् । दुःहार्दम् । अभिदासन्तम् । किमीदिनम् । प्रत्यञ्चम् ।
अर्चिषा । जातवेदः । वि । निचव ॥ २५ ॥

हे जातवेदः अग्ने ये प्रसिद्धे ते तव शृङ्गे विषाणे स्तः
ताभ्याम् अर्चिषा प्रत्यञ्चं वि निचव विनाशयेत्युत्तरत्र संबन्धः ।
किंगुणके शृङ्गे इति तत्राह । अजरे जरारहिते अचिनश्चरे तिग्म-
हेती तीक्ष्णायुधभूते तीक्ष्णहननसाधने ब्रह्मसंशिते ब्रह्मणा मन्त्रेण
अस्माभिः प्रयुक्तेन तीक्ष्णभूते । उक्तलक्षणाभ्यां शृङ्गाभ्यां हन्तव्यः
क इति तं सविशेषम् आह । दुर्हार्दम् दुष्टहृदयम् अभिदासन्तम्
सर्वत उपक्षपयन्तं किमीदिनम् किम् इदानीम् इति वदन्तं किम्
इदं किम् इदम् इत्यन्विष्य चरन्तं वा राजसादिकम् ॥

हे अग्निदेव ! आपके जो प्रसिद्ध सींग हैं वे जरा रहित हैं,

तीक्ष्ण आयुधरूप हैं, हमारे द्वारा प्रयोग किये गए मन्त्रोंसे तीक्ष्ण हो गए हैं उन सींगोंसे आप दृपित हृदय वाले चारों ओरसे क्षय करते हुए, इस समय क्या हो रहा है, इस समय क्या हो रहा है इस प्रकार छिद्रान्वेषी राक्षस को भली प्रकार नष्ट कर डालिये २५ पद्ये ॥

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।

शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥

अग्निः । रक्षांसि । सेधति । शुक्रशोचिः । अमर्त्यः ।

शुचिः । पावकः । ईड्यः ॥ २६ ॥

अनया सूक्तत्रयोक्तम् अर्थं संशुभ्य अभिधत्ते । अयं अग्निः रक्षांसि सर्वप्रकारेण बाधमानान् नानाप्रकारान् राक्षसान् सेधति निवारयति विनाशयति । अग्निर्विशेष्यते । शुक्रशोचिः दीप्तप्रकाशः । अमर्त्यः मरणधर्मरहितः । शुचिः शुद्धः । पावकः पावयिता शोधयिता । ईड्यः स्तुत्यः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

यह अग्निदेव सकल प्रकारसे पीड़ा देने वाले अनेक प्रकारके राक्षसोंको निवारण करते हैं । इन अग्निदेवका प्रकाश दम्कता रहता है यह मरणधर्मरहित है, शुद्ध है और शुद्ध करने वाले हैं तथा स्तुतिके पात्र हैं ॥ २६ ॥ ८५

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४४१) ॥

“इन्द्रासोम” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनेन सह उक्ता विनियोगाः ॥

अत्र ऋक्संहिताया बृहद्देवनाञ्जुक्रमणी ।

संवत्सरं तु मण्डकान् ऐन्द्रासोमं परं तु यत् ।

ऋषिर्ददर्श राक्षोघ्नं पुत्रशोकपरिस्रुतः ।

हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा । इति ॥

“इन्द्रासोमा” सूक्तके विनियोग “रक्षोहणम्” सूक्तके साथ कह दिये हैं ।

इस विषयमें ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें कहा है, कि—“सम्बत्सरं तु मण्डूकान् ऐन्द्रासोमं परन्तु यत् । ऋषिर्ददर्श राक्षोघ्नं पुत्रशोकपरिस्रुतः ॥ हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा ॥—सौ पुत्रोंके मारे जाने पर सौदासके उपद्रवोंसे दुःखी ऋषिने वर्ष भर तक मण्डूकमन्त्र और ऐन्द्रासोम मन्त्रोंको देखा फिर पुत्रशोकमें डूबे हुए मुनिने रक्षोघ्न मन्त्रोंको देखा” ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उञ्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।
परां शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशी-
तमस्त्रिणः ॥ १ ॥

इन्द्रासोमा । तपतम् । रक्षः । उञ्जतम् । नि । अर्पयतम् । वृषणा ।

तमःऽवृधः ।

परा । शृणीतम् । अचितः । नि । ओषतम् । हतम् । नुदेथाम् ।

नि । शिशीतम् । अस्त्रिणः ॥ १ ॥

हे इन्द्रासोमा इन्द्रासोमौ इन्द्रश्च सोमश्च । ❀ “देवताद्वन्द्वे च” इति आनङ् । आमन्त्रिताद्युदात्तः ❀ । रक्षः । ❀ जातावेकवचनम् ❀ । रक्षांसि तपतम् संतापयतम् । ❀ “आमन्त्रितं पूर्वम्” इत्यविद्यमानत्वात् तपतम् इत्यस्य निघाताभावः ❀ । तथा उञ्जतम्

हिंस्तम् । ❀ उज्जतिर्दिसाकर्मा । वाक्यादित्वाच्चिवाताभावः ❀ ।
 हे वृषणा कामानां वर्षितारौ युवां न्यर्षयतम् नीचैर्गमयतम् । कार्ग ।
 तमोवृषः तमसि रात्रौ अन्धकारे तमसा मायया वा वर्धमानान् ।
 एवम् अचितः अचित्तान् अज्ञानिनो राक्षसान् परा शृणीतम्
 पराङ्मुखं हिंस्तम् । तथा न्योपतम् नितरां दहतम् । ❀ उप
 दाहे ❀ । तथा अत्रिणः भक्तकान् राक्षसान् हतम् । तथा जुदे-
 थाम् हतांस्तान् अस्मत्तः मेरयेथाम् । ❀ तिष्ठः परत्वात् निघाता-
 भावः ❀ । एवं नि शिशीतम् नितरां तनुकूस्तम् ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप राक्षसोंको सन्ताप दीजिये
 और उनको नष्ट कर डालिये । हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले
 इन्द्र और सोम देवताओं ! आप रात्रिमें अन्धकारमें-मायासे-
 बढ़ने वाले अज्ञानी राक्षसोंका भी संहार करिये और उन
 को खाक कर दीजिये । भक्तक राक्षसोंको मारिये और उन मारे
 हुआको हमारी शोर चकेल दीजिये । इस प्रकार उनके पक्षको
 बहुत ही क्षीण कर दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यः घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव
 ब्रह्मद्विपं क्रव्योदं घोरचक्षसे द्वेषां धत्तमनवायं
 किमीदिने ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा । सम् । अघऽशंसम् । अग्नि । अवम् । तपुः । ययस्तु ।
 चरुः । अग्निमान्ऽइव ।

ब्रह्मऽद्विपे । क्रव्यऽअदे । घोरऽचक्षसे । द्वेषः । धत्तम् । अनवायम् ।
 किमीदिने ॥ २ ॥

हे इन्द्रासोमौ अघशंसम् अघस्य अनर्थस्य शंसितारम् अघम्
पापिनं सम्यग् अभि । ॐ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ॐ ।
भवतम् इति शेषः । तिरस्कुरुतम् इत्यर्थः । स राक्षसः तंपुः तापं
ययस्तु गच्छतु । चरुः ओदनः । कीदृशः । अग्निमान् इव अग्नि-
संयुक्त इव । अग्नौ क्षिप्रश्चरिव तापं प्राप्नोतु । किंच युवांब्रह्म-
द्विषे ब्राह्मणद्वेषे क्रव्यादे मांसाशनाय घोरचक्षसे भयंकरदर्शनाय
किमीदिने किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति चरते
वा राक्षसाय । यास्केन उक्तोयम् अर्थः [नि० ६. ११] । तादृ-
शाय द्वेषः अप्रीतिम् अनवायम् अव्यवधानं यथा भवति तथा धत्तम्
धारयतम् । सर्वदा तस्मिन्नहितं कुरुतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप पापको कहने वालेका
भली प्रकार पराभव करिये । वह राक्षस ऐसे तापको प्राप्त होवे,
जिस प्रकार चरु अग्निसे संयुक्त होकर तपता है और आप
ब्राह्मणद्वेषी मांसभक्षी भयंकर नेत्र वाले राक्षसमें द्वेष और अप्रीति
करो अर्थात् सदा उसका अहित करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरं नारम्भणे तमसि प्र
विध्यतम् ।

यतो नैपां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्यु-
मच्छवः ॥ ३ ॥

इन्द्रासोमा । दुःकृतः । वव्रे । अन्तः । अनारम्भणे । तमसि ।
प्र । विध्यतम् ।

यतः । न । एपां । पुनः । एकः । चन । उत्स्रयत् । तद् ।

वाम् । अस्तु । सहसे । मन्युः । शवः ॥ ३ ॥

हे इन्द्रासोमां दुष्कृतः दुष्टकारिणो राक्षसान् वद्रे आवरके
अतारम्भणे अनालम्बने तमसि अन्तः प्र निध्यतम् प्रवेश्य ताडय-
तम् । यतः यस्माद् अन्धकाराद् एषां पतितानां राक्षसानां दुष्कृतां
मध्ये पुनः एकश्चन एकोपि न उदयत् नोद्गच्छेत् । ॐ एतेर्लेटि
अडागमः । “इत्थ लोपः०” इति इकारलोपः । गुणयादेशां ॐ ।
तथा वाम् युवयोः तत् शवः वलं सहसे तेषाम् अभिभवाय
मन्युमत् अस्तु क्रोधोपेतं भवतु ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप दूषित कर्म करनेवाले राक्षसों
को आलम्बनरहित अन्धकारमें लेजाकर ताड़ित करिये जिससे
कि-इन अन्धकारमें पड़े हुए दुष्कर्मी राक्षसोंमेंसे एक भी न
उदय होसके । आप दोनोंका बल इनका तिरस्कार करनेके लिये
क्रोधसे सम्पन्न होजावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रासोमा वर्तयंतं दिवो वधं संपृथिव्या अघशंसाय
तर्हणम् ।

उत्तंक्षतं स्वर्धं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वधः

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । वधम् । सम् । पृथिव्याः ।

अघशंसाय । तर्हणम् ।

उत् । तक्षतम् । स्वर्धम् । पर्वतेभ्यः । येन । रक्षः । वृधानम् ।

निजूर्वधः ॥ ४ ॥

हे इन्द्रासोमी दिवः अन्तरिक्षाद् द्युलोकाद् वा वधम् दहन-
साधनम् आपुधं सम् एकैव वर्तयतम् । तथा पृथिव्याः सकाशा-

दपि सं वर्तयतम् । किमर्थम् । अघशंसाय अघं शंसतीति अघ-
शंसो राक्षसः तदर्थं तद्वधार्थम् । कीदृशं वधम् । तर्हणम् हिंसकम् ।
तद् वज्रम् उत्तन्नतम् उत्तेजनं तीक्ष्णं कुरुतम् । स्वयम् स्वरणार्हम्
आयुधम् । पर्वतेभ्यः मेघेभ्यः सकाशाद् येन वज्रेण वधशब्द-
वाच्येन वाट्टधानम् वर्धमानं रक्षः राक्षसं निजूर्वथः ह्यः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप द्युलोकसे और पृथिवीसे
इननके साधन आयुधको वधलक्षण पापकी प्रशंसा करने वाले
राक्षस पर एक साथ प्रेरित करो हिंसक वज्रको तीक्ष्ण करो,
जिससे कि—तुम पर्वत और मेघोंसे उठते हुए राक्षसको मार सको ४
पञ्चमी ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्परिचित्तेभिर्युवमश्महन्मभिः
तपुर्वधेभिरजरत्त्रिणो नि पर्शानि विध्यतं यन्तुं
निस्वरम् ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । परि । अग्निस्तप्तेभिः । युवम् ।

अश्महन्मभिः ।

तपुःश्वधेभिः । अजरेभिः । अत्रिणः । नि । पर्शानि । विध्यतम् ।

यन्तुं । निस्वरम् ॥ ५ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवम् युवां वर्तयतम् इतस्ततः प्रेरयतम् । साम-
र्थ्याद् आयुधानीति गम्यते । कस्मिन् देशे । दिवस्परिद्युलोकस्य
अन्तरिक्षस्य परितः । किंच अग्निस्तप्तेभिः अग्निना संतप्तैः अश्म-
हन्मभिः अश्मा अयःसारः अयःसारमयैर्हननसाधनैः तपुर्वधेभिः
संतापकैरायुधैः । पुनः कीदृशैः । अजरेभिः जरारहितैर्दृष्टैः अत्रिणः

भक्तकान् अमुरान् पशानि पारर्वास्थिमदेशे नि विध्यतम् । ते च
निःस्वरम् निःस्वनं निःशब्दं यथा भवति तथा यन्तु गच्छन्तु ।
म्रियन्ताम् इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! तुम अन्तरिक्षमें चारों ओर
आयुधोंको घुमाओ और अग्निसे तपे हुए लोहेके सन्तापक
अजर आयुधोंसे राजसोंकी पसलियोंको पीछेडालो वे भी शब्द-
रहित दशाको प्राप्त होजावें अर्थात् मर जावें ॥ ५ ॥

पश्या ॥

इन्द्रासोमा परिं वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याशेवं
वाजिनां ।

यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीं
इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

इन्द्रासोमा । परि । वाम् । भूतु । विश्वतः । इयम् । मतिः ।
कक्ष्यां । अश्वाश्च । वाजिनां ।

वाम् । वाम् । होत्राम् । परिहिनोमि । मेधया । इमा । ब्रह्माणि ।
नृपती इवेति नृपतीश्च । जिन्वतम् ॥ ६ ॥

हे इन्द्रासोमां वाम् युवाम् इयम् अस्माभिः कृना मतिः मन्यत
इति मतिः स्तुतिः विश्वतः सर्वतः परि भूतु परिगृह्णातु । विषयी-
करोरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । कक्ष्या कक्षबन्धनसाधनभूता रज्जुः
वाजिना वाजिनां बलवन्तां अश्वेव अश्वाविव । तां यथा रज्जु-
गृह्णाति तद्वत् । मतिं विशिनष्टि । यां होत्राम् आह्वानाहीं मेधया
धारणयुक्तया बुद्ध्या वाम् युवाभ्यां युवयोरर्थाय परिहिनोमि प्रेरं-

यामि ॥ इदानीम् अवयवश आह । इमा इमानि ब्रह्माणि मन्त्रान्
नृपतीव राजानाविव तां यथा वन्दिकृतवाक्यानि श्रुत्वा प्रीणयत-
स्तद्वत् जिन्वतम् प्रीणयतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओ ! जैसे कक्षबंधनसाधनभूता रस्सी
बलवान् घोड़ोंको पकड़ लेती है तिसी प्रकार हमारी की हुई
स्तुति आपको पकड़ लेय जिस आह्वान करने योग्य धारणा-
युक्त बुद्धिसे आपको प्रेरित कर रहा हूँ वह बुद्धि (स्तुति-मति)
आपको ग्रहण कर लेय जैसे वन्दियोंकी वाणियों दो राजाओंकी
प्रसन्न करती हैं, इसी प्रकार ये मन्त्र आपको प्रसन्न करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्रति स्मरेथां तुजयन्द्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मां कदा चिद-
भिदासति द्रुहुः ॥ ७ ॥

प्रति । स्मरेथाम् । तुजयत्सभिः । एवैः । हतम् । द्रुहः । रक्षसः ।

भङ्गुरावतः ।

इन्द्रासोमा । दुःस्कृते । मा । सुगम् । भूत् । यः । मा । कदा ।

चित् । अभिदासति । द्रुहुः ॥ ७ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवां तुजयद्भिः बलवद्भिः एवैः गमनसाधनैरत्रैः
प्रति स्मरेथाम् । स्मृतिरत्र आगमनपर्यन्तन्यापारा । प्रतिगच्छतम्
इत्यर्थः । आगत्य च द्रुहः द्रोणकारिणो भङ्गुरावतः भङ्गनशीलान्
रक्षसः राक्षसान् हतम् हिंस्तम् ॥ किं च हे इन्द्रासोमौ दुष्कृते
दुष्टकारिणे राक्षसाय सुगम् सुगमनं जीवद्रूपनं सुखं वा मा भूत् ।

दुष्कृतं विशिनष्टि । यो दुष्कृतं द्रुहुः द्रोहशीलः सन् कदा चित् एक-
वारमपि मा माम् अभिदासति उपक्षपयति, वाधते । तस्मा इति ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप गमनके साधन बलवान्
अरवोंका (यहाँ आनेके निमित्त) स्मरण करिये और आकर
द्रोहकारी भङ्गनशील राक्षसोंको मार डालिये । हे इन्द्र और
सोम देवताओं ! दुष्कर्मी राक्षसोंका जीवन सुखमय न होवे ।
जो द्रोह रख कर एक बार भी हमको पीड़ा दे चुका हो उसका
जीवन सुखमय न हो सके ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः

आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता

यः । मा । पाकेन । मनसा । चरन्तम् । अभिचष्टे । अनृतेभिः ।

वचःऽभिः ।

आपःऽइव । काशिना । सम्ऽगृभीताः । असन् । अस्तु । असतः ।

इन्द्र । वक्ता ॥ ८ ॥

हे इन्द्र यो राक्षसादिः पाकेन परिपक्वेन मनसा । अन्याया-
चरणस्यापि मनोमूलत्वात् मन एव अत्राभिधीयते । चरन्तम् म-
वर्तमानं मा माम् अनृतेभिः अनृतरूपैः अयं ब्राह्मणं हतवान् अयं
ब्रह्मस्त्रं हतवान् इत्येवमाद्यात्मकेः वचोभिः वचनैः अभिचष्टे अभि-
शापं करोति स राक्षसादिः काशिना मुष्टिना संगृभीताः संगृहीता
आप इव ता यथा अद्भुतलिवरेभ्यो गच्छन्ति तद्वत् असतः अविद्य-
मानस्य अकृतस्वार्थस्य वक्ता स्वयमपि असन्नस्तु शून्यो भवतु ॥

हे इन्द्र ! जो राक्षस आदि परिपक्व मनसे सुभक्तो अनृत वचनों
के द्वारा अभिशाप लगता है, कि-यह ब्रह्महन्तारा है इसने ब्राह्मण

का धन चुराया है—वह राक्षस आदि, जैसे अञ्जलिमें लिये हुए जल अँगुलियोंके छिद्रोंमेंसे निकलजाते हैं, इसीप्रकार असत् होजावे नवमी ॥

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निऋ-
तेरुपस्थे ॥ ६ ॥

ये । पाकऽशंसम् । विहरन्ते । एवैः । ये । वा । भद्रम् । दूष-
यन्ति । स्वधाभिः ।

अहये । वा । तान् । प्रददातु । सोमः । आ । वा । दधातु ।
निःऽऋतेः । उपस्थे ॥ ६ ॥

ये राक्षसाः पाकशंसम् परिपकशंसनं सत्यभाषिणं माम् एवैः
प्राप्तव्यैरात्मीयैः कामैर्हेतुभिः विहरन्ते विशेषेण हरन्ति उपक्षप-
यन्ति । यथा कामं परिवदन्तीत्यर्थः । ये च भद्रम् कल्याणवर्तनं
मां मदीयं भद्रम् भद्रं कर्म वा स्वधाभिः । स्वधेत्यन्ननाम । अन्नै-
र्निमित्तभूतैः दूषयन्ति तान् उभयविधान् अहये । सर्पे वृत्रासुरेव्य-
हिरित्यभिधानम् । वृत्राय सर्पाय वा प्रददातु प्रयच्छतु सोमः ।
वा अथवा निऋतेः । निऋतिः पापदेवता । हिंसित्र्याः पापदेव-
ताया उपस्थे उत्सङ्गे आ दधातु आस्थापयतु ॥

जो राक्षस मुझ सत्यभाषीको अपने कारणसे पीड़ित करते
हैं अर्थात् इच्छानुसार मेरे विषयमें कुवाक्य कहते हैं, और जो
मुझ कल्याणकारीको स्वधासे अर्थात् अन्नके निमित्तसे दूषित
करते हैं उनको सोम देवता सर्पके अर्पण कर दें अथवा उनको
पापदेवता निऋतिकी गोदीमें स्थापित कर दें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां
यस्तनूनाम् ।

रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि प हीयतां तन्वाश्
तनां च ॥ १० ॥

यः । नः । रसम् । दिप्सति । पित्वः । अग्ने । अश्वानाम् ।
गवाम् । यः । तनूनाम् ।

रिपुः । स्तेनः । स्तेयकृत् । दभ्रम् । एतु । नि । सः । हीयताम् ।
तन्वा । तना । च ॥ १० ॥

हे अग्ने यो राक्षसादिः नः अस्माकं रसम् मम शरीरसारं
दिप्सति जिघ्रांसति यश्च अश्वानां मदीयानां रसं दिप्सति यथापि
गवां यो वा तनूनाम् आत्मीयपुत्रादिशरीराणां रसं दिप्सति स
पूर्वोक्तप्रकारो रिपुः शत्रुः स्तेनः तस्करः स्तेयकृत् मोपकर्ता दभ्रम्
एतु । ❀ दधि हिंसायाम् ❀ । हिंसां प्राप्नोतु । स एव तन्वा
स्वकीयेन शरीरेण तना च तनयेन च नि हीयताम् वियुक्तो भवतु ॥
इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! जो राक्षस आदि हमारे शरीरके रसको नष्ट करता
चाहता है । और जो मेरे घोड़ोंके गोश्रोके वा आत्मीय पुत्र शरीर
के रसका अपहरण करना चाहता है वह तस्कर चोर हिंसाको
प्राप्त होवे-मर जावे और वही अपने शरीर और पुत्रसे वियुक्त
होजावे ॥ १० ॥ (९)

“परः सो अस्तु” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

“परः सो अस्तु” इस सूक्तका “रक्षोहणम्” अनुवाकके अनुकूल विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमा ॥

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरथो
अस्तु विश्वाः ।

प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति
यश्च नक्तम् ॥११॥

परः । सः । अस्तु । तन्वा । तना । च । तिस्रः । पृथिवीः ।
अधः । अस्तु । विश्वाः ।

प्रति । शुष्यतु । यशः । अस्य । देवाः । यः । मा । देवा । दिप्सति ।
यः । च । नक्तम् ॥ ११ ॥

हे देवाः स राक्षसादिः तन्वा स्वकीयेन शरीरेण तना च पुत्रेण च । ❀ उभयत्र व्यत्ययेन तृतीया ❀ । तनोः पुत्रस्य चेत्यर्थः । उभयोः परः अन्यः विरोधी अथवा परस्ताद् वर्तमानो वियुक्तः अस्तु । तथा विश्वाः व्याप्तास्तिस्रः पृथिवीः त्रिप्रकारा भूमीः । भूमेश्च लोकस्य च त्रैविध्यं मन्वान्तरेषु प्रसिद्धम् । “तिस्रो भूमिर्धारयन् त्रींस्त धून्” [ऋ० २, २७, ८] । “तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमिरुपराः पड्विधानाः” इति [ऋ०. ७, ८७, ५.] । अधो अस्तु । तिसृणामपि पृथिवीनाम् अधस्ताद् नरके वर्तमानोस्त्वित्यर्थः । अस्य पापिनो यशः

अन्नं कीर्तिर्वा प्रति शुष्यतु विनश्यतु । यस्य ईदृशो विनाशः तं दर्शयति । यो द्वेष्टा दिवा अहनि मा मां दिप्सति हन्तुम् इच्छति यश्च नक्तम् रात्रौ दिप्सति । तस्येति संबन्धः ।

हे देवताओं ! जो द्वेष्टा दिन और रात्रिमें हमको मारना चाहता है वह राक्षस आदि अपने शरीरसे और पुत्रसे वियुक्त होवे और तीन पृथिवियोंके नीचे होजावे अर्थात् तीनों पृथिवियोंके नीचे वर्तमान नरकमें जा पड़े । उस पापीका यश शुष्क होजावे ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

सुविज्ञानं चिकितुपजनाय सच्चासञ्च वचसी पस्पृधाते ।

तयोर्यत् सत्यं यतरद्वजायस्तदित् सोमोवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥

सुविज्ञानम् । चिकितुपे । जनाय । सत् । च । असत् । च । वचसी इति । पस्पृधाते इति ।

तयोः । यत् । सत्यम् । यतरत् । अद्वजायः । तत् । इत् । सोमः । अवति । हन्ति । असत् ॥ १२ ॥

अस्याः “इन्द्रासोमा” इत्यादिमुक्तत्रयस्य ऋक्संहितायामपि समानत्वात् तदीयवृहद्देवतानुक्रमणायाम् उदाहृतं वचनम् एतत् ॥

हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः ।

वसिष्ठं राक्षसोसि त्वं वासिष्ठं रूपम् आस्थितः ॥

अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांस् राक्षसोब्रवीत् ।

अत्रोत्तरा ऋचो दृष्ट्वा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥

इति ॥ चिकित्पे विदुपे जनाय इदं सुविज्ञानम् विज्ञातुं सुशकं भवति । किं तत् । सच्च सत्यं च असच्च अनृतं च वचसी सत्या-सत्यरूपे वचने पस्पृधाते मिथः स्पर्धते । तयोः सदसतोर्मध्ये यत् सत्यम् यथार्थवचनं यतरच्च ऋजीयः ऋजुतरम् अङ्गुदिलं तदित् तदेव सोमो देवः अवति रक्षति । असत् उक्तविलक्षणम् असत्यं हन्ति हिनस्ति । एवं सति आवयोर्मध्ये कोऽनृतवादीति विद्वद्भिः सुज्ञानम् इत्यर्थः । अतः अस्मासु असत्यभूतम् आरोपयन्तं राक्षसम् हे सोम त्वं घातयेत्यभिप्रायः ॥

विद्वान् प्राणी इस बातको भली प्रकार जान सकता है, कि-सत् और असत् वचन परस्पर स्पर्धा करते हैं । इस सत्य और असत्य वचनोंमें जो यथार्थवचन होता है वह सरल होता है और सोमदेवता उसीकी रक्षा करते हैं और असत्यवक्ताको मार देते हैं । इस दशामें हम दोनोंमें कौन झूठ बोलने वाला है यह भली भाँति जाना जा सकता है । तात्पर्य यह है, कि-हे सोम ! हम पर असत्यारोपण करते हुए राक्षसको आप मार दीजिये † १२

† यह ऋचा और “इन्द्रासोमा” आदि तीन सूक्त ऋग्वेद-संहितामें भी एकसे हैं अत एव उसकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें जो वचन उद्धृत किया है उसको यहाँ पर भी उद्धृत करते हैं, कि-
“हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः । वसिष्ठं राक्षसोऽसि त्वं वसिष्ठं रूपमास्थितः ॥ अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांमू राक्षसोऽब्रवीत् । अत्रोत्तरा ऋचो दृष्टा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥ महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंको मारकर राक्षसने वसिष्ठजीका रूप धारण कर लिया और वसिष्ठजीको मारनेकी इच्छासे वसिष्ठजीसे कहने लगा, कि-मैं वसिष्ठ हूँ और तू राक्षस है, उस समय वसिष्ठजीने सुविज्ञानम् आदि ऋचाएँ देली थीं । ऐसा हमने सुना है ॥”

तृतीया ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया
धारयन्तम् ।

हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ
शयाते ॥ १३ ॥

न । वै । ऊँ इति । सोमः । वृजिनम् । हिनोति । न । क्षत्रियम् ।
मिथुया । धारयन्तम् ।

हन्ति । रक्षः । हन्ति । असत् । वदन्तम् । उभाँ । इन्द्रस्य । प्रसितौ ।
शयाते इति ॥ १३ ॥

सोमो देवः वृजिनम् । पापवाचिना वृजिनशब्देन तद्वान् लक्ष्यते ।
पापवन्तं राक्षसं न हिनोति वा उ । वैशब्दः प्रसिद्धौ । उशब्दः अव-
धारणे । नैव मुञ्चति अयं जीवत्विति न परित्यजति । मिथुया मिथ्या-
भूतं अनृतं धारयन्तं क्षत्रियम् क्षत्रं बलम् तद्वन्तं बलिनं राक्षसा-
दिकं च सोमो न हिनोति । तर्हि सोमः किं करोति । उच्यते ।
रक्षः राक्षसं वृजिनरूपं हन्ति हिनस्ति । तथा असत् अनृतं वदन्तं
हन्ति । उभाँ उक्तविधां दुष्टाँ इन्द्रस्य प्रसितौ बन्धनसाधने पाशे
शयाते । अथवा प्रसितौ ❀ निष्ठान्तं पदम् ❀ । प्रकर्षेण बद्धौ
सन्तौ शयाते । ❀ पिञ् बन्धने इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । “गति-
रन्तरः” इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । क्तिन्पक्षे “तादाँ च निति
कृति०” इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

सोम देवता पाप वाले राक्षसको नहीं छोड़ते, वे मिथ्याको
धारण करने वाले क्षत्रबलसम्पन्न बली राक्षस आदिको नहीं

छोड़ते हैं, किंतु वह पापरूप राक्षसको मार डालते हैं और असत्य-
भाषीको भी मार डालते हैं, दोनों प्रकारके दुष्ट इन्द्रके पाशमें
शयन करते हैं ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीपे द्रोघवाचस्ते निऋथं
सचन्ताम् ॥ १४ ॥

यदि । वा । अहम् । अनृतऽदेवः । अस्मि । मोघम् । वा । देवान् ।
अपिऽऊहे । अग्ने ।

किम् । अस्मभ्यम् । जातऽवेदः । हृणीपे । द्रोघऽवाचः । ते । निऽऋ-
थम् । सचन्ताम् ॥ १४ ॥

हे अग्ने अहं यदि वा अनृतदेवः अनृतेन दीव्यतीत्यनृत-
देवः अथ वा अनृताः असत्यभूता देवा अस्य । देवशून्य इत्यर्थः ।
तादृशोस्मि वा । अथ वा मोघम् व्यर्थं देवान् स्तोतव्यान् यष्टव्यांश्च
अप्यूहे वहामि । उभयविधोपि न भवामीत्यर्थः । अतः कारणात्
किम् कथंकारम् अस्मभ्यम् हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने हृणीपे
ऋध्यसि । क्रोधो न कार्यः । अस्मद्विलक्षणा द्रोघवाचः देवताद्रोह-
विषयवचनोपेताः ते राक्षसाः निऋथम् निऋष्टाम् आर्तिं नाशं
सचन्ताम् समवयन्तु गच्छन्तु ॥

हे अग्ने ! यदि मैं अनृतसे खेलता होऊँ अथवा देवताओंसे
हीन होऊँ वा स्तोतव्य और पूज्य देवताओंको व्यर्थ ही बुलाता
होऊँ कष्ट देता होऊँ (परन्तु मैं दोनों प्रकारका नहीं हूँ) फिर
हे अग्ने ! आप मुझ पर क्रोध क्यों कर रहे हैं । किंतु जो मुझसे

नहीं है देवताओंके लिये द्रोह भरे वचनोंका उच्चारण करते हैं वे राक्षस निकृष्ट आत्तिको प्राप्त होजावें ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

अथा मु॒रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॑ अस्मि॒ यदि॑ वायु॒स्ततप॑
पुरु॒पस्य॑ ।

अथा स॒ वीरै॑र्दशभिर्वि॒ यूया॑ यो मा॒ मोघं॑ यातु॒धाने-
त्याह॑ ॥ १५ ॥

अथ । मु॒रीय॒ । यदि॑ । यातु॒ऽधानः॑ । अस्मि॒ । यदि॑ । वा । आ॒युः ।
ततप॑ । पुरु॒पस्य॑ ।

अथ । मः । वी॒रैः । द॒शऽभिः॑ । वि॒ । यू॒याः । यः । मा॒ ।
मोघं॑ । यातु॒ऽधानः॑ । इति॑ । आह॑ ॥ १५ ॥

भाष्येण अयं मन्त्रः पूर्वथ अराक्षसम् अहिंसकं त्वं हिंसको राक्षसोसीत्येवं यो मिथ्याभियोगं करोति तं प्रति मिथ्याभिशास्तस्य शपथरूपो मन्त्रो । हे आरोपक पुरुष अहं यदि यातुधानः यातनानां विधायकः पीडाकृद् अस्मि । यदि वा पुरुषस्य आयुः जीवनं ततप संतापं हिंसाम् अकार्पम् । तर्हि अद्य अस्मिन्नेव दिने मु॒रीय म्रियेय । अथ अयं मा अनागसं गां यस्त्वं मोघम् व्यर्थं यातुधानेति आह । पुरुषव्यत्ययः । स त्वं च दशभिः दशसंख्याके-वीरैः पुत्रैः वि यूयाः वियुक्तो भवेः ॥

(भाष्यः पद्य मन्त्र और पहिला मन्त्र “अराक्षस अर्थात् अहिंसक तुरुपसे तू राक्षस अर्थात् हिंसक है” इस प्रकार जो मिथ्या अभियोग लगाता है उसके निमित्त मिथ्या अभिशास्तके शपथरूप हैं) हे आरोपक मैं यदि यातुधान हूँ अर्थात् पीडादायक हूँ

अथवा पुरुषोंके जीवनको सन्तप्त करता होऊँ तो आज ही मर जाऊँ अन्यथा यदि तू मुझ निरपराधको व्यर्थ ही यातुधान कहता हो तो तू दश पुत्रोंसे हीन होजावे ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट

यः । मा । अयातुम् । यातुऽधान । इति । आह । यः । वा ।

रक्षाः । शुचिः । अस्मि । इति । आह ।

इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । विश्वस्य । जन्तोः । अधमः ।

पदीष्ट ॥ १६ ॥

यः अध्यारोपयिता मा माम् अयातुम् अराक्षसं सन्तम् हे यातुधान राक्षस इत्याह यो वा यश्च परमार्थतो रक्षाः राक्षसः शुचिः शुद्धोहम् अयातुः इत्याह ब्रूते तम् उभयविधम् असत्यवादिनम् इन्द्रो देवः महता अतिशयितप्रभाववता वधेन हननसाधनेन वज्रेण हन्तु हिनस्तु । स उभयविधो जनः विश्वस्य सर्वस्यापि जन्तोः प्राणिनः अधमः निकृष्टः सन् पदीष्ट पततु नश्यतु ॥

जो मुझ अराक्षसको हे राक्षस ! इस प्रकार कहता है और जो वास्तवमें राक्षस होने पर भी अपनेको शुद्ध कहता है अर्थात् कहता है, कि-मैं राक्षस नहीं हूँ । इस प्रकार दोनों रीतिसे झूठ बोलने वालेको इन्द्रदेव अपने परमप्रभावान् हननसाधन वज्रसे मार डालें और ऐसा प्राणी सब प्राणियोंमें अधम होकर पतित होजावे ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमपं द्रुहुस्तन्वं १ गूहमाना
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपवदैः

प्र । या । जिगाति । खर्गलाऽव । नक्तम् । अप । द्रुहः । तन्वम् ।

गूहमाना ।

वव्रम् । अनन्तम् । अव । सा । पदीष्ट । ग्रावाणः । घ्नन्तु । रक्षसः ।

उपवदैः ॥ १७ ॥

या राक्षसी नक्तम् रात्रौ खर्गलेव उल्कीव प्र जिगाति प्रकृष्टं
गच्छति अस्मान् हन्तुम् । या च द्रुहुः द्रोहकारिणी राक्षसी तन्वम्
स्वकीया तनुं गूहमाना संवृण्वती अपकाशयन्ती उप । ॐ उप-
सर्गश्रुतेष्वीग्यक्रियाध्याहारः ॐ । उपगच्छति । सा उक्तलक्षणा
दुष्टराक्षसी अनन्तम् अन्तरहितम् अनवधिकम् असंख्यातं वा
वव्रम् गर्तम् अव अवाङ्मुखे पदीष्ट पततु । किं च ग्रावाणः सोमम्
अभिपुण्वन्तः पापाणाः उपवदैः स्वकीयैः सोमाभिपववनिभिः
रक्षसः राक्षसान् घ्नन्तु विनाशयन्तु ॥

जो राक्षसी । रात्रिमें उल्कीकी समान हमारा संहार करनेके
लिये भ्रूणवती है और जो द्रोहकारिणी राक्षसी अपने शरीरको
अपनष्ट रखती हुई आती है वह दुष्ट राक्षसी अथाह गड्ढेमें उल्टे
मुख होकर गिरे और सोमको पेलते हुए पत्थर सोमाभिपवकी
ध्वनिसे राक्षसोंको नष्ट कर डाले ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

वि तिष्ठवं मस्तो विस्वीश्च्यतं गृभायतं रक्षसः सं
पिनष्टन ।

वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्धे वा रिपो दधिरे
देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विष्णु । इच्छतं । गृभायतं । रक्षसः ।
सम् । पिनष्टन ।

वयः । ये । भूत्वा । पतयन्ति । नक्तभिः । ये । वा । रिपः ।
दधिरे । देवे । अध्वरे ॥ १८ ॥

हे मरुतः यूरं विष्णु प्रजासु मध्ये वि तिष्ठध्वम् विविधं तिष्ठत ।
रक्षसः राक्षसान् इच्छत हन्तुम् इच्छां कुरुत । तदनन्तरं गृभा-
यत गृहीत । गृहीत्वा च सं पिनष्टन सम्यक् चूर्णं यथा भवति
तथा पेषणं कुरुत । ये वा राक्षसाः वयः पक्षिणो भूत्वा नक्तभिः
रात्रिभिः रात्रिषु पतयन्ति गच्छन्ति संचरन्ति । ये वा ये च देवे
दैवे देवसंबन्धिनि दीप्ते प्रकाशमाने वा अध्वरे यागे रिपः हिंसाः
दधिरे धारयन्ति । तान् राक्षसान् संपिनष्टनेति संबन्धः ॥

हे मरुत् देवताओं ! तुम प्रजाओंमें अनेक प्रकारसे स्थित रहो,
राक्षसोंको मारनेकी इच्छा करो उनको पकड़ कर उनका चूरा
कर डालो और जो राक्षस पक्षी बन कर रात्रिमें विचरण करते
हैं और जो प्रकाशमय देवयागमें हिंसा करते हैं उन राक्षसोंका
आप चूरा कर डालिये ॥ १८ ॥

नवमी ॥

प्रवर्तय दिवोश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि
प्राक्तो अप्राक्तो अधरादुदक्तोऽभिर्जाहि रक्षसः पर्वतेन

म । वर्तय । दिवः । अश्मानम् । इन्द्र । सोमशितम् । मघवन् ।
सम् । शिशाधि ।

प्राक्तः । अषाक्तः । अधरात् । उदक्तः । अभि । जहि । रक्षसः ।

पर्वतेन ॥ १६ ॥

हे मयवन् इन्द्र दिवः ब्रह्मलोकाद् अन्तरिक्षाद् अरमानम् अशनि-
जज्ञणं वज्रं प्र वर्तय परिस्फारय । तदेव सोमशितम् सोमेन
तीक्ष्णीकृतं यया भवति तथा सं शिशाधि सम्यक् तीक्ष्णीकुरु ।
सादृशेन पर्वतेन पर्वता वज्रेण प्राक्तः अषाक्तः अधरात् उदक्तः
प्राक्पश्चाद्दिशिषोत्तराभ्यो दिग्भ्यः । सर्वस्माद् देशाद् इत्यर्थः ।
रक्षसः राक्षसान् अभि जहि मारय ॥

हे मयवन् ! आप अन्तरिक्षसे अरमाको अर्थात् अशनिरूप
वज्रको प्रेरित करिये । फिर हे इन्द्र ! जिस प्रकार वह सोमसे
तीक्ष्ण होसकता हो तिस प्रकार तीक्ष्ण करिये । फिर उस पर्व
बाले वज्रसे पूर्व पश्चिम उत्तर दिशाके राक्षसोंका संहार करिये १६

दशमी ॥

पुत उ त्ये पतयन्ति श्वयात्तव इन्द्रे दिप्सन्ति दिप्स-
वोदाभ्यम् ।

शिशीति शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातु-
मन्त्र्यः ॥ २० ॥

पुते । ऊं इति । त्ये । पतयन्ति । श्वयात्तवः । इन्द्रम् । दिप्सन्ति ।
दिप्सवः । अदाभ्यम् ।

शिशीति । शक्रः । पिशुनेभ्यः । वधम् । नूनम् । सृजत् । अश-
निम् । यातुमन्त्र्यः ॥ २० ॥

त्ये । तच्छब्दसमानार्थस्त्यच्छब्दः । त्ये ते पुते उक्तमकाराः

श्वयातवः श्ववत् खादन्तो यातुधानाः श्वरूपधारिणः श्वसहिता
 वा पतयन्ति गच्छन्ति । आगत्य च दिप्सवः हिंसेच्छ्वः सन्तः
 अदाभ्यम् अहिंस्यम् इन्द्रं दिप्सन्ति जिघांसन्ति । स च शक्रः शक्त
 इन्द्रः पिशुनेभ्यः राक्षसेभ्योर्थाय तान् हन्तुं वधम् वज्रं शिशीते
 निशितं करोति । स एवेन्द्रः यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यो राक्षसेभ्यो
 नूनम् निश्चयम् अशनिम् वज्रं सृजत् सृजत् सृजति वा ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

ये जो कुत्तेकी समान खाने वाले राक्षस आते हैं और आकर
 हिंसाकी इच्छा कर अहिंस्य इन्द्रको मारना चाहते हैं उन राक्षसों
 को मारनेके लिये इन्द्रदेव वज्रको तीक्ष्ण किया करते हैं, वही
 इन्द्र इन हिंसाशील राक्षसों पर वज्रको अवश्य छोड़ें ॥ २० ॥ (१०)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

“इन्द्रो यातूनाम्” इति सूक्तस्य “रक्षोहणम्” इत्यनुवाकेन
 उक्तो विनियोगः ॥

“इन्द्रो यातूनाम्” सूक्तका “रक्षोहणम्” अनुवाकके साथ
 विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्याऽविवा-
 सताम् ।

अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु
 रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रः । यातूनाम् । अभवत् । पराऽशरः । हविःऽमथीनाम् । अभि ।

आऽविवासताम् ।

अभि । इत् । ऊं इति । शक्रः । परशुः । यथा । वनम् । पात्राऽ-

इव । भिन्दन् । सतः । एतु । रत्तसः ॥ २१ ॥

इन्द्रो देवः यातूनाम् हिंसकानां राक्षसानां पराशरः पराशात-
यिता मन्त्रित्तशरो वा अभवत् भवतु । कीदृशाम् । हविर्मयीनाम्
हवींषि देवतार्थानि पुरोडाशादीनि मथ्यतां तथा अभ्याविवास-
ताम् अभिमुखं गच्छताम् । उ अपि च । इदिति पूरणः । शक्रः
इन्द्रः राक्षसान् हन्तुम् अभ्येतु । यथा परशुः कुठारो वनम् वृक्ष-
समूहं छेत्तुम् एति । पात्रेव पात्राणि मृन्मयानीव भिन्दन् यथा
लङ्घ्य एति । तद्वत् सतः प्राप्तान् रत्तसः रत्तसान् भिन्दन् । ॐ तिरः
सत इति प्राप्तस्येति यास्कः [नि० ३. २०] ॐ । एतु गच्छतु ॥

इन्द्र देवता हविका मथन करनेके लिये अभिमुख आने वाले
राक्षसोंको वाण फेंककर मार डालें । जैसे कुठार वृक्षोंको काटने
के लिये आता है और जैसे दण्डे वाला पुरुष मट्टीके बर्तनोंको
फोड़नेके लिये आता है, इसी प्रकार इन्द्रदेव राक्षसोंको मारते
हुए आते ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

उल्लूक्यातुं शुशुलूक्यातुं जहि श्वयातुमुत कोक्यातुम्
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं हृपदेऽत्र प्र मृण रत्तं इन्द्र २२

उल्लूक्यातुम् । शुशुलूक्यातुम् । जहि । श्वयातुम् । उत ।

कोक्यातुम् ।

सुपर्णयातुम् । उत । गृध्रयातुम् । हृपदाऽत्र । प्र । मृण । रत्तः ।

इन्द्र ॥ २२ ॥

हे इन्द्र उलूकयातुम् उलूकैर्धुकैः परिवारैः सह यातयतीति वा उलूकैर्यातीति वा उलूकयातुः तं जहि विनाशय । तथा शिशुलूकयातुम् अल्पोलूकाकारेण यान्तम् अल्पोलूकैः उलूकजातिविशेषैर्यान्तं वा जहि । एवं श्वयातुम् इत्यादीनि व्याख्येयानि । श्वा प्रसिद्धः । कोकश्चक्रवाकः । सुपर्णो गरुत्मान् पक्षिराट् । शृधस्तदवान्तरजातीयः । सर्वत्र जहीति संबन्धः । किं बहुना । हृपदा पापाणेन मृत्पात्रमिव रक्षः नानाकारेण वर्तमानं राक्षसं प्र मृण्य प्रकर्षेण मारय । अत्र ऋक्संहिताबृहद्देवतानुक्रमणिका ।

उलूकयातुं जह्येतान् नानारूपान् निशाचरान् ।

स्त्रीपुरुषांश्च जह्येतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि ।

इति ॥

हे इन्द्र ! आप उलूकके आकारमें, उल्लूके वच्चेके आकारमें, कुत्तेके आकारमें, चक्रवाकके आकारमें, गरुड़के आकारमें आते हुए राक्षसको इस प्रकार मार डालिये जिस प्रकार पत्थरसे मट्टी के वर्तनको फोड़ डालते हैं † ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

मा नो रक्षो अभि नद् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना
ये किमीदिनः ।

† ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणिकामें इस पर लिखा है; कि—“उलूकयातुं जह्येतान् नानारूपान् निशाचरान् । स्त्रीपुरुषांश्च जह्येतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि ॥—हे इन्द्रदेव ! उलूक परिवारके साथ आते हुए वा उलूकके रूपमें वा उलूककी समान आते हुए इन अनेक रूपधारी राक्षसोंका आप संहार करिये । हे इन्द्र ! इन वध करना चाहने वाले स्त्रीपुरुषरूपधारी राक्षसों को आप नष्ट करिये” ॥

पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोन्तरिक्तं दिव्यात् पात्व-
स्मान् ॥ २३ ॥

मा । नः । रक्तः । अभि । नट् । यातुऽमावत् । अप । उच्छन्तु ।
मिथुनाः । ये । किमीदिनः ।

पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्तम् । दिव्यात् ।
पातु । अस्मान् ॥ २३ ॥

नः अस्मान् यातुमावत् यातुमन् हिंसकं रक्तः राक्षसजातिः मा
अभि नट् मा प्राप्नोतु । ❀ नशतिर्व्याप्तिकर्मा । तस्मान्बुद्धि
“मन्त्रे घस०” इति च्छेर्लुक् । “न माहयोगे” इति अहभावः ❀ ।
तथा किमीदिनः किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति
वा चरन्तो राक्षसा ये मिथुनाः मिथुनभूताः स्त्रीपुंसाः सन्ति ते
अपोच्छन्तु अपगच्छन्तु । किं च पृथिवी देवी नः अस्मान् पार्थि-
वात् पृथिवीसंबन्धात् स्वसंबन्धिनः अंहसः रक्तःपिशाचादिकृतात्
पीडनात् पापाद् वा पातु रक्ततु । एवम् अन्तरिक्तम् अन्त-
रिक्तदेवता अस्मान् दिव्यात् दिवि भवात् स्वसंबन्धाद् अंहसः पातु ॥

हमको यातना देने वाली हिंसक राक्षस जाति प्राप्त न होवे
और किमीदिन नामक स्त्रीपुरुष दम्पती राक्षस दूर होजावें ।
और पृथिवीदेवी हमको राक्षस पिशाच आदिके उपद्रवसे बचावें
और अन्तरिक्त देवता भी हमको अन्तरिक्तसंबन्धी पीडासे बचावें
चतुर्थी ॥

इन्द्रं जहि पुमांसं यातुधानं मुत स्त्रियं मायया शाश-
दानाम् ।

विश्रीं वासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्तसूर्यमुच्चरन्तम् ॥

इन्द्र । जहि । पुमांसम् । यातुधानम् । उत । स्त्रियम् । मायया ।
शाशदानाम् ।

विश्रीवासः । मूरुदेवाः । ऋदन्तु । मा । ते । दृशन् । सूर्यम् ।
उत्स्वरन्तम् ॥ २४ ॥

हे इन्द्र त्वं पुमांसम् पुरुषधारिणं यातुधानम् यातनाकारिणं
राक्षसं जहि नाशय । उत अपि च मायया परव्यामोहिन्या क्रियया
शाशदानाम् हिंसतीं स्त्रियम् राक्षसीं जहि । किं च मूरुदेवाः मारण-
क्रीडाः मूलेन विषौषध्या दीव्यन्तीति वा मूरुदेवाः ते विश्री-
वासः विच्छिन्नश्रीवाः सन्तः ऋदन्तु नश्यन्तु । ते मूरुदेवाः उच्च-
रन्तं सूर्यं मा दृशन् मा द्राक्षुः ॥

हे इन्द्रदेव ! आप पुरुषरूपधारी यातनादायक राक्षसका संहार
करिये और दूसरेको मोहमें डालने वाली क्रियासे हिंसा करती
हुई स्त्रीको भी नष्ट करिये और मूल आदिसे अभिचारकर्म
करने वाले अभिचारक गरदन टूट कर नष्ट होजावें और वे उदित
होते हुए सूर्यको न देख सकें ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।

रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

प्रति । चक्ष्व । वि । चक्ष्व । इन्द्रः । च । सोम । जागृतम् ।

रक्षःऽभ्यः । वधम् । अस्यतम् । अशनिम् । यातुमत्ऽभ्यः ॥ २५ ॥

हे सोम त्वम् इन्द्रश्च प्रत्येकं हिंसकराक्षसान् प्रति चक्ष्व प्रति-
कूलं प्रत्येकं वा परय । तथा वि चक्ष्व विविधं विपरीतं वा राक्ष-

सान् पश्य । युवां जागृतम् अस्मद्रक्षाविषये अपनिद्रौ भवतम् ।
किं च रक्षोभ्यो यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यः अशनिम् अशनिलक्षणं
वधम् हननसाधनम् आयुधम् अस्यतम् क्षिपतम् ॥

इत्यष्टमऋण्डे द्वितीयेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च द्वितीयोऽनुवाकः ॥

हे सोम ! आप और इन्द्रदेव भी प्रत्येक हिंसक राक्षस
पर दृष्टि डालिये और उन पर प्रतिकूल दृष्टि डालिये । आप
दोनों हमारे रक्षाके काममें जागते रहिये-सावधान रहिये । और
यातना देने वाले हिंसक राक्षसों पर अपना वज्र मारिये ॥२५॥

अष्टमऋण्डक द्वितीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (४४२)

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र “अयं प्रतिसरः” इति सूक्त-
द्वयम् अर्थसूक्तम् अभिलषितार्थसिद्धयर्थम् । अनेनार्थसूक्तेन दधि-
मधुनि च त्रिरात्रं वासितं तिलरुमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य वध्नी-
यात् । सूत्रितं हि । “आयमगन् [३. ५] अयं प्रतिसरः [८.
५] अयं मे वरणः [१०. ३] अरातीयोः [१०. ६] इति मन्त्रो-
क्तान् वासितान् वध्नाति” इति [कौ० ३. २] ॥

तथा अस्य सूक्तद्वयस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् शान्त्युद-
काभिमन्त्रणहोमार्दा विनियोगः । सूत्रितं हि । “अयं प्रतिसरः
[८. ५] यां वल्पयन्ति [१०. १] इति महाशान्तिम् आवपते”
इति [कौ० ५. ३] । “अथ शान्तिकृत्यादूपणैश्चातनेर्मातृनामभिः”
इति [शा० क० १६] । “कृत्यादूपण एव च । चातनो मातृ-
नामा च” इति [न० क० २३] ॥

तथा “रौद्री रोगार्तस्य” [न० क० १७] इति विहितायां
रौद्रचारुयायां महाशान्ती तिलरुमणिवन्धने एतत् सूक्तं विनि-
युक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रवल्पे । “अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं
रौद्रधाम्” इति [न० क० १६] ॥

पिष्टरात्रीविधाने प्रतिसरवन्धनेऽपि एतत् सूक्तम् । “अथातः पिष्ट-
रात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः” इति उपक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे ।

“अयं प्रतिसर इति प्रतिसरम् आचक्ष्य” इति [५० ६. १] ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें “अयं प्रतिसरः” यह
दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं, इस अर्थसूक्तका अभिलपित प्रयो-
जनको सिद्ध करनेके लिये प्रयोग किया जाता है । इस अर्थ-
सूक्तसे दही और शहदमें तीन रात बसाई हुई तिलकमणिको
संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे । इस विषयमें सूत्रका
प्रमाण भी है, कि—“आयमगन् (३ । ५) अयं प्रतिसरः (८।५)
अयं मे वरणः (१० । ३) अरातीयो (१० । ६) इति मन्त्रो-
क्तान् वासितान् बध्नाति” (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

और इस सूक्तद्वयका कृत्याप्रतिहरणगणमें भी पाठ है अत एव
इसका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है ।
इस विषयमें सूत्रप्रमाण भी है, कि—“अयं प्रतिसरः (८ । ५)
यां कल्पयन्ति (१० । १) इति महाशान्ति आवपते । दोनों सूक्त
महाशान्तिमें पढ़े जाते हैं” (कौशिकसूत्र (५ । ३) ॥ “अथ
शान्तिकृत्यादूपणैश्चातनैर्मातृनामभिः” (शान्तिकल्प १६) ॥
“चातनो मातृनामा च कृत्यादूपण एव च” (नक्षत्रकल्प २३) ॥

तथा “रौद्रीं रोगार्तस्य ।—रोगार्तके लिये रौद्रीशान्तिको करे”
इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित रौद्री नामक महाशान्तिके तिलक-
वन्धनमें इस सूक्तका विनियोग किया जाता है । इसी बातको
नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—“अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं रौद्र्याम्”
(नक्षत्रकल्प (१६) ॥

पिष्टरात्रीविधानके प्रतिसरवन्धनमें भी इस सूक्त का पाठ है ।
इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें “अथातो पिष्टरात्र्याः कल्पं व्या-
ख्यास्यामः ।—अथ पिष्टरात्रिके कल्पकी व्याख्या करते हैं” का

आरम्भ करके कहा है, कि—“अयं प्रतिसर इति प्रतिसरं आवध्य ।—अयं प्रतिसरः सूक्तसे रक्षाभङ्गको बाँध कर” (अथर्वपरिशिष्ट ६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीरायं वध्यते ।

वीर्यवान्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१॥

अयम् । प्रतिसरः । मणिः । वीरः । वीरायं । वध्यते ।

वीर्यवान् । सपत्नहा । शूरवीरः । परिपाणः । सुमङ्गलः १

अयं तिलकवृत्तनिर्मितो मणिः प्रतिसरः प्रतिसरणसाधनः । यः कृत्याः करोति तं प्रति सरतीति प्रतिसरस्तादृशः । वीरः विविधम् ईरयति अपसारयति शत्रुमभृतीनि इति वीरः वीराय वीर्याय वीर्याक्षयाय सामर्थ्याय विक्रान्ताय पुरुषाय वा वध्यते । मणिर्विशेष्यते । वीर्यवान् वीरस्य कर्म वीर्यम् तद्वान् अतिशयित-वीर्यः । सपत्नहा शत्रुघातकः । शूरवीरः शूरान् वीरयति संग्रामे इति वा शूरध्वंसा वीरश्चेति वा शूरवीरः । परिपाणः परिपात्यनेन साधनेन प्रयोक्ता यजमानम् इति परिपाणः परिस्त्रासाधन-भूतः परितो रक्षिता वा । परिपूर्वात् पातेः करणे ल्युट् । “वा भावकरणयोः” इति एत्वविकल्पः । नन्धादित्वात् न्युर्वा । सुमङ्गलः शोभनेन मङ्गलेन उपेतः ॥

यह तिलकवृत्तकी बनी हुई प्रतिसरमणि प्रतिसर है अर्थात् जो कृत्या करता है उसकी ओर सरने वाली है । यह शत्रुआदि को अनेक प्रकारसे खदेड़ती है अत एव वीर है । और यह सपर्य पुरुषके बाँधी जाती है । यह मणि वीरतासे भरी हुई है शत्रुओं की घातक है शूरोंमें वीरता लाने वाली है और इसके प्रयोगसे

प्रयोग करने वाला यजमानकी रक्षा करता है अत एव यह परि-
पाण है और सुन्दर मङ्गल करने वाली है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी
सहमान उग्रः ।

प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अयम् । मणिः । सपत्नहा । सुवीरः । सहस्वान् । वाजी ।
सहमानः । उग्रः ।

प्रत्यक् । कृत्याः । दूषयन् । एति । वीरः ॥ २ ॥

अयं स्नाक्त्यो मणिः सपत्नहा वैरिघातकः सुवीरः शोभनैर्वीरै-
रुपेतः । पुत्रादिप्रदातेत्यर्थः । सहस्वान् वलवान् वाजी वेजनवान्
सहमानः शत्रूणाम् अभिभविता उग्रः उद्गूर्णवलः कृत्याः परो-
त्पादिताः प्रत्यक् कर्त्रभिमुखं दूषयन् विनाशयन् एति गच्छति
वाहुदण्डम् आरोहति । अथ वा प्रत्यक् अस्मदभिमुखम् एति
वीरः विविधम् ईरयिता शत्रूणाम् ॥

यह स्नाक्त्यो मणि शत्रुओंको नष्ट करने वाली, पुत्र, आदि
शोभन वीरोंको देने वाली, वलवती, अन्न आदिसे भरने वाली,
शत्रुओंका तिरस्कार कराने वाली और प्रचण्ड वलमयी है और
कर्ताकी कृत्याको उसीकी ओर दूषित कर्म करनेके लिये प्रेरित
करती हुई भुजदण्ड पर आरोहण करनेके लिये आरही है । २।
तृतीया ॥

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभाव-
यन्मनीषी ।

अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्
प्रदिशश्चतस्रः ॥ ३ ॥

अनेन । इन्द्रः । मणिना । वृत्रम् । अहन् । अनेन । असुरान् ।
परा । अभावयत् । मनीषी ।

अनेन । अजयत् । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । इमे इति ।

अनेन । अजयत् । प्रदिशः । चतस्रः ॥ ३ ॥

अनेन स्त्रावत्येन मणिना पूर्वम् इन्द्रः वृत्रम् असुरम् अहन्
केनापि उपायेन जेतुम् अशक्यमपि अयं मणिं बद्ध्वा तत्सामर्थ्येन
हतवान् । तथा अनेनैव मणिना मणिवन्धनसामर्थ्येन मनीषी
जयोपायज्ञानवान् इन्द्रः असुरान् अन्यान् पराभावयत् पराभूतान्
विनष्टान् अकरोत् । किं च अनेनैव मणिना इमे प्रसिद्धे उभे
द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यो अजयत् । द्यावापृथिव्योर्विजयो नाम
तदाधिपत्यम् । किं च अनेनैव मणिना चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा
दिशः प्रागाद्याः अजयत् स्वाधीनं कृतवान् ॥

इस स्त्राक्त्य मणिसे ही पहिले समयमें इन्द्रदेवने वृत्रासुरको
जीत लिया था । इस मणिवन्धनके प्रभावसे ही मनीषी इन्द्रने
जयके उपायको जान कर दूसरे असुरोंको विनष्ट कर डाला था ।
इसी मणिके द्वारा इन्द्रने द्यावा पृथिवीका अधिपतित्व पाया था ।
और इसी मणिके प्रभावसे इन्द्रने पूर्व आदि चार श्रेष्ठ दिशाओं
को जीता था ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अयं स्त्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसुरः ।

ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः
अयम् । स्नाक्तयः । मणिः । प्रतिवर्तः । प्रतिसरः ।

ओजस्वान् । विमृधः । वशी । सः । अस्मान् । पातु । सर्वतः ४

अयं स्नाक्तयः तिलकविकारो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिकूलं प्रति-
मुखं वर्तयत्यनेनेति प्रतीवर्तः । ॐ प्रतिपूर्वाद् वृतेः करणे घञ् । “उप-
सर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्” इति दीर्घः । “धाथघञ्० इत्यादिना
उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॐ । प्रतिसरः रोगादेः प्रतिसरणसाधनभूतः
ओजस्वान् शत्रुनिरासक्षमतेजोयुक्तः विमृधः विगतसंग्रामः मणि-
धारकदर्शनेनैव शत्रूणां पलायनात् संग्रामस्यैव अभावात् । विमृधो
विमर्दीयता वा । वशी सर्वस्य वशयिता स तादृशो मणिः अस्मान्
सर्वतः सर्वस्मात् अभिभवात् पातु रक्षतु ॥

यह स्नाक्तयमणि प्रतिकूल व्यक्तियोंको उलटा मुख करवा कर
भगाने वाली प्रतीवर्त है, रोग आदिको हटाने वाली प्रतिसर है,
शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले तेजसे सम्पन्न ओजस्वान् है,
इस मणिको धारण करने वाले पुरुषको देखते ही शत्रु भाग
जाते हैं इस प्रकार संग्रामका अभाव करनेसे यह विमृध है । और
सबको वशमें करने वाली है, ऐसी यह मणि सब प्रकारके अप-
मानोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तदग्निराह तदु सोमं आह वृहस्पतिः सविता तदिन्द्रेः
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरं जन्तु

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । वृहस्पतिः ।

सविता । तत् । इन्द्रः ।

ते । मे । देवाः । पुरःऽहिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रतिऽसरैः ।

अजन्तु । ५ ॥

तत् वक्ष्यमाणं प्रतीचीः कृत्या इत्यादिकम् अग्निर्देवो मे आह उक्तवान् । प्राणिनः प्रतिसरैः प्रतिसरणसाधनैर्मणिभिः कृत्याः प्रतीचीः अजन्ति इत्येतत् मे मह्यम् अस्माकम् अग्निराहेत्यर्थः । तद् तद् एव सोमोप्याह । एवं बृहस्पतिः बृहतो मन्त्रजातस्य स्वामी एतन्नामको देवोप्याह । तथा सविता सर्वप्राणिनां प्रेरकः एतन्नामको देवोप्याह । किं बहुना । तत् साधनम् इन्द्रः मे आह । ते प्रसिद्धा अन्येपि देवाः पुरोहिताः पुरतः संनिधापिताः पुरोहितवत् हितकारिणो वा । आहुरिति विपरिणामः कर्तव्यः ॥ अथ वा तत् स्नाक्त्यमणिवन्धनस्य सर्वसंपत्साधनत्वम् अग्निराह । तद् तद् एव सोमोप्याह एवं बृहस्पत्यादिष्वपि योज्यम् । ते ये अग्न्यादयो मणोः सर्वफलसाधनत्वम् आहुः त एव पुरोहिताः फलनिष्पादनविषये पुरतः स्थापिताः सन्तो मे मर्दर्यम् अन्यैरुत्पादिताः कृत्याः प्रतिसरैः फलसाधनत्वेन अभिहितैर्मणिभिः साधनैः प्रतीचीः अजन्तु गमयन्तु इति व्याख्येयम् ॥

स्नाक्त्यमणिवन्धन सत्र सम्पत्तियोंका साधन है इस बातको अग्निदेवने कहा है, बृहस्पतिदेवने कहा है, सत्र प्राणियोंके प्रेरक सवितादेवने भी कहा है और इन्द्रदेवने भी कहा है । मणिके सर्वफलसाधनत्वको कहने वाले अपने सामने फलनिष्पादनके लिये स्थापित ये अग्नि आदिदेवता, मेरे निमित्त शत्रुओंकी उत्पादित कृत्याओंको, प्रतिसरोंके प्रभावसे, चलते मुँह करके अभिचारकोंके पास भेजें ॥ ५ ॥

पृष्ठी ॥

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहंरुत सूर्यम् ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु

अन्तः । दधे । द्यावापृथिवी इति । उत । अहः । उत । सूर्यम् ।

ते मे देवाः । पुरःऽहिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रतिऽसरैः । अजन्तु

द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च अन्तर्दधे कृत्यायाश्च मम च अन्तरालदेशे दधे स्थापयामि व्यवधानं करोमि । उत अपि च अहरपि अन्तर्दधे । उत अपि च सूर्यमपि अन्तर्दधे । ते मे देवाः द्यावापृथिव्यादयः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

मैं अपने और कृत्याके बीचमें द्यावापृथिवीको स्थापित करता हूँ, दिन और सूर्यदेवको भी अपने और कृत्याके बीचमें रोकने वालोंके रूपमें स्थापित करता हूँ । फल-विषयमें हित करनेके लिये सामने स्थापित किये हुए वे देवता, प्रतिसरमन्त्रोंके प्रभाव से कृत्याको विमुख करके लौटा दें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ये स्नाक्तयं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।

सूर्यं इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

ये । स्नाक्तयम् । मणिम् । जनाः । वर्माणि । कृण्वते ।

सूर्यःऽइव । दिवम् । आरुह्य । वि । कृत्याः । बाधते । वशी ॥७॥

ये जनाः कृत्यापरिहारार्थिनो मनुष्याः स्नाक्तयम् मणिं वर्माणि तनुत्राणि कृण्वते कुर्वते । स मणिः सूर्य इव दिवम् आरुह्य दिवम् आरुह्यः सूर्यो यथा तमांसि बाधते एवं वशी वशयिना सन् कृत्याः अन्योत्पादिता वि बाधते विशेषेण नाशयति ॥

कृत्याका परिहार करना चाहने वाले जो मनुष्य स्नाक्तय-

मणिको कवच बनाते हैं तो यह शत्रुओंको वशमें करने वाली मणि, सूर्यदेव जिस प्रकार आकाशमें चढ़कर (अंधकारको नष्ट करदेते हैं) इस प्रकार दूसरोंकी उत्पन्न की हुई कृत्याको नष्ट कर डालती है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

स्राक्तयेन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा ।

अजैपं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रत्तसः ॥ ८ ॥

स्राक्तयेन । मणिना । ऋषिणाऽइव । मनीषिणा ।

अजैपम् । सर्वाः । पृतनाः । वि । मृधः । हन्मि । रत्तसः ॥ ८ ॥

अहं साधकः स्राक्तयेन तिलकृत्तकारेण मणिना मनीषिणा विपथिता ऋषिणेव अतीन्द्रियार्थद्रष्टा अथर्वारूपेण महर्षिणा यथा तथा । अथ वा ऋषिर्मन्त्रः । उक्तरूपेण मन्त्रेणैव मन्त्रेण यथा तथा सर्वाः पृतना अजैपम् जितवान् अस्मि जयानि वा । तथा मृधः प्रमाथिनो रत्तसः राज्ञसान् स्राक्तयेन मणिनैव वि हग्मि घातयामि ॥

मैं साधक अतीन्द्रियार्थद्रष्टा विद्वान् महर्षि अथर्वारकी समान इस स्राक्तयमणिसे सब सेनाओंको जीत चुका हूँ और प्रमाथी राज्ञसोंको स्राक्तयमणिसे ही मार रहा हूँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

याः कृत्याः आङ्गिरसीर्याः कृत्याः आंसुरीर्याः कृत्याः

स्वयंकृता या उ चान्येभिरामृताः ।

उभयीस्ताः परां यन्तु परावतो नवतिं नाव्याः अति

याः । कृत्याः । आङ्गिरसीः । याः । कृत्याः । आसुरीः । याः ।
 कृत्याः । स्वयम्कृताः । याः । ऊं इति । च । अन्येभिः । आभृताः
 उभयीः । ताः । परा । यन्तु । पराऽवतः । नवतिम् । नान्याः । अति ॥

आङ्गिरसीः आङ्गिरस्यः अङ्गिरसा प्रयुक्ता याः प्रसिद्धाः कृत्याः
 सन्ति । अङ्गिरसो महर्षेः कृत्याप्रयोगविधातृत्वम् आङ्गिरसकल्पा-
 ख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम् । तथा आसुरीः आसुर्यः असुरैर्नि-
 र्मिता याः कृत्याः सन्ति । एवं स्वयंकृताः परार्थप्रयोगे सति केन-
 चिद् वैकल्प्येन स्वस्मिन्नेव पर्यवसिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते ।
 स्वस्मिन्नेव कृत्यापर्यवसानम् “यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्”
 [शि० १०] इत्यादिषु प्रसिद्धम् । या उ च याः काश्चन अन्येभिः
 अन्यैर्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति ता उक्त-
 रूपा उभयीः उभय्यः उभयप्रकारा अपि परावतः दूरदेशात् परा
 यन्तु परागच्छन्तु । ननु चतुष्प्रकारा निर्दिष्टाः कथम् उभयविध-
 त्वम् इति चेत् उच्यते । आङ्गिरस्यः आसुर्यश्च अमानुष्यः एका
 कोटिः स्वयंकृता अन्यैः कृताश्च मानुष्यः इत्यपरा इत्युभयविध-
 त्वम् । परागमनस्य अवधिं दर्शयति नवतिम् इत्यादिना । नान्याः
 नात्र तार्या महानद्यः । ताश्च नवतिसंख्याकाः । ता अति । अति-
 क्रम्येत्यर्थः ॥

जो अंगिरा ऋषिसे आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो असुरोंसे
 आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो स्वयंकृत कृत्याएँ हैं (दूसरों
 के लिये प्रयोग करने पर किसी ऋषिके कारण अपने ऊपर ही
 पड़ने वाली कृत्या स्वयंकृत कृत्या कहलाती है इसका उदाहरण
 शिन्ना १० में इस प्रकार लिखा है, कि—“यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽप-
 राधात्”) और जो दूसरे शत्रुओंके द्वारा डाली हुई कृत्याएँ

हैं। ये दोनों प्रकारकी कृत्याएँ नब्भै नदियोंके पार दूरसे भी दूर देशमें चली जावें ‡ ॥ ६ ॥

दशमी ॥

अस्मै मणिं वर्मं वध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता
रुद्रो अग्निः ।

प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् वैश्वानरः ऋषयश्च सर्वे १०

अस्मै । मणिम् । वर्मं । वध्नन्तु । देवाः । इन्द्रः । विष्णुः ।
सविता । रुद्रः । अग्निः ।

प्रजापतिः । परमेऽस्थी । विराट् । वैश्वानरः । ऋषयः । च ।
सर्वे ॥ १० ॥

अस्मै यजमानाय कृत्यापरिहारादिफलकामाय मणिम् स्वाक्तयं
वर्मं परकृतकृत्यादिप्रहारपरिहारकं कवचं तत्स्यानीयं कृत्वा वध्नन्तु।
के देवास्तान् विशिनष्टि इन्द्रो विष्णुरित्यादिना । प्रजापतिः प्रजानां
सृष्टा स च परमेष्ठी परमे निरतिशये स्थाने वर्तमानः विराट् कृत्स्न-
ब्रह्माण्डाभिमानो देवः वैश्वानरः विश्वेषां नराणां हितो जाठ-
रोग्निः हिरण्यगर्भो वा । स्पष्टम् अन्यत् ॥

-इत्यष्टमकाण्डे तृतीनुवाके मयमं सूक्तम् ॥

‡ यहाँ यह शंका होती है, कि-मंत्रमें चार प्रकारकी कृत्याएँ
कहीं हैं, तो फिर दो प्रकारकी कैसे कहा, इसका उत्तर यह है,
कि-आंगिरसी और आसुरी इन अमानुषी कृत्याओंकी एक कोटी
है और स्वपंकुव तथा अन्यकृत मानुषी कृत्याओंकी एक कोटी है।
इस प्रकार दो प्रकारकी कृत्याएँ कहीं हैं ॥

इस कृत्यापरिहार आदि फल चाहनेवाले यजमानके लिये इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति परमेष्ठी, विराट्, वैश्वानर हिरण्यगर्भदेवता तथा सकल ऋषि परकृत-कृत्यापरिहारक मणिरूप कवचको बाँधे ॥१०॥ (१२)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

“उत्तमो असि” इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

“उत्तमो असि” इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनङ्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्व-
पदामिव ।

यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

उत्तमः । असि । ओषधीनाम् । अनङ्वान् । जगताम् इव ।

व्याघ्रः । श्वपदाम् इव ।

यम् । ऐच्छाम । अविदाम । तम् । प्रतिस्पाशनम् । अन्तितम् ॥

हे मणे मत्पुपादान वृत्त वा त्वम् उत्तमोसि सर्वाभिमत्फल-साधनत्वेन कृतिपयफलसाधिकानाम् ओषधीनां मध्ये श्रेष्ठोसि । उत्तमत्वे दृष्टान्तम् आह । अनङ्वान् अनोवहनसमर्थः पुंगवो जगतामिव गच्छतां चतुष्पदां मध्ये यथा उत्तमस्तद्वत् । अनङ्व इत्तम-त्वम् “अनङ्वान् दाधार पृथिवीम्” [४, ११] इत्यत्र प्राग् उक्तम् । उपकारकत्वे दृष्टान्तम् अभिधाय शत्रुहिंसादिक्रूरकर्मणि दृष्टान्तम् आह व्याघ्रः श्वपदामिवेति । श्वपदः वृकसृगालाद्या अरण्यदुष्टमृगाः । तेषां मध्ये व्याघ्र इव । ❀ व्याघ्रो व्याघ्राणाद्

व्यादाय हन्तीति वेति यास्कः [नि० ३. १८] ❀ । यम् ईद-
ग्विधं सर्वपुरुषार्थसाधनाय ऐच्छाम तम् अविदाम लब्धवन्तः
स्मः । अथ वा यं त्वया साध्यं पुरुषार्थम् ऐच्छाम तम् अवि-
दाम । ❀ विन्दतेर्लुङि च्लोः अङ् ❀ । तं विशिनष्टि । प्रति-
स्पाशिनम् अभिचरतः प्रतिमुखं बाधकम् । अन्तितम् अत्यन्तसंनि-
हितम् । अथवा तं तमेव प्रतिस्पाशिनं प्रतिकूलं बाधनावन्तं द्वेषा-
रम् अन्ति अन्तिके अविदाम ॥

हे मणिके उपादानभूत वृत्त ! तू थोड़ेसे फलको साधने वाली
ओपधियोंमें उत्तम है । जैसे बोझा ढोने वाले चौपायोंमें बैल श्रेष्ठ
होता है, † (उपकारकत्वमें दृष्टान्त देकर शत्रुहिंसादि क्रूरकर्ममें
दृष्टान्त देते हैं, कि-) जैसे भेड़िये गीदड़ आदि वनके दुष्ट पशुओंमें
व्याघ्र श्रेष्ठ है । इसी प्रकार तू श्रेष्ठ हमने तुझसे जिस पुरुषार्थ
को पाना चाहा था उसको पा लिया है अर्थात् अभिचार करने
वाले अत्यन्त संनिहित प्रतिकूल बाधा देने वाले शत्रुको समीप
में (पकड़वा कर) पालिया है ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।

अथो सपत्नकर्शनो यो विभर्तीम मणिम् ॥ १२ ॥

सः । इत् । व्याघ्रः । भवति । अथो इति । सिंहः । अथो इति । वृषा ।

अथो इति । सपत्नकर्शनः । यः । विभर्ति । इमम् । मणिम् १२

† बैलकी उत्तमताके विषयमें चतुर्थ काण्डके ग्यारहवें सूक्तमें
कहा था, कि "अनड्वान् दाधार पृथिवीम् ।-बैल पृथ्वीको धारण
कर रहा है" ॥

उपमाप्रधाना व्याघ्रादिनिर्देशाः । व्याघ्र इव सिंह इव च परा-
भिभवनशीलो भवति स इत् । स एवेत्यर्थः । अथो अपि च
वृषेव स यथा गोषु स्वच्छन्दसंचारी भवति तद्वत् स भवतीत्यर्थः ।
अथो अपि च स एव सपन्नकर्षणः शत्रुविनाशकश्च भवति । स
इत्युक्तम् क इत्याह । यः पुरुषः इमम् उक्तमहिमोपेतं मणिं विभर्ति
धारयति स इद् इति संबन्धः ॥

जो पुरुष उक्तमहिमासे सम्पन्न मणिको धारण करता है, वह
व्याघ्रकी समान पराभव करने वाला होता है और जैसे साँड
गौओंमें स्वच्छन्दचारी होता है तैसा होता है और शत्रुओंका
विनाशक होता है ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

नैनं प्रन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।

सर्वा दिशो वि राजति यो विभर्ति मं मणिम् ॥ १३ ॥

न । एतम् । प्रन्ति । अप्सरसः । न । गन्धर्वाः । न । मर्त्याः ।

सर्वाः । दिशः । वि । राजति । यः । विभर्ति । इमम् । मणिम् १२

सर्वाः । दिशः प्रति । सर्वासु दिक्ष्वित्यर्थः । वि राजति ।
सर्वदिक्स्वामी भवतीत्यर्थः । स्पष्टम् अन्यत् ।

जो पुरुष इस मणिको धारण करता है उस पर अप्सरायें
प्रहार नहीं करती हैं गंधर्व और मनुष्य भी उस पर प्रहार नहीं
करते हैं और वह सकल दिशाओंमें शोभा पाता है अर्थात् सब
दिशाओंको जीत लेता है ॥ ३ ॥

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा सभैरयत् ।

अविभस्वेन्द्रो मानुषे विभ्रत् संश्रेषिणेजियत् ।

मणिं सहस्रवीर्यं वर्मं देवा अकृणवत् ॥ १४ ॥

कश्यपः । त्वाम् । असृजत् । कश्यपः । त्वा । सम् । ऐरयत् ।

अविभः । त्वा । इन्द्रः । मानुषे । विभ्रत् । यमश्त्रेपिणे । अजयत् ।

मणिम् । सहस्रवीर्यम् । वर्मं । देवाः । अकृणवत् ॥ १४ ॥

चतुर्थी ॥ कश्यपः प्रजापतिः हे मणे त्वाम् असृजत् स्रष्टवान् । अनेन जन्मतः प्राशस्त्यम् उक्तम् । तथा स एव कश्यपः त्वात्वां समैरयत् सर्वोपकारकत्वाय प्रेरितवान् । अनेन प्रयोक्तृगौरवद्वारा प्राशस्त्यम् उक्तं भवति । अथ धारयितृगौरवादपि प्राशस्त्यं दर्शयति अविभस्त्वेन्द्र इति । हे प्रशस्तमणे त्वा त्वाम् इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः स्वकीयवृत्रहननादिसिद्धये स्वराज्यप्राप्तये च अविभः भरणं कृतवान् । यस्माद् एवं तस्मात् त्वां मानुषे । जातावेकवचनम् ॥ मानुषेषु मध्ये विभ्रत् पुरुषः संश्रेपणे परस्परसंश्लेषसाधने संग्रामे अजयत् जयति ॥

पञ्चमी ॥ सहस्रवीर्यम् अपरिमितसामर्थ्यं मणिम् सत्कथं देवाः पुरा वर्मकवचम् अकृणवत् कृतवन्तः वर्मवद् रक्षाकरम् अकुर्वन् ॥

हे मणे ! कश्यप प्रजापतिने तेरा आविष्कार किया है और उन्होंने ही सर्वोपकारके लिये तुझको प्रेरित किया है और हे प्रशस्त मणे ! सब देवताओंके अधिपति इन्द्रदेवने वृत्रहनन आदि आदि कार्यकी सिद्धिके लिये और स्वराज्यप्राप्तिके लिये तुझको धारण किया था । इस कारण मनुष्यसमाजमें जो पुरुष तुझको धारण करता है वह परस्पर टकरानेके साधन संग्राममें विजय पाता है ॥

अपरिमित शक्तिसम्पन्न सत्कथमणिको पूर्वकालमें देवताओं ने कवचकी समान रक्षा करने वाला बनाया था ॥ १४ ॥

पृष्ठी ॥

प्रस्त्वां कृत्याभिर्यस्त्वां दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।

प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

यः । त्वा । कृत्याभिः । यः । त्वा । दीक्षाभिः । यज्ञैः । यः । त्वा ।

जिघांसति ।

प्रत्यक् । त्वम् । इन्द्र । तम् । जहि । वज्रेण । शतपर्वणा । १५ ॥

हे शान्तिकाम पुरुष यः पुमान् त्वा त्वां कृत्याभिः हिंसाभिः क्रियाभिः जिघांसति हन्तुम् इच्छति यश्च त्वा त्वां दीक्षाभिः यज्ञि-
यैर्वाग्यमनादिनियमविशेषैः जिघांसति । तथा यश्च त्वां यज्ञैः हिंसा-
साधनैः श्येनेष्वादिभिर्यागैः जिघांसति तं पुमांसं वातकम् हे इन्द्र
इन्द्रात्मक त्वं शतपर्वणा शतसंधिकेन वज्रेण प्रत्यक् प्रतिमुखं जहि
घातय ॥

हे शान्तिकाम ! जो पुरुष तुझको हिंसक क्रिया (कृत्या)ओं
से मारना चाहता है, दीक्षाओंसे मारना चाहता है, हिंसासाधन
श्येनयाग आदिसे मारना चाहता है, उस घातकपुरुषको हे इन्द्र !
सौ पर्व वाले वज्रसे प्रतिमुख मार डालिये ॥ १५ ॥

सप्तमी ॥

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयोः मणिः ।

प्रजां धनं च रक्षतुः परिषानः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयम् । इत् । वै । प्रतिवर्तः । ओजस्वान् । सम्जयः । मणिः ।

प्रजाम् । धनम् । च । रक्षतु । परिषानः । सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयं मणिः प्रतीवर्त इद् वै कृत्यादिप्रतिवर्तवसाधन एव खलु ।

ॐ प्रतिपूर्वाद् वृतेः करणे घञ् । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहु-
लम्" इति दीर्घः । "थाथघञ्क्काजवित्रकाणाम्" इति उत्तर-
पदान्तोदात्तत्वम् ॐ । ओजस्थान् अतिशयितो जाः संजयः संगत-
जयः सम्यग् जेता वा । समणिः प्रजाम् पुत्रादिरूपां धनं च रक्षतु
पालयतु । पुनर्निशेष्यते । परिपाणः परिपातीति परिपाणः मां
परितो रक्षकः । ॐ नन्द्यादित्वात् ल्युः । एत्वं छान्दसम् ॐ ।
सुमद्गलः शोभनमाङ्गव्यसाधनभूतः ॥

यह मणि कृत्या आदिको इटानेका साधन है और यह परम
बलमद, भली प्रकार जीतने वाली है ऐसी यह मणि प्रजा और
धनकी रक्षा करे । यह मणि चारों ओरसे मेरी रक्षा करने वाला
है और शोभन मङ्गलोंका साधन है ॥ १६ ॥

अष्टमी ॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।

इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥१७॥

असपत्नम् । नः । अधरात् । असपत्नम् । नः । उत्तरात् ।

इन्द्र । असपत्नम् । नः । पश्चात् । ज्योतिः । शूर । पुरः । कृधि ॥

हे इन्द्र शूर त्वम् । मणिर्वा इन्द्रशब्देन उच्यते । नः अस्मा-
कम् अधरात् । उत्तरसाहचर्यद्वा अत्र अधरशब्दो दक्षिणदेशवाची ।
"पश्चात् पुरस्ताद् अधरात्" इति हि प्रागुक्तम् [अ. ३. २०] ।
दक्षिणदिग्भागाद् असपत्नम् सपत्नविघातकम् । ज्योतिरिति
संबन्धः । तत् पुरः पुरोदेशे कृधि कुरु । एवम् उत्तरात् पश्चात्
इति वाक्यद्वयमपि व्याख्येयम् । अथ वा अधरात् उत्तरतः पश्चात्
इति देशत्रयस्य उपादानात् पुरो ज्योतिरिति पूर्वदेशो विवक्षितः ।
अथ वा दिक्रयदेशेभ्योपि असपत्नम् सपत्नाभावम् पुरोदेशे ज्यो-
तिश्च हे इन्द्र शूर त्वं कृधि कुर्विति व्याख्येयम् ॥

हे शूरवीर इन्द्र ! हमारे उत्तर दक्षिण और पश्चिमकी और
असपन्न अर्थात् शत्रुविनाशक ज्योति रहे और आप हमारे सामने
ज्योतिको करिये ॥ १७ ॥

नवमी ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।

वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ।

वर्म । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । वर्म । धाता । दधातु । मे ॥

मे मह्यं द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ देवते वर्म तनुत्रं धत्ताम्
कुरुताम् । तथा अहः अहरभिमानिदेवतापि मे वर्म दधातु ।
एवं सूर्येन्द्राग्निधातृत्राक्यान्यपि योज्यानि ॥

द्यावापृथिवी देवता मेरे लिये कवचको धारण करें-दें । दिन
के अभिमानी देवता सूर्य मुझको कवच दें, इन्द्र अग्नि और धाता
देवता भी मुझको कवच दें ॥ १८ ॥

दशमी ॥

ऐन्द्राग्रं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदंष्ट्रियथा-
सानि ॥ १९ ॥

ऐन्द्राग्रम् । वर्म । बहुलम् । यत् । उग्रम् । विश्वे । देवाः । न ।

अतिऽविध्यन्ति । सर्वे ।

तत् । मे । तन्वम् । त्रायताम् । सर्वतः । बृहत् । आयुष्मान् ।

जरत्स्रष्टिः । यथा । असानि ॥ १९ ॥

यत् मणिलक्षणम् ऐन्द्राग्निम् इन्द्राग्निदेवताकम् इन्द्राग्निभ्याम् अभिमानितं बहुलम् प्रभूतम् उग्रम् उद्गूर्णवलां वर्म कवचम् तद् विश्वे देवाः एतत्संज्ञया व्यवहियमाणा देवाः सर्वेपि नातिविध्यन्ति अतिवेधनं न कुर्वन्ति । किं तु सर्वेपि पालयन्तीत्यर्थः । तत् तथा-विधं मणिलक्षणं वर्म मे तन्वम् तनूं शरीरं सर्वतः त्रायताम् पालयतु । कीदृक् तत् । बृहत् प्रभूतम् । अहं च यथा आयुष्मान् शत-संवत्सरेण आयुष्येण तद्वान् जरदष्टिः जीर्णावस्थापर्यन्तम् अशनवान् असानि भूयासं तथा त्रायताम् ॥

जो मणिरूप इन्द्र और अग्नि देवता वाला प्रचण्ड कवच है उसका इन्द्र आदि सब अतिवेधन नहीं करते हैं अर्थात् पालन करते हैं । ऐसा मणिरूप कवच मेरे शरीरकी चारों ओरसे रक्षा करें कि-जिससे मैं बड़ी आयु वाला और बुढ़ापे तक रहने वाला होऊँ ॥ १९ ॥

एकादशी ॥

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।

इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे २०

आ । मा । अरुक्षत् । देवमणिः । मयै । अरिष्टतातये ।

इमम् । मेथिम् । अभिसंविशध्वम् । तनूपानम् । त्रिवरूथम् ।

ओजसे ॥ २० ॥

देवमणिः देवेन इन्द्रेण धृतत्वाद् वा देवैः इन्द्राग्न्यादिभिरभिमानितत्वाद् वा देवमणिः । स मा माम् आरुक्षत् भुजादिप्रदेशम्

आरूढवान् । किमर्थम् । महौ महत्यै । मह्यम् इति वा । अरिष्टता-
 तये । रिष्टं नाशस्तदभावः अरिष्टम् अरिष्टकरणाय । क्षेमायेत्यर्थः ।
 किं च हे नराः यूयमपि इमं मेथिम् शत्रूणां विलोडयितारं विना-
 शयितारम् । यद्वा मेथी खले यथा उच्छिरा वर्तते एवम् अयम-
 पीति मेथीवत् मेथिः । तम् अभिसंविशध्वम् अभितः सम्यग्
 आश्रयध्वम् । अथ वा इमं मेथीस्थानीयं मणिम् हे इन्द्रादिदेवा
 यूयम् अभिसंविशध्वम् अधितिष्ठत । कीदृशम् । तनूपानम् तन्वाः
 शरीरस्य पातारम् त्रिवरूथम् त्रिविधावरणोपेतम् आद्यन्तमध्य-
 भागैस्त्रयात्मकं वा । किमर्थम् अभिसंवेशनम् इति उच्यते । ओजसे
 बलाय बलाभिवर्धनाय ॥

इन्द्र आदि देवताओंकी धारणकी हुई देवमणि मेरा क्षेम करने
 के लिये मेरे भुजा आदि प्रदेश पर आरूढ़ हुई है । हे मनुष्यों !
 तुम भी इस शत्रुओंका विलोडन करने वाली शरीररक्षक, तीन
 आवरण वाली मणिको बलके निमित्त धारण करो ॥ २० ॥

द्वादशी ॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृणामिमं देवासो अभि-
 संविशध्वम् ।

दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥

अस्मिन् । इन्द्रः । नि । दधातु । नृणाम् । इमम् । देवासः ।

अभिसंविशध्वम् ।

दीर्घायुत्वाय । शतशारदाय । आयुष्मान् । जरदष्टिः ।

यथा । असत् ॥ २१ ॥

अस्मिन् मणौ इन्द्रो देवो नृणाम् सुखम् अस्मदभिमतं नि

दधातु स्थापयतु । इमं मणिम् हे देवासः देवा यूयम् अभिसंवि-
शध्वम् अभितः अधितिष्ठत । कियर्थम् एवं प्रार्थनेति चेत् उच्यते ।
दीर्घायुत्वाय प्रभूतम्य आयुषः प्राप्तये । एतस्यैव व्याख्यानं शत-
शारदार्यति । शरच्छब्देन तदुपलक्षितः संवत्सरोभिधीयते । शत-
संख्याकाः शरदः शतशरदः । शतशरत्संख्ययायुः शतशारदम्
तस्मै । तस्यैव तात्पर्यम् आह । आयुष्मान् उक्तशतसंवत्सरलक्षणं
आयुष्येण युक्तः । न केवलम् आयुर्वृद्धिरेव पर्याप्ता किंतु ताव-
त्कालम् अशिष्टेनापि भवितव्यम् इत्यभिप्रेत्याह जरदष्टिरिति ।
उक्तो जरदष्टिशब्दार्थः । उक्तगुणद्वयविशिष्टो यथा येन प्रकारेण
असत् भवेत् तथास्मिन्निन्द्रो नृम्णं दधातु । देवा अपि इमम्
अभिसंविशध्वम् इति संबन्धः ॥

इस मणिमें इन्द्रदेवता हमारे अभिमत सुखको स्थापित करें,
हे देवताओं ! आप भी इस मणिमें अधिष्ठित होंगे । जिस प्रकार
यह यज्ञमान सौ वर्ष तककी दीर्घायु वाला आयुष्मान् और युद्धापे
तक रहने वाला हो तिस प्रकार देवता मणिमें सुखको स्थापित करें
त्रयोदशी ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विसृष्टो वशी ।

इन्द्रो वधातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा
अभ्यंक्रो वृषा ।

सत्वां रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥

स्वस्तिष्ठाः । विशाम् । पतिः । वृत्रहा । विसृष्टः । वशी ।

इन्द्रः । वधातु । ते । मणिम् । जिगीवान् । अपराजितः ।

सोमष्ठाः । अभ्यंक्रः । वृषा ।

सः । त्वा । र॒क्षतु । सर्व॑तः । दि॒वा । न॒क्तम् । च । वि॒श्वतः॑ ॥ २२ ॥

इन्द्रो देवः ते तव उक्तमहिमोपेतं मणिं वध्नातु इति वाक्यार्थः । कीदृश इन्द्र इति तं विशिनष्टि । स्वस्तिदाः स्वभक्तानाम् अविनाशिलक्षणक्षेमप्रदाता । स्वयं च विशाम् देवमनुष्यादिलक्षणं प्रजानां पतिः पालयिता स्वामी । वृत्रहा वृत्रस्य असुरस्य हन्ता । विमृशः विगतयुद्धः विविधं शत्रुविनाशकारी वा । वशी सर्वस्य वशयिता । जिगीवान् जयशीलः । अपराजितः स्वयम् अन्यैरनभिभूतः । सोमपाः सर्वेष्वपि सोमयागेषु स्वयमेव मुख्यत्वेन सोमस्य पाता । अभयंकरः अभयं भयराहित्यं तस्य कर्ता । वृषा सेवता अतिशयितपुंस्त्वस्य अभिमतफलस्य वर्पिता वा । स तादृशो देवो मणिं वद्ध्वा त्या त्यां सर्वतः सर्वस्मादपि भयनिमित्ताद् वृक्षतु । किम् एकदा । नेत्याह । दिवा नक्तं च । सर्वदेत्यर्थः । सर्वत इत्युक्तमेवार्थम् आदरार्थं पुनराह विश्वत इति ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके द्वितीय सूक्तम् ॥

अपने भक्तोंको क्षेमरूप कल्याणके देने वाले देवता और मनुष्य आदि प्रजाओंके स्वामी, वृत्रासुरके संहारक, अनेक प्रकारसे युद्ध करने वाले और सबको वशमें रखने वाले इन्द्रदेव तेरे मणिको बाँधें । विजयी, दूसरोंसे अपराजित सोमपान करने वाले, अभयप्रद और अभिमत फलकी वर्षा करने वाले वह इन्द्रदेव रात दिन चारों ओरसे तेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥ (१३)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४४३) ॥

“यौ ते माता” इति सूक्तत्रयस्य अर्थसूक्तम् । अस्य अर्थसूक्तस्य “दिवो गन्धर्वः [२ . २] इमं मे अग्ने [६ . १११] यौ ते माता [८ . ६] इति मातृनामानि” इति [कौ० १ . ८] मातृगणे पाठात् शान्तसुदकाभिमन्त्रणाद्ब्रुवहेमसान्तिहोमादौ गण-

प्रयुक्तो विनियोगोवगन्तव्यः । सूत्रितं हि । “वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आवपते” इति [कौ० ५. ७] । “दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्” इति [कौ० १३. २] । “चातनेर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्” इत्यादि [शा० क० १६] ॥

सीमन्तोन्नयनकर्मणि अनेन अर्थसूत्रेण श्वेतपीतसर्पपान् संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या वध्नीयात् । तथा च सूत्रम् । “यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ वध्नाति” इति [कौ० ४. ११] ॥

“यौ ते माता” आदि तीन सूक्तोंका समुदाय अर्थसूक्त कहलाता है । इस अर्थसूक्तका “दिव्यो गन्धर्वः (२ । २) इमं मे अग्ने (६ । १११) यौ ते माता (८ । ६) इति मातृनामानि” इस कौशिकसूत्र १ । ८ के अनुसार मातृनामगणमें पाठ होनेसे शान्त्युदकाभिमन्त्रण और अद्भुत होमशान्ति आदिमें गण के कारण विनियोग समझना चाहिये । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-“वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आवपते” (कौशिकसूत्र ५ । ७) । “दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्” (कौशिकसूत्र १३ । २) “चातनेर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्” (शांतिकल्प १६) ॥

सीमन्तोन्नयनकर्ममें इस अर्थसूक्तसे पीली और सफेद सरसों को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके गर्भिणीके बाँध देवे इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ११ का प्रमाण भी है, कि-“यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ वध्नाति ।-यौ ते माता से मन्त्रमें कहे हुए दोनों प्रकारके सरसोंको बाँधे ॥”

तत्र प्रथमा ॥

यौ ते मातोन्मार्ज जातायां पतिवेदनौ ।

दुर्णामा तत्र मा गृधदलिशा उत वत्सपः ॥ १ ॥

यौ । ते । माता । उत्सृज्यमार्जं । जातायाः । पतिःवेदनौ ।

दुःस्वामा । तत्र । मा । गृधत् । अलिशः । उत । वत्सपः ॥१॥

हे गर्भिणि जातायाः उत्पन्नाया उत्पत्तिसमनन्तरमेव ते तव माता जनयित्री यौ प्रसिद्धौ दुर्नामसुनामाख्यौ दुर्नामवत्सपाख्यौ वा पतिवेदनौ तव पत्युर्दुःखवेदनोत्पादकौ परिहियमाणौ सन्तौ पतिलम्भकौ वा । दुर्नामसुनामानाविति पक्षे सुनामा अनुकूलत्वात् पतिलम्भकः । दुर्नामा तु प्रतिक्रियया पतिलम्भक इति । पञ्चान्तरे अलिश इत्येतद् वत्सपविशेषणम् । उक्तस्वरूपौ यौ उन्मार्ज ऊर्ध्वमुखं मार्जनम् उन्मार्जनम् । तत् कृतवती परिहृतवती । पत्युः परिग्रहायेति शेषः । तत्र तयोर्मध्ये दुर्नामा त्वग्दोषाख्यः मा गृधत् अभिकाङ्क्षां मा करोतु । ॐ गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । माङ्ङि लुङ्ङि पुपादित्वात् अङ् ॐ । तथा अलिशः अलयो भ्रमराकारेण वर्तमानाः केचन रोगाः तदभिमानीदेवा वा तेषाम् ईशः स्वामी वत्सपः वत्सानां पाता संवर्तव्याभ्यभिमानी देवः । सोपि त्वां मा गृधत् । दुर्नामसुनामानौ यदि यच्छब्दार्थौ तथा उक्तव्यक्तिरिक्तः अलिशोपि त्वां मा गृधत् । उत अपि च वत्सपोपि मा गृधत् इति व्याख्येयम् ॥

हे गर्भिणि ! तेरे उत्पन्न होने पर तेरी माताने तेरे पतिको माप्त करानेवाले जिनका उन्मार्जन किया था उनमेंसे दुर्नामा (त्वग्दोष) तेरी अभिकाङ्क्षा न करे और भ्रमराकारसे वर्तमान अलि नामक रोगोंके स्वामी अभिमानी देवता तुम्हको न पकड़े और संवर्तव्याधियोंका अभिमानी देवता वत्सप तुम्हको न पकड़े ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पल्लालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।

आश्रेपं वत्रिवाससमृत्तग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालऽअनुपलालौ । शर्कुम् । कोकम् । मलिम्लुचम् । पलीजकम् ।

आऽश्रेपम् । वत्रिऽवाससम् । अृत्तऽग्रीवम् । प्रऽमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालानुपलालौ पलालवत् पलालः । अतितुच्छाद् इत्यर्थः । अनुपलालोपि तादृशः । तौ द्वावपि नाशयामीति शेषः । शर्कु-
रेकः शर्शर् इति कौति शब्दयत् इति शर्कुः । तं च विनाश-
यामि । एवम् उत्तरत्रापि । कोकम् । कोकश्चक्रवाकः । तदाकारेण
वर्तमानः कोकः । यद्वा । ❀ कुक वृक आदाने । पचाद्यजन्तः ❀ ।
बलादेः आदातारं संहर्तारम् । मलिम्लुचः अत्यन्तमलिनः तं
च । पलीचकम् पत्न्या पलितेन चकृत इति पलीचकः जरठवद्
वर्तमानः पलितकारी वा । आश्रेपम् आश्लिष्यतीत्याश्रेपः आश्लिष्य
हन्तारं पीडयितारम् । वत्रिवाससम् वत्रिः रूपनाम । रूपोपेतवसन-
वन्तम् । अृत्तग्रावम् अृत्तस्य वानरविशेषस्य ग्रीवेव ग्रीवा यस्य
तादृशम् । प्रमीलिनम् प्रमीलः अक्षिसंकोचः । प्रतिक्रणं संकुच-
न्नेत्रम् इत्यर्थः । एते सर्वे गर्भिण्यादीनां पीडकाः । तान् प्रत्येकं
नाशयामीत्यर्थः ॥

पलाल (पिराल) की समान अति तुच्छ अद्ग वाले गर्भिणी-
पीडक राजसको और अनुपलालको नष्ट करता हूँ । शर् शर्
शब्द करने वाले शर्कुको मारता हूँ चक्रवाककी समान आकार
वाले कोक राजसको मारता हूँ । मलिम्लुच (अतीव मलिन रहने
वाले) को, झुरियें डालने वाले पलीजकको, अड़ कर पीड़ित
करने वाले आश्रेपको, रूपवान् बस्त्र पहिरने वाले वत्रिवासको,
अृत्त-एक प्रकारके वन्दरकी समान ग्रीवा वाले अृत्तग्रीवको,
प्रतीक्षण आँखोंको संकुचित करते रहने वाले प्रमीलिन नामक
गर्भिणीपीडक राजसको मैं नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा सं वृत्तो मोप सृप ऊरू माव सृपोन्तरा ।

कृणोम्यस्यै भेषजं वजं दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

मा । सम् । वृत्तः । मा । उप । सृपः । ऊरू इति । मा । अव ।
सृपः । अन्तरा ।

कृणोमि । अस्यै । भेषजम् । वजम् । दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

हे दुर्णामाख्यरोगाभिमानिन् अस्या ऊरू अन्तरा ऊर्वोर्मध्ये ।

❀ “अन्तरान्तरेण युक्ते” इति द्वितीया ❀ । मा सं वृत्तः संवृत्तिं संकोचं वा मा कार्पीः । ❀ वृत्तु वर्तने । “द्युद्भयो लुङि” इति परस्मैपदम् । द्युतादित्वाद् अङ् ❀ । तथा मोप सृपः उपसर्पणम् अन्तःप्रवेशं मा कार्पीः । ❀ गम्लृ सृसृ गतौ । माङि लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् ❀ । तथा ऊरू अन्तरा माव सृपः अवाक् सर्पणं मा कार्पीः । किमर्थम् एवम् इति चेद् उच्यते । अस्यै गर्भिण्या दुर्णामचातनम् दुर्णामाख्यस्य दोषस्य विनाशकं वजम् श्वेतसर्प-रूपं भेषजम् औषधं कृणोमि कृणोमि कर्णोमि । उत्तरत्र वजः पिङ्ग इति विशेष्यमाणत्वात् अत्र केवलावजग्रहणेऽपि श्वेतोभिमतः । श्वेत-पीतोभयविधसर्पपाणां गर्भिण्या वन्धनं सूत्र उक्तम् ॥

हे दुर्णाम नामक रोगके अभिमानी देवते ! तू इस गर्भिणीके ऊरुओंके मध्यमें संकोचको न कर तथा अन्तःप्रवेश भी न कर तथा ऊरुओंमें नीचेको भी मत सरक, क्योंकि—मैं इस गर्भिणीके लिये दुर्णाम नामक दोषकी विनाशक श्वेत सरसोरूप औषधि को कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दुर्णामां च सुनामां चोभा संवृतमिच्छतः ।

अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥ ४ ॥

दुःस्नामा । च । मुःस्नामा । च । उभा । सम्ऽष्टम् । इच्छतः ।

अरायान् । अप । हन्मः । मुःस्नामा । स्त्रैणम् । इच्छताम् ॥४॥

दुःखेन नमयितुं शक्यो दुर्नामा । सुखेन अल्पप्रयत्नेन नमयितुं वशीकर्तुं शक्यः सुनामा । सुभगो दुर्भगश्चेत्यर्थः । तौ उभा उर्भा संवृतम् संवर्तनं सहैव प्राप्तिं संचरणं वा इच्छतः । ॐ वृणोतेः संपदादिलक्षणः क्विप् ॐ । तत्र अरायान् न विद्यन्ते रायो येषां ते अराया अलक्ष्मीकास्तान् दुर्नामप्रभृतीन् अप हन्मः विनाशयामः । सुनामा द्वितीयः स्त्रैणम् स्त्रियाः संबन्ध्यङ् स्त्रीसमूहं वा इच्छताम् इच्छतु । ॐ स्त्रीशब्दात् “स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्त्वौ भवनात्” इति नञ् । इच्छताम् इति । “इपुगमियमां छः” । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ॐ ॥

दुर्नाम (दुर्भग) और सुनाम (सुभग) दोनों एक साथ रहना चाहते हैं । इनमेंसे धनरहित दुर्नाम आदिको हम नष्ट करते हैं और दूसरा स्त्रियोंकी इच्छा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुरिडंकः ।

अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥

यः । कृष्णः । केशी । असुरः । स्तम्बजः । उत । तुरिडंकः ।

अरायान् । अस्याः । मुष्काभ्याम् । भंससः । अप । हन्मसि ५

यः प्रसिद्धः कृष्णः कृष्णवर्णः केशी केशवान् मकृष्टकेशः एतन्नामा असुरः । तथा स्तम्बजः स्तम्बे जातः असुरः । उत अपि

च तुण्डिकः तुण्डं मुखम् । कुत्सितमुखः एतन्नामा असुरः एते सर्वे अरायाः दुर्भगास्तान् अरायान् अस्या गर्भिण्याः मुष्काभ्याम् । स्त्रीणामपि मुष्कम् अस्ति । “व्यक्तं पुंसो न तु स्त्रियाः” इति स्मरणात् । मुष्काख्यप्रदेशाभ्यां तत्रापि मंससः कटिसंधिप्रदेशाद् अप हन्मसि अपहन्मः ॥

जो कृष्णवर्णका केशी नामक असुर है, और जो स्तम्बमें हुआ स्तम्बज नामक असुर है, और जो कुत्सित मुखवाला तुण्डिक नामक असुर है, ये सब दुर्भाग हैं इनको हम गर्भिणीके मुष्कों से और कटिसंधिप्रदेशसे नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

पथी ॥

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादंसुत रेरिहम् ।

अरायांश्चकिष्किलो वजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनुजिघ्रम् । प्रमृशन्तम् । क्रव्यऽअदम् । उत । रेरिहम् ।

अरायान् । चकिष्किलः । वजः । पिङ्गः । अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनुजिघ्रम् अनुजिघ्रतीति अनुजिघ्रः । ॐ घ्रा गन्धोपादाने । “पाघ्राध्माधेट्टशःशः” इति शः । “पाघ्रा०” इत्यादिना जिघ्रादेशः ॐ । आघ्रायैव हिंसकम् इत्यर्थः । तथा प्रमृशन्तम् प्रमृश्यैव हन्तारं क्रव्यादम् मांसभक्षकम् । उत अपि च रेरिहम् लीढ्वैव हन्तारम् । उक्तव्यतिरिक्तान् अन्यान् अरायान् अधनान् अलक्ष्मीकरांश्च । अरायविशेषणं किष्किल इति । किष्किप् इति शब्दं कुर्वन्तस्तान् । यद्वा । ॐ किष्क हिंसायाम् इति चुरादौ पठ्यते ॐ । नित्यं हिंसकान् पिङ्गः पिशङ्गवर्णो वजः सर्पपः अनीनशत् भृशं नाशितवान् नाशयतु वा । “श्वेतांश्च पीतांश्च सर्प-

पान् संपात्य अभिमन्व्य गर्भिण्या वध्नीयात्” इति [के० ४, ११]
विनियोगाभिधानाद् अत्र पीतसर्पपाणां विधानयोग उक्तः ॥

सूँघ कर ही मार डालने वाले अनुजिघ्रको और स्पर्श करके
मार डालने वाले प्रमृशको, मांसभक्षक क्रव्यादको और चाटकर
मारने वाले रेरिहको, इनके अतिरिक्त भी दूसरे अलक्ष्मीक राक्षसों
को और क्निप् क्निप् शब्द करने वाले नित्यहिंसक राक्षसको
पीला सरसों नष्ट करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।

वजस्तान्तसहतामितः क्लीवरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

यः । त्वा । स्वप्ने । निपद्यते । भ्राता । भूत्वा । पिताइव । च ।

वजः । तान् । सहताम् । इतः । क्लीवरूपान् । तिरीटिनः ॥७॥

हे गर्भिणि यो राक्षसादिः त्वा त्वां स्वप्ने निद्रावस्थायां भ्राता
सहोत्पन्न इव भूत्वा विश्वासं जनयन् निपद्यते निपतति अभि-
गच्छति । तथा यश्च पितेव जनक इव तद्रूपधारी भूत्वा स्वप्ने त्वां
निपद्यते । यद्वा तान् इति बहुवचनेन निर्देशात् यः कश्चित् स्वप्ने
स्वकीयसहजरूपेण निपद्यते यश्च भ्राता भूत्वा यस्तु पितेव भूत्वेति
योज्यम् । भ्रात्रादिरूपेण आगत्य गर्भध्वंसनम् अन्यत्राप्याप्ना-
यते “यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते
जिघांसति तम् इतो नाशयामसि” इति [ऋ० १०, १६२, ५] ।
तान् सर्वान् वजः श्वेतसर्पपः सहताम् अभिभवतु इतः अस्माद्
गर्भिणीसकाशात् । तथा क्लीवरूपान् पण्डरूपं धृत्वा आगतान्
तिरीटिनः अन्तर्धानेन अटतश्च । सहताम् इति संबन्धः ॥

हे गर्भिणि ! जो राक्षस आदि स्वप्नमें भ्राताकासा विश्वास दिला कर तेरे शरीरमें प्रवेश करता है और पिताकी समान बन कर तुझको कष्ट देता है † । उनको यह श्वेत सरसों इस गर्भिणी के समीपसे तिरस्कृत करे । और हिजड़ेका रूप धारण करके आने वाले राक्षसोंको और अन्तर्धान होकर घूमने वाले राक्षसोंको यह सरसों गर्भिणीके समीपमें तिरस्कृत करे ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यस्त्वां स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।

ह्यायामिव प्र तान्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

यः । त्वा । स्वपन्तीम् । त्सरति । यः । त्वा । दिप्सति । जाग्रतीम् ।

ह्यायाम् इव । प्र । तान् । सूर्यः । परिक्रामन् । अनीनशत् ८

हे गर्भिणि त्वा त्वां यः राक्षसादिः स्वपन्तीम् प्रबोधरहितां स्वापकाले चरति गच्छति । यश्च जाग्रतीम् प्रबुद्धां प्रबोधकाले दिप्सति दम्भितुम् इच्छति । ❀ दन्धु दम्भे । “सनीवन्तर्ध०” इत्यादिना इड्विकल्पः । “दन्ध इच्च” इति अचःस्थाने इच्चम् ❀ । अत्र तान् इति बहुवचननिर्देशाद् यो यः स्वपन्तीम् यो यो जाग्रतीम् इति वीप्सार्थो द्रष्टव्यः । तान् सर्वान् यथा सूर्यः परिक्रामन् आकाशे परिभ्रमन् ह्यायाम् अन्धकारं नाशयति तद्वद् अयं सर्पपः

† भ्राता आदिके रूपमें आकर गर्भको ध्वंस करनेका वर्णन अन्यत्र भी है । यथा—“यस्त्वा भ्राता भूत्वा पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तम् इतो नाशयामसि ॥—जो भ्राता पति वा जारके रूपमें तेरे पास आता है और तेरी सन्तानको नष्ट करना चाहता है उसको हम यहाँसे दूर भगाते हैं” (ऋग्वेदसंहिता १० । १६२ । ५) ॥

सर्वम् अपङ्गलम् आक्रम्य मानीनशत् मर्कपेण विनाशितवान् ना-
शयतु वा ॥

हे गर्भिणी ! जो राक्षस आदि स्वमके समय तुम्ह प्रबोधरहित
पर आक्रमण करता है और जो तुम्ह जागती हुईको मारना
चाहता है, उन सबको यह सरसों इस प्रकार नष्ट कर देय, जिस
प्रकार आकाशमें भ्रमण करता हुआ सूर्य अन्धकारको नष्ट कर
हालता है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकापिमां स्त्रियम् ।

तमोपधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवन् ॥ ९ ॥

यः । कृणोति । मृतवत्साम् । अवतोकां । इमाम् । स्त्रियम् ।

तम् । उपधे । त्वम् । नाशय । अस्याः । कमलम् । अञ्जिवन् ९

यो राक्षसादिः स्त्रियम् इमां गर्भिणीं मृतवत्साम् मृतपुत्रां
कृणोति करोति । तथा अवतोका अवपन्नगर्भा वा कृणोति तं
दुष्टम् हे उपधे सर्परूपे त्वं नाशय । अस्याः कमलम् गर्भद्वारम्
अञ्जिवन् अभिव्यक्तिमत् म्लक्ष्णोपेतं वा । कुर्विति शेषः ॥

हे सर्परूप औपधे ! जो राक्षस आदि इस स्त्रीको मृतवत्सा
करता है तथा अवपन्न (विपत्तिग्रस्त) गर्भ वाली करता है,
उस दुष्टको तू नष्ट कर इसके गर्भद्वारको अभिव्यक्ति वाला कर ९

दशमी ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।

कुसूला ये च कुक्षिलाः कंकुभाः करुमाः सिमाः ।

तानोपधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् विनाशय ॥१॥०

ये । शाल्वाः । परिऽनृत्यन्ति । सायम् । गर्दभऽनादिनः ।

कुसूलाः । ये । च । कुक्षिलाः । ककुभाः । करुमाः । सिमाः ।

तान् । ओपधे । त्वम् । गन्धेन । विषूचीनान् । वि । नाशय १०

ये पिशाचाः सायं समये गर्दभनादिनः गर्दभवद् आक्रोशन्तः सन्तः । ❀ “कर्तयुपमाने” इति णिनिः ❀ । शाल्वाः परिऽनृत्यन्ति शाल्वानां गृहाणां परितो नृत्यन्ति । एवं ये च कुसूलाः कुसूलाकृतयः परिऽनृत्यन्ति । ये च कुक्षिलाः बृहत्कुक्षयः । ककुभाः अर्जुनवृक्षवद् भयंकराकृतयः । एवं खरुमाः श्रुमाश्च नानाकारैर्ध्वनिभिश्च विशिष्टाः सन्तः शाल्वायाः परितो नृत्यन्ति तान् सर्वान् हे ओपधे गौरसर्पप पीतसर्पप वा त्वं गन्धेन तव परिमलेनैव विषूचीनान् विष्वगञ्चनान् कृत्वा वि नाशय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो पिशाच सायंकालके समय गंधेकी समान रेंकते हुए घरों में नाचते हैं और जो कुसूल (कुठिया) की आकृतिमें चारों ओर नाचते हैं । और जो अर्जुन वृक्षकी समान भयंकर आकृति वाले बड़ी कोख वाले खरूम श्रुम आदि अनेक प्रकारकी ध्वनि करते हुए शाल्वाके चारों ओर नाचते हैं, उन सबको हे गौर और पीत सर्पपरूप औपधे ! तू अपनी गंधसे ही चारों ओर भगाती हुई नष्ट कर ॥ १० ॥ (१४)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

“ये कृकन्धाः” इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

“ये कृकन्धाः” इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि विभ्रति ।

क्लीवा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोपं तानितो
नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये । कुकुन्धाः । कुकूरभाः । कृत्तीः । दूर्शानि । विभ्रति ।

क्लीवाः इव । प्रनृत्यन्तः । वने । ये । कुर्वते । घोपम् । तान् ।
इतः । नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये प्रसिद्धाः कुकुन्धाः एतत्संज्ञकाः पिशाचाः । कीटशाः । कुकूरवाः
कुकू इत्येवमात्मनेन रवेण युक्ताः कुक्कुटवद्भ्वनिं कुर्वाणाः कृत्यैः
हिंसाकर्मभिः दूष्याणि दूषणीयानि हिंसारूपाणि कर्माणि विभ्रति
धारयन्ति । क्लीवा इव उन्मत्ता इव प्रनृत्यन्तः हस्तपादशिराश्चादि-
चालनं कुर्वन्तो ये च पिशाचाः वने अरण्ये घोपम् शब्दं कुर्वते तान्
उभयविधानपि इतः गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो कृकंध नामक पिशाच कुक्कुटकी समान कुक्कु ध्वनि करते
हुए हिंसाकर्मोंसे दूषितकर्मोंको धारण करते हैं और जो उन्मत्तों
की समान हाथ पैर आदि फेंकते हुए वनमें शब्द करते फिरते हैं
उन दोनों प्रकारके पिशाचोंको हम गर्भिणीके पाससे नष्ट करते हैं ॥

द्वितीया ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तमभुं दिवः ।

अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धील्लोहितास्यान् मक-
कान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये । सूर्यम् । न । तितिक्षन्ते । आतपन्तम् । अष्टम् । दिवः ।

अरायान् । वस्तवांसिनः । दुःगन्धीन् । लोहितआस्यान् ।

मककान् । नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये भूतविशेषा दिवः धुलोकाद् आतपन्तम् सर्वतस्तापं कुर्वन्तम् अयं सूर्यं न तितिक्षन्ते न सहन्ते । घूका इव रात्रौ गिरिगुहादौ वा वर्तन्त इत्यर्थः । तान् अरायान् अश्रीकान् वस्तवासिनः अविचर्मवसनान् दुर्गन्धीन् दुष्टेन पुराणकुणपादिसदृशेन गन्धेन उपेतान् लोहितास्यान् सर्वदा नवमांसभक्षणेन लोहितोपेतमुखान् लोहितवर्णमुखान् वा मककान् । ❀ मस्कतिर्गत्यर्थः । सलोपश्चान्दसः ❀ । कुत्सितगतीन् पिशाचान् । यद्वा । ❀ मकिरलंकारार्थः । जुमभावः पूर्ववत् ❀ । कुत्सितालंकारान् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो भूत धुलोकसे सब ओर ताप देते हुए सूर्यको नहीं सह सकते तात्पर्य यह है, कि—रात्रिमें उल्लुओंकी समान गिरिगुहा आदिमें विचरण करते रहते हैं उन अश्रीक, वकरीके चमड़ेके वस्त्र वाले, दुर्गन्धित सदा नवीन मांसका भक्षण करनेसे रक्तसे सने हुए मुख वाले, कुत्सित अलंकारोंको धारण करने वाले राक्षसोंको हम नष्ट करते हैं । १२ ॥

तृतीया ॥

य आत्मानमतिमात्रमंसं आधाय विभ्रति ।

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

ये । आत्मानम् । अतिऽमात्रम् । अंसं । आधाय । विभ्रति ।

स्त्रीणाम् । श्रोणिप्रतोदिनः । इन्द्र । रक्षांसि । नाशय ॥ १३ ॥

ये पिशाचाः स्त्रीणाम् आत्मानम् शरीरम् । कीदृशम् आत्मा-

नम् । अतिमात्रम् गर्भिणीत्वाद् अतिस्थूलम् अंसे आधाय स्याप-
यित्वा विभ्रति । अथ वा क्रियाविशेषणम् एतद् । अतिबलं विभ्र-
तीत्यर्थः । अथ वा वस्तुतः अल्पमपि आत्मानम् अतिमात्रम्
आकाशस्पर्शिनम् अंसे स्वस्कन्धप्रदेशे आधाय मायाबलेन स्याप-
यित्वा विभ्रति सर्वदा धारयन्ति । स्त्रीणां गर्भिणीनां श्रोणिप्रतो-
दिनः कटिप्रदेशं प्रकर्षेण व्यथयतस्तान् रक्षांसि राक्षसान् हे इन्द्र
नाशय घानय ॥

जो पिशाच गर्भिणी होनेके कारण बहुत स्थूल भी स्त्रियों
के शरीरको अपने कंधे पर रख कर घूमने लगते हैं हे इन्द्र !
उन स्त्रियोंके कटिप्रदेशको व्यथित करने वाले राक्षसोंको आप
नष्ट करिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

ये पूर्वं बध्वो यन्ति हस्ते शृङ्गाणि विभ्रतः ।

आपाकेष्टाः प्रहासिनं स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो
नाशयामसि ॥ १४ ॥

ये । पूर्वं । बध्वः । यन्ति । हस्तं । शृङ्गाणि । विभ्रतः ।

आपाकेऽस्याः । प्रहासिनः । स्तम्बे । ये । कुर्वते । ज्योतिः ।
तान् । इतः । नाशयामसि ॥ १४ ॥

ये पिशाचाः बध्वः बधूनां स्वस्त्रीणां पूर्वं पूर्वभाविनः सन्नो
यन्ति मस्त्रीका गच्छन्ति । कथंभूताः । हस्ते स्वस्वहस्तेषु शृङ्गाणि
विपाणानि वादनायानि पानार्थानि वा विभ्रतः धारयन्तः ।
ये च आपाकेष्टाः आपाकेषु पाकशालासु कुलालमृद्देषु वा तिष्ठन्तीति
आपाकेष्टाः । प्रहासिनः प्रकृष्टहासयुक्ताः अट्टहासं कुर्वतः । ये च

स्तम्बे आर्द्रेषु व्रीह्यादिस्तम्बेषु गृहस्तम्बेषु वा ज्योतिः अग्निरूपं
कुर्वते उत्पादन्ति तान् सर्वान् इतः अस्माद् गर्भिण्याद्यावास-
नात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो पिशाच अपनी स्त्रियोंके आगे २ हाथमें सींगोंको लेकर
घूमते हैं और जो पाकशालाओंमें स्थित होकर अट्टहास्य करते
हैं और जो गीले व्रीहिस्तम्बोंमें वा गृहस्तम्ब आदिमें अग्निरूप
ज्योतिको उत्पन्न करते हैं उन सबको हम गर्भिणीके आवास-
स्थानसे भगाते हैं ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

येषां पश्चात् प्रदानिः पुरः पाष्णीः पुरो मुखा ।

खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भ-
मुष्का अयाशवः ।

तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीवोधेन नाशय ॥ १५ ॥

येषाम् । पश्चात् । प्रदानिः । पुरः । पाष्णीः । पुरः । मुखा ।

खलजाः । शकधूमजाः । उरुण्डाः । ये । च । मट्मटाः । कुम्भ-
मुष्काः । अयाशवः ।

तान् । अस्याः । ब्रह्मणः । स्पते । प्रतीवोधेन । नाशय ॥ १५ ॥

येषां रक्तः प्रभृतीनां पश्चात् पश्चाद्भागे प्रदानि पादाग्रप्रदेशाः
पुरः पुरोभागे पाष्णीः पाष्णयः । ननु पश्चात् प्रदानि सन्तु
मुखान्यपि पश्चाच्चेत् किं वैकृतम् इति तत्राह । पुरः पूर्वस्मिन्
देशे मुखा मुखानि प्रपदप्रतिकूलानि मुखानि । उक्तविकारान्

तान् । तथा ये खलजाः खलो धान्यशोधनप्रदेशस्तत्र जाताः । ये च शकधूमजाः गवारवादिपुरीषपिण्डोत्पन्नाः । ये च अरूण्डाः रूण्डरहिता अशिरस्काः । ये च मुट्मुटाः मुट्मुट इति शब्दं कुर्वन्तः द्विन्नसर्वावयवा इव वर्तमाना वा । कुम्भमुष्काः कुम्भोपमेन मुष्केण उपेताः । अयाशवः अयो वायुः वायुवद् आशुगामिनः । एवम् उक्तप्रकारा ये सन्ति तान् सर्वान् हे ब्रह्मणस्पते बृहतो वेदराशेः स्वामिन् एतन्नामक देव अस्या ओषधेर्वजरूपायाः प्रतीबोधेन । प्रतीबोधसाधनेन सामर्थ्येनेत्यर्थः । प्रतिनियतेन ज्ञानेन वा । ❀ “उपसर्गस्य घञ्प्रमनुष्ये बहुलम्” इति दीर्घः ❀ । तेन नाशय विनष्टान् कुरु ॥

जिन राक्षस आदिके पश्चिमकी ओर पैरकी अँगुलियें होती हैं और सामने एड़ियें होती हैं और मुख पूर्वकी ओर होता है ऐसे राक्षसोंको, और धान्यशोधनदेश-खलमें होने वाले राक्षसोंको गौंके गोवर और घोड़ेकी लीद आदिसे होने वाले राक्षसोंको, मुण्डरहित राक्षसोंको, मुट् मुट् शब्द करने वाले राक्षसोंको घोड़ेकी समान अण्डकोशों वाले राक्षसोंको और वायुकी समान शीघ्रगामी राक्षसोंको हे वेदराशिके स्वामिन् ! बृहस्पति नामक देव ! आप सरसोंके बलसे नष्ट करिये, ॥ १५ ॥

पृष्ठी ॥

पर्यस्ताच्चा अम्रञ्चङ्कुशा अस्त्रैणाः सन्तु पराङ्गाः ।
अवं भेषज पादय य इमां संविष्टसत्यपतिः स्वपतिं
स्त्रियम् ॥ १६ ॥

पर्यस्ताच्चाः । अम्रञ्चङ्कुशाः । अस्त्रैणाः । सन्तु । पराङ्गाः ।

अव । भेषज । पादय । यः । इमाम् । समुद्विष्टन्मृति । अपतिः ।

स्वपतिम् । स्त्रियम् ॥ १६ ॥

पर्यस्ताक्षाः इतस्ततो विपकीर्णलोचनाः प्रचङ्कशाः प्रक्षीणो-
रुमदेशाः । यद्वा प्रगतमतयः । पन्नगाः पादेन न गच्छन्तः । एवं-
रूपा ये सन्ति ते अस्त्रैणाः स्त्रीसमूहविरोधिनः स्त्रीरहिताः सन्तु
भवन्तु । अथ वा पन्नगाः सर्पा भवन्तु । किं च हे भेषज सर्परूप
त्वम् अथ पातय अवाङ्मुखं विनाशय । कम् । यो राक्षसादिः
इमां गर्भिणीं स्त्रियं संविष्टन्मृति संवर्तनं कर्तुम् इच्छति । यच्छब्द-
निर्दिष्टं विशिनष्टि अपतिरिति । न विद्यते पतिः स्वामी यस्य स
तथोक्तः अनियन्त्रितः । स्त्रियं विशिनष्टि स्वपतिम् इति । स्वा-
धीनपतिकाम् । यद्वा अपतिः पतिराहित्येन स्वपतीं निद्रां कुर्वतीम्
इमां स्त्रियं संवर्तितुम् इच्छति । ❀ वर्ततेः सनि “वृद्धयः स्यसनोः”
इति परस्मैपदम् ❀ ॥

फैले हुए नेत्रों वाले, क्षीण ऊरु वाले, जो राक्षस हैं वे स्त्री
समूहविरोधी स्त्रियोंसे रहित होजावें वा सर्प होजावें हे सर्परूप
औपधे ! जो अनियन्त्रित राक्षस इस सोती हुई स्त्रीको घेरना
चाहता है उसको तू नष्ट कर ॥ १६ ॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् ।

उपेपन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।

पदा प्र विध्य पाण्डुर्यां स्थालीं गौरिव स्पन्दना १७

उत्तुहर्षिणम् । मुनिः केशम् । जम्भयन्तम् । मरीमृशम् ।

उपेपन्तम् । उदुम्बलम् । तुण्डेलम् । उत । शालुडम् ।

(५७६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पदा । प्र । विध्य । पाप्स्यो । स्थालीम् । गौःऽइव । स्पन्दना १७

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वां मारयाति ते ।

पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

यः । ते । गर्भम् । प्रतिमृशात् । जातम् । वा । मारयाति । ते ।

पिङ्गः । तम् । उग्रधन्वा । कृणोतु । हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

सप्तमी ॥ उद्धर्षिणम् उत्कृष्टेन अतिप्रवृद्धेन धर्षणेन उपेतं मुनि-
केशम् मुनिवज्जटात्मककेशवन्तम् एतन्नामानम् । तथा जम्भय-
न्तम् हिसन्तं हिंस्रकं मरीमृशम् पुनःपुनः मृशन्तम् एतन्नामानं
च । तथा उपैपन्तम् सर्वत इच्छन्तम् । गर्भिणी कुत्रास्त इत्यन्वि-
प्यन्तम् इत्यर्थः । तथाविधम् उदुम्बलम् एतन्नामकं च । उत
अपि च तुण्डेलम् प्रकृष्टतुण्डवन्तं शालडम् एतन्नामानम् अमृ-
रम् । अथ वा उद्धर्षिमृतीनि प्रत्येक योगरूढानि असुरनामानि ।
पदा प्रविध्येत्युत्तरत्र संबन्धः ॥

अष्टमी ॥ सर्पपाख्यापधिः पदा पादेन प्रविध्य सम्यक् ताड-
यित्वा प्रास्यात् प्रास्यतु तत्र । दृष्टान्तः । स्थालीम् दोहनसाधनं
मृत्पात्रं गौरिव दुष्टा गौर्यथा स्पन्दनात् पश्चात्पादयोश्चालनात् ।
सा यथा पात्रं भिनत्ति तद्वत् । कं प्रति एवम् उच्यते इति तम्
आह । यस्ते गर्भम् इति । यो राज्ञसादिः हे गर्भिणि ते गर्भं
प्रतिमृशात् प्रतिमृशेत् पीडयेत् यथा सजीवो न जायते तथा कुर्याद्
वा । अथ वा जातम् उत्पन्नं ते पुत्रं मारयाति मारयेत् । तं पदा
प्रविध्येति पूर्वज्ञानवपः । किं च पिङ्गः गौरसर्पपः तं गर्भघातकं
राज्जमम् उग्रधन्वा । ॐ धन्वतिर्गतिकर्मा ॐ । उद्गूर्णगतिः सन्
हृदयाविधम् हृदयभदेशे विद्धं ताडितं कृणोतु करोतु । अथ वा

बेधलिङ्गात् उग्रधन्वशब्दो भयंकरेण धनुषोपेतम् आचष्टे सर्पस्य
औषधस्य देवताभिप्रायेण उग्रधन्वत्वं न विरुध्यते ॥

प्रचण्डतासे धर्षण करने वाले मुनिकी समान जटात्मक केश
वाले मुनिकेश नामक असुरको, तथा टिसा करने वाले मरीमृश
को तथा गर्भिणी कहाँ है इस प्रकार सर्वत्र खोज करते हुए उदुम्बल
को, प्रकृष्ट तुण्ड वाले शालद नामक असुरको, सरसों पैरसे इस
प्रकार मारे जिस प्रकार दूध दुहानेके बाद (दुष्ट) गौ दूधके
पात्रमें लात मार देती है ॥ १७ ॥

हे गर्भिणी ! जो तेरे गर्भको पीड़ित करता है अर्थात् सजीव
उत्पन्न न हो ऐसा कर देता है अथवा तेरे उत्पन्न हुए पुत्रको मारने
के लिये उद्यत रहता है उसको यह औषधि पैरसे मारे । गौर-
सर्प ! उस गर्भघातक राक्षसको प्रचण्ड गतिवाला होकर हृदय
में ताड़ित कर ॥ १८ ॥

नवमी ॥

ये अ॒म्नो जा॒तान् मार॑यन्ति सू॒तिका अनु॑शेरते ।

स्त्रीभा॑गान् पि॒ङ्गो गन्ध॑र्वान् वा॒तो अभ्र॑मिवाजतु १६

ये । अ॒म्नः । जा॒तान् । मार॑यन्ति । सू॒तिकाः । अनु॑शेरते ।

स्त्रीभा॑गान् । पि॒ङ्गः । गन्ध॑र्वान् । वा॒तः । अभ्र॑मृ॒ञ्च॒व । अ॒जतु॑ १६

ये रक्षःपिशाचाद्याः अ॒म्नो जा॒तान् अर्धो॑त्पन्नान् गर्भान्
मारयन्ति विनाशयन्ति ये च सू॒तिकाः अभिनवप्रसवा अनुशेरते
स्वयमपि योषिद्रूपेण शयनं कुर्वन्ति तान् स्त्रीभागान् स्त्रियो
गर्भिण्यो भागो येषां ते स्त्रीभागाः स्त्रीग्रहीतृन् गन्धर्वान् रक्षः-
पिशाचाद्यान् पिङ्गः गौरसर्पः वातः वायुः अभ्रमिव निरुदकं
मेघमिव अजतु निरस्यतु ॥

जो राक्षस पिशाच आदि आधे उत्पन्न हुए गर्भोंको मार डालते हैं और जो स्त्रीरूप धारण कर सूतिका बनकर शयन करते हैं उन गर्भिणी स्त्रियोंको अपना भाग समझने वाले गंधर्व राक्षस पिशाच आदिको गौरसर्प इस प्रकार मारे जिस प्रकार जलरहित मेघको वायु मारता है ॥ १६ ॥

दशमी ॥

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।

गर्भं त उग्रो रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥

परिसृष्टम् । धारयतु । यद् । हितम् । मा । अव । पादि । तत् ।

गर्भम् । ते । उग्रो । रक्षताम् । भेषजौ । नीविभार्यौ ॥ २० ॥

परिशिष्टम् होमादिविनियोगावशिष्टं सर्पपद्वयं धारयतु न परित्यजतु गर्भिणी स्त्री । धारणस्य अभिप्रायम् आह । यद् यत् पुत्रादिलक्षणं वस्तु हितम् अभिमतं तत् माव पादि अवपन्नं विस्तृतं मा भूत् । अनेन अभिप्रायेण धारयतु । हे गर्भिणि ते गर्भम् उग्रो उद्गूर्णस्त्री भेषजौ भेषजरूपौ श्वेतपीतोभयविधसर्पपौ नीविभार्यौ नीव्यां भर्तव्यां वस्त्राञ्चलेन धार्यौ रक्षताम् पालयताम् । “श्वेतपीतसर्पपौ संपात्य अभिमन्व्य गर्भिया वञ्जीयात्” इति हि अत्र विनियोगः ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

होम विनियोग आदिसे बचे हुए दोनों मकारके सरसोंको यह गर्भिणी स्त्री न त्यागे धारण करे, धारण करनेका अभिप्राय यह है, कि—जो पुत्र आदिरूप वस्तु अभिमत है वह गिरे नहीं । हे गर्भिणी ! प्रचण्ड बली औपधरूप दोनों सरसों नीवीमें धारण करने पर तेरी रक्षा करें ॥ २० ॥ (१५)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थं सूक्त समाप्त

“पवीनसात्” इति सूक्तस्य “यौ ते माता” [८. ६] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

“पवीनसौ” सूक्तका “यौ ते माता” (८. ६) के साथ विनियोग कह दिया है ।

पवीनसात् तद्भ्रुत्वाश्चक्षायकादुत नग्नकात् ।

प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

पविञ्जसात् । तद्भ्रुत्वात् । क्षायकात् । उत । नग्नकात् ।

प्रजायै । पत्ये । त्वा । पिङ्गः । परि । पातु । किमीदिनः ॥ २१ ॥

पवीनसात् पविर्वज्रः । पवज्रसदृशनासिकोपेतात् किमीदिनः असुरादेः सकाशात् तद्भ्रुत्वात् एतन्नामकाच्च किमीदिनः सायकात् विनाशकारिणः सकाशात् उत अपि च नग्नकात् नग्नत्वात् । एतन्नामकेभ्यः असुरेभ्यः सकाशात् हे गर्भिणी त्वा त्वां पिङ्गः पिङ्गवर्णः सर्पपः परि पातु परितो रक्षतु । कस्मै प्रयोजनायेति उच्यते । प्रजायै प्रजार्थं पुत्रलाभार्थं पत्ये पत्यर्थं पत्युरातु-कूल्यार्थं च ॥

हे गर्भिणी ! प्रजा उत्पन्न करनेके लिये और पतिके अतु-कूल रहनेके लिये यह पीली सरसों तुम्हको वज्रकी समान नासिका वाले असुरसे, तद्भ्रुव नामक असुरसे विनाशक सायक नामक असुरसे और नग्नक नामक असुरसे रक्षा करे ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

दद्यास्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।

वृन्तांद्भि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्विऽआस्यात् । चतुऽअज्ञात् । पञ्चऽपादात् । अनङ्गुरेः ।

वृन्तात् । अभि । मऽसर्पतः । परि । पाहि । वरीवृतात् ॥ २२ ॥

आस्यात् द्वे आस्ये पुरः पश्चाच्चेति वा पुरत एव वा यस्य स्तः स आस्यः । तस्मात् । यत् एवम् अतांसौ चतुरक्षः अक्षचतुष्टयवान् । तस्मात् । पञ्चपादात् पादपञ्चकोपेतात् अनङ्गुरेः अङ्गुलिरहिताद् वृन्तात् लतापुञ्जात् अभिमसर्पतः अभिमुखं गच्छतः । अथ वा वृन्तात् वृन्तवद् वृन्तं शिरः पादाग्रं वा तस्पात् । अवाग्भूयाभिगच्छतः पश्चात् वरीवृतात् भृशं सर्वाङ्गं व्याप्य वर्तमानात् हे ओपथे त्वं परिपाहि परितो रक्ष । ॐ वृत्तवर्तने । अस्माद् यद्दुलुगन्तात् पचाद्यचि “रीगृदुपथस्य च” इत्यभ्यासस्य रीगागमः । “न धातुलोप आर्थधातुके” इति गुणमतिषेधः ॐ ॥

हे ओपथे ! तू आगे पीछे इस प्रकार दो मुख वाले, चारनेत्र वाले पाँच पैर वाले अंगुलिरहित लताजालकी समान पैर वाले नीचेको मुख करके चलने वाले और सब अंगोंमें व्याप्त होकर वर्तमान राक्षससे रक्षा कर ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।

गर्भान् स्वादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि २३

ये । आमम् । मांसम् । अदन्ति । पौरुषेयम् । च । ये । क्रविः ।

गर्भान् । स्वादन्ति । केशवाः । तान् । इतः । नाशयामसि २३

ये पिशाचा आमम् अपस्वं मांसम् अदन्ति भक्षयन्ति ये च पौरुषेयम् पुरुषस्य संबन्धि क्रविः । क्रविसृशब्दो मांसवचनः । “य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति” इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ०

१. १६२. १०] । मनुष्यमांसभक्षणं न प्रचुरम् इत्यभिप्रेत्य पृथ-
गभिधानम् । ये च केशवाः प्रकृष्टकेशाः पिशाचविशेषाः गर्भान्
मायारूपेण प्रविश्य खादन्ति भक्षयन्ति तान् त्रिविधानपि इतः
अस्मात् गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो राक्षस कच्चे मांसको खाते हैं और पुरुषके भी कच्चे मांस
को खाजाते हैं । और जो बड़े २ वाल वाले राक्षस मायासे प्रवेश
करके गर्भोंका भक्षण करते हैं उन तीनोंको हम गर्भिणीके पास
से हटाते हैं ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुपेव श्वशुरादधि ।

वजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

ये । सूर्यात् । परिऽसर्पन्ति । स्नुपाऽइव । श्वशुरात् । अधि ।

वजः । च । तेषाम् । पिङ्गः । च । हृदये । अधि । नि । विध्यताम् २४

ये पीडयितारः सूर्यात् सर्वस्य प्रेरकाद् देवाद् अनुज्ञाताः सन्तः
परिसर्पन्ति परिगच्छन्ति भूलोकं गच्छन्ति पीडयितुम् । तत्र दृष्टा-
न्तम् आह । स्नुपेव यथा स्नुपा श्वशुरादधि । ❀ अधिः पञ्च-
म्यर्थानुवादी ❀ । श्वशुरात् स्वपतेर्जनकाद् अनुज्ञाता त्वं पत्युः
सकाशं गच्छ इत्येवम् अनुज्ञाता सती तत्समीपं परिसर्पति तद्वत् ।
तेषां सूर्याद् आगतानां हृदये हृदयदेशे वजश्च वजः श्वेतसर्पणः स
च पिङ्गश्च गौरसर्पणश्च । उभयत्र चशब्दः परस्परापेक्षः । अधि
नि विध्यताम् अधिष्ठाय ताडयताम् ॥

जो पीडक सूर्यदेवकी अनुज्ञासे भूलोकमें पीड़ा देनेको इस
प्रकार आते हैं, जिस प्रकार श्वशुरकी अनुज्ञासे पुत्रचधू पतिके

पास जाती है । उन सूर्यसे आये हुआँके हृदयमें यह पीली सफेद सरसों जाकर ताड़ना करे ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

पिङ्ग रक्त जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।

आण्डादो गर्भान्मा दभन् वाधस्वेतः किमीदिनः २५

पिङ्ग । रक्त । जायमानम् । मा । पुमांसम् । स्त्रियम् । क्रन् ।

आण्डादः । गर्भान् । मा । दभन् । वाधस्व । इतः । किमीदिनः २५

हे पिङ्ग गौरसर्पप त्वं जायमानम् उत्पद्यमानं शिशुं रक्त । जायमानम् इति सामान्येन अभिधाय विशेषेणाह । जायमानं पुमांसं जायमानां स्त्रियं वा मा क्रन् मा कुर्वन्तु । पीढायाम् इति शेषः । अथ वा जायमानं पुमांसं वस्तुतः पुंगर्भं स्त्रियं मा क्रन् स्त्र्यपत्यं मा कुर्वन्तु । यथा एवं न भवति तथा रक्त । केचन भूत-विशेषाः पुंगर्भं स्त्रीगर्भं कुर्वन्ति स्वसामर्थ्यात् । ❀ करोतेर्माङ्गि लुङि “मन्त्रे घस०” इत्यादिना च्लेलुङ्क ❀ । किं च अपरे आण्डादाः आण्डमदेशभक्षकाः । ❀ “अदोनन्ने” इति वित् ❀ । ते पिशाचाः गर्भान् मा दभन् मा हिंसन्तु । तान् उभयविधान् किमीदिनः किम् इदं किम् इदम् इति चरतो रक्तःप्रभृतीन् हे पिङ्ग इतः गर्भिणीसकाशाद् वाधस्व पीढय ॥

हे गौर सर्पप ! तू उत्पन्न हुई संततिकी रक्षा कर, और उत्पन्न होते हुए पुंगर्भको वा स्त्रीगर्भको भूत पीढामें न डालें और आण्ड-मदेश भक्षक आण्डाद गर्भको न मार सके इन दोनों प्रकारके राक्षसोंको हे सर्पप ! गर्भिणीके पाससे दूर कर ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

अग्रजास्त्वं मर्तिवत्समाद् रोदमघमावयम् ।

वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥

अप्रजाःस्त्वम् । मार्त॑स्वत्सम् । आत् । रोदम् । अघम् । आऽव्यम् ।
वृक्षात्स्व । स्रजम् । कृत्वा । अप्रिये । प्रति । मुञ्च । तत् ॥ २६ ॥

हे पिङ्ग त्वम् अस्या गर्भिण्या यद् अप्रजास्त्वम् अपत्यविधु-
रत्वम् यच्च मार्त॑स्वत्सम् मृतवत्सत्वं दौर्भाग्यम् आत् अपि च
रोदम् सर्वदा उत्पद्यमानं दुःखं हृदोदनं वा । अघवाचयम् अघानां
पापानां तत्फलभूतानां दुःखानां वा असकृद् वयनम् । एतानि
सर्वाणि । वृक्षादिव स्रजं कृत्वा यथा वृक्षाद्बहूनि पुष्पाणि आदाय
मालां निर्माय मियत्तमे प्रतिमुञ्चति तद्वत् अमजास्त्वादिकानां स्रजं
कृत्वा तत् माल्यम् अप्रिये द्वेष्ये प्रति मुञ्च संयोजय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च तृतीयोनुवाकः ॥

हे गौर सर्पप ! तू इस गर्भिणीकी अपत्यहीनताको, मृतवत्सता-
रूप दुर्भाग्यको और सदा हृदयके रोदनको और पापोंके ताने
बानेको इस प्रकार शत्रुके डाल जिस प्रकार वृक्ष परसे फूल चुन
उनकी मालाको मियत्तमके गलेमें डालते हैं ॥ २६ ॥ (१६)

अष्टमकाण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

यच्चादिसर्वव्याधिभैषज्ये कर्मणि “या वभ्रवः” इत्यर्थसूक्तेन
दशवृक्षशकलानां लाक्षाहिरण्येन वेष्टितं मणिं कृत्वा संपात्य अभि-
मन्त्र्य पुनः सूक्तं जपित्वा वध्नाति । तद् उक्तं कौशिकेन । “उत्त-
मेन शाकलम्” इति [कौ० ४. २] ॥ पालाशः उदुम्बरः जम्बुः
काम्पीलः सक् वङ्गः शिरीषः सक्तयः वरणः विल्वः जङ्घिडः कुटकः
गृह्यः गलावलः वेतसः शिम्बलः सिपुनः स्यन्दनः अरणिका
अरमयोक्तः तुन्युः पूतदाररिति शान्ता वृक्षाः । एतेषां कतमाना-
मपिदशानां शकलैर्निर्मितः शाकलो मणिः ॥

तथा सौत्रामणीयामे अनेन मूक्तेन औपधीभिः संधीयमानां सुराम् अनुमन्त्रयेत् । तद् उक्तं वैताने । “रसमाशनया [५. २. ३] या वभ्रव इत्योपधीभिः सुरां संधीयमानाम्” इति [वै० ५. ३] ॥

यक्ष्मा आदि सरुल व्याधियोंकी चिकित्साके लिये “या वभ्रवः” इस अर्थमूक्तसे दश वृत्तोंके टुकड़ोंको लाख और सुवर्ण से मढ़ मणि बनाकर संपातन और अभिमन्त्रित करे फिर मूक्त को जप कर बाँधे । इसी वातको कौशिकने कहा है, कि-“उत्तमेन शाकलम्” (कौशिकमूत्र ४ । ०) । पलाश, गूलड़, जामन, कवीला, स्रक्, बह, सिरस, स्रथक्त, वरण, बेल, जंगिड़, कुटक, गृह्य, गलागल, वेत, शिम्बल, सिपुन, तिनश, अरुणिका, अरम-योक्त, तुन्यु, और पूतदारु ये शान्तवृत्त कहलाते हैं । इनमेंसे किन्हीं भी दश वृत्तोंके टुकड़ोंसे निर्मित मणि शाकलमणि कहलाती है ॥

तथा सौत्रामणियागमें इम मूक्तके द्वारा औपधियोंसे रिचती हुई सुराका अनुमन्त्रण करे । इसी वातको वैतानमूत्रमें कहा है, कि-“रसमाशन्या (५ । २ । ३) या वभ्रव इत्योपधिभिः सुरां संधीयमानाम्” (वैतानमूत्र ५ । ३) ॥

या वभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः ।

असिकीः कृष्णा औपधीः सर्वा अच्चावदामसि ॥ १ ॥

याः । वभ्रवः । याः । च । शुक्राः । रोहिणीः । उत । पृश्नयः ।

असिकीः । कृष्णाः । औपधीः । सर्वाः । अच्चावदामसि ॥ १ ॥

जो वभ्रवर्णकी औपधियें हैं, जो श्वेतवर्णकी औपधियें हैं, जो लालवर्णकी औपधियें हैं और जो छोटे शरीर वाली औपधियें और जो नीली तथा काली औपधियें हैं उन सबसे हम अभिमुख होकर (रोगको दूर करनेकी) मार्यना करते हैं ॥ १ ॥

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवोपितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां
वभूव ॥ २ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । पुरुषम् । यक्ष्मात् । देवोऽपितात् । अधि ।
यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरु-
धाम् । वभूव ॥ २ ॥

वर्षारूप वीर्यका सेचन करनेसे द्यौ जिनका पिता है और
उत्पन्न करनेसे पृथिवी जिनकी माता है और समुद्र (जलस्थान)
जिनका मूल है वे औपधिये इस पुरुषको देवमेरित यक्ष्मारोगसे
बचावें ॥ २ ॥

आपो अग्रं दिव्या औपधयः ।

तास्ते यक्ष्मेनस्य मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

आपः । अग्रम् । दिव्याः । औपधयः ।

ताः । ते । यक्ष्मम् । एनस्यम् । अङ्गात् अङ्गात् । अनीनशन् ३

जो जल सामने वर्तमान हैं और जो दिव्य औपधिये हैं, हे
रोगिन् ! वे तेरे पापकर्मोंके कारण उत्पन्न हुए यक्ष्मारोगको अंग
प्रत्यंगोंसे निकाल कर फेंक दें ॥ ३ ॥

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकं शुङ्गाः प्रतन्वती रोषधीरा वंदामि
अशुमतीः काण्डिनार्या विशाखा ह्ययामिते वीरुधां

वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

प्रस्तृणनीः । स्तम्बिनीः । एकशुद्धाः । प्रस्तन्वतीः । औपधीः ।
आ । वदामि ।

अंशुष्मतीः । काण्डिनीः । याः । विशाखाः । हयामि । ते ।
वीरुधः । वैश्वदेवीः । उग्राः । पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

फैलने वाली, स्तम्ब वाली, मुख्य करके पाकरका आश्रय लेने वाली, छाया हुई औपधियोंकी मैं मार्यना करता हूँ, किरणों (टहनियों) वाली, गुद्दे वाली और अनेक प्रकारकी शाखाओं वाली, समस्त देवताओंसे सम्बन्ध रखने वाली, मचण्ड बलमयी और रोगी पुरुषको जीवन देने वाली औपधियोंको हे रोगिन् ! मैं तेरे लिये आदान करता हूँ ॥ ४ ॥

यद् वः सहः सहमाना वीर्यम् यच्च वो बलम् ।

तेनेममस्माद् यच्मात् पुरुषं मुञ्चतौपधीस्थां कृणोमि
भेषजम् ॥ ५ ॥

यत् । वः । सहः । सहमानाः । वीर्यम् । यत् । च । वः । बलम् ।
तेन । इमम् । अस्मात् । यच्मात् । पुरुषम् । मुञ्चत । औपधीः ।

अयो इति । कृणोमि । भेषजम् ॥ ५ ॥

हे रोगको दयाने वाली औपधियों ! तुममें जो रोगको दवानेकी शक्ति है और तुममें जो बल है उससे आप इस पुरुषको यच्मा-रोगसे मुक्त करो, क्योंकि-मैं (मन्त्रशक्तिसम्पन्न) औपधिको कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा
अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघारिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।
अरुन्धतीम् । उन्नयन्तीम् । पुष्पाम् । मधुमतीम् । इह । हुवे ।
अस्मै । अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

मैं कल्याण करनेके लिये जीवनप्रदा और जिसका रोष भी कभी घातक नहीं होना ऐसी, रोषण करने वाली ऊपरको जाने वाली पुष्पमती मधुमती जीवन्ती (लता) का आह्वान करता हूँ इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।

यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

इह । आ । यन्तु । प्रचेतसः । मेदिनीः । वचसः । मम ।

यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुःइतात् । अधि ॥ ७ ॥

प्रकृष्ट ज्ञान वालीं मेरे मन्त्ररूप वचनको स्निग्ध करने वालीं औपधियें यहाँ आवें, जिससे कि-हम इस पुरुषको रोगरूप पाप से पार उतार सकें ॥ ७ ॥

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।

ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥

अग्नेः । घासः । अपाम् । गर्भः । याः । रोहन्ति । पुनःनवाः ।

ध्रुवाः । सहस्रज्जात्रीः । भेषजीः । सन्तु । आऽभृताः ॥ ८ ॥

जल जिनका गर्भ है और जो अग्निही भक्ष्य हैं तथा चार-
म्बार नवीनरूपमें उत्पन्न होती हैं, इस प्रकार (गुणतः) स्थिर
रहने वाली, सहस्रों नाम वाली औषधियें यहाँ लाई हुई हों =
अवकोल्वा उदकात्मान औषधयः ।

व्युपन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्य ॥ ९ ॥

अवकऽउल्वाः । उदकऽआत्मनः । औषधयः ॥ ९ ॥

वि । व्युपन्तु । दुःऽदृत्तम् । तीक्ष्णऽशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

जल ही जिनका आत्मा है, सिवार जिनका गर्भवेष्टन है, उग्र
गंध वाले शृंगाकार दो पल जिनमें होते हैं ऐसी औषधियें
(रोगरूप) पापको नष्ट करें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विपदूषणीः ।

अथो वलासनाशनीः कृत्यादूपणीश्च यास्ता इहा
यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥

उन्मुञ्चन्तीः । विवरुणाः । उग्राः । याः । विपदूषणीः ।

अथो इति । वलासनाशनीः । कृत्यादूपणीः । च । याः । ताः ।

इह । आ । यन्तु । औषधीः ॥ १० ॥

रोगसे उन्मुक्त करने वाली, झूठ बोलने पर होनेवाले बहण-
वर्तुजलोदर आदि रोगोंसे रक्षित करने वाली, रोगका प्रभाव
दूर करनेमें प्रचण्ड, विष तो दूर करने वाली और बलक्षय करने

वाले कफरोगका नाश करने वाली और कृत्याओंको दूषित करने वाली औपधियें यहाँ आवें ॥ १० ॥ (१७)

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।

त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अपक्रीताः । सहीयसीः । वीरुधः । याः । अभिस्तुताः ।

त्रायन्ताम् । अस्मिन् । ग्रामे । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । पशुम्

खरीदी हुई नहीं किंतु स्वयं लाई हुई रोगोंको दवाने वाली, मन्त्रोंसे स्तुत जो औपधियें हैं वे इस ग्राममें गौ अश्व पुरुष और पशुकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां वभूव
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृत-
तस्य भक्तो घृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

मधुमत् । मूलम् । मधुमत् । अग्रम् । आसाम् । मधुमत् ।

मध्यम् । वीरुधाम् । वभूव ।

मधुमत् । पर्णम् । मधुमत् । पुष्पम् । आसाम् । मधोः ।

समभक्ताः । अमृतस्य । भक्तः । घृतम् । अन्नम् । दुहताम् ।

गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

इन वीरुधोंका मूल मधुमय होता है अग्रभाग और मध्यभाग भी मधुमय होता है, इनका पत्ता मधुमय-रोग दूर करनारूप मिष्ट फलको देने वाला होता है, और इनका पुष्प भी मधुमय

होता है उस मधुका सेवन करने वाला अमृतका भक्षक होता है
नीरोग रहता है-पुत्र पौत्र आदि रूपमें अमर रहता है. वह पुरुष
गौको आगे रख कर घृत और अन्नको दुहता रहे ॥ १२ ॥

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योपधीः ।

ता मां सहस्रपण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावतीः । कियतीः । च । इमाः । पृथिव्याम् । अधि । औपधीः ।

ताः । मा । सहस्रपण्योः । मृत्योः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १३ ॥

पृथिवीमें जितनी भी औपधियें हैं वे अनन्त पत्तों वाली औप-
धियें मुझे मृत्युदायक पापसे मुक्त करें ॥ १३ ॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः ।

अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वाधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

वैयाघ्रः । मणिः । वीरुधाम् । त्रायमाणः । अभिशस्तिपाः ।

अमीवाः । सर्वा । रक्षांसि । अप । हन्तु । अधि । दूरम् । अस्मत् ॥

औपधियोंसे रक्षित यह वैयाघ्रमणि आरोपित रोगरूप पापों
से रक्षा करने वाला है, वह रोग और राजसोंको हमसे दूर
लेजाकर नष्ट कर डाले ॥ १४ ॥

सिंहस्यैव स्तनयोः सं विजन्तेभेरिव विजन्त आभृ-
ताभ्यः ।

गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्धिरतिनुत्तो नाव्या एतु
स्रोत्याः ॥ १५ ॥

सिंहस्यऽइव । स्तनयोः । सम् । विजन्ते । अग्नेऽइव । विजन्ते ।

आऽभृताभ्यः ।

गवाम् । यचमः । पुरुषाणाम् । वीरुत्ऽभिः । अतिऽनुत्तः । नाव्याः ।

एतु । स्रोत्याः ॥ १५ ॥

सिंहकी दहाइसे प्राणी जिस प्रकार उद्विग्न होने लगते हैं और अग्निसे जिस प्रकार घबड़ाने लगते हैं तैसे ही इन लार्ड हुई औषधियोंसे खेदड़ा हुआ पशुओंका और पुरुषोंका रोग नौका से तरने योग्य नदीके पार चला जावे ॥ १५ ॥

मुमुक्षाना औषधयोश्चैवैश्वानरादधि ।

भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

मुमुक्षानाः । औषधयः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ।

भूमिम् । सम्ऽतन्वतीः । इत । यासाम् । राजा । वनस्पतिः १६

जिनका राजा वनस्पति है और जो भूमिको आच्छादित कर लेती हैं ऐसी ये रोगसे मुक्त करने वाली औषधियें वैश्वानर अग्निसे भी श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।

ता नः पयस्वतीः शिवा औषधीः सन्तु शं हृदे १७

याः । रोहन्ति । आङ्गिरसीः । पर्वतेषु । समेषु । च ।

ताः । नः । पयस्वतीः । शिवाः । औषधीः । सन्तु । शम् । हृदे १७

महर्षि अंगिराकी वर्णित जो औषधियें पर्वतोंमें और सम-

स्यानोंमें उत्पन्न होती हैं वे दुग्धकी समान सारमयीं कल्याण-
कारिणी औपधियें हमारे हृदयको सुख देने वाली होयें ॥१७॥

याश्चाहं वेदं वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।

अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् १८

याः । च । अहम् । वेद । वीरुधः । याः । च । पश्यामि । चक्षुषा ।

अज्ञाताः । जानीमः । च । याः । यासु । विद्म । च । सम्भृतम्

जिन औपधियोंको मैं जानता हूँ और जिनको मैं नेत्रसे देख
रहा हूँ । और जिन अज्ञात औपधियोंको दृष्टि जानें और इनमें
इन २ रोगोंको दूर करनेका तत्व भरा हुआ है इस रूपमें हम
जिन औपधियोंको जानते हैं ॥ १८ ॥

सर्वा समग्रा ओपधीवोधन्तु वचसो मम ।

यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

सर्वाः । सम्मग्राः । ओपधीः । बोधन्तु । वचसः । मम ।

यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुःऽऽतात् । अधि ॥१९॥

वे समग्र औपधियें मेरे वचनको जान लें, कि-जिस प्रकार मैं
इस पुरुषको रोगरूप पापके पार पहुँचा सकूँ (तैमा करूँ) १९

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हवि ।

व्रीहिर्यवश्च भेषजो दिवस्पुत्रावर्मत्यौ ॥ २० ॥

अश्वत्थः । दर्भः । वीरुधाम् । सोमः । राजा । अमृतम् । हविः ।

व्रीहिः । यवः । च । भेषजौ । दिवः । पुत्री । अर्मत्यौ ॥ २० ॥

अश्वत्थ औपधियोंका दर्भ है, सोम राजा है, अमृत हवि (भक्ष्य पदार्थ) है, धान और जौ औपधियों हैं ये दोनों अन्तरिक्षके पुत्र हैं अन्तरिक्षमेंसे वृष्टिके द्वारा होते हैं। और अमर्त्य हैं ॥ २० ॥ (१८)

उज्जिंहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।

यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

उत् । जिंहीध्वे । स्तनयति । अभिक्रन्दति । ओषधीः ।

यदा । वः । पृश्निमातरः । पर्जन्यः । रेतसा । अवति ॥ २१ ॥

हे औपधियों ! जब (विजली) कड़कती है (मेघ) गरजता है और वायु तथा पर्जन्य वर्षारूप वीर्यसे तुम्हारी रक्षा करता है तब तुम अनेक प्रकारसे चलती-हिलती-हो ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं वलं पुरुषं पाययामसि ।

अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

तस्य । अमृतस्य । इमम् । वलम् । पुरुषम् । पाययामसि ।

अथो इति । कृणोमि । भेषजम् । यथा । असत् । शतहायनः २२

जस औपधिसमूहके अमृत रूप बलको हम इस पुरुषको पिलाते हैं इस प्रकार मैं इसकी औपधिको करता हूँ, जिस प्रकार ये सौ वर्षका हो जाय ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।

सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अत्रसे हुवे २३

वराहः । वेदः । वीरुधम् । नकुलः । वेदः । भेषजीम् ।

सर्पाः । गन्धर्वाः । याः । विदुः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २३

वराह जिन लताओंको जानता है, और नीला जिस औपधिको जानता है तथा सर्प और गंधर्व जिन औपधियोंको जानते हैं उनका हम इस रूप पुरुषकी रक्षाके लिये आह्वान करते हैं ॥ २३ ॥

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।

वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।

मृगा या विदुरोपधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

याः । सुपर्णाः । आङ्गिरसीः । दिव्याः । याः । रघटः । विदुः ।

वयांसि । हंसाः । याः । विदुः । या । च । सर्वे । पतत्रिणः ।

मृगाः । याः । विदुः । ओपधीः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २४

जितनी सुन्दर पत्तोंवाली औपधियोंका अंगिरा मुनिने प्रयोग किया है, और जिन दिव्य औपधियोंको रघट जानते हैं पत्ती और हंस जिन औपधियोंको जानते हैं और जिनको सकल पत्ती जानते हैं और पशु भी जिन औपधियोंको जानते हैं उन सकल औपधियोंका मैं इसकी रक्षाके लिये आह्वान करता हूँ ॥ २४ ॥

यावतीनामोपधीनां गावः प्राश्रन्त्यध्व्या यावतीनाम-

जावयः ।

तावतीस्तुभ्यमोपधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

यावतीनाम् । औपधीनाम् । गावः । म॒ञ्ज॒श्र॒न्ति । अ॒घ्न्याः ।

यावतीनाम् । अ॒ज॒अ॒वयः ।

तावतीः । तुभ्यम् । औपधीः । शर्म । य॒ञ्ज॒न्तु । आ॒ऽधु॒नाः २५

जितनी औपधियोंको अवध्य गौएँ (रोगनिवृत्ति के लिये) खाती हैं और जिनको भेड़ बकरियों खाती हैं, लाई हुई वे सब औपधियें तुम्हें कल्याण दें ॥ २५ ॥

यावतीषु मनुष्या) भेषजं भिषजो विदुः ।

तावतीर्विश्वभेषजीरा भ्रामि त्वामभि ॥ २६ ॥

यावतीषु । म॒नु॒ष्याः) । भे॒ष॒जम् । भि॒ष॒जः । वि॒दुः ।

तावतीः । वि॒श्व॒भे॒ष॒जीः । आ । भ्र॒ामि । त्वाम् । अ॒भि २६

लताओंमेंसे जितनी लताओंमें वैद्य औपधिको जानते हैं उन सकल औपधियोंको हम कल्याण करनेके लिये तेरे सम्मुख ला चुके हैं ॥ २६ ॥

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।

संमातरं इव दुहामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

पुष्पवतीः । प्र॒सू॒मतीः । फ॒लिनीः । अ॒फ॒लाः । उ॒त ।

सं॒मा॒तरः) इ॒व । दु॒हाम् । अ॒स्मै । अ॒रि॒ष्ट॒ता॒तये ॥ २७ ॥

पुष्प वाली, (नीरोगताके) प्रसव वाली, फल वाली और फलरहित औपधियें इस पुरुषका कल्याण करनेके लिये आरोग्य-फलको दुहें ॥ २७ ॥

उत त्वाहापं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।

अथो यमस्य पद्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिन्विपात्

उत् । त्वा । अहापम् । पञ्चशलात् । अथो इति । दशशलात् । उत ।

अथो इति । यमस्य । पद्वीशात् । विश्वस्मात् । देवकिन्विपात्
इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे रोगिन् ! मैंने (मन्त्रशक्तिसे) तुम्हको पाँचशलाका चाले और दश शलाका चाले काठके पादबंधनसे यमदेवके पादबंधनसे अधिक क्या सम्पूर्ण देवताओंका अपराध करने पर भोगने पड़ने चाले पादबंधनरूप रोगसे उद्धृत कर लिया है ॥ २८ ॥ (१९)

चतुर्थ अनुवाकमे प्रथम सूक्त समाप्त ॥ (४४५)

“इन्द्रो मन्थतु” इति अर्थसूक्तस्य शत्रुक्षयशत्रुभयनाशनशत्रु-जयस्वकीयबलवर्धनकर्मसु त्रिनियोगः । तानि कर्माणि सेनाकर्माणि नाम भवन्ति । तत्र सेनाग्निसिद्धयर्थं “पूतिरज्जुः” [२] इत्यर्धर्चेन अग्निपातदेशे जीर्णा रज्जुम् अवधाय अश्वत्थवधकयोर्नाम पिप्पलकरिमालकयोः काष्ठयोः “इन्द्रो मन्थतु” इति ऋचा अग्निं मन्थति । धूमं दृष्ट्वा अग्निपदरहितेनार्धर्चेन अनुमन्त्रयते । “अग्निं परादश्य” [२] इत्यादिनार्धर्चेन धूमपदरहितेन अग्निम् अनुमन्त्रयते । तादृशोर्गो सेनाकर्माणि स्युः । तान्येवम् ।

“इन्द्रो मन्थतु” इति सूक्तेन प्रत्यृचम् अश्वत्थसमिध आदधाति । शत्रुक्षयो भवति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं करिमालकसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचम् एरण्डसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं पलाशासमिध आदधाति । तिष्ठि-समिध इति केशवः ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं खदिरसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं शरसमिध आदधाति ॥ शत्रुभयं न भवति । कर्मविकल्पः ॥ सपत्नक्षयणी समाप्ता ॥

तथा अभ्यातानान्तं कृत्वा अनेन सूक्तेन भाङ्गपाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । सर्वत्र क्रुद्धेनाभिमन्त्रणं पाशादिषु । तत उत्तरतन्त्रम् ॥

तथा तन्त्रं कृत्वा अनेन सूक्तेन मौञ्जान् पाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । तन्त्रं च ॥

तथा अनेन सूक्तेन वाधकदण्डानि आश्वत्थानि कूटानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥

तथा अनेन सूक्तेन वाधकदण्डानि भाङ्गानि जालानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥ समाप्तानि जयकर्माणि ॥

उक्तेषु सर्वकर्मसु अङ्गभूतानि वक्ष्यमाणानि त्रीणि कर्माणि भवन्ति । “स्वाहैभ्यः” [२४] इति पदद्वयेन स्वमित्त्रवल्लङ्घ्यर्थम् आज्यं जुहोति दक्षिणहस्तेन वाधककाष्ठप्रज्वालितेग्नौ । “दुराहामीभ्यः” [२४] इति पदद्वयेन परबलविनाशार्थं सव्येन हस्तेन इक्षिडं जुहोत्युक्ताग्नौ । कर्माग्नेरुत्तरस्मिन् देशे रक्तपिप्पलशाखां भूस्युदरे ऊर्ध्वा कृत्वा नीललोहितवर्णाभ्यां सूत्राभ्यां सर्वां वेष्टयित्वा “नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि” [२४] इत्यनेन दक्षिणा दूरे प्रकर्षेण त्याजयति ॥

सेनाकर्माणि श्ररण्ये कार्याणि न ग्रामे । युद्धप्रदेशे वा यथाप्रसङ्गम् तद् उक्तं कौशिकेन । “इन्द्रो मन्यत्विति पूतिरञ्जुरिति पूतिरञ्जुम् अवधायार्श्वत्यवधकयोरग्निं मन्यति । धूमम् इति धूमम् अञ्जुमन्त्रयते । अग्निम् इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सपत्नक्षयणीरादधाति अश्वत्थवधकृताजङ्गहाहखदिरशराणाम् । उक्ताः पाशाः । आश्वत्थानि कूटानि भाङ्गानि जालानि वाधकदण्डानि । स्वाहैभ्य इति

मित्रेभ्यो जुहोति दुराहामीभ्य इति सव्येनेद्भिदम् अमित्रेभ्यो वाधके । उत्तरतोऽग्नेर्लोहिताश्वत्थस्य शाखां निहत्य नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां परित्यज्य नीललोहितेनामून् इति दक्षिणा प्रहावयति” इति [कौ० २, ७] ॥ ताजद्भ्रू परण्डः । कूटं निपादानां प्राणिवन्धनम् ॥ आहः पलाश इति दारिलः । तिष्ठिरिति केशवः । वृक्षविशेषपर्यायार्थे आहपदं सूत्रेऽपपाठो न चेत् प्राक्तनेन प्रमादेन भवितव्यम् । परण्ड इत्येव नाम्ना भवितव्यम् सूक्ते परुपाहपददर्शनात् । परुपाहः परुप इति आहा यस्य स इति विग्रहः ॥

“इन्द्रो मन्यतु” इस अर्थसूक्तका शत्रुक्षय, शत्रुभयनाश शत्रुजय और अपने बलको बढ़ानेमें विनियोग किया जाता है । ये कर्म सेनाकर्म कहलाते हैं । इनमें सेनाग्निसिद्धिके लिये “पूतिरञ्जुः” इस दूसरी आधी ऋचासे अग्निपातदेशमें जीर्ण रञ्जुको रख कर पीपल और करिमालक काष्ठोंमें “इन्द्रो मन्यतु” ऋचासे अग्नि को मथे । धूमको देखकर अग्निपदरहित शेष आधी ऋचासे अनुमन्त्रण करे । “अग्निं परादृश्य” (२) इस धूमपदरहित अर्थच से अग्निका अनुमन्त्रण करे । और ऐसे अग्निमें सेनाकर्म करे । ये कर्म ये हैं ।

“इन्द्रो मन्यतु” इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर अश्वत्थकी समिधाओंको रखे । ऐसा करनेसे शत्रुका क्षय होता है ।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर करिमालककी समिधाओंको रखे ।

तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे अण्डकी समिधाओंको रखे ।

तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे पलाशकी समिधाओंको रखे । केशवका मत है, कि—तिष्ठिसमिधाओंको रखे ।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर सैणिकी समिधाओंको

रक्खे तो शत्रुका भय नहीं होता यहाँ कर्मका विकल्प है । यह शत्रुक्षयिणी विधि पूर्ण हुई ।

तथा अभ्यातान तक करके इस सूक्तसे भंगके पाशोंको संपातित करके और अभिमन्त्रित सेनाके चलनेके मार्गमें डाल देय । पाश आदि सबका क्रोधमें भरकर अनुमन्त्रण करे । इसके बाद उत्तर तन्त्र होता है ।

इसी प्रकार तन्त्रको करके इस सूक्तसे मूँजके पाशोंको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके पादसञ्चारस्थलमें बखेर देय । तन्त्र भी करे ।

तथा इस सूक्तसे बाधक दण्डोंको, पीपलके काष्ठको और निपादोंके प्राणिवंधनको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके सञ्चारस्थलमें बखेर देय । ये जय कर्म समाप्त होगए ।

पूर्वोक्त सब कर्मोंमें अङ्ग भूत तीन कर्म होते हैं । वे तीन कर्म ये हैं, कि—“स्वाहैभ्यः” (२४) इन दो पदोंसे अपने मित्रके बलकी वृद्धि करनेके लिये बाधक-काष्ठसे प्रज्वालित अग्निमें दाहिने हाथसे घृतकी आहुति देय । “दुराहामीभ्यः” (२४) इन दो पदोंसे शत्रुके बलका विनाश करनेके लिये पूर्वोक्त अग्नि में बायें हाथसे इंगिहकी आहुति देय । कर्माग्निमें उत्तर देशमें लाल पीपलकी शाखाकी भूमिरूप उदरमें ऊपरको करके लाल और नीले डोरोंसे सारी शाखाको लपेटे । फिर “नीललोहितेनामू-नभ्यवतनोमि” (२४) से दक्षिण दिशामें दूर फिकवा देय ।

सेनाकर्मोंको जङ्गलमें करावे, ग्राममें न करावे । वा प्रसङ्गानु-सार युद्धप्रदेशमें करावे ॥

इसी बातको कौशिकमूत्रमें कहा है, कि—“इन्द्रो मन्यत्विति पूतिरञ्जुरिति पूतिरञ्जुं अवधायारवत्थवधकयोरग्निं मन्यति । धूमं इति धूमं अनुमन्त्रयते अग्निं इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सपत्नक्ष-

यणी रादधाति अश्वत्यवधक ताजद्भ्राह्मखरिर शराणाम् । उक्ताः
पाशाः । आश्वत्यानि कूटानि भांगानि जालानि वाधकदण्डानि ।
स्वाहैभ्य इति मित्रेभ्यो जुहोति । दुराहामीभ्य इति सव्येनेद्रिडम्
अमित्रेभ्यो वाधके । उत्तरतोऽप्रेर्लोहितारश्वत्यस्य शाखां निहत्य
नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां परितत्य नीललोहितेनामून् इति
दक्षिणा प्रहावयति” (कौशिकसूत्र २ । ७) ॥ सूत्रके ताजद्-
भंगका अर्थ एरण्ड है । कूटका अर्थ निपादोंका प्राणिवंधन है ।
दारिलका मत है, कि-आह पलाशको कहते हैं । और केशवका
मत है, कि-तिणिको कहते हैं ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः ।

यथा हनाम सेनां अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

इन्द्रः । मन्थतु । मन्थिता । शक्रः । शूरः । पुरम्न्दरः ।

यथा । हनाम । सेनाः । अमित्राणाम् । सहस्रशः ॥ १ ॥

पुरन्दर इन्द्रदेव शूर और समर्थ हैं तथा शत्रुओंकी सेनाओं
को मयने वाले हैं (वह इन्द्रदेव हममें अधिष्ठित होकर) अग्नि
को मर्थे, जिससे, कि-हम शत्रुओंकी सेनाओंको अनेक प्रकारसे
मार सकें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुर्ध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।

धूममग्निं परादृश्यामित्रां हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥

पूतिरज्जुः । उवध्मानीः । पूतिम् । सेनाम् । कृणोतु । अमूम् ।

धूमम् । अग्निम् । परादृश्य । अमित्राः । हृत्सु । आ । दधताम् ।
भयम् ॥ २ ॥

अग्नि संयोग वाली पूतिरज्जु जीर्णरस्ती) इस सेनाको जीर्ण करे । धूमको और अग्निको देखकर शत्रु हृदयमें डरने लगे । २।

अमूनश्चत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।

ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्तेनान् वधको वधैः । ३।

अमून । अश्चत्थ । निः । शृणीहि । खाद । अमून । खदिर ।
अजिरम् ।

ताजद्भङ्गः इव । भज्यन्ताम् । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः । ३।

हे अश्चत्थ ! तू इन शत्रुओंको मारडाल और हे खदिर ! तू इन शत्रुओंमेंसे प्रत्येक गमनशील शत्रुको खाजा । ये ताजद्भंग (एरण्ड) की समान टूट जावें और वधक काष्ठ इनको प्रहारों से मार डाले ॥ ३ ॥

परुपानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्तेनान् वधको वधैः ।

क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥

परुपान् । अमून । परुषऽआह्वः । कृणोतु । हन्तु । एनान् ।
वधकः । वधैः ।

क्षिप्रम् । शरः इव । भज्यन्ताम् । बृहत्जालेन । समुदिताः ४

परुष नामक वस्तु इनको परुष-प्राणहीन होनेसे अकड़े हुए कठोर-करे और वधक काष्ठ हिंसाके उपायोंसे इनको मारडाले । और जैसे बड़े भारी जालसे तोड़े हुए शर टूट जाते हैं विसी प्रकार शत्रु टूट जावें ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम् । जालम् । आसीत् । जालदण्डाः । दिशः । महीः ।

तेन । अभिधाय । दस्यूनाम् । शक्रः । सेनाम् । अप । अवपत्

अन्तरिक्ष जाल हुआ था और महीय दिशाएँ जालकी दण्डरूप हुई थी उससे दस्युओंकी सेनाको धारण करके इन्द्रने उनका खण्डन कर डाला था ॥ ५ ॥

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।

तेन शत्रून्भि सर्वान् न्युञ्ज यथा न मुच्यातै कत-

मश्चनैषाम् ॥ ६ ॥

बृहत् । हि । जालम् । बृहतः । शक्रस्य । वाजिनीवतः ।

तेन । शत्रून् । अभि । सर्वान् । नि । उञ्ज । यथा । न । मुच्यातै ।

कतमः । चन । षाम् ॥ ६ ॥

दधिपुक्त यज्ञक्रिया वाले महान् इन्द्रदेवका (शत्रुओंको पकड़नेका) जाल विशाल है, हे इन्द्र ! उससे आप शत्रुओंको आधि मुख करके गिराइये जिससे इन शत्रुओंमेंसे कोई न छूट सके ॥ ६ ॥

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्धस्य शतवीर्यस्य

तेन शतं सहस्रमयुनं न्युर्विदं जघानं शक्रो दस्यू-

नामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥

बृहत् । ते । जालम् । बृहतः । इन्द्र । शूर । सहस्रऽअर्घस्य ।

शतऽवीर्यस्य ।

तेन । शतम् । सहस्रम् । अयुतम् । निऽअर्बुदम् । जघान । शक्रः ।

दस्यूनाम् । अभिऽधाय । सेनया ॥ ७ ॥

हे शूर इन्द्र ! यज्ञोंमें सहस्रों अर्घ्य पाने वाले, सैंकड़ों पराक्रम करने वाले आपका जाल (वैरियोंको फँसानेकी शक्ति) विशाल है । इन्द्रदेवने सेनाके द्वारा उसी जालसे वैरियोंको पकड़ कर सैंकड़ों हजारों लाखों और अर्बुदों दस्युओंको मार डाला था ७

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।

तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥

अयम् । लोकः । जालम् । आसीत् । शक्रस्य । महतः । महान् ।

तेन । अयम् । इन्द्रजालेन । अमून् । तमसा । अभि । दधामि ।

सर्वान् ॥ ८ ॥

महिमामय इन्द्रदेवका यह महान् लोक ही विशाल जाल है मैं उस इन्द्रजालसे इन सब वैरियोंको अंधकारसे आच्छादित करता हूँ ८

सेदिरुग्रा व्युद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।

श्रमस्तन्द्नीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥ ९ ॥

सेदिः । उग्रा । विऽव्युद्धिः । आर्तिः । च । अनपऽवाचना ।

श्रमः । तन्द्नीः । च । मोहः । च । तैः । अमूम् । अभि । दधामि ।

सर्वान् ॥ ९ ॥

निर्घृति राक्षसी, भयंकर व्युद्धि, आर्ति, अनपवाचना-अवश्य होने वाली निन्दा, श्रम तन्द्रा तथा मोह इनसे मैं उन शत्रुओंको नष्ट करता हूँ ॥ ९ ॥

मृत्युवेमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।

मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि वद्ध्वा

मृत्यवे । अमून् । प्र । यच्छामि । मृत्युऽपाशैः । अमी इति । सिताः ।

मृत्योः । ये । अघलाः । दूताः । तेभ्यः । एनान् । प्रति । नयामि ।

वद्ध्वा ॥ १० ॥

मैं इन शत्रुओंको मृत्युके अर्पण करता हूँ, ये मृत्युके पाशसे बंध गये हैं, दुःख देने वाले मृत्युके जो दूत हैं उनकी ओर मैं इन शत्रुओंको (मन्त्रशक्तिसे) बाँध कर लिये जाता हूँ १० (२०)

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।

परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेद्वेनान् मर्त्यं भवस्य ११

नयत । अमून् । मृत्युऽदूताः । यमऽदूताः । अप । उम्भत ।

परःसहस्राः । हन्यन्ताम् । तृणेद्वे । एनान् । मर्त्यम् । भवस्य ११

हे मृत्युदूतों ! तुम इनको खेजाओ और हे यमदूतों ! (इनसे तुम नरकोंको) पूर्ण करो, फिर इनके सहस्रों (सैनिकों) को मार डालो । और महादेवका मननीय संहार इनको मार डाले ११ साध्या एकं जालदग्दमुद्यत्यं यन्त्योजसा ।

रुद्रा एकं वसंव एकमादित्येस्क उद्यंतः ॥ १२ ॥

साध्याः । एकम् । जालदण्डम् । उत्थ्यत्य । यन्ति । ओजसा ।

रुद्राः । एकम् । वसवः । एकम् । आदित्यैः । एकः । उत्थ्यतः

साध्यदेवता एक जालदण्डको उद्यत कर बलपूर्वक शत्रुओं पर जा रहे हैं । तथा रुद्र-देवता एक जालदण्डको, वसुदेवता एक जालदण्डको उठा रहे हैं और आदित्योंने एक जालदण्ड को उठा लिया है ॥ १२ ॥

विश्वं देवा उपरिष्ठादुजन्तो यन्वोजसा ।

मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

विश्वे । देवाः । उपरिष्ठात् । उजन्तः । यन्तु । ओजसा ।

मध्येन । घ्नन्तः । यन्तु । सेनाम् । अङ्गिरसः । महीम् ॥ १३ ॥

अतः अब विश्वेदेवता भी ऊपरसे ही बलपूर्वक मारते हुए चले और रुद्रदेवता मध्यमें सेनाको मारकर पृथ्वी पर डाल दें १३

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोपधीरुत वीरुधः ।

द्विषाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । औपधीः । उत । वीरुधः ।

द्विष्पात् । चतुःष्पात् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूं । हनन् ।

मैं वनस्पतियोंको और वनस्पतिसे बनने वाली औपधियोंको तथा लताओंको तथा दो पैर और चार पैरों वाले (जीवों)को (मन्त्रशक्तिसे) अनवरत प्रेरित करता हूँ, जिससे ये इस सेना को मार डालें ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टान्दृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हन्न् ॥ १५ ॥

गन्धर्वश्चाप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्यजनान् । पितॄन् ।
दृष्टान् । दृष्टान् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूं । हन्न् ॥ १५ ॥

मैं गन्धर्व अप्सरा सर्प देवता राजस और देखे हुए तथा न
देखे हुए पितरोंको (मन्त्रशक्तिसे) इस प्रकार प्रेरित करता हूँ,
कि-जिस प्रकार वे इस सेनाको नष्ट कर डालें ॥ १५ ॥

इम उसा मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्यां हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

इमे । उसाः । मृत्युपाशाः । यान् । आक्रम्य । न । मुच्यसे ।
अमुष्याः । हन्तु । सेनायाः । इदम् । कूटम् । सहस्रशः ॥ १६ ॥

हे शत्रो ! जिनको लाँचने पर तू बच न सके ऐसे ये सहस्रों
मृत्युपाश लगा दिये हैं, यह कूट इस शत्रुसेनाको सहस्रों प्रकार
से मारे ॥ १६ ॥

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृथिव्याहुश्च शर्वं सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

घर्मः । समिद्धः । अग्निना । अयम् । होमः । सहस्रहः ।
भवः । च । पृथिव्याहुः । च । शर्वं । सेनाम् । अमूं । हतम् ॥ १७ ॥

घर्म नामक इति अग्निसे भली प्रकार तप रहा है, यह होम

सहस्रौ शत्रुघ्नोऽङ्गो मारुतेऽङ्गो शक्ति रत्नता है । श्वेत भुजा वाले भव और शर्व देवताओं आप इस सेनाको मार डालिये ॥१७॥

मृत्योराषमा पद्यन्तां जुधं सेदिं वधं भयम् ।

इन्द्रश्चाञ्जुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

मृत्योः । आषम् । आ । पद्यन्ताम् । जुधम् । सेदिम् । वधम् । भयम् ।

इन्द्रः । च । अञ्जुजालाभ्याम् । शर्व । सेनाम् । अमूंम् । हतम् १८

ये शत्रु मृत्युके (आप-आस्य) मुखको प्राप्त होंवे, जुधाको, अवसाद करने वाली अलक्ष्मी सेदिको, वध और भयको प्राप्त होंवे । इन्द्र देवता और हे शर्वदेवता ! आप भी इस सेनाको मार डालिये ॥ १८ ॥

पराजिताः प्र असतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।

बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

पराजिताः । प्र । असता । अमित्राः । नुत्ताः । धावत । ब्रह्मणा ।

बृहस्पतिप्रणुत्तानाम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन १९

हे शत्रुघ्नो ! तुम मन्त्रशक्तिसे पराजित होजाओ, अस होओ और इस मन्त्रशक्तिके खदेड़ने पर भागनेलगे । बड़े २ मन्त्रोंके अधिष्ठात्री देवता बृहस्पतिसे खदेड़े हुए इन शत्रुघ्नोसे कोई भी न छूटने पावे ॥ १९ ॥

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।

अथेषां बहु विभ्यतामिषवो धनन्तु मर्मणि ॥ २० ॥

अ॒र । प॒थन्ता॑म् । ए॒पाम् । आ॒यु॒धानि॑ । मा । श॒क॒न् । प्र॒ति॒स्थाम् ।
इ॒ष्टुम् ।

अथ । ए॒पाम् । व॒हु । वि॒भ्य॑ताम् । इ॒प॒वः । प्र॒न्तु॑ । म॒र्म॒णि २०

इन शत्रुओंके आमुध नीचेकी गिर पड़ें, ये बाणको फिर धनुष पर चढ़ानेको समर्थ न होसकें । फिर इन परम भयभीत होते हुएओंके मर्मस्थलमें बाण चोट करें ॥ २० ॥

सं क्रो॑शतामे॒नान् द्यावा॑पृथि॒वी सम॒न्तरि॑क्षं॒ सह
दे॒वता॑भिः ।

मा ज्ञा॑तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त॒ मिथो॑ वि॒घ्नाना॑ उप
यन्तु॑ मृ॒त्युम् ॥ २१ ॥

सम् । क्रो॑शताम् । ए॒नान् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । सम् । अ॒न्तरि॑क्षम् ।
सह । दे॒वता॑भिः ।

मा । ज्ञा॑तारम् । मा । प्र॒ति॒स्थाम् । वि॑दन्त॒ मिथः॑ । वि॒घ्नानाः॑ ।
उप । यन्तु॑ । मृ॒त्युम् ॥ २१ ॥

द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष और देवता इनको शाप दें तब ये शत्रु प्रतिष्ठाको न पाते हुए और किसी अथर्ववेदके ज्ञाताको न पाते हुए परस्परमें ही विघ्न डालते हुए मृत्युको प्राप्त होजावें २१

दिश॑श्च॒तस्रो॑श्च॒तयो॑ दे॒वस्थस्य॑ पु॒रोडा॑शाः श॒फा
अ॒न्तरि॑क्षमु॒द्भिः ।

द्यावापृथिवी पक्ष्सी ऋतवोभीशवोन्तदेशाः किंकरा
वाक् परिस्थम् ॥ २२ ॥

दिशः । चतस्रः । अश्वतर्यः । देवऽरथस्य । पुरोडाशाः । शफाः ।
अन्तरिक्षम् । उद्धिः ।

द्यावापृथिवी इति । पक्ष्सी इति । ऋतवः । अभीशवः । अन्तःऽदेशाः ।
किंकराः । वाक् । परिऽस्थम् ॥ २२ ॥

अग्निदेवरथकी चार दिशाएँ ही खिच्चरियेँ हैं, पुरोडाश ही
सुम है, अन्तरिक्ष ही उद्धि-ऊपर रहनेका स्थान-है, द्यावापृथिवी
पक्ष्सी हैं, ऋतुएँ लगामेँ हैं, अन्तदेश ही किंकर हैं, और वाणी
परिस्थ है ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषानी रथमुखम्
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

सम्ऽवत्सरः । रथः । परिऽवत्सरः । रथऽउपस्थः । विराट् ।
ईषा । अग्निः । रथऽमुखम् ।

इन्द्रः । सव्यऽस्थाः । चन्द्रमाः । सारथिः ॥ २३ ॥

इन्द्र बाईँ ओर बैठने वाले हैं, चन्द्रमा सारथि हैं सम्बत्सर
रथ है, परिवत्सर रथकी बैठक है, विराट् ईषा है, अग्नि रथका
मुख है ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।

इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।

नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥

इतः । जय । इतः । वि । जय । सम् । जय । जय । स्वाहा ।

इमे । जयन्तु । परा । अमी इति । जयन्ताम् । स्वाहा । एभ्यः ।

दुराहा । अमीभ्यः ।

नीललोहितेन । अमून् । अभिऽअवतनोमि ॥ २४ ॥

चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति चतुर्थेनुवाकः ॥

हे राजन् ! इधरसे जीत, इधरसे विशेषरूपसे जीत ! जीत जीत ! यह आहुति स्वाहुत हो । हमारे ये यजमान आदि जीतें, और ये शत्रु पराजित होजावें इन मित्रोंकी विजयके लिये यह आहुति स्वाहुत हो और इन शत्रुओंके लिये बुरी प्रकारसे आहुत हो मैं नीले और लाल डोरसे इनको लपेटता हूँ ॥ २४ ॥ (२१)

चतुर्थं अनुवाकमैद्वितीयं सूक्तं समाप्तं ॥ (४४६)

चतुर्थं अनुवाकं समाप्तं ॥

कुतस्ताविति सूक्ते विराडादिविषयः संवादो विचारश्च ॥

“कुतस्तौ” “विराड् वै” इति सूक्ताभ्यां जपं करोति स्वर्गकाम इति विनियोगमाला ॥

‘कुतस्तौ’ सूक्तमें विराट् आदिके विषयका संवाद और विचार है। विनियोगमालामें कहा है, कि—स्वर्गको चाहने वाला ‘कुतस्तौ’ “विराड् वै” सूक्तोंसे जप करे ॥

कुतस्तौ जातौ कंतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कंतमस्याः पृथिव्याः ।

वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि
कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥

कृतः । तौ । जातौ । कतमः । सः । अर्थः । कस्मात् । लोकात् ।

कतमस्याः । पृथिव्याः ।

वत्सौ । विराजः । सलिलात् । उत् । ऐताम् । तौ । त्वा ।

पृच्छामि । कतरेण । दुग्धा ॥ १ ॥

जो विराट्के वत्स हैं वे कहाँसे उत्पन्न हुए हैं, वह समृद्धि-सम्पन्न किस लोक और किस पृथिवीसे प्रकट हुआ है। विराट्के वत्स जलसे उदित हुए हैं, उनका ही विषय मैं आपसे चूभता हूँ आपने उनको किस मार्गसे समझा है (दुहा है) ॥ १ ॥

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं
शयानः ।

वत्सः कामदुघो विराजः स गुहां चक्रे तन्वः पराचैः

यः । अक्रन्दयत् । सलिलम् । महित्वा । योनिम् । कृत्वा ।

त्रिभुजम् । शयानः ।

वत्सः । कामदुघः । विराजः । सः । गुहां । चक्रे । तन्वः ।

पराचैः ॥ २ ॥

जिन्होंने त्रिभुजरूपसे जलमें शयन कर जलको कारण बना कर अपनी महिमासे जलको क्रन्दित कर दिया था, विराट्का

वत्स इच्छाको पूर्ण करने वाला है, उसने प्रत्यङ्मुख गमन करके शरीरकी गुहा बनाई है ॥ २ ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैतद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते
यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥

यानि । त्रीणि । बृहन्ति । येषाम् । चतुर्थम् । वियुनक्ति । वाचम् ।
ब्रह्मा । एतद् । विद्यात् । तपसा । विपश्चित् । यस्मिन् । एकम् ।
युज्यते । यस्मिन् । एकम् ॥ ३ ॥

जो तीन विशाल हैं-महिमामय हैं इनमेंसे (एक) चौथी वाणीको और जिसमें एकाकी होने पर ही पुरुष संगत होसकता है उसको ब्रह्म जाने ॥ ३ ॥

बृहत्ः परि सामानि पष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।

बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

बृहत्ः । परि । सामानि । पष्ठात् । पञ्च । अधि । निःमित्ता ।

बृहत् । बृहत्याः । निःमितम् । कुतः । अधि । बृहती । मिता ४

बृहत्से श्रेष्ठ पाँच साम निर्मित हैं उनसे पष्ठात् निर्मित है, और बृहती-महती घावःपृथिवीने बृहत्को निर्मित किया है तो बृहती कहाँसे मित है ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।

माया हं जज्ञे मायायां मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

बृहती । परि । मात्रायाः । मातुः । मात्रा । अधि । निःश्रिता ।

माया । ह । जज्ञे । मायायाः । मायायाः । मातली । परि ॥ ५ ॥

बृहतीकी मात्रासे माताकी मात्रा अधिनिमित्त है, माया (माता)
से माया उत्पन्न हुई मातलि मायासे उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विववाधे
अग्निः ।

ततः पृष्ठादासुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि
पृष्ठमहः ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य । प्रतिष्ठा । उपरि । द्यौः । यावत् । रोदसी इति ।
विववाधे । अग्निः ।

ततः । पृष्ठात् । आ । असुतः । यन्ति । स्तोमाः । उत् । इता ।
यन्ति । अग्नि । पृष्ठम् । महः ॥ ६ ॥

जहाँ तक आवापृथिवी है तहाँ तक अग्नि वाधा देसकते हैं ।
वैश्वानर अग्निदेवकी प्रतिमा पर ही द्यौ प्रतिष्ठित है अर्थात् अग्नि-
साध्य याग आदि करने पर ही स्वर्गकी प्राप्ति होती है । और
दिनके छटे भागमें स्तोम यहाँसे पृष्ठात्को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥
पद् त्वां पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुत्से

योग्यं च ।

विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा
सखिभ्यः ॥ ७ ॥

पट् । त्वा । पृच्छाम् । ऋपयः । करयप । इमे । त्वम् । हि ।

युक्तम् । युयुक्षे । योग्यम् । च ।

विराजम् । आहुः । ब्रह्मणः । पितरम् । ताम् । नः । वि ।

धेहि । यतिश्वा । सत्विश्वभ्यः ॥ ७ ॥

हे करयप ! आप युक्त और योग्यका उचितरीतिसे योग करना जानते हैं अतः हम छः ऋषि आपसे धूमते हैं, कि-विराट्को ब्रह्माका पिता कहते हैं अतः हम मित्रोंके अर्थ आप उस विराट्का यतियोंकी रीति पर उपदेश दीजिये ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठ-
मानाम् ।

यस्यां व्रते प्रसवे यत्तमेजति सा विराट्पयः परमे
व्योमिन् ॥ ८ ॥

याम् । प्रच्युताम् । अनु । यज्ञाः । प्रच्यवन्ते । उपतिष्ठन्ते ।

उपतिष्ठमानाम् ।

यस्याः । व्रते । प्रसवे । यत्तम् । एजति । सा । विराट् ।

ऋपयः । परमे । विश्वोमन् ॥ ८ ॥

जिस विराट्के प्रच्युत होने पर यह प्रच्यवित होने लागते हैं । और उपतिष्ठित होने पर उपतिष्ठित होते हैं अर्थात् जब पुरुष विराट्की भक्ति करना छोड़ देते हैं तब यज्ञोंका भी करना छोड़ देते हैं और जब विराट्का उपस्थान करते हैं तब यज्ञोंको भी

करते हैं। कर्ममें जिसका (स्तुतिरूपसे) प्रसव होने पर पूज्य-
भाव होने लगता है हे ऋषियों ! वह विराट् परमाकाशमें है । ८।
अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति
पश्चात् ।

विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे
पश्यन्त्येनाम् ॥ ६ ॥

अप्राणा । एति । प्राणेन । प्राणतीनाम् । विराट् । स्वराजम् ।
अभि । एति । पश्चात् ।

विश्वम् । मृशन्तीम् । अभिरूपां । विराजम् । पश्यन्ति । त्वे
इति । न । त्वे इति । पश्यन्ति । एनाम् ॥ ६ ॥

हे ऋषियों ! अप्राणविराट् प्राणन करने वाली प्रजाओंके
प्राणरूपमें आता है, फिर विराट् स्वराट्को प्राप्त होजाता है ।
सबका स्पर्श करते हुए विराट्को पुरुष तुझमें ही देख सकते हैं
(और मायासे मोहित हों तो) तुझमें नहीं देख सकते ॥ ८ ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ
कल्पमस्याः ।

क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्याः
धामं कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥

कः । विराजः । मिथुनत्वं । प्र । वेद । कः । ऋतून् । कः ।

ऊं इति । कल्पम् । अस्याः ।

क्रमान् । कः । अस्याः । कतिष्ठा । विष्दुग्धान् । कः । अस्याः ।

धाम । कतिष्ठा । विष्दुष्टीः ॥ १० ॥

प्रजापति ही विराट्के मिथुनत्व ऋतु और कल्पोंको जानते हैं, वही इसके क्रमोंको विदुग्धोंको धामोंको और तमोविवासनको जानते हैं ॥ १० ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्बधूर्जिगाय नवग-
ज्जनित्री ॥ ११ ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । विष्द्वौच्छत् । आसु । इत-
रासु । चरति । प्रविष्टा ।

महान्तः । अस्याम् । महिमानः । अन्तः । बधूः । जिगाय ।
नवगत् । जनित्री ॥ ११ ॥

यह विराट् उपारूपमें प्रथम उत्पन्न होता है, (इस प्रकार इसका परम महत्व सूचित होता है) यह उपारूपमें सृष्टिकी आदि में उत्पन्न होकर अंधकारको दूर कर चुका है । यह विराटात्मक उपा दीखती हुई दूसरी उपाओंमें प्रविष्ट होकर उदित होती है, ऐसी विराटात्मक उपामें वड़े २ माहात्म्य हैं, सूर्य सोम अग्नि आदि वड़े २ देवता इस विराट्में रहते हैं तात्पर्य यह है, कि— सूर्य आदि इसके अधीन होकर ही प्रकाश करते हैं । यह विराटात्मक उपा सूर्यकी बधू है और यह दिनके नौ भागोंमें जाने वाली नवगत् उपा प्राणियोंको प्रकाशका दान देकर उनको उत्पन्न करती हुई सर्वोत्कृष्ट भावसे वर्तमान रहती है ॥ ११ ॥

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।

सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानतीः केतुमती अजरे भूरिरेतसा

छन्दःपक्षे इति छन्दःऽपक्षे । उषसा । पेपिशाने इति । समानम् ।

योनिम् । अनु । सम् । चरेते इति ।

सूर्यपत्नी इति सूर्यऽपत्नी । सम् । चरतः । प्रजानती इति प्र-

जानती । केतुमती इति केतुऽमती । अजरे इति । भूरिरेतसा

अजर छन्दपक्ष उषःस्वरूप विराट्से रूपके स्पष्ट होने पर एक से ही कारणका अनुसरण करते हैं । सूर्यपत्नी ज्ञानवती उषा अपने प्रकाशरूप बड़े भारी धीर्यसे उनको जानती है ॥ १२ ॥

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः

प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । तिस्रः । आ । अगुः । त्रयः । घर्माः ।

अनु । रेतः । आ । अगुः ।

प्रजाम् । एका । जिन्वति । ऊर्जम् । एका । राष्ट्रम् । एका ।

रक्षति । देवऽयूनाम् ॥ १३ ॥

सत्यके मार्गमें अग्नि सूर्य और चन्द्रमा ये तीन जाते हैं ये तीनों अपने तेजरूप धीर्यके साथ जाते हैं । इनमेंसे एककी शक्ति ऋत्विजोंकी वृत्ति करती है एक बलकी पुष्टि करती है और एक ऋत्विजोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अग्नीपोमांवदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृष्यः
कल्पयन्तः ।

गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदकीं यजमानाय
स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥

अग्नीपोमौ । अदधुः । या । तुरीया । आसीत् । यज्ञस्य । पक्षौ ।
वृष्यः । कल्पयन्तः ।

गायत्रीम् । त्रिऽस्तुभम् । जगतीम् । अनुऽस्तुभम् । बृहत्ऽअकीम् ।
यजमानाय । स्वः । आऽभरन्तीम् ॥ १४ ॥

जो चौथी शक्ति है उसको अग्नि और सोम और ऋषियोंने धारण कर लिया, फिर ऋषियोंने गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्, और यजमानको स्वर्ग देने वाली अकीं और बृहत् इस प्रकार यज्ञके पक्षोंकी कल्पना की ॥ १४ ॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेनं क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीराभि
लोकमेकम् ॥ १५ ॥

पञ्च । विऽवृष्टीः । अनु । पञ्च । दोहाः । गाम् । पञ्चनाम्नीम् ।
ऋतवः । अनु । पञ्च ।

पञ्च । दिशः । पञ्चऽदशेनं । क्लृप्ताः । ताः । एकऽमूर्ध्नीः ।
अभि । लोकम् । एकम् ॥ १५ ॥

पाँच तमोविवासिनी शक्तियोंके अनुकूल पाँच दोह हैं, पञ्च-
नाम्नी गौके अनुकूल पाँच ऋतुएँ हैं । पाँच दिशाएँ पञ्चदशसे
समर्थ होकर किसी एक योगीके निमित्त एकरूप होजाती हैं १५
पद् जाता भूता प्रथमजर्तस्य पद् सामानि पदहं वहन्ति
पदयोगं सीरमनु सामसाम पडाहुर्द्यावापृथिवीः
पदुर्वीः ॥ १६ ॥

पद् । जा॒ता । भू॒ता । प्र॒थ॒म॒ज॒र्त॒स्य॑ । ऋ॒त॒स्य॑ । प॒द् । ऊ॒ँ इति॑ ।

सा॒मा॒नि । प॒द्ऽअ॒हम् । व॒ह॒न्ति॑ ।

प॒द्ऽयो॒गम् । सी॒र॒म् । अ॒नु॒ । सा॒म॒ऽसा॒म॒ । प॒द् । आ॒हुः॑ । द्या॒वा-
पृ॒थि॒वीः । प॒द् । उ॒र्वीः॑ ॥ १६ ॥

ऋतसे पहिले छः प्राणी उत्पन्न हुए, छः साम दिनके छः
भागोंका बहन करते हैं, पदयोग सीरके पीछे सामसाम है, द्यावा-
पृथिवीके और उर्वियोंकेछः भेदोंका वर्णन विद्वान् पुरुष करते हैं १६
पडाहुः शीतान् पद् मास उष्णानृतं नो ब्रूत यत्-
मोतिरिक्तः ।

सप्त सुपर्णाः क्वयो नि पेटुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त
दीक्षाः ॥ १७ ॥

प॒द् । आ॒हुः॑ । शी॒ता॒न् । प॒द् । ऊ॒ँ इति॑ । मा॒साः । उ॒ष्णा॒न् ।

ऋ॒तु॒म् । नः॑ । ब्रू॒त॒ । य॒त्त॒मः॑ । अ॒ति॒ऽरि॒क्तः॑ ।

सप्त । सु॒स्प॒र्णाः । क॒रयः॑ । नि । से॒दुः । स॒प्त । छ॒न्दांसि॑ । अ॒नु ।
स॒प्त । दी॒क्षाः ॥ १७ ॥

छः मासोंको शीतके मास कहने हैं और छः को वष्ण ऋतु कहते हैं, इनके अतिरिक्त और जो हैं उसका हमसे वर्णन करिये ! विद्वान् पुरुष जानते हैं, क्रि-सात सुपर्ण हैं, सात छन्द हैं और सात दीक्षायें हैं ॥ १७ ॥

स॒प्त हो॒माः । स॒मिधो॑ ह॒ स॒प्त म॒धूनि॑ स॒प्त॒र्तवो॑ ह॒ स॒प्त ।
स॒प्ताज्या॑नि॒ परि॑ भू॒तमा॒यन् ताः॑ स॒प्त॒गृध्रा॑ इति॑ शु॒श्रुमा॑-
व॒यम् ॥ १८ ॥

स॒प्त । हो॒माः । स॒म्प॒द्विधः॑ । ह॒ । स॒प्त । म॒धूनि॑ । स॒प्त । ऋ॒तवः॑ ।
ह॒ । स॒प्त ।

स॒प्त । आ॒ज्यानि॑ । परि॑ । भू॒तम् । आ॒यन् । ताः । स॒प्त॒गृध्राः॑ ।
इति॑ । शु॒श्रुम॑ । व॒यम् ॥ १८ ॥

सात होम हैं, सात मधु हैं, सात समिधायें हैं और सात ऋतुएँ हैं, सात प्रकारके घृत पुरुषको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार सात ऋगृध्र वस्तुओंको हमने सुना है ॥ १८ ॥

स॒प्त च्छ॒न्दांसि॑ च॒तुरु॒त्तरा॑ण्य॒न्यो अ॒न्यस्मि॒न्नध्या॑र्षि॒-
तानि॑ ।

कथं॑ स्तो॒माः प्र॒ति ति॑ष्ठन्ति॒ तेषु॑ तानि॒ स्तोमे॑षु क॒थ-
मा॑र्षितानि ॥ १९ ॥

सप्त । छन्दांसि । चतुःऽउत्तराणि । अन्यः । अन्यस्मिन् । अथि ।

आपितानि ।

कथम् । स्तोमाः । प्रति । तिष्ठन्ति । तेषु । तानि । स्तोमेषु ।

कथम् । आपितानि ॥ १६ ॥

सात छन्द हैं, चार उत्तर हैं, एक दूसरेमें अपित हैं, स्तोम उनमें किस प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं और वे स्तोमोंमें किस प्रकार अपित हैं ॥ १६ ॥

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन
कल्पते ।

त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः २०

कथम् । गायत्री । त्रिऽवृतम् । वि । आप । कथम् । त्रिऽस्तुप् ।

पञ्चऽदशेन । कल्पते ।

त्रयःऽत्रिंशेन । जगती । कथम् । अनुऽस्तुप् । कथम् । एकऽविंशः २०

गायत्री त्रिवृतसे किस प्रकार व्याप्त है, और त्रिष्टुप् पञ्चदश से किस प्रकार समर्थ होता है, त्रयस्त्रिंशसे जगती, अनुष्टुप् और एकविंश किस प्रकार समर्थ होता है ॥ २० ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रत्विजो दैव्या ये ।

अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमी रात्रिमभि हव्यमेति २१

अष्ट । जाता । भूता । प्रथमऽजा । ऋतस्य । अष्ट । इन्द्र ।

ऋत्विजः । दैव्याः । ये ।

अष्टऽपोनिः । अदितिः । अष्टऽपुत्रा । अष्टमीम् । रात्रिम् ।

अभि । हव्यम् । एति ॥ २१ ॥

हे इन्द्र! ऋतके आठमुख्य भूत हुए, वे दिव्य आठ ऋत्विज् हैं ।
आठ (दिक्पाल रूप) पुत्र वाली अत एव आठकी कारण
अष्टमीकी रात्रिके दिन हव्यको स्वीकार करती है ॥ २१ ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि
शेवा ।

समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं
चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥

इत्थम् । श्रेयः । मन्यमाना । इदम् । आ । अगमम् । युष्माकम् ।

सख्ये । अहम् । अस्मि । शेवा ।

समानजन्मा । क्रतुः । अस्ति । वः । शिवः । सः । वः । सर्वाः ।
सम् । चरति । प्रजानन् ॥ २२ ॥

इस प्रकार इस शास्त्ररूप कन्याणको मानता हुआ तुम्हारी
मित्रतामें तुम्हारी समान जन्म वाला मैं सुखी हूँ । क्रतु ही तुम्हारा
कन्याण करने वाला है वह तुम सबको जानता हुआ विचरण
करता रहता है ॥ २२ ॥

अष्टेन्द्रस्य पद् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।

अपो मनुष्याश्च नोपधीस्ताँ उपधानुं सेचिरे ॥ २३ ॥

अष्ट । इन्द्रस्य । पद् । यमस्य । ऋषीणाम् । सप्त । सप्तधा ।

अपः । मनुष्यान् । ओषधीः । तान् । ऊं इति । पञ्च । अन् ।
सेचिरे ॥ २३ ॥

इन्द्रकी आठ, यमकी छः और ऋषियोंकी सत्तर औषधियाँ
हैं । उनको और मनुष्योंको पाँच प्रकारके जल सिञ्चन करते हैं ॥ २३

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।

अथातर्पयचतुरश्रतुर्धा देवान् मनुष्याँः असुरानुत

ऋषीन् ॥ २४ ॥

केवली । इन्द्राय । दुदुहे । हि । गृष्टिः । वशम् । पीयूषम् । प्रथ-
मम् । दुहाना ।

अथ । अतर्पयत् । चतुरः । चतुःश्चा । देवान् । मनुष्यान् । असु-
रान् । उत । ऋषीन् ॥ २४ ॥

पहिले दुहाती हुई असाधारण प्रथमप्रसूता गौने कान्तिमय दुग्ध
इन्द्रके निमित्त दूध दुहा फिर देवता मनुष्य असुर और ऋषि
इन चारोंको चार प्रकारसे तृप्त किया ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकःऋषिः किमु धाम का आशिपः ।

यज्ञं पृथिव्यामेकऋदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

कः । नु । गौः । कः । एकःऋषिः । किम् । ऊं इति । धाम ।

काः । आशिपः ।

यज्ञम् । पृथिव्याम् । एकःऋत् । एकःऋतुः । कतमः । नु । सः ।

वह कौनसी गौ है, वह एक ऋषि कौन है, धाम क्या है और आशीर्वादात्मक वचन क्या है, पृथिवीमें एकवृत् ही पूज्य है, वह (मुख्य) एकर्तु कौनसी है ॥ २५ ॥

एको गौरेकं एकऋषिरेकं धामैकधाशिपः ।

यत्तं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

एकः । गौः । एकः । एकऽऋषिः । एकम् । धाम । एकऽधा ।

आऽशिपः ।

यत्तम् । पृथिव्याम् । एकऽवृत् । एकऽऋतुः । न । अति । रिच्यते ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वह एक ही गौ है, एक-मुख्य ऋषि भी एक हैं, एक ही स्थान है और एक ही प्रकारकी आशीप हैं । पृथिवीमें एक वृत् ही पूज्य है और एकर्तु बढ़ती नहीं है ॥ २६ ॥ (२४)

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४४७)

“विराड् वै” इति पट्पर्यायात्मकं सूक्तम् । तस्य विनियोग-विचारादि पूर्वसूक्त उक्तम् ॥

“विराड् वै” यह पट्पर्यायात्मक सूक्त है । इसका विनियोग विचार आदि पहिले ही कह दिया है ।

विराद् वा इदमग्र आसीत् तस्यां जातायाः सर्वम-
विभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

विराद् । वै । इदम् । अग्र । आसीत् । तस्याः । जातायाः ।

सर्वम् । अविभेत् । इयम् । एव । इदम् । भविष्यति । इति १

यह जगत् पहिले विराट् ही था, इस विराट्के प्रकट होने पर सब डरे, कि—यही यह जगत् होगा ॥ १ ॥

सोदंक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । गार्हपत्ये । नि । अक्रामत् ॥२॥

तब विराटने उत्क्रमण किया और वह गार्हपत्यमें प्रविष्ट होगया २
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

गृहमेधी । गृहपतिः । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

जो गृहमेधी इस प्रकार जानता है वह गृहपति होता है ॥३॥

सोदंक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥

०सा । आहवनीये । नि । ०॥ ४ ॥

फिर वह उत्क्रमण करके आहवनीयमें प्रविष्ट होगया ॥ ४ ॥
यन्त्यस्य देवा देवहृतिं प्रियो देवानां भवति य एवं
वेद ॥ ५ ॥

यन्ति । अस्य । देवाः । देवहृतिम् । प्रियोः । देवानाम् । भवति । ०॥५

जो इस बातको जानता है देवता उसके धुलाने पर आते हैं
और वह देवताओंका प्रिय होजाता है ॥ ५ ॥

सोदंक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥

०सा । दक्षिणाग्नौ । नि । ०॥ ६ ॥

फिर उस विराटने उत्क्रमण करके दक्षिणाग्निमें प्रवेश किया ६
यज्ञतो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥७॥

यद्गच्छतः । दक्षिणीयः । वास्तेयः । भवति । ७ ॥

जो इस बातको इस प्रकार जानता है, वह यज्ञत दक्षिणीय वास्तेय होता है ॥ ७ ॥

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥

०सा । सभायाम् । नि । ७ ॥ ८ ॥

तदनन्तर वह विराट् उत्क्रमण करके सभामें प्रवेश कर गया ८ यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

यन्ति । अस्य । सभाम् । सभ्यः । भवति । ७ ॥ ८ ॥

जो इस बातको जानता है वह सभ्य होता है और इसकी सभामें (प्राणी) आते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ ९ ॥

०सा । समुद्गतौ । नि । ७ ॥ ९ ॥

वह उत्क्रमण करके समितिमें पहुँच गया ॥ ९ ॥ यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

०अस्य । समुद्गतिम् । सामुद्गत्यः । भवति । ७ ॥ ९ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह सामित्य (शुद्धमें प्रतिष्ठा पाने वाला) होता है और उसकी समितिमें सैनिक आते हैं ॥ ९ ॥

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १० ॥

०सा । आमन्त्रणे । नि । अक्रामत् ॥ १० ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह आमन्त्रण में प्रवेश कर गया ॥ १० ॥

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद १३

यन्ति । अस्य । आऽमन्त्रणम् । आऽमन्त्रणीयः । भवति । यः ० ॥ १३

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जो इस बातको जानता है वह आमन्त्रणीय (बुलाने योग्य) होजाता है । और पुरुष इसके बुलाने पर इसके पास जाते हैं ॥ १३ ॥ (२५)

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४४८) ॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥

०सा । अन्तरिक्षे । चतुःस्था । विऽक्रान्ता । अतिष्ठत् ॥ १ ।

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह अन्तरिक्षमें चार रूपमें विक्रान्त होकर स्थित होगया ॥ १ ॥

तां देवमनुष्याः अन्नवन्नियमेव तद् वेद यदुभय उप-

जीवेममासुप ह्यामहा इति ॥ २ ॥

ताम् । देवऽमनुष्याः । अन्नवन् । इयस् । एव । तद् । वेद । यद् ।

उभये । उपऽजीवेम । इमाम् । उप । ह्यामहै । इति ॥ २ ॥

उससे देवता और मनुष्योंने कहा, कि-यह उसको जानता है जिससे हम दोनों उपजीवन करते हैं, इसलिये हम इसका समीप में आह्वान करें ॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥

ताम् । उप । अह्वयन्त ॥ ३ ॥

(तब उन्होंने) उसका उपाह्वान किया ॥ ३ ॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनुत एहीरांवत्येहीति ॥४॥

ऊर्जे । आ । इहि । स्वधे । आ । इहि । सूनुते । आ । इहि ।

इरावति । आ । इहि । इति ॥ ४ ॥

कि-हे ऊर्जे प्राणस्थापक बलकर अन्नकी अधिष्ठात्री) देवते ! हे पितरोंकी वृत्तिसम्पादिके स्वधे ! हे मियवाणीरूपे सूनुते ! हे इरावती ! आइये ॥ ४ ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ५

तस्याः । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । गायत्री । अभिधानी ।

अभ्रम् । ऊधः ॥ ५ ॥

उस समय इन्द्र उसका बड़ड़ा बना, गायत्री अभिधानी हुई और मेघ ऊध (ऐन) हुए ॥ ५ ॥

बृहच्च रथंतरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च
वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत् । च । रथम् । अंतरम् । च । द्वौ । स्तनां । आस्ताम् ।

यज्ञायज्ञियम् । च । वामदेव्यम् । च । द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत्साम और रथन्तर साम ये दो स्तन हुए तथा यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य साम नामक भी दो स्तन हुए ॥ ६ ॥

ओषधीरेव रथंतरेण देवा अद्दुहन् व्यचो बृहता ७

ओषधीः । एव । रथम् । अंतरेण । देवाः । अद्दुहन् । व्यचः । बृहता ७

देवताओंने रथन्तर सामसे औपधियोंको ही दुहा, बृहत्सामसे व्यचको दुहा ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

अपः । वामदेव्येन । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

वामदेव सामसे जलको दुहा और यज्ञायज्ञिय सामसे यज्ञको दुहा ॥ ८ ॥

ओपधीरेवासमै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

ओपधीः । एव । असमै । रथन्तरम् । दुहे । व्यचः । बृहत् ९

(जो इस बातको जानता है) रथन्तर साम उसके लिये औपधियोंको ही दुहता है और बृहत्साम व्यचको दुहता है ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥१०॥

अपः । वामदेव्यम् । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियम् । यः । १० ॥ १० ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो इस प्रकारसे जानता है उसके लिये वामदेव साम जलको और यज्ञायज्ञिय यज्ञको दुहता है ॥ १० ॥ (२६)

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४४९) ॥

सोदंक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयो-

श्नत् सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

०सा । वनस्पतीनि । आ । अगच्छत् । ताम् । वनस्पतयः ।

अश्नत् । सा । सम्वत्सरे । सम् । अभवत् ॥ १ ॥

तदनन्तर विराट् फिर उत्क्रमण करके वनस्पतियोंके पास

पहुँचा, उसको वनस्पतियोंने हनन कर डाला तब वह सम्वत्सर में होगया ॥ १ ॥

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्षणमपि रोहति
वृश्चतेस्याभियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

तस्माद् । वनस्पतीनाम् । सम्वत्सरे । वृक्षणम् । अपि । रोहति ।

वृश्चते । अस्य । अभियः । भ्रातृव्यः । यः । ॥ २ ॥

इसलिये वनस्पतियोंका कटा हुआ अंग भी वर्षभरमें उग आता है, जो इस बातको जानता है उसका अभिय शत्रु नष्ट होजाता है ॥ २ ॥

सोदकामत् सा पितृनागच्छत् तां पितरोन्नत् सा मासि
समभवत् ॥ ३ ॥

० सा । पितृन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । अन्नत् । सा ।
मासि । सम् । ॥ ३ ॥

तब विराट् ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके पास पहुँचा, उसका पितरोंने हनन कर डाला-अपनेमें लीन कर लिया, तब वह मास मासमें होने लगा ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं
पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तस्मात् । पितृभ्यः । मासि । उपमास्यम् । ददति । प्र ।

पितृयानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ॥ ४ ॥

इसलिये पुरुष पितरोंके निमित्त प्रत्येक मासमें मुखके पासकी वस्तु-भोजन-देते हैं जो इस धातको इस प्रकार जानता है वह विद्वयानमार्गको जान जाता है ॥ ४ ॥

सोदंक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अन्नतसार्ध-
मासे समभवत् ॥ ५ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताय् । देवाः । अन्नत । सा ।
अर्धमासे । सम् । ०॥ ५ ॥

वह विराट् उत्क्रमण करके देवताओंके पास पहुँचा, देवताओं ने उसका हनन कर डाला, वह अर्धमासमें फिर प्रादुर्भूत होगया ५ तस्माद् देवेभ्योर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तस्मात् । देवेभ्यः । अर्धमासे । वषट् । कुर्वन्ति । प्र । देवयानम् ।
पन्थाम् । जानाति । यः । ०॥ ६ ॥

इस लिये देवताओंके लिये अर्धमासमें वषट् करते हैं जो इस धातको जानता है वह देवयानके मार्गको जान सकता है ॥ ६ ॥

सोदंक्रामत् सा मनुष्यानागच्छत् तां मनुष्या अन्नत
सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । अन्नत ।

सा । सद्यः । सम् । अभवत् ॥ ७ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह मनुष्योंके पास पहुँचा, उसका मनुष्योंने हनन किया, वह तुरत ही प्रादुर्भूत होगया

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्वारुपं हरन्त्युपांस्य गृहे हरन्ति
य एवं वेदं ॥ ८ ॥

तस्मात् । मनुष्येभ्यः । उभयऽद्युः । उप । हरन्ति । उप । अस्य ।
गृहे । हरन्ति । यः । ० ॥ ८ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इसलिये मनुष्योंके लिये दूसरे दिन उपहरण करते हैं-जो
इस बातको जानता हैतो (देवता) उसके घरमें प्रतिदिन (अन्न)
पहुँचाते रहते हैं ॥ ८ ॥ (५७) ।

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थं सूक्तं समाप्त (४५०) ॥

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वन्त माय
एहीति ॥ १ ॥

०सा । असुरान् । आ । अगच्छत् । ताम् । असुराः । उप । अह्व-
यन्त । माये । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

उम विराट्ने उत्क्रमण किया और वह असुरोंके पास पहुँचा,
असुरोंने उसका समीपमें आह्वान किया, कि-हे माये ! आओ १
तस्या विरोचनः प्राहादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् २
तस्या । विरोचनः । प्राहादिः । वत्सः । आसीत् । अयःऽपात्रम् ।
पात्रम् ॥ २ ॥

उसका प्रह्लादका पुत्र विरोचन वत्स हुआ और लोहेका
पात्र पात्र हुआ ॥ २ ॥

तां द्विमृधात्वर्योधीक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । द्वि॒मूर्धा । अ॒र्क्यः । अ॒धोक् । ताम् । मा॒याम् । ए॒व ।
अ॒धोक् ॥ ३ ॥

उसको द्विमूर्धा अर्क्यने दुहा और मायाको ही दुहा ॥ ३ ॥

तां मा॒यामसु॒रा उप॑ जी॒वन्त्युपजी॒वनी॒यो भव॑ति य
ए॒वं वेद॑ ॥ ४ ॥

ताम् । मा॒याम् । अ॒सुराः । उप॑ जी॒वन्ति । उप॒जी॒वनी॒यः ।
भव॑ति । यः । ० ॥ ४ ॥

उस मायासे असुर उपजीवन करते हैं, जो ऐसा जानता है वह
उपजीवनीय होता है ॥ ४ ॥

सो॒दं॒काम॑त् सा पि॒तृना॑गच्छत् तां पि॒तर॑ उपा॒ह्वय॑न्त
स्वधे॒ एही॑ति ॥ ५ ॥

०सा । पि॒तृन् । आ । अ॒गच्छ॑त् । ताम् । पि॒तरः । उप॑ अ॒ह्वय॑न्त ।
स्वधे॑ । आ । इ॒हि । ० ॥ ५ ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके
पास पहुँचा, उसको पितरोंने 'हे स्वधे ! आओ' कहकर आह्वान
किया ॥ ५ ॥

तस्यां य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द् रज॒तपा॒त्रं पा॒त्रम् ६
तस्याः । य॒मः । राजा॑ । व॒त्सः । आसी॑त् । र॒ज॒तपा॒त्रम् । पा॒त्रम् ६

उस समय उसका वत्स राजा यम हुआ और चाँदीका पात्र
पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तामन्तको मारुवोधोक् तां स्वधाभेवाधोक् ॥ ७ ॥

ताम् । अन्तकः । मारुवः । अधोक् । ताम् । स्वधाम् । एव । अधोक् ७

उस को मृत्युके अधिपति देवता अन्तकने दुहा, और उससे स्वधाको ही दुहा ॥ ७ ॥

तां स्वधां पितर उपं जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य
एवं वेदं ॥ ८ ॥

ताम् । स्वधाम् । पितरः । उपं । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः ० ॥ ८

उस स्वधासे पितर उपजीवन करते हैं, जो इस बातको जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याश् नागच्छत् तां मनुष्याश्
उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । उपं ।

अह्वयन्त । इरावती । आ । इहि । ० ॥ ९ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और मनुष्योंके पास पहुँचा मनुष्योंने 'इरावती ! आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया ९

तस्या मनुर्वैवस्वतो वरस आसीत् पृथिवी पात्रम् १०

तस्याः । मनुः । वैवस्वतः । वरसः । आसीत् । पृथिवी । पात्रम् १०

उस समय विवस्वानके पुत्र मनु उसके बड़ड़े बने और पृथिवी पात्र बनी ॥ १० ॥

तां पृथां वैव्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ११

ताम् । पृथी । वैन्यः । अथोक् । ताम् । कृषिम् । च । सस्यम् ।
च । अथोक् ॥ ११ ॥

उसको राजा वेनके पुत्र पृथुने दुहा और कृषि तथा सस्य
(रूप दुग्ध) को दुहा ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्याः उप जीवन्ति कृष्टराधिरूप-
जीवनीयो भवन्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ते । कृषिम् । च । सस्यम् । च । मनुष्याः । उप । जीवन्ति ।
कृष्टराधिः । उपऽजीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

उस कृषि और धान्यसे ही मनुष्य अपनी आजीविका चलाते हैं ।
जो इस बातको जानता है वह जुते हुए पदार्थोंमें सिद्धि पानेवाला
होता है और प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सोदंक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपा-
द्भवन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

०सा । सप्तऽऋषीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । सप्तऽऋषयः ।
उप । अद्भवन्त । ब्रह्मण्वति । आ । इहि । ० ॥ १३ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और सात ऋषियोंके पास
पहुँचा, उसको सप्तर्षियोंने 'हे ब्रह्मण्वती ! आओ' कह कर
सभीपमें बुलाया ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् १४

तस्याः । सोमः । राजा । वत्सः । आसीत् । छन्दः । पात्रम् १४

उस समय राजा सोम उसके वत्स बने और छन्दःपात्र बने १४
तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक्तां ब्रह्मं च तपश्चाधोक् १५

ताम् । बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । अधोक् । ताम् । ब्रह्म । च । तपः ।
च । अधोक् ॥ १५ ॥

उसको आंगिरस बृहस्पतिने दुहा और उससे ब्रह्म और तप
को दुहा ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्मं च तपश्च सप्तऋषय उपं जीवन्ति ब्रह्मवर्च-
स्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तद् । ब्रह्म । च । तपः । च । सप्तऋषयः । उपं । जीवन्ति ।
ब्रह्मवर्चसी । उपजीवनीयः । ० ॥ १६ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

अत एव उस तप और वेदसे सप्तऋषि आजीविका चलाते हैं,
जो इस बातको जानता है वह ब्रह्मवर्चस्वी होता है और प्राणी
उससे आजीविका चलाते हैं । (१६) । (२८)

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (४५१) ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज
एहीति ॥ १ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः उप । अह्वयन्त । ऊर्जे ।
आ । इहि । ० ॥ १ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और देवताओंके पास पहुँचा ।
देवताओंने 'हे ऊर्जे । आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया १

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥

तस्या । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । चमसः । पात्रम् ॥ २ ॥

उस समय इन्द्र उसका बड़हा बना और चमसपात्र हुआ ॥ २ ॥

तां देवः सविताधोक् तामूर्जामिवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । देवः । सविता । अधोक् । ताम् । ऊर्जाम् । एव । अधोक् ३

सविता देवता उसके दुहने वाले बने और उन्होंने ऊर्जाको ही दुहा । ३ ॥

तामूर्जां देव उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवन्ति य एवं वेदं

ताम् । ऊर्जाम् । देवाः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः । ० ४

उस ऊर्जासे देवता अपनी आजीविका चलाते हैं । जो इस बातको जानता है उससे प्राणी आजीविका चलाते हैं ॥ ४ ॥

सोदंक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वा-

प्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥

०सा । गन्धर्वऽअप्सरसः । आ । अगच्छत् । ताम् । गन्धर्वऽअप्स-

रसः । उप । अह्वयन्त । पुण्यऽगन्धे । आ । इहि । ० ॥ ५ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और गंधर्व तथा अप्सराओं के पास पहुँचा, उसको गंधर्व तथा अप्सराओंने "हे पुण्यगंधे ! आओ" कहकर समीपमें बुलाया ॥ ५ ॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्ण

पात्रम् ॥ ६ ॥

तस्याः । चित्रश्रथः । सौर्यश्वर्चसः । वत्सः । आसीत् । पुष्करश्रथम् ।
पात्रम् ॥ ६ ॥

उसको सूर्यवर्चाका पुत्र चित्रश्रथ बड़ड़ा घना और पुष्करपर्ण
पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तां वसुश्रुचिः सौर्यश्वर्चसोऽधोक्तां पुण्यमेव गन्धमधोक्
ताम् । वसुश्रुचिः । सौर्यश्वर्चसः । अधोक् । ताम् । पुण्यम् ।
एव । गन्धम् । अधोक् ॥ ७ ॥

उसको सूर्यवर्चाके पुत्र वसुश्रुचिने दुहा, और उसने पवित्र गंध
को ही दुहा ॥ ७ ॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उपजीवन्ति पुण्यगन्धि-
रुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

तम् । पुण्यम् । गन्धम् । गन्धर्वऽअप्सरसः । उप । जीवन्ति ।
पुण्यगन्धिः । उपजीवनीयः ॥ ८ ॥

उस पवित्र गंधसे अप्सरा और गंधर्व आजीविका चलाते हैं,
जो इस बातको जानता है वह पवित्र गंध चला होजाता है और
प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ ८ ॥

सोदकामत्सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्व-
यन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

सा । इतरजनान् । आ । अगच्छत् । ताम् । इतरजनाः । उप ।
अह्वयन्त । तिरःश्वे । आ । इहि ॥ ९ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण या और इतरके पास पहुँचा,
उसको इतरजनोंने उपादान किया, कि—“हे तिरोधे” आओ ह
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्

तस्याः । कुबेरः । वैश्रवणः । वत्सः । आसीत् । आमःपात्रम् ।

पात्रम् ॥ १० ॥

उसके विश्रवा मुनिके पुत्र कुबेर वत्स हुए और कच्चा पात्र
पात्र पात्र हुआ ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः कावेरको धोक् तां तिरोधामेवाधोक्

ताम् । रजतऽनाभिः । कावेरकः । अधोक् । ताम् । तिरःधाम् ।

एव । अधोक् ॥ ११ ॥

उसको रजतनाभि कावेरकने दुहा और तिरोधाको ही दुहा ११
तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्व

पाप्मानंसुषजीवनीयो भवति य एवं वेदं । १२ ।

ताम् । तिरःधाम् । इतरऽजनाः । उप । जीवन्ति । निरः । धत्ते ।

सर्वम् । पाप्मानम् । सुषऽजीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

उस तिरोधासे ही इतरजन आजीविका चलाते हैं । जो इस
प्रकार जानता है वह अपने सब पापको तिरोहित कर देता है
और मनुष्य उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सोदकामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त

विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

सा । उ॒त् । अ॒क्राम॒त् । सा । सर्पा॑न् । आ । अ॒गच्छ॒त् । ताम् ।

सर्पाः । उ॒प । अ॒हृ॒यन्त॒ । वि॒प॑ञ्चति । आ । इ॒हि । इति १३-

उस विराट्ने उत्क्रमण किया और सर्पोंके पास पहुँचा, सर्पों ने उसको समीपमें बुलाया, कि—'हे विपञ्चति । आओ' ॥१३॥

तस्या॑स्त॒क्षको॑ वैशाले॒यो व॒त्स आसी॑द॒त्तावु॒पात्रं॑ पात्रं॒म्

तस्याः । त॒क्षकः । वैशाले॒यः । व॒त्सः । आसी॑त् । अ॒त्तावु॒ष्पात्रम् ।

पात्रम् ॥ १४ ॥

वैशालेय तक्षक उसका वत्स हुआ और अत्तावुष्पात्र (राम-तुरङ्गका तोंचा) पात्र हुआ ॥ १४ ॥

तां घृ॒तराष्ट्र॑ ऐरा॒वतो॑ धोक् तां वि॒पमे॒वाधो॑क् ॥१५॥

ताम् । घृ॒तराष्ट्रः । ऐरा॒वतः । अ॒धोक् । ताम् । वि॒पम् । ए॒व ।

अ॒धोक् ॥ १५ ॥

उसको ऐरावतवंशी घृतराष्ट्र नामक सर्पने दुहा और उससे विपको ही दुहा ॥ १५ ॥

तद् वि॒पं सर्पा॑ उ॒प जी॒वन्त्यु॒पजी॒वनी॑यो भवति॒ य एवं

वेद॑ ॥ १६ ॥

तद् । वि॒पम् । सर्पाः । उ॒प । जी॒वन्ति॒ । उ॒प॒जी॒वनी॑यः । भवति॒ । यः ॥०

इति पञ्चमेऽनुवाक्ये पष्ठं सूक्तम् ॥

उस विपसे सर्प उपजीवन करते हैं । जो इस बातको यथार्थ रीतिसे जानता है माणीउससे आजीविका करते हैं ॥ १६ ॥

तद् यस्मां एवं विदुषेलावुनाभिपिञ्चेत् प्रत्याह्न्यात् १

तत् । यस्मै । एवम् । विदुषे । अलावुना । अभिऽसिञ्चेत् ।

प्रतिऽआह्न्यात् ॥ १ ॥

इस कारण जिस ऐसा जानने वालेके ऊपर रामतुरईसे सिञ्चन करता है तो मार डालता है ॥ १ ॥

न च प्रत्याह्न्यान्मनसा त्वा प्रत्याह्नमीति प्रत्याह्न्यात्

न । च । प्रतिऽआह्न्यात् । मनसा । त्वा । प्रतिऽआह्नमि । इति ।

प्रतिऽआह्न्यात् ॥ २ ॥

किन्तु मनसे मारता हूँ ऐसा विचार न करे तो मार डालता है २
यत् । प्रत्याह्नन्ति विपमेव तत् प्रत्याह्नन्ति ॥ ३ ॥

यत् । प्रतिऽआह्नन्ति । विपम् । एव । तत् । प्रतिऽआह्नन्ति ॥ ३ ॥

जो मारता है वह विपको ही मारता है ॥ ३ ॥

विपमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविपिच्यते य एवं वेद ४

विपम् । एव । अस्य । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । अनुऽविसिच्यते ।

यं । एवम् । वेद ॥ ४ ॥

पञ्चमेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

पञ्चमोनुवाकः ॥

इत्यष्टमं कारणं समाप्तम् ॥

(६४२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

जो ऐसा जानता है उसका अभिय शत्रुरूप विष ही अनु-
पिञ्चित होता है ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें समाप्त सूक्त समाप्त (४५३)

पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका अष्टमकाण्ड अ० कु०

५० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक अ० कु० ५० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ अष्टम काण्डः समाप्तः ॥



मिलने का पता—

सनातनधर्म-यन्त्रालय,

मुरादाबाद.